मुक्तिबोध रचनावली

सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा

मुक्तिबोध रचनावली

5

सम्पादक
नेमिचन्द्र जैन

मूल्य : प्रति खण्ड रु 100 00
पूरा सेट रु. 600 00

प्रथम संस्करण : 1980
द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण : 1986

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002

मुद्रक : रुचिका प्रिण्टर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

MUKTIBODH RACHANAVALI
Edited by Nemichandra Jain

दूसरे संस्करण की भूमिका

रचनावली के पहले सस्करण के प्रकाशित होते-होते ही, मुक्तिबोधजी के साहित्य सम्बन्धी कई और लेख इधर-उधर पत्रिकाओ मे छपे मिल गये थे जो बाद मे उनकी आलोचनात्मक रचनाओ की स्वतन्त्र पुस्तकों मे शामिल कर दिये गये।

किन्तु दूसरे सस्करण के प्रकाशन के निश्चय के बाद कोशिश करने पर कुछ और सामग्री, भी मिली—कुछ उनकी पाण्डुलिपियो मे ही, और कुछ पत्र-पत्रिकाओ मे। अब यह सारी नयी सामग्री इस खण्ड के विभिन्न उपखण्डो मे सकलित है।

इसमे से कुछ लेखो मे सैद्धान्तिक विवेचन है, कुछ सर्वेक्षणनुमा है और कुछ समीक्षाएँ हैं। समीक्षाओ मे एक का जिक्र आवश्यक है। पहले सस्करण मे 'समीक्षा की समीक्षा' शीर्षक से एक अधूरी टिप्पणी 'साहित्य और आलोचना' उपखण्ड मे पृ० 74 पर दी गयी थी। बाद मे यह पूरा लेख मिल गया। यह प्रभाकर माचवे की पुस्तक 'समीक्षा की समीक्षा' की समीक्षा है जो 'आलोचना' पत्रिका मे प्रकाशित हुई थी। अब उस अधूरी टिप्पणी को निकालकर पूरे लेख को 'समीक्षाएँ' उपखण्ड मे रखा गया है।

नयी सामग्री मे कुछ ऐसी है जो सम्भवत किसी परीक्षा के लिए अथवा कही भाषण देने या पढाने के लिए तैयार किये गये नोट्स हैं। इनमे से सबसे रोचक है वह जिसे 'शेक्सपियर से मुठभेड' शीर्षक से दिया गया है। इसमे हैमलेट नाटक के बारे मे मुक्तिबोध की कुछ अपनी प्रतिक्रियाओ के अलावा, शेक्सपियर के साथ एक 'वार्तालाप' भी है। अपने विचारो को एक सवाद के रूप मे रखने की मुक्तिबोध की परिचित शैली का यह एकदम अनूठा प्रयोग है।

मुक्तिबोध के लेखन में नाटको के बारे में चर्चा नही के बराबर है। इस दृष्टि से 'शेक्सपियर से मुठभेड' के अलावा 'स्कन्दगुप्त—कुछ नोट्स' भी दिलचस्प है, जिसमें उनके सोच-विचार के एक नये आयाम की तरफ इशारा है।

इस सामग्री में अधिकांश मान्यताएँ, विचारणाएँ या स्थापनाएँ ऐसी है जो उनके अन्य लेखों में किसी न-किसी रूप में पहले भी आ चुकी है। फिर भी इससे उनकी संवेदना, रुचियो और चिन्तन के क्षेत्र का कुछ और विस्तार अवश्य ही सामने आता है।

नेमिचन्द्र जैन

•

पहले संस्करण की भूमिका

इस खण्ड मे मुक्तिबोध के फुटकर आलोचनात्मक निबन्ध है, जो समग्रत सृजन-कर्म से जुड़े बहुत-से *सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक सवालो पर एक जागरूक रचना*-कार के प्रखर और संवेदनशील चिन्तन को प्रस्तुत करते हैं। वे यह भी जाहिर करते हैं कि इन सवालों के सही-सही सर्जनात्मक और व्यापक सामाजिक सन्दर्भों को परिभाषित निर्धारित करने और हिन्दी के नये-पुराने लेखन के सन्दर्भ में उनका परीक्षण करने की उनमें कैसी बेचैनी थी। विशेषकर उनका समीक्षात्मक लेखन इस बात का सबूत है कि अपने जमाने के बुजुर्ग, समवयसी और युवतर रचनाकारों के काम में उनकी गहरी दिलचस्पी थी।

इन निबन्धों को यहाँ पाँच उपखण्डों मे प्रस्तुत किया जा रहा है—'साहित्य और आलोचना', 'रचना-प्रक्रिया', 'आत्म-वक्तव्य', 'नयी कविता और उसकी पृष्ठभूमि' तथा 'समीक्षाएँ'। इनमें उनके दोनों प्रकाशित ग्रन्थों मे—*नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र*—मे सकलित, पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित तथा अप्रकाशित, सभी लेख शामिल हैं। साथ ही कुछ अपूर्ण लेख भी दिये जा रहे हैं, जो या तो अन्य लेखों के ही किसी मुद्दे के अतिरिक्त पक्ष अथवा नये स्तर को प्रस्तुत करते हैं, या किसी एकदम नये ही मुद्दे को उठाते हैं, भले ही विवेचन-विश्लेषण पूरा न हो सका हो। प्रत्येक उपखण्ड की सामग्री स्वतन्त्र काल-क्रम से रखी गयी है, जिसमें मुक्तिबोध के सैद्धान्तिक चिन्तन, विभिन्न मान्यताओं के व्यावहारिक प्रयोग तथा समीक्षा-दृष्टि के विकास का, अलग-अलग कुछ अनुमान हो सके। किन्तु अपूर्ण लेखों को, और कहीं-कहीं अप्रकाशित पर पूर्ण लेखों-टिप्पणियों को उनके विषय के अनुसार एक साथ भी दे दिया गया है।

इस सामग्री को यथासम्भव मूल पाण्डुलिपियों से मिलाकर सशोधित किया

गया है, यद्यपि अनेक निबन्धो की, विशेषकर नयी कविता का आत्मसंघर्ष में सकलित कई एक निबन्धो की, पाण्डुलिपि उपलब्ध नही है और इसलिए उनके पुस्तकाकार या किसी पत्र-पत्रिका मे प्रकाशित पाठ को ही आधार माना गया है। साथ ही कुछ प्रकाशित लेख ऐसे भी मिले जिनमे मुक्तिबोध ने बाद में कुछ और सशोधन किये। जहाँ भी ऐसे सशोधित प्रारूप मिल गये, वहाँ उन्हे ही अन्तिम और प्रामाणिक माना गया है। कहानियो और डायरियो की भाँति, इन लेखो मे, विशेषकर नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र मे सकलित लेखो मे भी, पृष्ठ, पैरा या वाक्य इधर-उधर हो गये थे या गलत मुद्रित थे। एक-दो निबन्धो में मूल पाण्डुलिपि मे ही एकाधिक प्रारूप के गडमड हो जाने से कुछ अशो की पुनरावृत्ति हो गयी थी। ऐसी सभी गडबडियो को यथासम्भव ठीक करने की कोशिश की गयी है।

एक ही रचना को बार-बार लिखने की मुक्तिबोध की पद्धति का एक रोचक नमूना उनके 'वस्तु और रूप' निबन्ध मे देखा जा सकता है। पाण्डुलिपियो मे इसके चार प्रारूप मिले और चारो ही यहाँ दिये जा रहे है। ये सर्जनात्मक कार्य की इस बुनियादी समस्या का चार अलग-अलग स्तरो पर अन्वेषण करते है, यद्यपि कुछ वाक्य या पैरा लगभग चारो मे ही मौजूद है। इनमे से एक उज्जैन से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका कालिदास मे दो किस्तो मे छपा था, बाकी तीन अप्रकाशित हैं। कुछ-कुछ यही स्थिति 'काव्य की रचना-प्रक्रिया' निबन्ध की है। इस शीर्षक से भी दो स्वतन्त्र निबन्ध यहाँ प्रस्तुत हैं, जो इस अवधारणा के दो अलग-अलग पक्षो का परीक्षण करते हैं, यद्यपि शायद वे एक लेख के दो प्रारूपो की तरह ही लिखे गये थे।

दुर्भाग्यवश, कुछेक निबन्धो-टिप्पणियो-समीक्षाओ की पाण्डुलिपि तो नही है ही, उनकी टाइप की हुई प्रतिलिपि या अखबारी कतरन भी जगह-जगह से कटी-फटी या अत्यधिक खण्डित है। उन्हे सम्मिलित नही किया जा सका। ऐसे लेखों मे अज्ञेय के काव्य-सग्रहो की एक समीक्षा भी है।

नेमिचन्द्र जैन

क्रम

साहित्य और आलोचना

रचना-प्रक्रिया

आत्म वक्तव्य

नयी कविता और उसकी पृष्ठभूमि

समीक्षाएँ

साहित्य और आलोचना

आधुनिक हिन्दी साहित्य और नवयुग की समस्याएँ

[illegible] भी यह स्वय सिद्ध [illegible] ही हुआ है। कला [illegible]। समय और जन्म-स्थान (यानी देश) से विच्छिन्न नही हो सकती। उसका विश्वात्मक रूप उसके एकदेशीय रूप का ही विकास है। अतएव दोनो रूपो मे कोई मौलिक भेद न होकर केवल विकास के अन्तर का ही भेद है। एकदेशीयता जब कला की सीमा रह जाती है, यानी उसकी अपील जब उसके आगे बढने नही पाती, तब वह मर जाती है। जगत मे ऐसे साहित्यिक प्रयत्न हो चुके हैं, शायद हर भाषा मे, जो इसी एकदेशीयता के कारण मूल्यहीन एव प्राणहीन हो गये हैं, क्योकि वह एक-देशीयता उसकी मर्यादा हो गयी। रोम्याँ-रोलाँ के ज्याँ क्रिस्तोफ मे जर्मन और फ्रेंच समाज का ही वर्णन होते हुए भी उसकी विश्वात्मकता लुप्त नही होती। वह समाज-वर्णन मानवीय मूल्यो पर टिका हुआ है। ऐसे कई समाज-वर्णन होते हैं, जिनमे केवल वर्णन ही होता है, उसके मूल मे और उसके आगे कुछ नही। इसकी एकदेशीयता इसकी सीमा है। अतएव ऐसी चीज़ साहित्य, कला के क्षेत्र से बाहर है।

साराश यह कि समय का प्रभाव कला पर होते हुए भी, उसकी विश्वात्मक अपील लुप्त नही होती, और हर कला का रूप समय के अनुसार परिवर्तित होता रहता है।

हिन्दी के बीते हुए कल के विषय मे कहते समय यह ध्यान रखना जरूरी है कि वह भारतवर्ष का नव-जागरण युग था। हिन्दुओ ने रवीन्द्र के ज़रिए प्रसाद, पन्त, निराला आदि के रूप मे प्राचीन भारतीय सस्कृति की भव्यता, कोमलता, कल्पनाप्रियता आदि बातें ली। उधर, मुसलमानो ने प्राचीन इस्लामी मुल्को और सल्तनतों की भव्यता, गौरव और धर्म को अपनाया। जिस तरह हिन्दी या बगला आदि भाषाओ में हिन्दुओ ने वैदिक और उपनिषत्काल से स्फूर्ति पायी, उसी तरह मुसलमानो ने भी डॉक्टर मोहम्मद इक़बाल के ज़रिए और उन्ही के रूप मे अपनी पुरातीन भव्य और ओजमयी सस्कृति को ग्रहण किया। सूफी मज़हब का प्रेम, मन्सूर और हज़रत जलालुद्दीन रूमी के इश्क हकीक़ी को उन्होने अपना आध्यात्मिक आदर्श माना। अतएव ये दोनो समाज अपने मूल उद्‌गम की ओर, जहाँ वे एक-दूसरे से भिन्न थे, चले गये।

हिन्दी का गत काल रोमैंटिक था। कल्पना और भावना के ज़रिये

अलौकिक को ग्रहण किया गया था। वास्तविक जीवन के बाह्य द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व को नष्ट कर, (अन्तर्बाह्य प्रकृति पर जय पा) एक हारमनी उत्पन्न करना, स्वर्ग-सगम का सृजन करना, गत काल की कला के क्षेत्र के बाहर की बात थी। म्लान सन्ध्या का रूप देखकर कवि के हृदय मे करुण अनुभूति उत्पन्न होती थी, परन्तु बाह्य जगत् मे होते आ रहे भयकर अत्याचारो और अमानुषिक व्यवहारो मे उनके दिल मे किसी कविता की आत्मा ने प्रवेश नही किया था। वैसे ही, कवि के हृदय मे प्रेम है या केवल आसक्ति, सौन्दर्य दृष्टि है या वासना-शीलता, इसको उसे स्वय के लिए ही जानने को कोई खास सिद्धान्त नही था। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि 'वह काव्य मध्ययुगीन काव्य का आधुनिक सस्करण था।'

परन्तु, आज यह बात नही है। तब के (सबजेक्टिविज्म) आत्म-केन्द्रिता मे आत्मविश्लेषण नि स्वदृष्टि से नही था। वह केवल भावनाओ का प्रवाह था, वहाँ शान्त आत्म विश्लेषण और चिन्तन के लिए गुजाइश कम थी। परन्तु आज विचारो का आवेग—बाहरी चिन्तन-प्रवाहो का एक दूसरे को धक्का देकर बढने का स्वभाव हमे मजबूर करता है कि हम अपने म डूबकर सोच लें कि रास्ता कौन-सा ठीक है।

हरेक युग मे कुछ गुणो का महत्त्व दूसरो की अपेक्षा अधिक होता है। मध्य युग मे भक्ति और शृगार का ही अधिक महत्त्व था। यूरोप मे रिनेसां के समय, जो रोमैंटिक धारा बही थी, उसका एक प्रवाह शेक्सपियर था, और दूसरा दान्ते। लेकिन फ्रास राज्य-क्रान्ति के समय उत्पन्न हुए शैले और गेटे मे एक आदर्श ससार की कल्पना थी, एक चिन्तनात्मक समझ थी। शेक्सपियर और दान्ते के युग से गेटे और शैले का युग बिलकुल अलग था।

तो हरेक युग की विशेष अवस्था होती है, और उस विशेष अवस्था से उत्पन्न हुए विशेष गुण होते हैं, जिनका साहित्य म होना अपरिहार्य हो जाता है। और ये अवस्थाएँ और ये गुण तब की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियो से बनते रहते हैं। सस्कृति को स्थायी मतलब दिया जाता है, लेकिन अगर हम उसे गतिमय अर्थ दें, तो राजनीति की विविध प्रक्रियाएँ, सामाजिक परिवर्तन, सब समूहात्मा की उन्नति की ओर यात्रा है। अतएव राजनीति या समाजनीति को हम अपने जीवन स अलग नही कर सकते। अतएव, साहित्य मे उनका निषेध जीवन मे प्राणो का निषेध हुआ। आप बौद्धिक वादो से उनका निषेध करते रहिए, लेकिन अनन्त 'जीवन' आपके हृदय मे प्रवेश कर वही करायेगा, जो उसकी प्रगति के लिए आवश्यक है। इधर आप साहित्य मे राजनीति और समाजनीति का बहिष्कार करते जायँगे, उधर आप ही की कलम से राजनीति और सामाजिक सत्य निकलते जायँगे। 'जीवन' के कानून को आप तोड नही सकते। यहाँ मैंने 'जीवन' का अर्थ उसके व्यक्तिगत और सामाजिक या राजनैतिक अर्थ से ऊपर उस असीम सृजनशील सत्ता मे लिया है, जो भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रकट है, और एक रूप को छोड, दूसरे को ग्रहण करना, उसका स्वभाव है। क्योंकि वह गति-मय (डायनेमिक) है, अतएव राजनैतिक, सामाजिक और व्यक्तिगत आदि, उसी की सृजनधाराएँ हैं।

जब यह हम मान चुके कि हमारे राजनैतिक और सामाजिक अगो का

बहिष्कार करना, अपने हाथ और पैरों को तोड़ देना है, तो हमें यह मान लेने में देरी न करनी चाहिए कि व्यक्तिगत, या समूहगत भावनाओं से उठकर एक राष्ट्रात्मा भी होती है, जिसका शक्तिमान होना हमारी जीवनधारा के लिए निहायत ज़रूरी है। हम तब तक पूरी तरह से उन्नत नहीं हैं, जब तक कि दूसरे आदमी हमारे समान ही उन्नत न हो जायें। दूसरों में बँट जानेवाला मैक्सिम गोर्की का कलाकार, आत्मा, इसी बात को समझकर, रशिया के एक कोने से लगाकर तो दूसरे कोने तक भटकता था।

इस समय युग में निश्चित परिवर्तन है। 'जीवन-धारा' अब आगे बढ़ना चाहती है। पहले जब युग परिवर्तन हुआ, तब हम उपनिषत्काल के हिन्दुस्तान और मन्सूर और जलालुद्दीन रूमी के मध्य एशिया में गये थे, लेकिन आज हमारी दृष्टि भविष्य के सितारे पर है। भविष्य के हिन्दुस्तान पर है। और अगर आज हमारी और कला की धारा राष्ट्रात्मा से अलग होकर अपना मार्ग खोजती है, तो उसका रेगिस्तान में गुम हो जाना अपरिहार्य है।

राष्ट्रात्मा का प्रत्येक स्पंदन हमारे हृदय में गीत बन रहा है। उसकी विभावनाएँ (मूड्स) उसकी बेबसी, उसकी करुणा, उसका अन्त संघर्ष हमारे हृदय की बेबसी करुणा और अन्त संघर्ष बन रहा है। इसी आन्तरिक संघर्ष को पार कर लेने के बाद हम एक नवीन सत्य, एक नवीन शान्ति, एक नवीन शक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। उसी तरह हम अपने हिन्दुत्व और अपने इस्लामत्व को सीमित करनेवाली रेखाओं से आगे चलकर, उठकर, बढ़कर नहीं देखते, तब तक हमारा साहित्य और कला एक ही जाति का साहित्य और कला रह जायेगी। परिणामतः राष्ट्रात्मा और अपना आत्म-साक्षात्कार न करने पायेगी, और उसके दो भाग हिन्दुत्व और इस्लामत्व आपस में ही मर-खपकर हम अपनी मंज़िल पर नहीं पहुँचने देंगे। हमें अपनी परम्पराओं को नहीं देखना है। परम्पराएँ हमारी बुरी आदतें हैं, उनसे अलग हटकर भविष्य निर्माण करना है। भविष्य-निर्माता अपने आप में सैनिक और मसीहा (प्रोफ़ेट) होता है। साहित्य के क्षेत्र में भी कलाकार इसी तरह का सैनिक और मसीहा होना चाहिए और उसको उसी तरह स्वप्न आने चाहिए, जिस तरह मोहम्मद पैगम्बर को अपने देशवासियों को सभ्य करने, या हज़रत ईसा को मानवता का सन्देश सुनाने के स्वप्न आते थे। जब तक हम भविष्य-निर्माण के स्वप्न नहीं आते, तब तक हमारी कला और साहित्य कमज़ोर रहेगा, और उसमें सच्ची शक्ति नहीं आयेगी।

यह भविष्य निर्माण राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में हिन्दू, मुस्लिम सभ्यता का जन्म, और साहित्य के क्षेत्र में इस सभ्यता को जन्म देने की सब लोगों की आत्मवेदना और उनके स्वप्न, उत्साह, उनका धैर्य और बहादुरी के चित्रण के रूप में होगा। जब तक यह नहीं हो सकता, तब तक हम अपनी मंज़िल पर नहीं पहुँचते हैं।

[कर्मवीर, खण्डवा, 4 मई 1940 में प्रकाशित। रचनावली में पहली बार दूसरे संस्करण में संकलित]

साहित्य के दृष्टिकोण

साहित्य को किस दृष्टि से देखना चाहिए ? इसके उत्तर के लिए हम उन सभी दृष्टियो पर विचार कर लें जिनसे अब तक लोग साहित्य को देखते आये हैं। हम उन दृष्टियो की साधारण गणना न कर उन दृष्टियो के मूल पर भी सोचते चलें, और इसी तरह उनके सापेक्ष महत्त्व को भी निश्चित करते चलें।

साधारणतया, साहित्य के दो पहलू रहे हैं। एक तो वह जिससे मनोरजन हो, और दूसरा वह जिससे हम अधिक मानवीय होते चलें। पहला केवल मनोरजन ही मनोरजन है, उसके आगे कुछ नही। और दूसरा किसी आदर्श को लेकर चलता है।

पुराने समय मे भी एक साहित्य केवल मनोरजन के लिए लिखा जाता था, जिसमे वर्ण-चमत्कार और वर्णन-चमत्कार का बाहुल्य था। और दूसरा वह था, जिसमे रसोद्रेक का उद्देश्य वह था, जिसमे रसोद्रेक का उद्देश्य मनुष्य को अधिकाधिक मानवीय करते चलना था। चूंकि मनोरजक साहित्य का उद्देश्य अत्यन्त सामयिक है, इसलिए हम दूसरे प्रकार के साहित्य पर, जिसमें किसी आदर्श को लेकर चलना होता है, विचार करते चलें। और इन्ही आदर्शों पर विचार करते हुए हमे उन सभी दृष्टियो का पता चल जायेगा जिनसे साहित्य देखा जाता है।

यूरोप मे उपन्यास साहित्य ने साहित्य की विविध कल्पनाओ (कन्सेप्शन्स) को जन्म दिया। खासकर फ्रान्स साहित्यिक विचारधारा का सबसे अधिक जिम्मेवार है। रोमास, जिसमे सामयिक मनोरजक साहित्य अधिकाश म था, फ्रान्स के उपन्यासो का मुख्य विषय रहा। रोमास, जैसा कि वह शैले मे या कालिदास मे पाया जाता है, अपनी सचाई के कारण, अपनी आन्तरिक भावप्रवणता के कारण, आदर्श की ओर ही उन्मुख है। दूसरी तरह का रोमास, जो अधिक बाहरी है और केवल हमारी कल्पना को ही तृप्त करता है, साहित्यिक आदर्श के निकट नही है। कुछ-कुछ इसी तरह का रोमास फ्रान्स म प्रचलित रहा। कथा-कहानियो मे स्त्री-पुरुष प्रेम, जिसका असलियत से कोई सीधा वास्ता नही था, कल्पना को तृप्त करने के लिए लिखा गया।

इसी तरह के रोमास लिखते-लिखते प्रेमी और प्रेमिका को अधिक वास्तविक रूप मिलता गया। जैसे, उनके स्नेह भग के कारणो मे सामाजिक परिस्थिति और कौटुम्बिक मतभेद आदि थे। इस तरह रोमास के साथ-ही साथ समाज-चित्रण और व्यक्ति-चित्रण आया।

साहित्य काल्पनिक आधार छोडकर अधिक वास्तविक भूमि पर आता गया। फिर भी काल्पनिक और वास्तविकता का इतना भेद नही था, जितना वह अब है। इस सम्मिश्र साहित्य प्रकार का सुन्दर उदाहरण लॉर्ड बायरन का कथा-काव्य *डॉन जुआन* है।

परन्तु साहित्य ने फिर पलटा खाया और रोमास-स्कूल के खिलाफ जबरदस्त विद्रोह हुआ। परिणाम था यथार्थवाद का प्राबल्य।

आश्चर्य की बात है कि जिस तरह जर्मनी ने यूरोप के दार्शनिक विचार-जगत् का नतृत्व किया, उसी तरह फ्रास साहित्यिक विचारधारा का अग्रदूत रहा।

फ्रान्स के इस यथार्थवाद का बहुत प्रभाव पड़ा, और रूस का उपन्यास-साहित्य भी इससे अछूता न रह सका। किन्तु पेरिस की सोसाइटी वैसे भी फैशनेबुल थी। इस फैशनेबुल समाज का वर्णन करना एक बात हो गयी, जिसमे बाह्य सौन्दर्य का काफी ख़याल रखा गया। इसके विरुद्ध स्कूल उठ खडा हुआ जिसने निम्न श्रेणी या दलित-पीडित-कुरूप लोगों के जीवन का चित्रण किया। ये दोनो स्कूल आपस मे एक-दूसरे से नही मिले।

पहले यथार्थवादी स्कूल मे फैशनेबुल लोगों के रीति-रिवाज का चित्रण अधिक रहा और दूसरे यथार्थवादी स्कूल मे कुरूपता का ही अधिक वर्णन रहा। दोनो स्कूल अपने आधिक्य मे एकागी हो गये, और परिणामत असलियत से सम्बन्ध खो बैठे। एक तीसरा यथार्थवादी स्कूल और हुआ, जिसमे मनुष्य की काम सम्बन्धी बातो का खुले-आम वर्णन किया गया और 'प्राइवेट लाइफ़' ही सामने अधिक आयी। यह स्कूल भी, साधारणत, उच्च-श्रेणीय नागरिक जीवन का चित्रण करता रहा और प्रकृतिवादी (नेचुरलिस्टिक) स्कूल कहलाया। इसके अनुसार व्यभिचार, इत्यादि नैतिक रीति से ठीक हैं, क्योकि मनुष्य मे वासना स्वाभाविक है। अतएव यह स्कूल नैतिकता के खिलाफ था।

आदर्शवादी स्कूल का जन्म भी यही से शुरू होता है। अनैतिक का नैतिक के प्रति विद्रोह नैतिकता की उन्नति और उसके परिष्कार का कारण है। यह स्कूल प्रधानत इगलैण्ड मे पनपा। नैतिक आदर्श को लेकर ही कई उपन्यास लिखे गये। कलाकारो का अपना नैतिक चिन्तन हुआ। इस स्कूल के मुख्य लेखक माने जा सकते हैं, जॉर्ज ईलियट, मेरिडिथ, वगैरह। परिणामत, आदर्श-वादी उपन्यासों की कमज़ोरी का प्रधान कारण है बौद्धिक या कभी कभी (जैसे मेरी करैली मे), धार्मिक या नैतिक, आदर्शों का कला के साथ विषम सन्तुलन।

इस उपदेशवादी या आदर्शवादी साहित्य के खिलाफ बगावत की कलावाद ने। इस स्कूल ने 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त स्वीकार किया। इसमे बाह्य सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान था। साहित्यिक टेकनीक विशेष रूप से विकसित हुआ और साहित्य का उद्देश्य मनोरंजन माना गया।

यह कलावाद प्राणहीन था और जल्दी ही खत्म हो गया। इसस अधिक पुष्ट और सप्राण इब्सन का सामाजिक साहित्य था। इब्सन से बहुत लोग प्रभावित हुए। बर्नार्ड शॉ और गॉल्सवर्दी ने समाज की आलोचना की। इधर विज्ञान और भौतिक सभ्यता ने समाज मे नयी समस्याएँ उत्पन्न की। साहित्य इन समस्याओं से अछूता नही रह सका। इन प- विचार उपन्यासो और अन्य रचनाओ द्वारा किया गया। परिणामत, प्रचारवादी स्कूल खडा किया गया। फ्रॉयड के मनोवैज्ञानिक अन्वेषणो से साहित्य भी प्रभावित हुआ, और तब से शुद्ध मनोवैज्ञानिक साहित्य का जन्म हुआ।

इतना लिख जाने पर यह न समझना चाहिए कि किसी भी तरह का लेखन इन स्कूलो मे बँध गया है। जीवन किसी भी दायरे मे बँध नही सकता। और जहाँ जहाँ जीवन के प्रति सचाई प्रकट की गयी है, वहाँ वहाँ कला अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ प्रकट हुई है। किन्तु जहाँ किसी 'वाद' या बौद्धिक विश्वास से जीवन को देखा गया है, वहाँ जीवन की ताज़गी और उसका प्रवाह-सगीत लुप्त हो गया है। जिस तरह यथार्थवाद के सुन्दर-से-सुन्दर नमूने मिलते हैं—मध्य

कालीन, विक्टर ह्यू गो के ला मिजरेबुल्स या आधुनिक मैक्सिम गोर्की के मदर में —उसी तरह आदर्शवाद के भी सुन्दर-से-सुन्दर नमूने मिलते हैं।

परन्तु लोग आलोचना करते समय किसी खास 'वाद' के दायरे मे बाँधकर ही साहित्य को देख पाते हैं। यह तरीका एकदम ग़लत है। साहित्य के 'वाद' दार्शनिक या वैज्ञानिक प्रणालियाँ नही हैं। वे केवल साहित्य के दृष्टिकोण हैं।

कोई भी दृष्टिकोण, यानी कोई भी साहित्यिक 'वाद', तभी तक ठीक है जब तक वह जीवन के चेतना मे परिपूर्ण है। यथार्थवाद, जिसे आजकल वर्गवादी प्रगतिवाद कहते हैं, तभी तक ठीक है जब तक उसका लेखक अपनी स्फूर्ति वास्तविक स्थिति से पाता है। प्रश्न स्फूर्ति का ही है। केवल ग्रामीण स्थिति देख-भर लेने से, या गाँवो के वातावरण म लेखक के रहने से, सच्चे यथार्थवादी साहित्य का जन्म नही हो सकता, जब तक लेखक की आत्मा ग्रामीणता में स्वय नही पनपती, और वहाँ की क्रिया प्रतिक्रिया से प्रवहनशील होकर साहित्य मे नही उतरती। हैनरी बारबूस एक सच्चा प्रगतिवादी कलाकार था, क्योंकि उसकी क्रान्ति की भावना के पीछे उसका स्वय का जीवन था, जो कि उसके आस-पास की परिस्थिति से पूर्ण सुसगत और उसका प्रतिनिधित्व करता था।

जिस तरह सामाजिक व्यथा से जाग्रत मानवी आत्मा यथार्थवादी हो जाती है, उसी तरह अपनी सम्पन्न परिस्थिति मे अपनी भावनाओ के मनोहर कोष से चेतन मानव-आत्मा भावना-प्रधान और कल्पना प्रधान, जिसे रोमैण्टिक कहते हैं, हो जाती है। वास्तव मे देखा जाय तो रोमास और यथार्थवाद मे केवल परिस्थिति का भेद है। यथार्थवादी भी उतना ही भावना-प्रधान, ओजमय हो सकता है जितना कि शैले। परन्तु उसका दृष्टिकोण बहिर्मुख है, बाह्य वास्तविकता के सघर्ष से उत्पन्न उसकी भावनाएँ हैं, और रोमैण्टिक कलाकार का दृष्टिकोण अपने आन्तरिक जगत् के प्रति है। वह स्वय अपना ही कलाकार है।

प्रतिक्रिया-युग मे हम देख पाते हैं कि यथार्थवादी रोमैण्टिक के प्रति द्वेषभाव रखता है, परन्तु यह गलत है। मनुष्य की प्रकृति मे क्या रोमास का स्थान नही है? रोमास तो प्रवहमान जीवन-धारा का सैल्फ एसर्शन है। जिस तरह वसन्त ऋतु मे वृक्षो के अन्दर तरुण ओज फूल पत्तियो का सृजन करता है, वैसे ही वही तरुण ओज स्त्री-पुरुष के अन्तर्जगत् मे रोमास उत्पन्न करता है, उनके स्वस्थ शरीर म वह नव जीवन बनकर बहने लगता है।

परन्तु व्यक्ति जितना सामाजिक है, उतना ही वैयक्तिक। कभी-कभी यथार्थवादी को भी कविता लिखने की सूझती है, और कल्पना प्रधान कलाकार को कहानियाँ और लेख। जब भावना प्रधान प्राणी बाह्य वास्तविकता की ओर मुडता है, और अपनी सहज ईमानदारी से वशीभूत होकर उसके प्रति अपने को जिम्मेवार ठहराता है, तभी से उस साहित्य की उत्पत्ति है जिसे हम आदर्शवादी साहित्य कह सकते हैं, क्योंकि वह जीवन पर सोचने लगता है, जीवन की ट्रैजेडीज, उसके विरोध और विसगतियाँ, उसके मन म बैठ जाती हैं। वह उनके विचारो से किसी तरह छुटकारा नही पा सकता। वह उन पर सोचता है, कुछ निष्कर्षों पर आता है, और उन सबका चित्राकन करता है। इस विशेष प्रकार का कलाकार जीवन को समस्त रूप मे ग्रहण करने की चेष्टा करता है, और यही उसका महत्त्व है। हार्डी, रोम्याँ रोला, शरत् ऐसे ही कलाकारो मे से हैं।

हमने इन तीन मुख्य वादों पर ही अधिक प्रकाश डाला है। शेष दृष्टिकोण समझने में अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। दूसरे, जगत का समस्त साहित्य अधिकतर इन तीन विभागों में ही बाँटा जाता है।

पर क्या कारण है, युग के साथ-साथ कला परिवर्तित होती चलती है? इसके मुख्य हेतु दो हैं। प्रथम, आन्तरिक, और दूसरा, बाह्य। बाह्य परिस्थिति जिस तरह बदलती चलती है उसी तरह साहित्यिक धारा भी अपनी दिशा बदलती है। इसके उदाहरण आपको किसी भी अच्छे साहित्य में दृष्टिगोचर होंगे। हम इसको अधिक से अधिक बाह्य से प्रतिक्रिया कहेंगे। पर एक ऐसी भी प्रतिक्रिया है जो आन्तरिक जगत में होती है, जिसके कारण साहित्य की आन्तरिक धारा में हलचल उत्पन्न होती है।

कला तभी तक जीती-जागती रहती है जब तक कि लेखक का वर्ण्य वस्तु के प्रति भावात्मक सम्बन्ध हो। जिस प्रकार सोचना या विचार करना ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक साधन है, उसी प्रकार भावना भी जीवन का ज्ञान प्राप्त करने का एक कलात्मक साधन है। भावनानुभूत ज्ञान ही कला का विषय है। परन्तु जब हम कला का सच्चा दृष्टिकोण छोड़कर किसी दूसरे क्षेत्र में चले जाते हैं, तब हम धीरे धीरे प्रतिक्रिया का आह्वान करते हैं। उदाहरणत कबीर जब तक अपने रंग में मस्त होकर जीवन का ज्ञान सुनाता है, तभी तक वह कलाकार है। पर जब वह हम अपने बौद्धिक दार्शनिक निर्गुणवाद के प्रति आस्था रखने के लिए आग्रह करता सा दीख पड़ता है, वहीं वह कला का दृष्टिकोण छोड़कर दार्शनिक दृष्टिकोण के क्षेत्र में उतर आता है, जिसके अलग नियम हैं, और मूल्यांकन के अलग स्टैण्डर्ड हैं। उसी तरह पद्माकर शृंगार के साधन और उसके उपकरणों का कैटेलॉग पेश करते हैं। यहाँ भी वही दोष है।

एक दूसरे प्रकार की आन्तरिक प्रतिक्रिया तब शुरू होती है, जब भावनानुभूति के नाम पर हम उन्हीं भावनाओं को दुहराते हैं जो निष्प्राण हो गयी हैं, जहाँ जीवन की गति कुण्ठित हो गयी है। इस प्रकार साहित्य में बासीपन की उत्पत्ति होती है, जिसके विरुद्ध प्रतिक्रिया फौरन शुरू हो जाती है, क्योंकि जीवन एक जगह रुका नहीं रह सकता।

क्यों एक कलाकार दूसरे कलाकार से ऊँचा कहा जाता है? क्यों वाल्ट ह्विटमैन या ब्राउनिंग को लोग टेनिसन से ऊँचा समझते हैं? कबीर क्या बिहारी से ऊँचा है?

इस प्रश्न का उत्तर देते समय हम साहित्य में 'सतह' का भी परिचय हो जाता है। कौन किस सतह से बोलता है, यह सवाल है। रवीन्द्रनाथ जिस सतह से बोलते हैं, जिस व्यापक जीवन के सर्वोच्च बिन्दु पर खड़े होकर देश देशान्तर के जन-समुदाय के सामने वे अपने को प्रकट करते हैं, उस स्थान के अन्य अनुगामी कलाकार नहीं बोल पाते। उतना ही उनमें बौनापन है, जितनी कि रवीन्द्र में ऊँचाई।

साहित्य का मूल्यांकन निश्चित करते समय इस 'सतह' का ध्यान रखना ही पड़ता है। कवि का शब्द-चयन, छन्दो रचना, प्रकृति-वर्णन, स्वभाव-चित्रण अत्यन्त सुन्दर होते हुए भी (जैसे कि टेनिसन में हैं), यदि ऊँची सतह नहीं है, तो वह उच्च कलाकार नहीं कहला सकता।

[कमला, जून 1941 में प्रकाशित। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित।]

मानव जीवन-स्रोत की मनोवैज्ञानिक तह में

जगत् और जीवन में अन्तर इतना ! मनुष्य की अपनी आन्तरिक मौलिक प्यास क्या यों ही अँधेरे में रह जाय सिसकती-सी ? क्या यह जगत केवल बाज़ार की सड़कों पर घूमनेवाले, खरीदने के लिए आतुर जन-समुदाय, या सरकारी दफ्तरों में बैठनेवाले कृत्रिम महान् मनुष्यों तक ही सीमित है ? इनसे बाहर, इनसे परे, क्या जगत् का फैलाव नहीं है ? फिर क्यों है यह जगत् और जीवन का विरोध ?

जब जीवन की वेदना और उसकी शक्तिमान् विश्वस्त प्रसन्नता अगाध हो जाती है, तभी वह सम्पूर्णता का क्षण आता है, जिसके सामने जगत् एक विरोधी भीत के समान पड़ा न रहकर धूल के कण के समान नम्र हो जाता है।

यह सच है कि जीवन की कुछ ऐसी गहरी अनुभूतियाँ होती हैं जो कभी भी प्रकाश में नहीं आ पातीं। आ नहीं सकतीं। उन पर व्यावहारिक जगत् की कुछ ऐसी बन्दिश और कैद होती है कि उनका प्रकटीकरण सामाजिक अशोभनता की सीमा छू आता है। हमारे समाज में पुरुष स्त्री से कुछ अधिक स्वतन्त्र होने के कारण अपने हृदय को मुक्त रखने में अधिक सफल होता है, परन्तु स्त्री कौटुम्बिक सामाजिक बन्धनों और संसारात्मक व्यक्तिगत रुकावटों की चट्टानों से टकराकर अपनी बेबसी के अँधेरे में बिलख पड़ती है, रो पड़ती है। यह उसकी काव्यात्मकता एक बहुत बड़ी हद तक सामाजिक अनौचित्य से उत्पन्न हुई है। परन्तु, फिर भी ऐसी अनुभूतियाँ स्त्री पुरुषों में रह ही जाती हैं जिनकी अभिव्यक्ति के मार्ग बन्द हैं। पुरुष अपने परमप्रिय मित्र से भी, फिर स्त्री का क्या सवाल, अपने व्यक्तित्व की ऐसी बाजुएँ बचा जाता है, अपने अनजाने ही, कि उनका पता स्वयं उसको भी ठीक-ठीक नहीं हो पाता। व्यक्ति अपने आपमें पूर्ण है, अलग है। और यह अलगाव, पूर्णता ही उसे दूसरों से अलग रखती है, जुदा रखती है, कि कहीं वह अपने व्यक्तित्व को विसर्जित न कर दे, उसको हार न बैठे।

ये अज्ञात-कारणा भावनाएँ मनुष्य के मनालोक में कम्पन पैदा किया करती हैं। इन्हीं स्रोतों के आस पास, कभी-कभी, उसके जीवन का तत्त्व इकट्ठा होने लगता है। और हम देखते हैं कि उसके व्यवहार में विशेषता या वैचित्र्य प्रकट होने लगता है। यह क्यों है, ऐसा क्यों ? यह प्रश्न जीवन के सारे व्यथित प्रवाह की ओर संकेत करता है, उसको उघाड़ा करने के लिए, नग्न करने के लिए। इन बातों को अलग छोड़कर हम देख पाते हैं कि, कभी-कभी, यदि मनुष्य सावधान कलाकार हो, या चतुर आत्मविश्लेषक हो, तो वह इन स्रोतोमयी अनुभूतियों से सचेत हो जाता है, और उनको जगत् के सन्दर्भ से देखकर उन्हें मान्य करने की अधीर आकुल चाह से पीड़ित हो उठता है।

यह एक बड़ा ही अजीब दृश्य है कि कई सुन्दरतम अनुभूतियाँ विविध नर-नारियों के मन में गुप्त रह जाती हैं। उनका कोई प्रकाश विश्वात्मक तौर पर हो ही नहीं पाता। यह वैयक्तिक आग व्यक्ति के साथ ही समाप्त हो जाती है। और वे अनुभूतियाँ ऐसी होती हैं जिनके एकत्रीकरण से सर्वोत्तम विश्व-साहित्य तैयार हो सकता है। साधारण मनुष्य जिसके पास कलम का ज़ोर या वाणी की प्रतिभा नहीं है, और न विश्वात्मक तरीकों का माद्दा है, इस विषय में

बहुत अधिक दुर्भाग्यशाली है, क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति का मार्ग रुका हुआ है।

इस विशाल जडीभूत पंजीभूत ससार मे गति का एक कम्पन, रेगिस्तान से निकलनेवाले छोटे-से चश्मे की भाँति, अनायास होते हुए भी अपने लघु अस्तित्व की दीवारो मे घिरा होने के कारण, अपने आप मे ही जीकर खत्म हो जाता है, जिस तरह मध्य एशिया से तारीम नदी एक विशाल निर्जल कन्दरा से निकलकर तिब्बत के शुष्क प्रदेशो मे अपने शोचनीय अस्तित्व को वहन करती हुई एक नमकीन, कड ुल, रेगिस्तानी झील मे डूबकर खतम हो जाती है। यह सोचना गलत है कि साहित्यकार, वैज्ञानिक तथा अन्य कलाकारो को छोडकर, अनुभूति साधारण जन-समुदाय मे हो ही नही पाती। अनुभूति-क्षमता मानव-जीवन की विशेषता है। हृदय के निबिडतम कोनो मे से जीवन का बलवान प्रवाह इन्ही भावनानुभूतियो के रूप मे द्विगुणित होता है, तीव्र हो पडता है। व्यक्तित्व का विकास भले ही अन्तर्बाह्य सघर्ष से हो, परन्तु, फिर ये अतृप्त अनुभूतियाँ, यह जीवन की स्वाभाविक रीति से बहने की प्यास, जीती ही रहती है, जागती ही रहती है। ऐसी अतृप्त सम्पन्न भावनानुभूतियो का कोष भारतीय नारियो के मन के अपने कोने मे पडा ही रहता है, सडा ही करता है। भारतीय स्त्रियाँ जो अपने अनजाने प्रेम कर लेती हैं, एक दो होती हैं। करीब-करीब शेष अपने पति के घर को अपनी आत्मा से स्निग्ध करने की चेष्टा करती है। परन्तु पति जो मूर्तिमान [illegible] है। स्त्री ठुकराई [illegible] के उदग्र प्रवाह [illegible] दबाई जाती है। तो, ये सम्पन्न भावनानुभूतियाँ स्त्री-पुरुष सबके मन मे होती हैं। उनके अनुसार अपने जीवन का निर्माण तो क्या, उनकी अभिव्यक्ति का पता ही नही होता। जैसे अमावस्या की रात।

एक काफी अच्छे और प्रसिद्ध समालोचक ने कही एक जगह लिखा कि वे उन एकान्त भावना-विश्लेषण मे रस नही ले पाते जिन्हे मनोवैज्ञानिक कलाकार खोज-खोजकर सामने रखता है। उन भावनाओ की एकातिकता के प्रति उन्हें अरुचि है। जो हो, अनुभूति, क्रिया-प्रतिक्रियात्मक मनोविकार और भावनाओ से जुदा, जीवन की गुप्त प्यास के अनेक प्रकट रूप है—जहाँ जीवन विकसित, तन्मय और प्रतिफलित होना चाहता है, वस्तु-जगत् पर अपना एकाधिकार चाहता है, जिस पर वह खुलकर वह सके, फैल सके। वह उस पर अपना अबाध प्रसार चाहता है। अनुभूतियाँ निविड अन्तर्लोक मे प्रवहमान, जीवन के निर्झर स्रोत हैं, जहाँ से जीवन का चश्मा निर्मल बहा करता है बहने के लिए, फैलने के लिए—वह जीवन जो अन्धकारमय अन्तर-कन्दराओ मे से गुप्त बहता हुआ अनुभूति-द्वारो से ऊपर की सतहो पर आ जाता है; चेतन मन मे अपने अबाध आकुल उत्साह मे फूट पडता है।

अब तक हमारी सभ्यता इस विकासमूलक प्रसरणशील प्यास को समझ नही पायी है। यही कारण है कि आजकल के व्यक्ति बहुत अधिक अशो मे गतप्रभ और यान्त्रिक होते चले जा रहे हैं। उनमे की विकासधारा को दबा दिया गया है। समाज की मशीन मे सामान्यता के सिक्के तैयार होते हैं। यह सामान्यता आजकल का मापदण्ड हो गया है।

परन्तु एक जीवन का कलाकार अपने आसपास, व्यक्तियों के खण्डहरों को देखकर स्वयं को अति-मानव देख पड़ता है। अपने राक्षसीय दीर्घ पैरों से उन खण्डहरों को लाँघता हुआ एक नवीन मूल्य-स्थापना, एवं नूतन व्यक्ति-प्रतिष्ठा की टोह में निकल पड़ता है, अपार आकाश के नीचे, सुदीर्घ फैली हुई पृथ्वी के बृहद वक्ष पर! जीवन की प्रवहमान दुर्दम आकांक्षा से प्रेरित यह मानव-मन उत्कट हो पड़ता है, तन्मय हो जाता है, आत्मविस्मृत हो जाता है, अपने ही सृजन में, अपने ही युद्ध में, नाश में, प्रेम में, आवेशमय अत्युच्च बिन्दु पर। यह जड़-चेतन का युद्ध हमारी सारी नीति की मूल धारणा, और जीवन का तल्लीन सृजन-क्षण हमारे सारे अध्यात्म का मूल आधार है।

[आगामी कल, फरवरी 1942, में प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसंघर्ष दूसरा संस्करण, 1983 में और अब रचनावली में पहली बार दूसरे संस्करण में संकलित]

प्रगतिवाद : एक दृष्टि

प्रगतिवाद साहित्य-कला की अत्याधुनिक धारणा है। वैज्ञानिक मनोभावों के अंकन मात्र से कला महान नहीं होती, जब तक कि उसमें सामाजिक तत्त्व का अभाव हो। अब तक की जितनी कला-प्रणालियाँ विकसित हुईं, वे थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ व्यक्ति की प्रधानता में ही अवसित हुईं। यह व्यक्ति की प्रधानता सामाजिक तत्त्व की दृष्टि से बाहर रहकर परिपुष्ट हुई। अतएव, इस प्रकार की कला का अपने आप में पूर्ण हो सकना सम्भव होते हुए भी, वह आदर्श-स्थान नहीं हो सकती। क्योंकि उसका वह व्यक्ति-भाव एक प्रकार से असपूर्ण (सामाजिक अर्थ में) हो जाने के कारण असंगत हो जाता है, और आदर्श कला जीवन की पूर्ण संगति का उद्भास है। यह आदर्श कला तब तक संभव नहीं, जब तक जीवन के सभी अंग परिपुष्ट नहीं हो जाते, कम-से-कम, जब तक उन सभी की ओर प्रयत्न नहीं होने लगता।

यह देखने पर कि मानवता के सब उच्च संस्कृति की ओर किये गये प्रयत्नों में का मुख्य दोष सामाजिक तत्वों की अपेक्षाकृत उपेक्षा रही है, जिसके कारण विश्व-प्रगति उतनी नहीं हो सकी जितनी कि होना चाहिए, कला उतनी नहीं बढ़ सकी जितनी कि बढ़ना चाहिए थी, विचार उतने ऊँचे और व्यापक नहीं हो सके जितने कि होने चाहिए थे। प्रगतिवाद उस मुख्य कारण को चीन्ह लेता है, और कहता है कि जब तक सामाजिक न्याय नहीं होगा तब तक व्यक्ति के चिन्तन में हमेशा दोष उत्पन्न होते रहेंगे। सुसंगति और समस्वरता की निरन्तर चेष्टा करते रहने के बाद भी वह ठीक-ठीक अर्थ में आदर्श प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक वह समाज के प्रति स्वयं सुसंगत न हो लें।

इस बाह्य सुसंगति के तर्क से परिचालित होकर प्रगतिवाद कहता है कि

पुरानी कला-प्रथाएँ इसीलिए पूर्ण मनुष्य का अवतरण न कर सकीं। तब जिस समाज की कला वह रही उसी की आकांक्षाओं और इच्छाओं का प्रतिबिम्ब वह रह सकी। वह समाज शोषण के बल पर, एक निम्नवर्ग—दलितवर्ग के आधार पर खड़ा होने के कारण उसके कला-विचार के आस-पास एक मर्यादा-रेखा आप ही-आप खिंच गयी—जिसके परे और बाहर उन विचारकों और द्रष्टाओं की मति आ ही नहीं सकी। अतएव वह कला या विचार प्रणाली पूर्ण मानवतापूर्ण मानव-साम्य की कीमत पर होने के कारण सम्पूर्ण मानव की इच्छाकांक्षाएँ प्रतिबिम्बित न हो सकीं। इसी वर्ग विभेद के कारण घोर वैयक्तिकता का जन्म हुआ, और परस्पर विरुद्धताएँ दिखलायी देने लगीं।

प्रगतिवाद इसका निदान करता है। वह कहता है कि ये परस्पर विरुद्धताएँ मानवता को ले मरेंगी। यह सामाजिक भेद कभी भी व्यक्तिवादी व्यक्तियों को भी पूर्ण नहीं होने देगा, क्योंकि आदर्श के स्वरूप में सामाजिक तत्त्व अभिन्न रूप से कायम रहते हैं। उनका बहिष्कार करने पर महान्, और उस हद तक सच्ची कला कभी अवतीर्ण नहीं हो सकेगी।

प्रगतिवाद कहता है, आज जब समाज में संघर्ष है, अव्यवस्था है, अन्याय है, और शोषण है, तब अपनी व्यक्तित्व-रेखा के दायरे में स्वयं को निबद्ध रखना और उसको परात्मक न बनाना, उसको समाज में न डुबो देना—अपने अस्तित्व के औचित्य को सप्रमाण उपस्थित करना न हुआ। और जो मनुष्य अपने अस्तित्व का औचित्य उपस्थित नहीं कर सकता, वह घोर प्रतिक्रियावादी है, और शोषण-सत्ता को आगे बढ़ा रहा है।

प्रगतिवाद युग की आवश्यकताओं को लेकर चलता है, क्योंकि उसकी ओर ध्यान देना सबसे अधिक जरूरी है। आज समाज पर इतना अन्याय का बोझ रहते हुए, दारिद्र्य का भार रहते हुए, उसकी उपेक्षा कर कला अपना मार्ग बहुत दूर तक तै नहीं कर सकती। उसको बीच में रुक जाना होगा—वह ओछी और बौनी हो जायेगी, वह कमज़ोर और विक्षेपयुक्त (परवर्स), सत्वहीन और घोर आत्म-केन्द्री होकर आत्महत्या कर लेगी।

प्रगतिवाद कला-मार्ग बनाना चाहता है। कला-शरीर की नसों में नया रक्त और नवस्फूर्ति का संचार जनता के अथाह हृदय के सम्पर्क में आने से ही होगा। उससे अछूता रखने पर वह मर जायगा। अतएव प्रत्येक सृजक कलाकार को जनता से चैतन्यमय सहानुभूति प्राप्त कर तेज प्राप्त करना होगा। कला या ईश्वर प्राप्त करने के लिए मन्दिरों या पुरानी श्रद्धेमताओं की ओर नहीं जाना होगा, बल्कि उस सैनिक तत्त्व, उस संग्रामशील धैर्य के अथाह आन्तरिक तेज और सन्तुलन के पास पहुँचना होगा। उसका ईश्वर सैनिक रूप में आ रहा है। विकराल मूर्तिभंजक के रूप में प्रकट हो रहा है।

मानवता के विकासेतिहास में आज का क्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण, प्रगतिवाद कला को एक विशाल जीवन के सम्पर्क में लाना चाहता है; और यह तभी हो सकता है जब कलाकार संकुचित वृत्ति को छोड़कर सम्पूर्ण जनता के आवश्यक साम्य के सिद्धान्त को स्वीकार कर तदनुसार अपनी अनुभूतियों की रचना करे—उनको अधिक व्यापक और गंभीर बनाये। इस विस्तार और प्रसार की आवश्यकता को प्रगतिवाद अत्यन्त गहराई से अनुभव करता है

परन्तु वह जानता है कि व्यापकता का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए भी अनुभूतियाँ टाली नहीं जा सकती। किन्तु पूर्ण जीवन-साम्य की दृष्टि से, कम-से-कम, इतना का सृजन हो ही सकता है। इससे, जो आलोचना-बिन्दु बनेगा, जो इच्छाआकांक्षाएँ प्रस्फुरित होंगी उनका सम्मिश्र दृढ़ रूप ही इस समय अभीष्ट है। इस समय कला विशेषतया मध्यवर्ग में उत्पन्न होती है।

इस प्रकार प्रगतिवाद प्रधानत युग की आवश्यकता को लेकर चलता है—वह आवश्यकता जिसकी पूर्ति से समाज वर्गहीन, भेदहीन और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो सके। आज के जगत की मुख्य कमी शोषण-सत्ता की भयानकता है। इसके सन्दर्भ से जो स्थिति समाज में पैदा हो गयी है, उस स्थिति में परिदलित मानव समुदाय के मनोविश्लेषण का कार्य प्रगतिवादी कला करती है, और आगे के विकास की रूपरेखा निश्चित करती है।

परन्तु यह नहीं कि प्रगतिवाद केवल युग-भाव के एकाकी अलग रूप को ही अंकित करना चाहता हो। युग जिस प्रकार मनुष्यों में बोल रहा है उसका अंकन हमेशा सम्मिश्र होगा क्योंकि वह व्यक्ति के मनोभावों में से, जो कि वैयक्तिक निधि है, ऊपर उठ रहा है। प्रगतिवाद की मानव कल्पना युग के (ऐब्सट्रैक्शन) पर आधारित नहीं है। वह मनुष्य को अधिक मूर्त रूप में ग्रहण कर रहा है। इसलिए उसमें रोमान्स, प्रेम, संघर्ष, कल्पना सभी का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि प्रगतिवाद मानव के यथार्थ पर टिका हुआ है, और इसीलिए कला-व्यवस्था में उसका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

राजनैतिक दृष्टि से प्रगतिवाद प्रसार का हिमायती है, वर्गहीन समाज सत्ता का पुजारी है। उसका विश्वास है कि राजनीति के द्वारा ही हम एक देश के दलित दूसरे देशों के शोषितों के सम्पर्क में आ सकेंगे, और इस प्रकार एक बृहन्मानवता का आलोडन होगा। ऐसी वर्गहीन समाज सत्ता इस समय न होने के कारण वह क्रान्ति का पुजारी है। इसीलिए वह जनता के साथ घनिष्टतम घोरतम सम्पर्क रखना चाहता है। और कलाकारों से कहता है कि तुम अधिक-से-अधिक जन हृदय के सम्पर्क में आओ और क्रान्ति को शीघ्र आगमनशील बनाओ।

दार्शनिक दृष्टि से प्रगतिवाद विकासवाद में विश्वास रखता है, लेकिन यह डार्विन का वैज्ञानिक विकास नहीं है जो कार्य-कारणवाद को यांत्रिक अर्थ देता है। सच पूछा जाय तो यह जड़वाद सचमुच है ही नहीं। यांत्रिक भौतिकवाद (जिसे हम जड़वाद कह सकते हैं) का समुचित खण्डन साम्यवाद के आचार्यों द्वारा हो चुका है। हेगेल के केवल बौद्धिक परिकल्पनाओं (कन्सैप्ट्स) को यहाँ अधिक ठोस और तत्त्वयुक्त बनाया जाकर उसको पुष्ट किया गया है। इसके द्वन्द्वात्मक गतिविधि द्वारा आविर्भूत विकास यांत्रिक भौतिकवाद से अधिक स्वतन्त्र और पूर्ण है। प्रगतिवादी एक निश्चित दार्शनिक ऐटीट्यूड उत्पन्न करता है, जो न 'स्व' में अधिक 'बाह्य' को, और न 'बाह्य' से अधिक 'स्व' को महत्त्व देता है। वह कहता है कि इन दोनों की परस्पर क्रिया प्रक्रिया से विकास होता आ रहा है।

जीवन की दृष्टि से प्रगतिवाद आज तक की सबसे ऊँची मंज़िल है, और उसकी विशेषता इसमें है कि उसमें जीवन को अधिक मूर्त रूप में ग्रहण

किया है।

[आगामी कल, मई 1942 म प्रकाशित। आखिर रचना क्यो ? मे और अब रचनावली म पहली बार दूसरे सस्करण मे सकलित]

साहित्य में व्यक्तिगत आदर्श

मानव-चरित्र के चित्र का नाम कला है। व्यक्ति धारा जब मानवता-सिन्धु मे डूब जाती है तब उसके सगमस्थल पर जो कलरव होता है वही कला बन जाती है। यह सगम स्थान क्या मानवता सिन्धु को निषिद्ध कर उत्पन्न होता है ? या, वही, व्यक्ति धारा को निषिद्ध कर अपना अस्तित्व ग्रहण कर सकता है ? केवल 'नहीं' इसका उत्तर है। तो कला मानव-समाज की वाणी में झकृत व्यक्तिगत कम्पन है।

इस वृहत मानव-समाज म अपने को पर्यवसित करने मे जो आन्तरिक विस्तार प्राप्त होता है वह वैयक्तिक सुख है। आकाश के कोने-कोने छू लेने की चाह से पक्षी के छोटे-से हृदय मे एक नया आकाश बन जाता है। यह नया आकाश उसका वैयक्तिक आकाश है, पक्षी का आकाश है।

परिस्थिति निर्माण करने के लिए एक सघर्ष की आवश्यकता होती है। इस सघर्ष को कलात्मक रूप देने के पहले उसके विश्वात्मक रहने और वैसा मूल्य प्राप्त करने की जरूरत होती है। यदि यह सघर्ष प्रकृति की पुकार है, उसकी अनिवार्यता है तो उसका उद्देश्य भी है और उस उद्देश्य के गर्भ मे एक आदर्श भी है। यह सघर्ष का आदर्श व्यक्ति-अतीत है। उस व्यक्ति-अतीत विश्व मे हो, और उसी के सन्दर्भ से उसका मूल्य है। यह व्यक्ति-अतीत, मूल्य-गौरवित सघर्ष अपनी स्थिति की शर्त से ही वास्तविक होता है। व्यक्ति-अतीत इस अर्थ मे कि उसकी परिधि मे व्यक्ति आने पर भी उसका केन्द्र समाजव्यापी आदि-स्फूर्ति ही है जो समाज की विकास-भावना के पीछे की प्राकृतिक आवश्यकता से सुलगती और पूर्ण होती है। इस सामाजिक मूल्य-स्फूर्ति की अनिमय लहरें व्यक्ति की शान्ति-भावनाएँ हैं, सघर्ष-विचार हैं, भविष्य कल्पनाएँ हैं।

मानवता-सिन्धु इस मूल्य-विश्व [का] काव्यात्मक नाम है। यह मूल्य-विश्व मानव-विकास का आकाश है जहाँ इस विकसनशील लता को किरणें मिलती हैं, पानी मिलता है।

विश्वात्मक सघर्ष की लहरो को अपने अन्दर पानेवाला व्यक्ति है और उसके अनुभव व्यक्तिगत हैं। वह महत्तर बाह्य मे किरणें और पानी लेता है और हृदय मे नया ओज अनुभव करता है। इस ओज की अभिव्यक्ति फिर उसी विराट् विस्तार मे लीन होकर ही रूप प्राप्त कर पाती है। वह स्वय उस व्यापकता म लीन हो जाती है, परन्तु इससे हृदय मे मे उत्पन्न दुगुना कम्पन एक

प्रवाह है जिसके तत्त्व समाज से प्राप्त होते हैं, सस्कारों द्वारा, आनुवशिकता द्वारा यह प्रवाह अपने शक्ति-रूप में व्यक्तिगत (जेनोटाइप) होता है। परन्तु प्रवाह में बहनेवाले तत्त्व सामाजिक ही होते हैं।

साहित्य मे अवचेतन मन अनायसता और रगीन चित्रात्मकता भरता है, परन्तु वही प्राकृत शक्ति चेतन मन मे परिकल्पना (कन्सेप्शन) होकर उस अवचेतन की चेतन म मार्ग-रेखा बनाती है। कलाकृति की कल्पना (कन्सेप्शन) चेतन मन का एक उच्चतर समन्वय है। कला मे इन दोनो की अवचेतन शक्ति और कल्पना का सामजस्य अनिवार्य है। अवचेतन सामजस्य की क्रिया मे चेतन को सशक्त करता है, और चेतन-अवचेतन का उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) करना है। चेतन-अवचेतन की यह क्रियमाणता एक वैयक्तिक गति है, परन्तु अवचेतन स्वय अनभिव्यक्त और आपेक्षित रूप मे दमित विकास तृषाओ का शक्तिमान केन्द्र है। वह मानवी प्रकृति की अन्तर्धारा का स्वरूप है। किसी बाह्य को पहचानने के लिए एक अनुभव केन्द्र की रचना बाह्य तत्त्व और आत्म-शक्ति का सयुक्त रूप है। इसीलिए अवचेतन की शक्ति व्यक्तिगत होते हुए भी उसका कण्टेण्ट बाह्यगत और समाजगत होता है।

तो यह अनायास बहने वाली अवचेतन शक्ति का रूपाधार मनुष्य की तृषाएँ ही है, जो मनुष्य के समाज से गतिमान सम्बन्ध को ही बतलाती हैं। चेतन मन का सृजनशील धर्म-समन्वय स्वय अन्त शक्ति और बाह्याधार के तत्त्वों से निर्मित होता है। इसलिए, चेतन से निर्मित कन्सेप्शन और अवचेतन शक्ति-धारा का जब सामजस्य हो जाता है तभी किसी भी क्षेत्र मे सृजन सम्भव है। यह सामजस्य तभी सम्भव है जबकि मनुष्य को आन्तरिक आवश्यकता के अनुकूल सामाजिक रोल प्राप्त हो। यानी, व्यक्ति और समाज के सामजस्य से चेतन और अवचेतन का सामजस्य सफल हो सकता है, अन्यथा नही।

यदि ऐसा न हो तो मन शक्तियो के और इतर उच्च गुणो के बावजूद भी कलाकार विभ्रमित असन्तुलित और आत्मध्वस मे सलग्न होगा।

[आगामी कल, अगस्त और सितम्बर 1943, मे प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसघर्ष, दूसरा सस्करण 1983 मे और अब रचनावली म पहली बार दूसरे सस्करण मे सकलित]

समन्वय के लिए संघर्ष चाहिए

समाज की अनेक विकास स्थितियो मे कलाकार उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता रहा है जो समाज का सचालन-केन्द्र है। सचालन केन्द्र के मानी वह शक्ति जो तत्कालीन आर्थिक भित्ति को, एक ओर तलवार और धन-बल के द्वारा, तो दूसरी ओर धर्म और विचार और भावनाओ के चतुर परिचालन के द्वारा, समाज के

तत्कालीन सगठन को चिरन्तन बनाये रखने के लिए, मजबूत रखती है। यह सब किस प्रकार होता है इसका निदर्शन समाजशास्त्रीय मनोविज्ञान का विषय है। मैंने इसको केवल सकेत ही किया है। परन्तु यह बात निश्चित रूप से समझ लेने की है कि कलाकार अपनी विकास-तृषाओ को, जो उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिससे वह कलाकार आत्रयविक रूप से (ऑरगेनिकली) सम्बद्ध है, उसी वर्ग मे मूर्त कर सकता है जिस वर्ग की गतिमानता के तर्क से वह अपने व्यक्तिमत्ता के तर्क को मिला देता है। बिना यह किये, उस वर्ग से जिसमे उसकी तृषाओ की पूर्ति की सभावना है उसका सामजस्य नही हो सकता। परन्तु यह गतिमान सामजस्य जितना ही घनिष्ठ होगा, उतनी ही उसकी व्यक्तिमत्ता की छाप बलवान और व्यापक होगी। समाज के प्रचलित या सन्निहित तत्त्वो को अपनी आत्मज्वाला की आग मे स्वर्णिम कर विश्व के सम्मुख रखेगा। इस प्रकार वह आत्मबल के द्वारा उस समाज-वर्ग पर प्रत्याघात कर अपने नये-नये काल्पनिक (साहित्यिक) समन्वयो के द्वारा उस समाज-वर्ग की विकास-रेखा को आगे खीचता चला जायगा। और इसी मे वह आत्मपूर्ति के साथ ही साथ वर्ग हित, जिसको कि वह पूरे समाज का हित समझता है, करता हुआ उस वर्ग-हित के माध्यम से अपने को ऊँचा करता और भागता हुआ समाज पर फिर प्रत्याघात करता चला जायगा।

उन लोगो के लिए कि जो इतिहास, जो कि प्रकृति की जीवन-विकास-रेखा है, की तर्क गति को नही समझते यह मेरा लेख अनेको मिथ्यात्वो से भरा हुआ मालूम होगा। उनकी सबसे बडी शका यह होगी कि किस प्रकार ईसा, बुद्ध, गेटे, तुलसीदास, मीरा, कबीर, इयलेन [?], व्हिटमैन और रबिन्द्रनाथ का चरम सामजस्य समाज के एक वर्गमात्र से ही था, जबकि उनका सन्देश समस्त मानवता और निखिल चेतना की ओर से समस्त मानवता को था। इस शका का उत्तर एक पुस्तक हो सकती है जिसमे समाजशास्त्रीय मनोविज्ञान और उसकी प्रक्रियाओ के विस्तृत विरूपण हो। शायद इसी पर आगे मैं लिखूं। अभी यह मेरा विषय नही है।

साहित्य मे व्यक्तिगत आदर्श के निरूपण का सिलसिला अब शुरू होता है। प्रथमत, हम व्यक्तिगत आदर्श की बात समझ लें। आदर्श का निश्चित सम्बन्ध व्यक्ति से ऊपर उठकर एक बृहत्तर समाज सत्ता के प्रति है। व्यक्तिगत इस अर्थ मे हैं कि उन आदर्शों के द्वारा व्यक्ति अपनी सृजन-धारा की परितृप्ति पाता है। यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि व्यक्ति अपनी मुख्य विकास-तृष्णा के अनुकूल ही समाज-जीवन के किसी अग को चुनकर उसे आत्मबल से प्रत्याघात करता है। इस प्रत्याघात के समय जो विकास-स्वप्न उसके सामने होता है वह समाज-जीवन के किसी एक भाग के अन्तर्तत्वो से भरा हुआ होता है, जो भाग उसकी विकास-तृषा के प्रत्याघात के सामने विनत होकर प्रत्याघात का मूर्त फल बन जाता है।

यह तो हुआ 'व्यक्तिगत-आदर्श' के वैयक्तिक और सामाजिक अर्थों का विश्लेषण। अब हम यह देखें कि किस तरह कलाकार अपने-अपने दृष्टिकोण, जो कुछ नहीं है सिर्फ उनकी मुख्य वृत्तियो की मूर्त अभिव्यक्ति मात्र है, साहित्य मे उपस्थित करते हैं। यह सब सिर्फ सक्षिप्त मे ही सभव नही है। दूसरे, उनकी

मुख्य वृत्तियों को बतलाने के साथ-ही-साथ सामाजिक आधार, जो उनका एक-साथ बल और सीमा है किस प्रकार उनकी सीमा बनकर उपस्थित होता है, यह देखना जरूरी है। क्योंकि इस लेख का उद्देश्य कलाकार के व्यक्तिगत आदर्शों की गणना और उनका विश्लेषण नहीं है, बल्कि वे आदर्श किस प्रकार और क्यों साहित्य में आते हैं इसकी भूमि को ही बतलाना है।

हम एक बात भारतीय और पाश्चात्य कलाकारों की तुलना करते समय देखते हैं कि भारतीय साहित्य में कलाकारों का वह रुचिर वैविध्य देखने को नहीं मिलता जो पाश्चात्य साहित्य में है। इसका एक कारण यह भी है कि भारतीय दर्शन की एकछत्र छाया में कलाकारों ने अपने व्यक्तिगत आदर्श रक्खे हैं। परिणामतः उनका मूर्त विकास निजत्व अपने प्रखर रूप में एक विशेष दृष्टिकोण लेकर सामने नहीं आ सका है। परन्तु पाश्चात्य दर्शन धर्म से अलग रहने के कारण उसका प्रभाव इतना घोर और सर्वव्यापी नहीं था। यही कारण था कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रभुत्व वहाँ आसानी से रह गया।

विशेषकर कवियों में यह वैविध्य ज्यादा स्पष्ट है। शैले का सन्देश 'प्रेम' और कीट्स का सिद्धान्त 'सौन्दर्य' तथा वर्ड्सवर्थ का 'प्रकृति' उनके व्यक्तिगत आदर्श हैं। उसी प्रकार टॉल्स्टॉय की नैतिकता, और रोमाँ रोलाँ का बलवान असत्-विरोधी व्यक्तित्व का सन्देश है। उसी प्रकार कबीर का 'सुखिया सब संसार है खावै अरु सोवै' का फक्कड़पन, प्रखर मस्ती और व्यक्तिवादी बौद्धिक नैतिकता, उनके आध्यात्मिक और यौगिक रंग के बावजूद भी खोखले, जीर्ण-शीर्ण समाज के नीति-नियमों के विरुद्ध खुला विद्रोह करती है, और तुलसीदास का जीर्ण जीर्ण समाज के नीति-नियमों का आदर्शीकरण एक निश्चित सन्देश है।

हार्डी का निराशामूलक जीवन के प्रति देखने का दृष्टिकोण, तथा रोमाँ रोलाँ का बलवान व्यक्तित्व का सन्देश एक दूसरे के प्रति करीब करीब विरुद्ध है। फ्लॉबेर की मादाम बोवारी तथा ज़ोला की नाना का विषय अपने अमूर्त रूप में एक-सा है। परन्तु दोनों का ऐप्रोच अलग-अलग है।

खैर, ये बातें किसी भी साहित्य के विद्यार्थी को मालूम हैं। फिर भी थोरो और व्हिटमैन का उदाहरण ज़बान पर आ ही जाता है। व्हिटमैन जनता की ओर, तो थोरो जंगल की ओर उन्मुख था। उसी प्रकार दर्शन क्षेत्र में प्रैग्मैटिज्म उपयोगिता की ओर, क्रोचे सौन्दर्य की ओर, रसेल विज्ञान की ओर, बोसांके और ब्रैडले अध्यात्म की ओर, नीत्शे घोर वर्गवाद की ओर, बर्गसाँ जीवन पूर्ण व्यक्तिवाद की ओर बढ़ा हुआ था।

पूँजीवादी समाज में यह सब स्वाभाविक है। वैचारिक अराजकता पूँजीवादी के उसी प्रकार हित में है जिस प्रकार घोर अध्यात्म। इन दोनों सिरों को वह बहुत आराम से उदारता के नाम पर अपने में समा सकता है।

परन्तु प्रश्न दूसरा ही है।

क्या यह वैयक्तिक आदर्श-बिंदु एकत्र नहीं किये जा सकते?

एकत्र करते-करते ही वे अपना रूप खोकर नये हो जाते हैं। समन्वय संघर्ष-हीन होकर मृत हो जाता है। वह समन्वय रहता ही नहीं। समन्वय के लिए संघर्ष अनिवार्य है। इस संघर्ष का फल नया समन्वय केवल मार्क्सवाद ही है।

मार्क्सवादी लेखकों में यह अराजकता नहीं है। यह एक सुन्दर समन्वय है जिसमें वैयक्तिक रूप से प्रत्येक लेखक अपने व्यक्तित्व का पूरा प्रकाश देते हुए इस अराजकता से बच रहता है। शोलोखोव, स्टाइनबेक सिक्लेअर, अर्न्स्ट टॉलर, मैक्सिम गोर्की—सब अपनी अनेक विकास-तृषाओं की पूर्ति करते हुए परस्पर विरोध से बच जाते हैं, क्योंकि वे अपने को हीन समाज से तदात्म कर देते हैं।

[आगामी कल, दिसम्बर 1943 में प्रकाशित। रचनावली में पहली बार दूसरे संस्करण में संकलित]

साहित्य में सामूहिक भावना[1]

आज व्यक्ति की जिम्मेदारियाँ क्या हैं, यह तब तक समझ में आ नहीं सकता, जब तक हम अपने युग की और उसके वर्तमान रूप की निर्मिति की ओर प्रवृत्त जो शक्तियाँ थीं, उनकी गति प्रगति के विषय में ठीक तौर से जान नहीं लेते। इसके सुनिर्णीत ज्ञान के बिना व्यक्ति अपनी भी ठीक स्थिति और स्थिति की कारण-शक्तियाँ नहीं जान पाता, अपने जीवन की पहचान नहीं पाता, और उसके आस-पास चलनेवाले घटनाक्रम के पीछे कोई अर्थपूर्ण झंकार सुन नहीं पाता। अतएव, व्यक्ति अपनी ही खोज में समाज को ढूँढता है, समाज के विकास की परीक्षा करता है, और इस प्रकार उसकी परीक्षा करते हुए अपनी परीक्षा करता है।

परन्तु यह तब तक पूरी तौर पर सम्भव नहीं हो सकता, जब तक हम वस्तु-सत्य के प्रति उतनी ही आस्था न बतलायें जितनी कि आत्म-सत्य के प्रति, जैसे कि हमारे सामन्ती और पूँजीवादी विचारक बतलाते आये हैं। यह वस्तुप्रधान दृष्टिकोण—चाहे वह मनोविज्ञान में ही क्यों न हो—वैज्ञानिक दृष्टिकोण कहलाता है। हमारी मानसिक प्रतिक्रियाएँ—चाहे वह कितनी ही विशाल आदर्शभूमि में उद्गत क्यों न हुई हों, तब तक न्याययुक्त नहीं हो सकतीं जब तक हम उनके एप्लीकेशन के समय वस्तुनिष्ठ प्रवृत्ति नहीं बतलाते और वस्तुजन्य तर्क-स्नान के छन्द का साक्षात्कार नहीं कर लेते। परन्तु हम देखते हैं कि इस वस्तु-निष्ठा की कीमत पर आत्म-सौध को खड़ा करने के सप्रयास प्रयत्न की प्रधान प्रवृत्ति दिखलायी देती है। सामन्ती और पूँजीवादी चिन्ता में यही कारण है कि ज्ञान का विश्लेषण करते हुए काट वैज्ञानिक दृष्टिकोण काम में लाता है, परन्तु अन्तत सारे वस्तुजगत के आत्मानुभव को एक ऐसे अलौकिक सत्य (नूमिनॉन) में पर्यवसित कर देता है जो मनुष्य मात्र के ज्ञान के बाहर है, अर्थात् जहाँ

1 शीर्षक संपादक द्वारा।

केवल श्रद्धा का स्थान है। ज्ञान का विश्लेपण करते-करते जो यह ज्ञानातीत सत्य निकल पडा, वह बुद्धि की एकान्त स्वात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है। मज़ा यह है कि यह अलौकिक सत्य, जो ज्ञान का, यानी एक आत्मा के अनुभव का, अनुसन्धान करते-करते मिल गया है, वही सारे जगत् का ज्ञानातीत मूल स्रोत भी है, जो कि श्रद्धा का आस्पद है। काट के वैज्ञानिक अनुसन्धान का यह अवैज्ञानिक अन्त घोर आत्मकेन्द्री प्रवृत्ति का परिचायक है। हेगेल, काट से अधिक सुसगत होकर भी, अन्तत आत्मानुभव को वस्तु-सत्य के साक्षात्कार का अन्तिम माध्यम मानता है, और यही कारण है कि ब्रह्म (ऐब्सोल्यूट) जो कि आत्मा का उच्चतम कल्पनीय रूप है, को सत्ता (रिएलिटी) से एक कर देता है। यही आत्मकेन्द्री प्रवृत्ति शॉपेनहॉर से बर्गसाँ तक परिलक्षित होती है। परन्तु [वे] जगत् और आत्मजगत को मिटाने की फिक्र मे सारे वस्तु-सत्यो को आत्म-सत्यो के पानी मे घोल देते हैं। यही कारण है उनका दर्शन पूर्णतया सुसगत नही हो पाता।

बुद्धि जो कि अलिप्त, निर्मम स्व-पर-निरपेक्ष कही जाती है, उसी के क्षेत्र मे इतनी आत्म-केन्द्रिता का विकास, पूंजीवादी समाज की विशेषता है। फिर साहित्य और कला का क्या कहना!

की घोर वैयक्तिकता।

पतनोन्मुख पूँजीवादी साहित्य और दर्शन की दो विशेषताएँ हैं— प्रथमत, घोर वैयक्तिकता, दूसरे, दृष्टिकोण की अवैज्ञानिकता। इन दोनो की जड एक ही है और ये दो विशेषताएँ एक सिक्के की दो बाजुएँ है।

आज गाधीवादी नीति वर्तमान स्थिति मे और छायावादी साहित्य विद्यमान क्षण मे इसी पूँजीवादी कमजोरी के शिकार हैं। व्यक्ति की अपनी व्यावहारिक नीति की रक्षा और सामाजिक कर्तव्य के भान की रक्षा तब तक सम्भव नही जब तक वह इस वैचारिक सडाव से पूर्णतया परिचित नही हो लेता। हमारी सस्कृति का बहता पानी इतना कम हो गया कि बाँध बाँधना पडा, परन्तु चुपचाप पानी न बहने के कारण सडा जा रहा है। इसलिए पहले बाँध को तोडना बहुत जरूरी है, दूसरे नये झरने के नये पानी लाने की कोशिश बहुत आवश्यक है।

सस्कृति का पानी कम होने से बाँध बाँधा गया। यह पूँजीवादी सस्कृति का बाँध मुख्यतया उस युग के पुनर्जीवीकरण के पत्थरो से खडा किया गया है जहाँ कुछेक व्यक्ति ही समाज के अध्वर्यु होते थे। सारी वैचारिक ऊँचाइयाँ, और भावनात्मक गहराइयाँ इन्ही लोगो की होती थी। बाकी के समाज के लिए अलग कानून-कायदे थे। ऐसे विगत युग के कल्पना-सुखद वातावरण मे आत्मकेन्द्री प्रवृत्तियाँ लहलहा सकती हैं, जिसका पर्यवसान उसी *अवैज्ञानिकता के घोर अन्धकार* मे हमेशा होता है, जो कि पतनोन्मुख पूँजीवाद के लिए, उदाहरणत जर्मनी और इटली के फासिज्म के लिए, अत्यन्त हितकारी है। यह आत्मकेन्द्री प्रवृत्ति का उच्चतम विकास है।

परन्तु भारत का जीवन लहलहा रहा है। गांधीवाद की नीति-धारणा और रामराज्य के परिकल्पो (कन्सेप्ट्स) में 'महस्र शीर्षापुरुष सहस्रपाद' बंध नहीं सकता। आधुनिक मराठी साहित्य, अपने सारे यथार्थवाद के बाद भी, उसी पूंजीवादी संस्कृति की रक्षा करना चाहता है, परन्तु इस प्रकार बहुत दूर तक जाना उसके लिए असम्भव है। जनता का विश्वस्त विशाल पारदर्शी दृष्टिकोण अभी उन्हें प्राप्त नहीं। परन्तु विद्रोह के चिह्न यों ही दीख रहे हैं। गांधीवादी वृद्ध लेखक दादा धर्माधिकारी समाजवादी हो गये। अनन्त काणेकर, लालजी पेंडसे, मामा वरेरकर नूतन लोक साहित्य के अग्रदूत हैं, और खाण्डेकरी लाक्षणिकता, फड़के के नितलीपन, माडखोलकरी नौकरशाही वर्ग के चित्रण के प्रति उतना अनुराग नहीं रह गया है। मार्क्सवादी पु० य० देशपांडे एक उत्तम उपन्यासकार की हैसियत से सामने आ रहे हैं।

परन्तु जमींदारी और नवाबी के किले संयुक्त प्रान्त के शिक्षित वर्ग ने अभी अपने जीवन से इतना विद्रोह नहीं किया कि जनता के साहित्य को आत्म प्रकटीकरण समझें। फिर भी जो कुछ बौद्धिक प्रगतिवादी दृष्टिकोण बन रहा है वही क्या कम है?

यह नवीन दृष्टिकोण वैयक्तिक भावनाओं की ऊँचाई को समाज की कीमत पर नहीं रखता। व्यक्ति और समाज, समाज और परिस्थिति को एक दूसरे से ऊपर नहीं रखता। सोऽहं और तत्त्वमसि का व्यक्तिवादी सिद्धान्त उसे अमान्य है। मिट्टी आत्मा है यदि सच है, तो आत्मा भी मिट्टी है यह भी वह मानता है। संक्षिप्त में, वह सामूहिकता को लेकर चलता है और इस सामूहिकता की आन्तरिक क्रिया प्रतिक्रिया में विकास को वैज्ञानिक दृष्टि से जाँचता और समझता है।

हमारे साहित्य, दर्शन और कला में हम इसी सामूहिक भावना का विकास करना है। यह कहना गलत है कि यह सामूहिक भावना व्यक्ति की कीमत पर हुई है। सच्चा आत्मस्वातन्त्र्य प्राप्त करने के लिए सामूहिकता आवश्यक है। सामूहिकता की विशाल उर्वर भूमि में ही व्यक्ति के वृक्ष और लताएँ फूलती और फलती हैं। यह स्वस्थ सामूहिकता तभी होगी जब कि हम आर्थिक समानता उत्पन्न करें, और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति के पूरे साधन और मौके दें। यह सामूहिकता की भावना आत्मस्वातन्त्र्य और व्यक्ति स्वातन्त्र्य के अत्यन्त अनुकूल है। केवल इतना ही कि वह आत्मकेन्द्री प्रवृत्ति को समाज की कीमत पर चलने नहीं देती। अत पूंजीवादी संस्कृति के विरुद्ध साम्यवादी समाज रचना में सामूहिक उन्नति के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आश्रय लेता है, और विगत युगों के पुनर्जीवन के स्थान पर नवीन युग के सुव्यवस्थित भावी की ओर देखता है।

पूरी लय-तालता प्राप्त करने के लिए यही आवश्यक नहीं कि हम केवल आन्तरिक समन्वयात्मक सुसंगति प्राप्त करें। यह कर लेने के बाद भी हमारा व्यक्ति जीवन खण्डित रह सकता है क्योंकि वह समाज जीवन के साथ लय-तालता प्राप्त नहीं कर सका है। यह सुसंगति तभी सम्भव है जब व्यक्ति समाज से आन्तरिक वास्तविक लय-तालता अनुभव कर लेता है। बिना इसके, पर्फेक्ट मैन की कल्पना व्यर्थ है।

शिलर और गांधी के समान पूंजीवादी दरारों को भरकर आत्मोन्नति

का मार्ग ढूंढ़ना जीवन प्रवाह में विकास के लिए बहुत खतरनाक है। ऐसे सब आध्यात्मिक पचड़ों से बचकर व्यक्ति को अपने सामाजिक कर्तव्य के प्रति दृढ़ होना अत्यन्त आवश्यक है। आज इस समाज तत्त्व के प्रति उपेक्षा अपनी संस्कृति और व्यक्ति धर्म के विरुद्ध जिहाद है। यह आत्म विरोध है। समाज विरोध तो हुई है।

हमारे साहित्य और दर्शन, कला और विज्ञान में सामूहिक भावना का प्रभाव भरना ही हमारे विकास की दिशा है। तभी आत्मा का ताल सामाजिक लय में लीन होगा। और सामाजिक लय आत्मा के ताल में चलेगी।

जीवन का प्रभाव आज इधर ही बहना चाह रहा है। उसके उन्मुक्त आन्दोलन की प्रतिध्वनि आज दिगन्त के अंचल में गूंज रही है। हमारी भावी संस्कृति की दिशा यही है। इसलिए हमारी दिशा भी यही है।

[सम्भावित रचनाकाल 1945 47। रचनावली के दूसरे संस्करण में पहली बार प्रकाशित]

साहित्य में पौराणिक-ऐतिहासिक संदर्भ[1]

भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागृति काल का आवाहन जिन सब प्रधान हिन्दी कवियों ने किया उनमें प्रसाद का प्रमुख स्थान है। उनके द्वारा भारतीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना की आवश्यकताओं में से एक की पूर्ति हुई। मैथिली शरण गुप्त और प्रसाद की परस्पर तुलना उनके काव्य के मौलिक प्रकार भेदों के कारण हास्यास्पद समझी जाये पर यह सच है कि इन दो कवियों ने प्राचीन भारत के गौरव चित्रों के माध्यम से भारतीय समाज को आत्मविश्वास दिलाया।

बढ़ते हुए संकटों विरोधी साम्राज्यवादी परिस्थितियों और समाज के अन्दर जीर्णता की परम्पराओं के कारण भारतेन्दु प्रताप नारायण मिश्र आदि की सामाजिक कविताओं में क्रन्दनमय विषाद का आधिक्य था। परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन की गति और उसके आघात के साथ साथ उसका स्थान जिस प्रचण्ड और उद्धत आत्मवादिता ने ले लिया वह भारत भारती के हरगीतिका छन्द में गूंज उठी। उसी उद्धत आत्मवादिता का परिणाम प्रसाद पर दूसरा ही हुआ। उसने उन्हें आर्य बौद्धकालीन वातावरण की अवतारणा की ओर खींचा।

प्राचीन आर्य बौद्धकालीन वातावरण की अवतारणा जो प्रसाद के साहित्य में हुई वह एक आकस्मिकता न थी कवि की नितान्त वैयक्तिक रुचि का परिणाम न था। उसका सम्बन्ध था ठीक उसी ऐतिहासिक प्रक्रिया से जिसको मैथिलीशरण ने एक प्रकार से ग्रहण किया प्रसाद ने दूसरे प्रकार से। वह अतीतोन्मुख स्वप्न

1 शीर्षक सम्पादक द्वारा

वादी प्रवृत्ति न थी जिसके द्वारा प्रसाद का साहित्य अवतरित हुआ, न वह पलायनवादी मनोभूमिका थी जिसने आर्य बौद्धकालीन वातावरण को उपस्थित किया, न वह नियतिवादी अधोमुख प्रवृत्ति थी जिसने उन्हें कहानियों और नाटकों में उप कालीन आर्य बौद्ध संस्कृति की समस्त स्फूर्तिमय ताजगी और आत्मविश्वास की ओर प्रेरित किया। यदि उपरिलिखित कारणों में से किसी एक का भी वह कार्य होता तो प्रसाद के नाटक, कहानी और काव्य में जहाँ-जहाँ भी आर्य तथा बौद्धकालीन वातावरण उपस्थित हुआ है वहाँ-वहाँ औदास्य, आत्मरति, विश्वासहीनता तथा वात-दुष्ट (न्यूरोटिक) मानस की प्रतिच्छायाएँ देखने को मिलती। इसके विरुद्ध, जहाँ-जहाँ भी वह वातावरण उपस्थित हुआ है, वहाँ प्रसाद की भावना म गरिमा, जीवन के विवेकशील आदर्श तथा उनके श्रेष्ठ मूल्य, और विचारों में एक ताजगी, स्फूर्ति तथा बल देखने को मिलते हैं। प्रसाद की कतिपय कविताओं से उनका विशेषत्वीकरण करना अपराध होगा। यदि उनके पूरे साहित्य को देखा जाय (जो हमारे विषय के बाहर है) तो हम पायेंगे कि नियतिवाद, पलायनवाद आदि दोष अपने कण-रूप में ही उनमें उपस्थित हैं। उन दोषों के सबल कारण हैं जिनका विवेचन आगे किया जा सकता है। परन्तु उनके सम्पूर्ण साहित्य की प्रधान विशेषताओं में से वह नहीं है। जिसने मात्र इन दो दोषों को उनकी प्रधान विशेषताएँ माना है, उसने प्रसाद, उनकी प्रेरणा, उनकी शक्ति और उसकी सीमा को नहीं पहचाना।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि प्राचीन भारतीय आर्य-बौद्ध संस्कृति के वातावरण की अवतारणा तो प्रसाद के साहित्य में हुई, वह एक आकस्मिकता न थी, न कवि की नूतनान्वेषी रुचि का परिणाम था। भारतीय राष्ट्रीय-सांस्कृतिक पुनर्जागृति-काल की प्रधान आवश्यकताओं में से राष्ट्रीय आत्मविश्वास प्राप्त करने की, अपनी राष्ट्रीय महत्ता पर आस्था अनुभूत करने की, अपने सामाजिक आदर्शों तथा मानवादर्शों और मूल्यों तथा उच्चतर आकांक्षाओं को एक भव्यतर धरातल पर उपस्थित कर उनको उचित प्रतिष्ठा प्रदान करने की, जो एक सांस्कृतिक आवश्यकता रहती है, उसकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का परिणाम है यह प्राचीन भारतीय वातावरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति।

अतः प्राचीन भारतीय वातावरण के ये चित्र, ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में ही क्यों न अवतरित हुए हों, अन्ततः वे मात्र बृहत् मनश्चित्र (फैंटेसीज) हैं जिनके माध्यम द्वारा व्यक्तिवादी सांस्कृतिक उत्थान की आकांक्षाएँ और समस्याएँ प्रकट हुई हैं। उनकी लोकप्रियता और सर्व-जन-संवेद्य सौन्दर्य का रहस्य यही है कि एक ओर वे नवीन व्यक्तिवादी सांस्कृतिक चेतना की आवश्यकताओं और मूल्यों को ग्रहण करते हैं तो दूसरी ओर वे उन आवश्यकताओं और मूल्यों को न केवल प्राचीन युग के भव्य गौरव चित्रों के देह में आधुनिक आकांक्षाओं और समस्याओं [को] प्राण-प्रतिष्ठा कर देते हैं, वरन् वे इस युग के मूल्यों को उन वातावरण-चित्रों के द्वारा इस प्रकार उपस्थित करते हैं मानो वे आकांक्षाएँ और मूल्य आदि काल से चली आ रही हों, अर्थात् इस युग की आवश्यकता-आकांक्षाओं को एक नया ऐतिहासिक औचित्य प्रदान करते हैं।

सदा यह हुआ है कि एक समाज का स्थान उच्चतर स्तर के समाज के द्वारा ग्रहण किये जाने पर, क्रान्ति काल की अराजकता के उपरान्त जो उत्कर्ष की

लम्बी अवधि आनी है, उसके आरम्भिक काल में ऐतिहासिक कथा-साहित्य उत्पन्न हुआ करता है। प्रत्येक सामाजिक क्रान्ति के उपरान्त स्थापित नवीन उच्चतर समाज के प्रारम्भिक उत्कर्ष काल में, इसी प्रकार के साहित्य-प्रयास देखने को मिलते हैं। सम्भवत, प्रत्येक राष्ट्रीय जाति अपनी लम्बी जीवन-परम्परा का इस प्रकार स्मरण कर लिया करती है। और स्वय के द्वारा निर्मित नवीन समाज को पूर्व-गत समाजो से इस प्रकार सम्बद्ध कर लिया करती है। वैदिक साहित्य मे प्राचीनतर राजाओ की कथाओ से लगाकर तो आज के ऐतिहासिक उपन्यासो के पीछे, कदाचित अन्य प्रेरणाओ के साथ-साथ यह भी एक प्राकृतिक प्रेरणा रही है। आदिम साम्यवाद, दास सभ्यता, सामन्तवाद, पूंजीवाद और समाजवाद — इन क्रमागत समाज रचनाओ मे बराबर इस प्रकार का कथा साहित्य तैयार हुआ है। आदिम साम्यवाद मे यदि भाषा रही है, नृत्य और काव्य-सगीत रहा है, तो पूर्वगामी वीरो की कथाएँ भी रही होगी। वर्तमान रूसी समाजवादी साहित्य मे ऐतिहासिक उपन्यासो की सृष्टि उपरिलिखित तर्क को ही सिद्ध करती है। ऐतिहासिक कथा-साहित्य के पीछे पलायनवादी प्रवृत्तियाँ भी काम कर सकती हैं, परन्तु इस प्रकार से उत्पन्न साहित्य नये युग की आकाक्षाओ और नये समाज के व्यक्तियो मे जो अभिलषित हो सकते हैं उन व्यक्तित्व-गुणो का चित्रण नही कर सकता। अत उसमे उत्कर्ष नही आ सकता। प्रसाद का आर्य बौद्धकालीन वातावरण निर्माण पलायनशील प्रवृत्तियो से उत्पन्न नही है यह निर्विवाद है।

मैथिली शरण गुप्त ने पुनर्जागृतिकाल की राष्ट्रीय सामाजिक सुधारवादी [illegible] लेकर प्रकट किया। अत, उनकी [illegible] चरित्र प्रधान समाजोन्मुख पात्रो [illegible] य-सास्कृतिक आन्दोलन की एक विशेष प्रवृत्ति उनमे नित्य नक्रिय रही है, यद्यपि उनके काव्य मे उस प्रवृत्ति का भी एक विकास देखने को मिलता है जिसका अन्त यशोधरा के चरित्र और द्वापर मे एक भक्त की अर्पणशीलता म प्रकट हुआ।

[सम्भावित रचनाकाल 1948 50। रचनावली के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित।]

सामाजिक विकास और साहित्य

जब मार्क्सवादी यह कहते हैं कि साहित्य का विकास समाज के विकास पर अवलम्बित है, तो उसका आशय यह नहीं कि सामाजिक-राजनैतिक घटनाक्रम से यन्त्रानुबद्ध होकर साहित्य अपना मार्ग बनाता चलता है। उसका अभिप्राय यह है कि जिन सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियो की अभिव्यक्ति-मात्र वे घटनावलियाँ

हैं, वे ताक़तें ही साहित्य के रूप और स्वरूप, तत्त्व और विचार को जन्म देती तथा विकसित करती रहती हैं। समाज के विकास, ह्रास तथा परिवर्तन के साथ ही, साहित्य में उस विकास, ह्रास अथवा परिवर्तन का स्वरूप ही नहीं दिखायी देता, वरन साहित्य स्वयं उस विकास, ह्रास अथवा परिवर्तन का अंग हो जाता है। जैसा कि मैं स्वयं पहले कह चुका हूँ कि साहित्य का समाज से सम्बन्ध यान्त्रिक नहीं है। ह्रासकालीन पूँजीवादी समाज के अन्दर, एक ओर, ह्रासग्रस्त अत्याचारी शोषक वर्ग होता है, तो, दूसरी ओर, क्रान्तिकारी शोषित वर्ग भी सिर उठाता है। जो लेखक इन दोनों तत्त्वों को देखता है, और उस क्रान्तिकारी शोषित वर्ग की हिमायत करता है, उसका साहित्य ह्रासकालीन पूँजीवादी सामन्तवादी समाज के अन्दर जन्म लेकर भी स्वयं ह्रासग्रस्त नहीं हो पाता। उदाहरणतः, तॉलस्तॉय के उपन्यास, अथवा ह्रासकालीन फ्रेंच पूँजीवादी मध्यवर्गीय समाज के अन्दर उगने और पनपनेवाला रोम्याँ रोलाँ का साहित्य। यह साहित्य निश्चित रूप से क्रान्तिकारी शोषित वर्ग का समर्थक और पृष्ठ-पोषक होता है।

किन्तु उसी समाज में यह भी होता है कि लेखक ह्रासग्रस्त शोषक वर्ग की परिधि में ही रहकर कला का सृजन करता है। तब उसकी कला स्वयं ह्रासग्रस्त हो जाती है। साहित्यिक ह्रास के सभी चिह्न उसमें मौजूद होते हैं। उदाहरण के लिए, मार्शल प्रूस्त का साहित्य। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि शुद्ध कलात्मक दृष्टि से, अनिवार्यतः, ह्रासकालीन साहित्य निकृष्ट होता है, वरन् यह कि मानव के स्वरूप का आकलन उस साहित्य में एकांगी, दूषित और आस्थाहीन होता है। हमारा रीतिकालीन साहित्य भी इसी प्रकार का है। मानव का रूप और तत्सम्बन्धी भावना जो हमें रीतिकाल में दिखायी देती है, वह उत्थानशील समाज की विशेषता कदापि नहीं हो सकती। उसमें सूर और तुलसी के मानव की महिमा हमें दृष्टि-गोचर नहीं होती। शुद्ध कलात्मक दृष्टि से ह्रासकालीन ह्रासग्रस्त साहित्य उच्च भी हो सकता है, जैसे, देव, मतिराम और बिहारी का साहित्य। किन्तु उसके गुणों को देखकर यही कहा जा सकता है कि वह मानव साहित्य नहीं, प्रवृत्ति-साहित्य है, उत्थान-साहित्य नहीं, ह्रास-साहित्य है।

यहीं दूसरा प्रश्न उठता है। समाज के विकास के साथ क्या कला का भी विकास होता जाता है? इसी सवाल को यों भी रखा जा सकता है : क्या सामाजिक विकास की एक निश्चित अवस्था के पूर्व की अवस्था की कला उसके बाद की कला से निम्नतर और निकृष्टतर होती है? और उसी के अनुसार, क्या पश्चात्कालीन विकास युग की कला पूर्वकालीन विकास-युग से श्रेष्ठतर होती है? उत्तर स्पष्ट है। समाज के विकास के साथ मनुष्य की मनोवैज्ञानिक समृद्धि, आन्तरिक तथा बाह्य स्वाधीनता, और अधिक मानवीय दृष्टिकोण का विकास होता जाता है। मनुष्य की आन्तरिक तथा बाह्य समृद्धि बढ़ती चलती है। अतः साहित्य में प्रतिष्ठित मानव स्वरूप के तत्त्वों की दृष्टि से पश्चात्कालीन विकास युग का साहित्य पूर्वकालीन विकास युग के साहित्य से श्रेष्ठतर होना अनिवार्य है। रहा कलात्मक श्रेष्ठता का प्रश्न। इसका उत्तर यह है कि यह उत्कृष्टता बहुत कुछ परम्परा पर निर्भर है। अर्थात् जिस युग में साहित्य एक नवीन अपूर्व निश्चित दिशा की ओर मुड़ता है, वहाँ किसी पूर्वकालीन परम्परा का आसरा न होने के कारण उसे प्रयोगावस्था में से गुज़रना पड़ता है। निस्सन्देह

प्रयोगावस्था के इस साहित्य में, कलात्मक दृष्टि से, कई अक्षम्य त्रुटियाँ भी होंगी। किन्तु परम्परा के विकसित हो जाने पर उसी में श्रेष्ठ कला के दर्शन होंगे। पूर्वकालीन विकास युग की कला की पश्चात्कालीन विकास युग की कला से, कला की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता की दृष्टि से तुलना करना बेकार है। वैदिक साहित्य के कविमनीषी, कालिदास, तुलसी और महादेवी की परस्पर तुलना करना, साहित्य की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता की दृष्टि से, मूर्खतापूर्ण है।

[अपूर्ण। रचनाकाल 1950 के आसपास]

समाज और साहित्य

[1]

साहित्य तथा युग के परस्पर सम्बन्ध के विषय में मूलभूत जिज्ञासा एक ऐसी जिज्ञासा है, जो ऐतिहासिक विकास की मानवीय प्रक्रियाओं की साहित्यिक अभिव्यक्ति का अनुसन्धान करना चाहती है। निश्चय ही साहित्य-विश्लेषण के लिए ऐसी जिज्ञासा को मनुष्य-जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन आवश्यक होता है। जो लोग साहित्य के केवल सौन्दर्यात्मक-मनोवैज्ञानिक पक्ष को चरम मानकर चलते हैं, वे समची मानव सत्ता के प्रति दिलचस्पी न रख सकने के अपराधी तो हैं ही, साहित्य के मूलभूत तत्त्व, उनके मानवीय अभिप्राय तथा मानव विकास में उनके ऐतिहासिक योगदान, अर्थात्, दूसरे शब्दों में, साहित्य के स्वरूप का विश्लेषण तथा मूल्यांकन न कर पाने के भी अपराधी हैं। साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव-सत्ता का अध्ययन है। अतएव, जो लोग केवल ऊपरी तौर पर साहित्य का ऐतिहासिक विहगावलोकन अथवा समाजशास्त्रीय निरीक्षण कर चकने में ही अपनी इति कर्तव्यता समझते हैं, वे भी एकपक्षीय अतिरेक करते हैं। ऐसे व्यक्ति साहित्य के ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय परिवेश की बात करके चुप हो जाते हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि आलोचना में ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक-सौन्दर्यात्मक विवेचना की सम्पूर्ण एकात्मता रहे। 'समालोचना केवल एक ही होनी चाहिए, और उसके विविध-पक्षीय मन एक ही सर्व सामान्य मल स्रोत, एक ही व्यवस्था एक ही कला-चिन्तन से उद्गत होने चाहिए।' (बेलिन्स्की)। किन्तु यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि हम ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय पक्ष तथा मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यात्मक पक्ष के परस्पर-सम्बन्धों का स्वरूप विश्लेषण नहीं कर लेते।

मेरे मत से, किसी भी सौन्दर्यशास्त्र की नींव इस सम्बन्ध के स्वरूप-विश्लेषण पर आधारित है। आदर्शवादी-भाववादी सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य की

मनोवैज्ञानिक संवेदनाओं के ही रूप-रूपान्तरों का मूलभूत तथा चरम मानकर चलता है। सौन्दर्य को आत्म प्रतीति अथवा आत्म साक्षात्कार का साधन मानकर चलनेवाले, साधारण रूप से, उसको किसी अतीन्द्रिय सत्ता का आत्म-प्रकाश भी मानते हैं। इन आदर्शवादी-भाववादियों में अनेक पथोपपन्थ हैं। वे मानव इतिहास की भी उसी ढंग से व्याख्या करते हैं जिस प्रकार वे जगत् की आध्यात्मिक व्याख्या करते हैं। फलत, उनके लिए इतिहास, समाज-शक्ति मनुष्य के परिवेश के रूप में ही उपस्थित होती है। वे उसे वह मूलभूत क्रिया नहीं मानते जो मनुष्य को उसके प्रारम्भिक पाशव स्तर से उठाकर मानव स्तर तक तथा उससे आगे भी लगातार उसकी उन्नति करती हुई आ रही है, जिसने उसकी आत्मा को वास्तविकता दी है। इस समाजशास्त्रीय ऐतिहासिक प्रक्रिया के बिना न मानव सम्बन्ध रह सकते हैं, न वे गतिशील ही हो सकते हैं।

मानव चेतना, वस्तुत, मानव-सम्बन्धों से निर्मित तथा उससे उद्‌गत चेतना है। ये मानव सम्बन्ध समाज के विकास के साथ परिवर्तित होते रहते हैं, तथा समाज की विशेष स्थितियों की उनमें विशेषताएँ प्रकट होती रहती हैं। विशेषता-सयुक्त ये मानव सम्बन्ध, मानव-चेतना की मूलभूत नींवें हैं, जिनके आधार पर कला, दर्शन, धर्म तथा साहित्य की सृष्टि होती है। इन्हीं मानव सम्बन्धों की अवस्था विशेष के अनुसार मानव की विश्व-दृष्टि भी बनती है। निश्चय ही, उसकी यह विश्व-दृष्टि उसकी चेतना का ही अग है। इसका अर्थ यह नहीं कि चेतना हमेशा सच्ची बात ही कहती और जानती है। 'चेतना' के भीतर कार्य-कारण सम्बन्धों की अवैज्ञानिकता की अनेक कोटियों से लेकर तो वैज्ञानिकता के जितने भी रूप रूपान्तर हो सकते हैं, वे सभी सम्मिलित हैं। यदि मानव-सम्बन्ध मनुष्य की आदिम असभ्यावस्था के रूप हैं, तो चेतना भी धर्म के रूप में जादू-टोने तक ही रहेगी। जैसा-जैसा समाज बदलता जायेगा, मानव सम्बन्ध भी बदलते जायेंगे, तथा चेतना के रूप-स्वरूप में भी परिवर्तन होगा। उसी के अनुसार धर्म का भी विकास होगा। वेदकालीन धर्म मध्ययुगीन धर्म नहीं है। उसी प्रकार रीति-कालीन साहित्य आधुनिक साहित्य नहीं है।

किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि मानव-सम्बन्धों से आमूल परिवर्तन के साथ ही चेतना स्वय भी यान्त्रिकतापूर्वक आमूल बदल जाती है। चेतना के विकास के अपने गति-नियम हैं, जो सापेक्ष्य रूप से स्वतन्त्र हैं। किन्तु उनकी स्वतन्त्रता की सापेक्ष्यता का बिलकुल सीधा निर्णयकारी नियन्त्रक सम्बन्ध वास्तविक मानव-सम्बन्धों से है। सामाजिक उत्पादन प्रणाली, कार्य विभाजन के अनुसार, विविध वर्गों तथा उनके जीवन-यापन की विशेष प्रणालियाँ निर्धारित करती है। एक वर्ग के भीतरी सामाजिक सम्बन्ध सभी तथा विभिन्न वर्गों के परस्पर सामाजिक सम्बन्ध, मानव सम्बन्ध हैं।

चेतना के तत्त्व बदलते ही उसकी अभिव्यक्ति भी बदल जाती है। किन्तु स्वय चेतना मानव सम्बन्धों में परिवर्तन उपस्थित होते ही बदलने लगती है। चेतना को हमारे विचारकों ने अधिकतर व्यक्तिगत अर्थ में ही लिया है। वे चेतना पर सामाजिक प्रभाव भले ही मान लें, किन्तु उसके वस्तु-तत्त्वों को सामाजिक नहीं मानते। उसका प्रधान कारण यह है कि मनुष्य की प्रवृत्तियों के समूह को वे मानव-मन की सज्ञा देते हैं। वे यह नहीं देखते कि ये प्रवृत्तियाँ उन वस्तु तत्त्वों के

बिना जिन्दा ही नही रह सकती, जिनके द्वारा वे सम्पूर्ण, परिवर्धित तथा विकसित होती हैं। यहाँ हम मनोविज्ञान की अथाह थाह मे उतरना नही चाहते। केवल सक्षेप मे यह बता देना चाहते हैं कि भूख-प्यास, काम वृत्ति तथा आत्म-रक्षा की मूलभूत प्राणिशास्त्रीय प्रवृत्तियो का मानवीय स्थिति विकास, ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय नियन्त्रण रूपायन के बिना असम्भव ही है। यदि ये ऐतिहासिक-समाज शास्त्रीय शक्तियाँ न होती तो मनुष्य बन्दर से कभी भी मानव न हो पाता।

अपने आदिकाल से लेकर तो आज तक, मनुष्य अपनी भूख-प्यास, काम-वृत्ति आदि की पूर्ति न केवल समाज के भीतर करता आया है, वरन समाज के द्वारा उन्हे परिपूर्त तथा सुसस्कृत भी करता रहा है। यही कारण है कि अर्ध-सभ्यावस्था मे अथवा असभ्यावस्था मे जब समाज मातृ-प्रधान था, उत्पादित वस्तुओ

दृष्टि स जीवन-धारण के लिए आवश्यक होते हुए भी, उस पूर्ति की पद्धति तथा

काम-

यह की

जबकि

समाज शोपित और शोपक इन दो प्रधान परस्पर-विरोधी वर्गों म विभाजित हो गया है—भूख प्यास, काम वृत्ति, आदि प्राणिशास्त्रीय प्रवृत्तियो के मानवीय जीवन-मूल्यो म भी व्यक्तिवादी उद्देश्य समा गये है।

प्रारम्भ मे हमारा समाज अर्ध सभ्य अथवा असभ्य था। उसम वर्ग न थे। वह मातृ प्रधान था। व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रादुर्भाव नही हुआ था। व्यक्तिगत सम्पत्ति स्थापित होने पर हमारा समाज एक बडी भारी क्रान्ति के दौरान मे से गुजरा। उसम विवाह-सस्था स्थापित हुई, जो व्यक्तिगत सम्पत्ति की विरासत चलाने के लिए रची गयी थी। समाज अब मातृ-प्रधान न रहकर पितृ प्रधान बना। विवाह सस्था बनते ही मनुष्य स्त्री का अधिकारी हुआ, तथा पुत्र पिता के नाम स पहचाना जाने लगा, माता के नाम से नही। स्त्री चिरकाल के लिए पुरुष की दासी हुई। दास-प्रणाली, सामन्ती पद्धति तथा पूँजीवादी समाज-रचना मे स्त्री बराबर दासी ही बनी रही।

जो लोग रोमास को सामाजिक सम्बन्धो से हटाकर उसे मात्र व्यक्तिगत करार देते हैं, वे यह नही जानते कि रोमास का अर्थ मातृ-प्रधान समाज म कुछ भी नही था। उन दिनो उसका अधिक से अधिक यह अर्थ हो सकता था कि कुछ काल के लिए एक पुरुष एक स्त्री स अधिक हार्दिकता अनुभव करे। किन्तु उसका काम-सम्बन्ध कितना ही से एक साथ रह सकता था और उन दिनो उसका प्रेमी कदाचित् ही इस सम्बन्ध म कोई दूसरी राय रखे। इसका अर्थ यह नही है कि सामाजिक नियम कम सुदृढ थे। सामाजिक नियम को भग करनेवाले के लिए अपनी जान गँवाने का धोखा हमेशा रहता था, और अगर प्रेमी कोई दूसरे विजातीय कबीले का हो तो लडाइयाँ छिड जाती थी। उन दिनो सेक्स क जीवन-मूल्य अत्यन्त सुदृढ थे। अन्तर केवल यही है कि वे आज के सामाजिक नियमो से

भिन्न थे।

रोमांस का आधुनिक विकास पितृ-प्रधान समाज के बिना असम्भव ही माना जायेगा। इस समाज के भीतर स्त्री पुरुष की आजीवन दासी बनायी गयी। पुरुष स्त्री के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उससे विवाह कर सकता था, किन्तु वही विवाहित स्त्री किसी दूसरे पुरुष पर मुग्ध होकर उससे प्रेम विवाह नहीं कर सकती थी। एक पुरुष—यदि उसकी आर्थिक दशा अच्छी है तो—कई स्त्रियाँ रख सकता था, किन्तु वही स्त्री किसी दूसरे की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकती थी। स्त्री को क्रमश: वेदाध्ययन आदि प्रधान धार्मिक अधिकारों से भी वंचित बना दिया गया था।

फलत, स्त्री के प्रति पुरुष का मूलभूत दृष्टिकोण प्रजात्पादन तथा काम का दृष्टिकोण था। नारी उपभोग्या हुई, तथा साहित्य में उसके इस उपभोग्या रूप का रस ले-लेकर वर्णन किया जाने लगा। 'गोपी पीन पयोधर-मर्दन चचल-कर-युगशाली'। श्रीकृष्ण राधा के कनक-उरोजों के मुकुर में अपना रूप निहारने लगे। प्रेम चाहे जितना पूर्ण क्यों न हो, शारीरिक आसक्ति के बिना उसमें लावण्य का अभाव माना जाने लगा। हजार धार्मिक सामाजिक बन्धनों के बावजूद नारी नायिका बन गयी। वह परिवारवालों की नजर से बचते हुए अभिसार करने लगी। रात्रि पथों पर जूड़े से गिरे हुए फूलों के द्वारा कवियों को उसके प्रेम पथ का वर्णन करने का अवसर प्राप्त होने लगा। क्षिप्रा नदी के प्रवाहाचलों पर बहती हुई वायु की माधुरी का प्राकृतिक रूप हटकर, उसके स्थान पर वह समीर कवि को प्रियतम की प्रार्थना-चाटुकारिता के समान प्रतीत हुई।[1] आज की पूँजीवादी समाज-रचना के भीतर, छायावादी कवि को भी पर्वत पृथ्वी के उरोजों-से दिखायी देते हैं। यह उपमा, अपने लिए अनुकूल जान, उसने प्राचीन कवियों से ली है। और कवि साफ-साफ यह कहने लगे कि खुली हुई जघाओंवाली रमणियों को भला कौन छोड़ सकता है।[2]

अगर आधुनिक स्त्री अपने शारीरिक सौन्दर्य के विषय में मध्ययुगीन कवियों के भाव-विचार देखे तो वह पायेगी कि वह किस प्रकार पुरुषों की भूख का खिलौना हो गयी थी, मानो उसकी अपनी कोई व्यक्तिगत आत्म-सत्ता न हो। अधिक-से-अधिक वह नागमती के शब्दों में इतना ही कह सकती है

यह तन जारौं छार कै
कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै
कन्त धरै जहँ पाँव॥

इससे अधिक स्त्रियों को और कोई अधिकार न था। पतिप्राण नागमती रत्नसेन को छोड़कर न किसी दूसरे से प्रेम कर सकती थी, न अपने पति को इस बात के लिए मजबूर कर सकती थी कि वह पद्मावती से विवाह न करे। स्त्रियों के सम्बन्ध में तुलसीदासजी की उक्तियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं। कबीर ने भी नारी को माया कहा है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय प्रेम के वर्णन की चार प्रणालियाँ बतलायी

1 शिप्रावात प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः।—कालिदास
2. ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।—कालिदास

हैं।[1] उनसे सामन्ती समाज के स्त्री-पुरुष सम्बन्ध-नियम पर आधारित स्त्री के उपभोग्या रूप की प्रधानता का, तथा स्त्री के सम्बन्ध मे पुरुष के सौन्दर्य मनोविज्ञान का, स्पष्ट पता चलता है। सीता के प्रति राम के प्रेमवाली पद्धति को उन्होने अत्यन्त उत्कृष्ट बतलाया है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से सीता की जीवनगाथा को देखने पर यह ज्ञात होता है कि इस साध्वी नारी को सामाजिक नियम विधाना के कारण कितना दु ख और कष्ट उठाना पडा। माना कि राम का चरित्र उज्ज्वल था, किन्तु सीता का कम उज्ज्वल नही था। फिर भी उस भारतीय महामानवी को कितनी ही अग्नि-परीक्षाओ मे गुज़रना पडा। सीता की जीवनगाथा स तादात्म्य प्राप्त करनेवाले भवभूति के **उत्तररामचरित** की करुणा, सीता को दु ख देनेवाले व्यक्ति के प्रति कवि की मानवता का विरोध-भाव था। तुलसीदासजी इन प्रकरणो को साफ बचा गये।

प्रेम अथवा रोमास के सम्बन्ध मे हमारे समालोचक उसके मात्र स्पन्दनो को ही ग्रहण करते हैं, मात्र अनुभूति का ही स्वीकार करते हैं।

अनुभूति को देखते समय उनका ध्यान उस वस्तु या व्यक्ति की, तथा उसका अनुभव करनेवाले की, (उस अनुभूति की स्थिति के लिए) परस्परावलम्बिता की ओर जाता ही नही। अनुभूति तथा अनुभूति के विषय, अर्थात बाह्य वस्तु या व्यक्ति के परस्पर सम्बन्ध के बिना अनुभूति असम्भव होती है। वे सम्बन्ध अनुभूति के स्वरूप मे ही निहित होते हैं। अनुभविता तथा तत्सम्बन्धित वस्तु अथवा व्यक्ति उस पूरे जगत् मे रहते हैं जिसे हम वर्ग और समाज कहते है। समाज तथा उसके भीतर वर्गों की परस्पर सम्बन्धित स्थिति के अनुसार जो वास्तविक मानव-सम्बन्ध तैयार होते हैं, वे मानव-सम्बन्ध ही मनुष्य के कानूनी, राजनैतिक, धार्मिक नियम-विधानो म व्यक्त होते है। इन मानव-सम्बन्धो की स्थिति, स्वरूप तथा विकासावस्था के आधार पर, तथा उनके अनुसार, हमारी विश्व-दृष्टि, नैतिकता तथा जीवन-मूल्य बनते हैं। यह विश्व-दृष्टि और जीवन-मूल्य हमारी अभिरुचि, सस्कार, शिष्टता की मर्यादाएँ तो बनाते हैं, साथ ही वे वस्तु या व्यक्ति के प्रति हमारे दृष्टिकोण का भी निर्माण करते हैं। इस दृष्टिकोण को अलग कर अनुभूति की स्थिति असम्भव है।

अपनी बात के स्पष्टीकरण के लिए एक उदाहरण लें। राजस्थान मे राजपूत जागीरदार-ठिकानेदारो के समाज मे दहेज़ मे दास दासी प्राप्य होने की प्रथा अभी तक मौजूद है। शायद इस समय कानूनन वह बन्द हो गयी हो। उन दासियो से अनेक अनियमित सन्तानें पैदा होती हैं और उन्ही परिवारो मे वे दास के रूप मे बढ चलती हैं। दासी पुत्रो के विस्तार के कारण जब परिवार बढ चलता है, तब बहुत बार उनका आर्थिक भार अक्षम्य हो जाता है। ऐसी स्थिति मे उन पुत्रो को घर स निकाल दिया जाता है। मध्य-भारत तथा राजपूताने मे दासी-पुत्र मारे-मारे फिरते हैं।

ऐसे प्रतिष्ठित राजपूत भी कम नही हैं जो इस प्रथा को बुरा समझते हैं। अब ज़रा कल्पना कीजिए ऐसे भूतपूर्व किन्तु धनी जागीरदार व्यक्ति की, जो एक ओर तो अपने घर की लावण्यवती स्त्री को देवी समझता है, उसकी प्रत्येक

1 देखिए— जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका, पृष्ठ 35

गतिविधि का आदर्शीकरण करता है, किन्तु साथ ही अपनी अधिकार-गर्व से पूर्ण सामन्ती वासना को दासियों से शान्त करता है। दासियों से उसके सम्बन्ध, वस्तुतः, मालिक और गुलाम के सम्बन्ध हैं। इस भौतिक वास्तविक सामाजिक सम्बन्ध के कारण ही वह उनको अपनी काम-तृप्ति के भौतिक साधन के अतिरिक्त कुछ नहीं समझता। उस वास्तविक भौतिक-सामाजिक सम्बन्ध के आधार पर ही दासी स्त्री के प्रति उसकी दृष्टि-विचार-भावना ने उसकी काम-वासना का एक विशेष रूप दिया है। दासी के प्रति उसकी काम-वृत्ति, तथा अपनी विवाहिता वधू से उसके काम सम्बन्ध, व्यक्त जीवन-दृष्टि तथा जीवन मूल्यों में—अर्थात् मानव सम्बन्धों में महान् भेद है। वस्तु अथवा व्यक्ति सम्बन्ध के भीतर सामाजिक सम्बन्धों की वास्तविकता नित्य आधारभूत रूप में रहती है। किन्तु प्रवृत्तियों का रूपायन भी न केवल बाह्य वस्तु-व्यक्ति सम्बन्धों के भीतर सामाजिक सम्बन्धों से होता है, वरन् वे प्रवृत्तियाँ स्वयं किसी जीवन-यापन-पद्धति के वंशानुगत अनुभवों और विकास प्रणालियों पर निर्भर है। यह जीवन-यापन पद्धति एक वर्ग के भीतर होती है। उस वर्ग का अपना एक वर्ग-चरित्र होता है। उस वर्ग-चरित्र से तुरन्त हम पहचान लेते हैं कि यह व्यक्ति निम्न-वर्ग का है, मध्यवर्ग का है, अथवा पुराने सामन्ती वर्ग का प्रतिनिधि है, अथवा नवीन पूँजी-वादी पढ़े-लिखे शासकीय-व्यापारिक वर्ग का है। वर्ग-चरित्र में नैतिकता के सुविधाजनक मान रहते हैं। ये सामाजिक मान व्यक्तिगत धरातल पर जीवन-मूल्य बन जाते हैं। वर्ग अथवा समाज की विश्व-दृष्टि व्यक्तिगत धरातल पर निजी दृष्टि बन जाती है। एक सामन्ती वर्ग में अनेक-स्त्री-सम्बन्ध को शुद्ध सम्पूर्ण सामाजिक दृष्टि से, विश्व-दृष्टि से, बुरा भले ही माना जाये, आचरणात्मक धरातल पर न केवल उसके प्रति उपेक्षा की दृष्टि बरती जाती है, वरन् उस उपेक्षा-दृष्टि का लाभ उठाकर वैसा ही आचरण किया जाता है। जब किसी वर्ग में धड़ल्ले से ऐसी प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं, तब धीरे धीरे उनकी निन्दनीयता उपेक्षणीयता की मंज़िल लाँघकर वरणीयता तक पहुँच जाती है। यहाँ तक कि हमारे ग्वाले तो यह कहने लगते हैं कि जब तक हम दूध में पानी न मिलायें तब तक हम पर लक्ष्मी प्रसन्न ही नहीं हो सकती। यद्यपि समाज की विश्व-दृष्टि इस सम्बन्ध में अलग है, किन्तु ग्वाले की दृष्टि को विश्व-दृष्टि के साम्राज्य के भीतर औपनिवेशिक स्वराज्य हासिल है। ग्वाला उस विश्व-दृष्टि को चुनौती नहीं देता, मान लेता है, किन्तु करता अपने मन की ही है, वही करता है जो उसके व्यवसायवाले सब करते हैं, एकाध अपवाद को छोड़कर। धीरे-धीरे उसके जीवनमूल्य केवल वैचारिक अभ्यास में परिणत हो जाते हैं, तथा उन्हें कार्य-प्रणाली का गौरवपूर्ण स्थान मिल जाता है। एक वर्ग के भीतर अपनी विशेष जीवनयापन प्रणाली की आवश्यकताओं के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन-मूल्य बना लेता है—ऐसे जीवन-मूल्य जो *सामान्यतया उस श्रेणी में प्रचलित हैं। ठीक उसी प्रकार शासक सामन्ती वर्ग की* वासना प्रणाली का भी हिसाब है। जो लोग हिन्दुस्तान के रियासती सामन्ती वर्ग में रहे हैं, उन्हें मेरी बात की ताईद करनी पड़ेगी कि सामन्ती वर्ग की वासना-प्रवृत्ति और उसके मनोवैज्ञानिक तत्त्व, युगों से शोषक शासन की अपनी स्थिति के कारण, विशेष प्रकार से बलवान हो गये हैं। इस प्रवृत्ति का रूपायन तथा नियमन भी एक विशेष वर्ग की विशेष जीवन-यापन-पद्धति ने किया है। अतएव, निष्कर्ष यह

निकला कि न केवल वर्तमान मानव-सम्बन्ध चेतना के भीतर प्रवेश कर उनके निज तत्त्व बन जाते हैं, वरन् यह कि चेतना की प्रवृत्तियों का रूपायन नियमन भी वे ही करते हैं। उनके रूपायन की मूल शक्ति उस वर्ग के अपने चरित्र तथा स्थिति में सन्निहित है। जो प्रवृत्ति वर्ग-विशिष्ट जीवन-यापन-पद्धति के प्रतिकूल जायेगी, वह या तो दब जायेगी, नष्ट हो जायेगी अथवा उस व्यक्ति को अपने वर्ग से भटका देगी।

हम यह बतला चुके हैं कि विशेष प्रकार के वर्ग-जीवन के मानव-सम्बन्धों के कारण, प्राणिशास्त्रीय भूख भी अपने विभिन्न मनोवैज्ञानिक रूपाकार ग्रहण करती है। ये मनोवैज्ञानिक रूपाकार एक ही अनुभूति की श्रेणी मे, वैज्ञानिक सुविधा के लिए, रखे तो जा सकते हैं किन्तु उनके भीतर प्रकट सम्बन्ध-तत्त्वों की विभिन्नता के यथार्थ को तो मिटा नहीं जा सकता। ये सम्बन्ध-तत्त्व एक ही श्रेणी की अनुभूति को विभिन्न अनुभूतियाँ बना देते हैं। उदाहरणत, अपराधी के प्रति क्रोध, अपने आप पर क्रोध, उचित क्रोध, अनुचित क्रोध, अपने स्वार्थ को हानि पहुँचानेवाले के प्रति क्रोध, वर्ग के, देश के विश्व के स्वार्थ को हानि पहुँचानेवाले के प्रति क्रोध, ऐसा क्रोध जो अन्धा होकर हानि पहुँचानेवाले को मार डालना है—जैसा कि हमारे मध्यप्रदेश की पिछड़ी हुई जातियों मे होता है—(जरा जरा सी बात पर, विशेषकर स्त्री सम्बन्धों को लेकर, कुल्हाड़ियाँ चल जाती हैं), ऐसा क्रोध जो दार्शनिक आवरण मे लपेटा जाकर हल्की-सी मुसकान मे खिल उठता है, जैसे अतिशिक्षित श्रेणियों मे पाया जाता है, आदि-आदि। यद्यपि मात्र वैज्ञानिक सुविधा के लिए, इस भावावेग का हम क्रोध-मात्र की श्रेणी मे रख सकते हैं, किन्तु उसकी प्रभाग बद्ध विभिन्नता के यथार्थ को मिटा नहीं जा सकता। क्रोध में भी उस क्रोधी व्यक्ति की प्रवृत्ति, जीवन मूल्य तथा दृष्टि देखी जा सकती है, तथा उन्हीं म विशेष मानव सम्बन्ध परिलक्षित होते हैं। क्रोध भाव की चेतना के भीतर ही विशेष मानव सम्बन्ध अपने सामान्य तथा विशिष्ट रूप में ले जा सकते हैं। इन सम्बन्धों को लेकर ही क्रोध का यह भाव अपनी विशेषताएँ तथा विभिन्नताएँ ग्रहण करता है।

छायावादी गीतिकाव्य मे अमूर्तीकरण के द्वारा हम उस अनुभूति मात्र को ही लेकर चलते है, तथा सम्पूर्ण वास्तविक अनुभूत सम्बन्धों के उद्घाटन की ओर अग्रसर नहीं होते। प्रतीकों द्वारा हम अपने-आपको प्रकट करते हैं। छायावाद के आलोचक-समीक्षकों की दृष्टि अनुभूतियों की जीवनगत वास्तविकताओं का विश्लेषण-सामान्यीकरण नहीं करती, वरन् उस अनुभूति-मात्र को ही सर्वाधिक प्रधानता देती है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य आत्मपरक काव्य है, इसलिए उसमे बाह्य सम्बन्धों की इतनी प्रधानता नहीं है। छायावादी काव्य उपन्यास नहीं है कि उसमे अनुभूति की पूरी भूमिका समझायी जाये। यह टिप्पणी बिलकुल ठीक है। किन्तु हमारी आपत्ति यह है कि छायावादी काव्य की मान्यताओं के आधार पर कोई साहित्य-सिद्धान्त तैयार नहीं हो सकता। साधारण रूप म साहित्य तथा सौन्दर्य की आदर्शवादी रहस्यवादी व्याख्या करने के हेतु, साहित्य स जो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं, वे छायावादी अथवा तत्समान अन्य काव्य में से ही लिये जाते हैं। उपन्यास, निबन्ध समीक्षा, कहानी आदि कम आत्मपरक और अधिक वस्तुपरक साहित्य से उदाहरण तथा प्रेरणा ग्रहण करते

हुए, साहित्यिक सामान्यीकरणों पर आकर, हमने अपनी साहित्यिक अभिरुचियों तथा मानदण्डों को नहीं बनाया है।

मानव चेतना के सामाजिक रूपायन के सम्बन्ध में हम ऊपर कह चुके हैं। प्रत्येक युग, अपनी सामाजिक ऐतिहासिक स्थिति की अनुभूत आवश्यकता के अनुसार अपना साहित्य-निर्माण किया करता है। प्रश्न यह है कि आखिर युग का अर्थ क्या? निश्चय ही, यहाँ हम उस क्षेत्र में पहुँच जाते हैं जिसे हम समाज-शास्त्रीय-ऐतिहासिक विकास की स्थिति-परिस्थिति कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, रोमन साम्राज्य के ह्रास-काल में एक उच्चवर्गीय श्रेणी सारे राज्य-क्षेत्र पर अत्याचारी शासन करती थी। दासों में भयानक असन्तोष भी पाया जाता था। किन्तु दासों की चेतना का विकास इतना न था कि वे मूलभूत सामाजिक क्रान्ति कर सकें। ऐसे समय उन्होंने ईसा के सन्देश के द्वारा प्रेरणा प्राप्त की, तथा धर्म भावना से दृढ़ होकर रोमन शासकों के विरुद्ध आगे कदम बढ़ाये। ये कदम भी दासों की तत्कालीन चेतना विकासावस्था के अनुसार अनाक्रामक थे। फलतः, शासक और शासित में सुदीर्घ युद्ध चलता रहा, जो वस्तुतः वर्ग-युद्ध था। एक समय एक ओर, निम्न वर्ग की सांस्कृतिक चेतना ईसाई धर्म से संवेदित थी, किन्तु विद्वानों के अनुसार तत्कालीन रोमन साहित्य इस विषय में मौन धारण किये रहा, भले चलकर भले ही, उसमें ईसाई गूँजें उठी हों। इस उदाहरण में यह स्पष्ट है कि जिस ऐतिहासिक युग में कोई विशेष ऐतिहासिक घटना-विकास हो रहा हो, उसका ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब साहित्य में उभरे ही, यह आवश्यक नहीं है। इसका सबब बड़ा कारण है कि सांस्कृतिक-साहित्यिक एकाधिकार रखनेवाला वर्ग शेष समाज से अपने को अलग कर अपने वर्ग की विशेष प्रवृत्तियाँ तथा उन प्रवृत्तियों की आवश्यकताओं को साहित्य में व्यक्त करता है। अतएव शिष्ट साहित्य एक ओर बढ़ता है, समाज के निम्न वर्गों की वास्तविकताओं के अनुसार शोषितों की कला दूसरा मार्ग ग्रहण करती है—यद्यपि यह निम्नवर्गीय कला अपने कुछ उपादान और मूल विचार उच्चवर्गीय श्रेणी से भी ग्रहण करती है।

हिन्दी का शृंगारी रीतिकाल तत्कालीन निम्न वर्गों की वृत्तियों को सूचित नहीं करता। उसकी कामनापूर्त शृंगाररचना का जन्म तथा विकास एक विशेष सामन्ती वर्ग की विशेष विकास स्थिति से ही हुआ। अतएव, युग-स्थिति का सच्चा अर्थ है उस विशेष श्रेणी की स्थिति जो सांस्कृतिक-साहित्यिक क्षेत्र का नेतृत्व कर रही हो। इस नेतृत्व करनेवाली श्रेणी पर राजनैतिक शासन होता है तत्कालीन सर्वोच्च शासक वर्ग का, जो कि सांस्कृतिक-साहित्यिक नेतृत्व प्रदान करनेवाली श्रेणी से मिलता-जुलता तथा सम्बद्ध होता है।

इस वर्ग-स्थिति के अनुसार किसी विशेष साहित्य युग के अपने विशेष विषयों का चुनाव होता है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर तो आज तक हम विशेष युग के विशेष विषयों की प्रदर्शनी को देख सकते हैं। युग विशेष के विशेष विषय, तत्कालीन समाज विकासावस्था के भीतर विभिन्न वर्गों की विभिन्न स्थितियों तथा उनके विविध सामाजिक मानव-सम्बन्धों से निर्धारित होते हैं। ये विविध विषय अपने को अभिव्यक्त करने के लिए उस वर्ग के हृदय में अकुलाते रहते हैं, जो उस काल में साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र के भीतर निर्णायक रूप से प्रभावशाली हो उठते हैं। किन्तु साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रभावशाली होने के लिए

उसे पहले समाज मे महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावशाली होना होता है।

साहित्य एक कला है, जिसमे समाज का नेतृत्व करनेवाला प्रधान वर्ग—(जो कि संस्कृति का भी नेतृत्व करता है, अथवा विशेष सामाजिक ऐतिहासिक विकास पर आधारित घटना-चक्रों स कारण, समाज का अध्वर्यु न होते हुए भी, प्रमुख रूप से प्रभावकारी हो जाता है, जैसा कि सामन्ती समाज-रचना के भीतर, [illegible]-आन्दोलन म निम्न [illegible]-साम्य के समर्थक, [illegible]ान वर्ग तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक स्थिति के द्वारा, सामान्य रूप से, नियन्त्रित मनोवृत्तियो के अनुसार अपने साहित्य सृजन क विषयो का निर्वाचन करता है। साहित्य के विशेष विषयो को निश्चित करनेवाली य मनोवृत्तियाँ तत्कालीन स्थिति सापेक्ष्य हैं। इन मनोवृत्तियो को सक्रिय करने का श्रेय भले ही किसी महान् साहित्यकार को प्रदान किया जाये, वह साहित्यकार स्वय उन्ही मनोवृत्तियो का सचय होता है जो उस समाज मे प्राप्त होती हैं। उस साहित्यकार का महत्त्व केवल यही होता है कि उसने उन मनोवृत्तियो को साहित्य म पहलेपहल प्रकट कर अन्यो को नेतृत्व प्रदान किया। हिन्दी मे पन्त, प्रसाद, निराला इसीलिए छायावाद के उन्नायक कहलाये। किन्तु यूरोप म रोमैण्टिक कवियो की प्रभाव छायाओ को हटाकर, रिक्त मध्यमवर्गीय नैतिकता और तथाकथित आदर्शवाद के विरुद्ध, नाटको के क्षेत्र मे, शॉ ने कलम उठायी। मध्यवर्गीय जीवन मूल्यो के प्रति विरक्ति एल्डूस हक्सल ने अपने उपन्यासो म प्रकट की। काव्य के क्षेत्र म टी एस. ईलियट की उसी महाविरक्ति ने अपने वजर मैदान दिखलाये। सामाजिक ह्रास को नष्ट करने के लिए शॉ किन्ही अर्थो मे 'अतिमानव' की अवैज्ञानिक प्रतिक्रियावादी फासिस्टिक कल्पना को थाम रहे। (उन दिनो पश्चिमी यूरोप मे नीत्शे तथा स्पेंगलर बहुत लोकप्रिय दार्शनिक थे।) इसीलिए, बर्नार्ड शॉ के बारे मे लेनिन ने यह कहा कि शॉ सद्व्बुरी सगत मे फँसे हुए अच्छे आदमी हैं। अपनी 'अतिमानव' की कल्पना का किसी न-किसी रूप मे परित्याग कर शॉ समाजवाद के भक्त हुए, तथा नवीन साम्यमूलक समाज-रचना उनका आदर्श हुआ। इसके विपरीत, मध्यवर्गीय जीवन मूल्यो क प्रति विरक्ति से ग्रस्त होकर, एल्डूस हक्सले की सम्पूर्ण मानव श्रद्धा ही समाप्त हो गयी। मनुष्य को ओरागउटाग से अधिक महत्त्व देना उन्हें स्वीकार न हुआ। टी एस एलियट, इशरवुड एल्डुज हक्सले को अपनी जर्जर आत्मा की समस्याओ का हल गिरजाघर तथा वेदान्त मे ही दीखा, और उन्ही की मनोवृत्तियोवाला कवि एज़रा पाउण्ड अन्त म राजनैतिक क्षेत्र म भी घोर फासिस्ट हो गया।

मध्यवर्गीय जीवन मूल्यो के प्रति इस विरक्ति भाव के अनुसार विषय-निर्वाचन हुआ। यह विरक्ति भाव जीवन की गतिहीनता का लक्षण तथा प्रतिबिम्ब था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद (तथा विश्व साम्राज्यवाद), पूँजीवादी समाजरचना के ह्रास-काल का ही द्योतक था। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त तो वे मानवादश, जो पूँजीवाद व्यक्तिवाद ने साहित्य तथा समाज मे खडे किये थे, खोखले प्रतीत हुए। जीवन मूल्यो के खोखलेपन की चेतना के साथ ही साथ जीवन की गतिहीनता का भाव भी प्रबल था। यह गतिहीनता क्यो थी?

सवेदनशील मनुष्य को जीने के लिए, दो बातें विशेष रूप से आवश्यक है।

एक तो यह कि सांसारिक क्षेत्र में उसकी सर्वांगीण सामंजस्यपूर्ण उन्नति होती चली जाये, दूसरे, उसके सम्मुख कोई ऐसा आदर्श हो जिसके लिए वह जी सके या मर सके।

[illegible]

खे [illegible]

ने [illegible]

चिथड़े उड़ते देखे। युद्ध के पूर्व सिपाही को यह बतलाया गया था कि वह अपने देश के लिए लड़ रहा है। किन्तु बाद में उसको यह पता चला कि वह धोखे में था। इतने बड़े पैमाने पर मनुष्य-हत्या के व्यापक विद्रूप के यथार्थ चित्र ने पूँजीवाद के व्यक्तिवादी मूल्यों का पर्दाफाश किया। उधर, पूँजीवाद समाज-रचना के भीतर ही मध्यम-वर्ग की स्थिति निरापद न रही। पुराने आदर्श स्वप्न टूट चुके थे। नये आदर्श स्वप्न तैयार होने के लिए व्यापक सामाजिक कर्तव्यों की जो चेतना आवश्यक होती है, वह इसलिए नहीं थी कि उस वर्ग की आय का सबसे बड़ा जरिया खुद की मेहनत न होकर बड़ी-बड़ी कम्पनियों में उसके हिस्से और बैंक-बैलेंस ही तो था। उसने पूँजीपतियों में अपने को तदाकार कर रखा था। एक ओर पूँजीवाद के भयानक विद्रूप का स्वरूप उसके सामने खुल चुका था, किन्तु दूसरी ओर अपनी नौकरियों और आमदनियों के लिए वह उसी पर न केवल अवलम्बित था, वरन् अपनी उन्नति के लिए वह उसी की ओर देखता भी था। यह आत्म-विरोध ही उस अगति का जनक था जिसने विरक्ति के रूप में काव्य की सृष्टि की। एक जमाना था जब पूँजीवाद के विद्रूप की विभीषिका लोगों पर व्यापक रूप से खुली नहीं थी, और आशावाद के लिए पर्याप्त अवकाश और क्षेत्र प्रतीत होता था। इसलिए ब्राउनिंग यह कह सका

> ग्रो ओल्ड एलांग विथ मी
> दि बैस्ट इज येट टु बी
> दि लास्ट ऑफ लाइफ फॉर व्हिच दि फर्स्ट वॉज मेड

इसके विपरीत, पूँजीवादी शोषण पर आश्रित मध्यवर्ग को उक्त पंक्तियाँ खोखली दिखायी दीं, वास्तविकता के प्रतिकूल मालूम हुईं, और उसके एक कवि टी. एस. ईलियट ने यह कहा

> वी ग्रो ओल्ड, वी ग्रो ओल्ड
> वी वेयर दि बॉटम्स ऑफ अवर ट्राउज़र्स रोल्ड।

उपर्युक्त अगतिकता को ध्यान में रखकर ही उसने कहा

> माई कैंडिल बर्न्स ऐट बोथ दि एंड्स, ऐट बोथ दि एंड्स।

इस अगति के कारण ही मानव मात्र पर श्रद्धा उठ गयी। नवीन विषयों से नवीन प्रतीक चुने गये। उनसे काव्य प्रतीक आत्म-ग्रस्त विरक्ति को सूचित करने लगे, तथा सभ्यता की जो भावात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गयी, वह विरक्ति, व्यंग्य और अश्रद्धा की व्यक्तिबद्ध दृष्टि से ही हुई थी। विश्वव्यापी ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ब्रिटेन में इस अगतिवादी काव्य का प्रभाव यूरोप के तमाम पूँजीवादी मध्यवर्गों पर पड़ा। पश्चिमी यूरोप में केवल टॉमस मान और रोम्याँ रोलाँ ही संघर्षशील मनुष्य के जीवनादर्शों की नैतिक सत्यता पर श्रद्धा बनाये रहे। इन अल्प किन्तु महान् अपवादों को छोड़ शेष साहित्य तथा काव्य अश्रद्धा, रिक्तता, मृत्यु

और आत्मग्रस्त वासना को प्रकट करने लगा।

कहने का साराश यह है कि तत्कालीन मानव-सम्बन्धो की विशेष स्थिति के भीतर रहकर, यूरोपीय मध्यवर्ग ने अपनी अगति के अनुकूल विषय चुने। हम पहले ही यह कह चुके हैं कि साहित्य एक कला है जिसमे एक विशेष वर्ग (जो कि सस्कृति का अधिकारी होता है—अथवा सास्कृतिक क्षेत्र मे प्रभावकारी हो जाता है) अपनी ऐतिहासिक, सामाजिक स्थिति की आवश्यकताओ के अनुसार अपने प्रधान विषय चुनता है। इस विषय-निर्वाचन मे निश्चय ही तत्कालीन मानव-सम्बन्ध, विश्व-दृष्टि तथा जीवन-मूल्य प्रकट होते हैं। कवि तथा अन्य कलाकार उन विषयो मे रमकर उनका मूर्त्तीकरण करते हैं। उनके मूर्त्तीकरण के लिए अभिव्यक्ति का सगठन आवश्यक होता है। इस सगठन को हम कला का बाहरी रूप-विधान कहते हैं। किन्तु सौन्दर्य, वस्तुत, विधान तक ही सीमित न होकर आन्तरिक होता है। सौन्दर्य की यह आन्तरिकता, वस्तुत अनुभूति के मूल मे स्थित मानव-सम्बन्धो, विश्व दृष्टि तथा जीवन-मूल्यो से बनती है। यह जीवन-मूल्य मानव सम्बन्ध तथा विश्व-दृष्टि उस वर्ग की विशिष्ट दृष्टि होती है जो साहित्यिक, सास्कृतिक क्षेत्र मे अपने को अभिव्यक्त करती है। अतएव, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सौन्दर्यात्मक-मनोवैज्ञानिक पक्ष की सम्यक् समीक्षा के लिए ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय पक्ष पहले आवश्यक है। इसका दूसरा पहलू यह है कि मानव-सम्बन्ध, विश्व-दृष्टि तथा जीवन-मूल्य बदलते ही सौन्दर्य के मान भी बदल जाते है। फलत, छायावादी को व्रजभाषा की कविता छोट की ओढनी प्रतीत हुई। सूर और तुलसी के प्रति सम्पूर्ण आदर रखते हुए भी राम और कृष्ण उसके काव्याधार न हुए। न केवल विषय बदले, छन्द-विधान भी बदल गये। अभिरुचि बदल गयी।

अब यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है। वह यह कि अगर सौन्दर्य के मान और अभिरुचियाँ बदल जाती है तो फिर हमे पूर्वकालीन सौन्दर्य और अभिरुचियाँ बहुत बार क्यो आकर्षित तथा प्रभावित करती है। इसका स्पष्ट उत्तर हमे साहित्य के शाश्वत तथा अशाश्वत पक्ष के विश्लेषण से मिल सकता है।

हम एक उदाहरण लेगे। तुलसीदास का रामचरितमानस हमे आज भी प्रभावित करता है। किन्तु क्या हमे तुलसीदासजी के आचार-विचार प्रभावित करते हैं ? नही। जिन सामाजिक नियम-विधानो मे राम रहे, क्या हमे अपने लिए वे नियम-विधान पसन्द हैं ? नही। फिर वे कौन-सी बाते है जो हमे प्रभावित करती हैं ? वह है राम का व्यक्तित्व। किन्तु क्या हम उन मानव-सम्बन्धो के बिना राम के व्यक्तित्व को समझ सकते हैं ? बिलकुल नही !

वे आचार-विचार, वे नियम-विधान, वे मानव-सम्बन्ध हमे आज अपने अनुकूल न मालूम हो, किन्तु तुलसीदास और उनके प्रिय पात्र राम की स्थिति उनके बिना असम्भव ही थी। तत्कालीन मानव-सम्बन्ध, विश्व-दृष्टि तथा जीवन-मूल्यो के सर्वोच्च प्रतीक राम की मानवता हमे प्रभावित करती है। तुलसीदासजी तथा रामचन्द्रजी की वह सचेष्ट आन्तरिकता (जो तत्कालीन आदर्शों से बनी हुई थी) हम पर छा जाती है। वे नियम-विधान, वे आचार-विचार, अब आज त्याज्य हो चुके हैं, किन्तु, उनके भीतर जो तत्कालीन मानव-सम्बन्ध हैं उनका कही भी भग न करते हुए, राम ने निषाद और गुह से भी आलिंगन किया, शबरी के बेर खाये, केवट से दोस्ती की, वनवासी असभ्यो को गले लगाया—तत्कालीन मानव-

सम्बन्धो का वास्तविक निर्वाह उन्होंने अपने इन्ही आदर्श-क्षणो में किया। उनसे वे मानव सम्बन्ध अधिक घनीभूत ही हुए। निषाद निषाद ही रहा, गुह गुह ही, और राम का रामत्व अपने सम्पूर्ण सामन्ती मानवादर्श में जगमगा उठा। तत्कालीन मानव-सम्बन्धो के घेरे के भीतर मानवता की जितनी भी सर्वोच्चता सम्भव थी, उतनी तुलसीदास के राम में समा गयी। इसीलिए तत्कालीन समाज के आदर्श-चरित्र राम हैं। राम की इस आदर्शमयी आन्तरिकता के चित्र—उनकी भीतरी मानवता के ये शिखर—हम आज भी द्रवीभूत करते हैं।

तत्कालीन नियम-विधान, आचार-विचार मर गये, किन्तु राम की मानवता हमारी संस्कृति की एक पुरानी मंजिल के रूप में आज भी खड़ी है। ये नियम-विधान, ये आचार-विचार निश्चय ही अशाश्वत हैं, किन्तु राम का चरित्र हमारे लिए मूल्यवान होने के कारण शाश्वत रहा। चूंकि हम भी अपने वर्तमान युग के सर्वोच्च आदर्शों, वर्तमान समाज के सर्वश्रेष्ठ मूल्यो को आत्मसात् करने के लिए प्रस्तुत हैं, अथवा उन्हें आत्मसात् करना आवश्यक समझते हैं इसीलिए हमें उन प्राचीनों से तथा उनकी तत्कालीन पूर्णता से प्रेरणा प्राप्त होती है। चूंकि हम उनसे प्रेरणा प्राप्त होती है, हमें अपने आदर्श पथ पर वे प्रेरणा-रूप में सहायक प्रतीत होते हैं, इसीलिए वे हमारे लिए मूल्यवान हैं। यही कारण है कि हमारे लिए राम का चरित्र सुन्दर है, और, चूंकि हमें यह विश्वास है कि वह आगे की पीढ़ियों को भी इसी प्रकार प्रेरणा प्रदान करता जायेगा, इसीलिए वह शाश्वत भी है।

किन्तु तत्कालीन नियम विधान-आचार जो आज हम ग्राह्य नहीं है, जो बिलकुल मर चुके हैं जो अशाश्वत हैं, उनका प्रभाव कुछ रूढ़िवादियो पर अभी भी है। राम के चरित्र में उनकी आँखो में आँसू आते हैं, वे सामन्ती विश्व-दृष्टि के आँसू हैं। ऐसे लोग यदि सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक क्षेत्र में सक्रिय हुए, तो वे सामन्ती मानव सम्बन्धो, विश्व-दृष्टि तथा जीवन-मूल्यों का, अपनी आवश्यकता के अनुकूल कुछ हेरफेर करके सामने रखते हैं। राम-चरित्र उनके लिए ढाल का काम करता है। तुलसीदासजी के साहित्य में, वस्तुत, हमारे रूढ़िवादियो के हाथ मजबूत किये। और अगर नवयुग के उद्गाताओं ने उससे प्रेरणा प्राप्त नहीं की, तो इसका कारण यह है कि उन्होंने राम चरित्र के प्रति सच्ची ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय दृष्टि नहीं रखी, उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास का वैज्ञानिक विश्लेषण तथा मूल्यांकन नहीं किया।

ऐसा भी होता है कि कुछ विशेष युग-खण्डों में तत्कालीन ऐतिहासिक-सामाजिक स्थिति द्वारा नियन्त्रित जीवनादर्शो, मूल्यो तथा अभिरुचियो के कारण, न केवल साहित्य में गलत मूल्यो का प्रयोग होता है, वरन् उन गलत मूल्यों की कसौटी पर कसकर सत्साहित्य को साहित्य क्षेत्र से बाहर कर दिया जाता है। ध्यान में रखने की बात है कि ब्रिटेन में बेन जॉनसन सरीखे पुराणपन्थी विद्वानों की अभिरुचियो ने, यूनानी नाटक के टेकनीक को आदर्श मानकर, शेक्सपीयर के नाटकों को घटिया साबित किया था। उठते हुए नवीन व्यापारी पूँजीवादी वर्ग तथा सामन्ती वर्ग के समझौतो से बनी हुई सापेक्ष्य सामाजिक स्थिरता के काल में, शेक्सपीयर के सामन्ती चरित्रों की दुःखान्त स्थिति के चित्रण को भला उन दिनों कौन कलात्मक मान सकता था? जब ब्रिटेन में सामन्ती प्रभाव नष्ट हुआ, तब कहीं शेक्सपीयर की कला पर लोगो का ध्यान गया।

साहित्य के, सौन्दर्य के मान नित्य काल-सापेक्ष रहे हैं, किन्तु इसका अर्थ केवल यही है कि हमारे यहाँ पहले साहित्य तथा सौन्दर्य की जो कल्पनाएँ थी, उनके हमारे लिए जो मूल्यवान अंग थे, उनको ही अपने मे समाहित किया, तथा वे हमारी परम्परा मे समा गये।

साहित्य तथा कला म मूल्यवान क्या है और क्या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर भी काल-सापेक्ष ही है। किन्तु यदि हम सम्पूर्ण मानव-समाज के विकास क्रम को देखें, तो पायेंगे कि मनुष्य समाज ने प्रत्येक नवीन समाज-रचना मे पूर्वकालीन समाज-रचना म अधिक स्वतन्त्रता पायी है। समाज रचना के आमूल परिवर्तनो के बावजूद, नया समाज पिछले समाजो की सर्वोत्कृष्ट देन को स्वीकार करता आया है। कई बार अन्धकार युग भी अपना चमत्कार दिखाते आये हैं। जैसे कि यूरोपीय मध्य युग मे यूनानी वैज्ञानिकता तथा कलादर्श को स्वीकार नही किया गया। जब नवीन पूँजीवादी, राष्ट्रवादी युग का आरम्भ हुआ, तब उनका तथा पुरानी यूनानी कला का सम्यक उपयोग भी जहाँ-तहाँ किया गया।

अगर हम वैज्ञानिक क्षेत्र म उतरें, तो पायेंगे कि नवीन विज्ञान पुराने वैज्ञानिक सत्यकणो को अपने म समाहित किये हुए है। इसीलिए वह प्राचीन विज्ञान से अधिक सम्पन्न भी है। किन्तु विज्ञान के क्षेत्र म, सत्यो के जिस सगठन को हम थ्योरी कहते है, वह थ्योरी लगातार विकसित होती गयी। आइंस्टाइन के सापेक्षतावादी वैज्ञानिक सिद्धान्त ने न्यूटन के सिद्धान्त को अपने मे समाहित कर गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का स्वरूप ही बदल डाला। किन्तु न्यूटन के अन्वेषणो और खोजो का अपना वैज्ञानिक महत्त्व तो है ही। इन अन्वेषणा और खोजो को हम अन्वेषण और खोज तभी कहते हैं, जबकि वे यथार्थ की कसौटी पर ठीक-ठीक उतरते हैं।

ठीक यही बात कला की तथा उसके सौन्दर्य की है। यदि एक गुहा निवासी अपने औजार से किसी तत्कालीन वन्यपशु का भित्ति-चित्र रेखांकित करता है, तो उस पशु के साथ उसके जीवन सम्बन्ध के कारण, उस पशु रूप म उसे जो तल्लीनता प्राप्त हुई उसके द्वारा, वह न केवल अपनी अभिव्यक्ति कर रहा है, वरन अपने सामाजिक जीवन तथा उस पशु के साथ अपने सम्बन्ध को प्रकट कर रहा है। किन्तु पशु का रेखाचित्र प्रस्तुत करते समय वह केवल अपने सामने के पशु-रूप मे ही डूबा हुआ है। इस तल्लीनता के द्वारा ही वह इतना सुन्दर पशु चित्र बना सका है। उस पशु चित्र के सामाजिक मानवीय अर्थ अर्थान्तरो मे वह उन अभिव्यक्त क्षणो म भले ही अचेतन रहे (मानव-सम्बन्ध व्यक्ति-सकल्प से पृथक् तथा स्वतन्त्र होते हैं, इन सम्बन्धो का वैज्ञानिक आकलन समाज के बौद्धिक विकास स्तर पर निर्भर है), वह अपने सामाजिक अनुभव का एक अग चित्र रूप म प्रस्तुत कर रहा है। चित्र अच्छे भी हो सकते हैं, बुरे भी हो सकते हैं। चूँकि पशु को वह उसकी स्वतन्त्र सत्ता म देखता है, अतएव वह पशु उसके लिए बाह्य है। उसकी कला विषयक दृष्टि अतएव, वस्तुपरक है, भले ही वह आदिम चित्रकार यह न जाने कि वस्तुपरक क्या चीज है और आत्मपरक क्या। वस्तुत, वह चित्रकार कला के मानो के बारे म अचेतन रहते हुए भी उनसे निर्यन्त्रित होकर उनका विकास कर रहा है। चित्रकार को बाह्य वस्तु की जो अनुभूतियाँ हैं, वे रेखा-सवेदनो के माध्यम से रेखा बद्ध हो रही हैं। इन अनुभूतियो म उस बाह्य वस्तु के

बारे में उसकी दृष्टि, अपनी भावना में उस प्रभु का महत्त्व, और उसके सम्बन्ध में अपना जीवन-अनुभव, जो सामाजिक अनुभव है, प्रकट हो रहा है। रेखांकन के समय उसे यह सब नितान्त व्यक्तिगत प्रतीत होगा, किन्तु उसकी संवेदनाओं का मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक विश्लेषण करते समय उसकी कला का पूर्ण सामाजिक तल हमें दृष्टिगोचर होगा।

वह अपनी चित्रकला के वास्तविक प्रयास द्वारा न केवल व्यक्तिगत अनुभूति के माध्यम से सामाजिक अनुभव प्रकट कर रहा है, वरन् अचेतन रूप से, सौन्दर्य के मान भी स्थिर कर रहा है। ये सौन्दर्य के मान अपने अस्तित्व के लिए व्यक्तिगत अनुभूति के माध्यम से सामाजिक अनुभव पर आधारित हैं। सौन्दर्य के मानों की यह सामाजिक नींव जब खिसक जाती है, तब वे मान समाज से अलग तथा रिक्त हो जाते हैं।

इसके विपरीत एक आधुनिक चित्र लीजिए। मदर विद ए डेड चाइल्ड एक बहुप्रशंसित चित्र है। गोल रेखाओं से स्त्री का उदर बनाया है। गर्भ में एक भ्रूण के आकार की रेखाएँ खींची गयी हैं। बच्चे के दो सिर बनाये गये हैं। एक सिर गर्भ के भीतर, नीचे की ओर वाम भाग में अटका हुआ है, एक जननेंद्रिय के बाहर निकला हुआ है। योनि से दो रेखाएँ भयानक गोलाई से खींचकर उनको पुरुष-मुख के आकार में परिणत कर दिया है। इस पुरुष-मुख का भयानक कष्ट-ग्रस्त पीड़ा की चीत्कार का आकार दिया गया है। सारा चित्र एक निसैनी पर बैठाया गया है। उदर के नीचे के दो पैर उस निसैनी पर इस तरह रखे हैं, मानो वे मध्यस्थ उदर के फटने की क्रिया को बतलाते हैं। एक पैर उदर के ऊपर के भाग की तरफ से निसैनी के निचले भाग की तरफ लाया गया है। इस प्रकार इस चित्र के तीन पैर हैं, जो किसी भी मनुष्य के नहीं होते। ध्यान में रखने की बात है कि यह चित्र समझने में सबसे आसान और उत्कृष्ट माना गया है।

आधे घण्टे तक मैं इस चित्र को देखता रहा, किन्तु मुझे कुछ भी समझ में नहीं आया। फिर मैंने यह सोचा कि यह पेण्टिंग नहीं है, चित्र नहीं, चित्र-भाषा है, प्रतीक-भाषा है, तो मैं इसके प्रतीकों का अर्थ पहचानने की कोशिश करने लगा। धीरे-धीरे मन में एक भाव चमका, और उसके अनुसार जब मैं उसके सम्पूर्ण प्रतीक अवयवों का अर्थ समझने की कोशिश करने लगा तब सब बातें साफ खुल गयीं।

स्त्री का केवल उदर और उसके नीचे का हिस्सा ही बतलाया गया है। पिकासो आपका ध्यान केवल गर्भ-पीड़ा की तरफ ही खींचना चाहता है। इसीलिए योनि से दो रेखाएँ खींचकर बाहर जो पुरुष मुख बनाया गया, उसमें पीड़ा की भयानक चीत्कार का भाव भरा गया है। पुरुष-मुख ही क्यों? इसलिए कि कष्ट, पीड़ा, चीत्कार आदि, पिकासो के अनुसार, पुरुष-भाव हैं। यह मुख योनि से ही क्यों सम्बद्ध किया गया? इसलिए कि उसी भाग में भयानक पीड़ा है। दो पैरों के जघाभूतों के फटे पड़ने में भी यही भाव प्रकट होता है। ये पैर निसैनी से क्यों चिपकाये गये हैं, मानो शरीर, सिर नीचे पैर ऊपर, निसैनी पर चढ़ रहा हो? इसलिए कि वेदना शरीर के ऊपरी भाग से नीचे की तरफ बढ़ रही है, जो अब बिलकुल नीचे की तरफ जाकर (अर्थात निसैनी के ऊपर की तरफ) योनि द्वार से पुरुष-मुख द्वारा, भयानक चीत्कार कर रही है। निसैनी इस प्रकार बनायी गयी है,

मानो वह पीड़ा की मात्राओं को बतलाती हो। यही उस तिर्मनी का महत्त्व है। फिर एक बहुत छोटा पैर पेट के ऊपर की तरफ, निर्गनी की निचली चोटी से, क्यों चिपकाया गया है? इसलिए कि वेदना-सूक्ष्मावस्थाएँ उसी हिस्से से शुरू हुई थीं। गर्भ के भीतर बालक का एक सिर गर्भ के बाहर, दूसरा सिर अन्दर क्यों बतलाया गया है? इसलिए, कि वह मृत भ्रूण, भयानक दानवीय पीड़ा के रूप में, माता के गर्भ से बाहर निकलने में अनेक स्थानों पर अवरोधों का सामना कर रहा है।

सारे चित्र की जान योनि-द्वार से बाहर दूर तक निकला हुआ, भयानक पीड़ा और चीत्कार से पूर्ण, वह पुरुष-मुख है, जो रेखाचित्रों के सौन्दर्य-मानों के अनुसार बना है, शेष सब मात्र चित्र-भाषा-प्रतीकों के समान खींचे गये हैं।

प्रयोग के तौर पर, जब मैंने वह सुप्रसिद्ध चित्र पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त लोगों के बीच घुमाया, तो पाया कि उनके चेहरे पर केवल पहेली-बुझौवल के प्रयास-[illegible] था जितना

उनको

गयीं।

[illegible] भाग्य

की बात है कि यह चित्र समझ में आ गया। उसका जो अर्थ मेरे सामने खुला, वही सही भी है या नहीं, मैं नहीं जानता। किन्तु यह सच है कि वह उसका एक सम्भावित स्पष्टीकरण है। यह मानकर चलिए कि जिस चित्र का मैंने ऊपर वर्णन किया, वह अत्यन्त प्रसिद्ध तथा बहु-प्रशंसित चित्र है।

हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि आखिर गर्भ-पीड़ा का विषय ही क्यों चुना गया? दूसरे, उसको इस टेकनीक से क्यों रखा गया?

आदिवासी कलाकार की यथार्थ दृष्टि हमारी विश्व कला परम्परा में इतनी समा गयी है कि हम उन यथार्थ-मूलक प्रारम्भिक प्रयासों को भूल ही गये हैं। *किन्तु पिकासो की इस प्रणाली को कहाँ स्थान दिया जायगा और वह किस प्रकार का होगा?* यह भी तो एक मूलभूत प्रश्न है।

संक्षेप में उत्तर यह है। फ्रांस के अत्यन्त सम्पन्न उच्च वर्ग अथवा उसके प्रभाव में रहनेवाले वर्ग की निरुपयोगिता तथा गतिहीनता अगर कुछ सृजन कर भी सकती है तो वह मृत सृष्टि ही है। इस गतिहीनता की भयानक वेदना से पिकासो ग्रस्त है। इसीलिए, वह विद्रूप की पीड़ा का अध्ययन करता है, जिसका एक उदाहरण यह चित्र है। उस वर्ग के भीतर जो कुछ भी मनुष्यता शेष है, उससे पिकासो का तादात्म्य नहीं है। वह मात्र विद्रूप और उसके भीतर कष्ट पाने वाले मनुष्य-प्राण को लेकर चला है। पिकासो का मूल विषय सामाजिक अनुभवों का मनुष्य प्राण भी नहीं है, वरन् उसकी वह भयानक पीड़ा है जो स्वयं गतिहीनताओं से उत्पन्न है और जो गतिहीनताओं को जन्म देती जा रही है। उसका विषय मृत सृजन की पीड़ा है। परम्परागत चित्रकला के सम्पूर्ण सिद्धान्तों की अवहेलना कर, उसने स्त्री गुह्यांग से रेखाएँ खींचकर एक पुरुष-मुख बनाया है, जो उस पीड़ा को अभिव्यक्त करता है। पिकासो के लिए, मनुष्य के हाथ, पैर, आँखें, कान विशेष महत्त्व नहीं रखते। वास्तविक जीवन में इन अवयवों का जो कार्य है, उसको खत्म कर उसने उन पर अपनी कल्पना द्वारा निर्मित कार्यों को

थोपा है। कुल मिलाकर, भारत के तान्त्रिक योगियों की सन्ध्या-भाषा के समान ही पिकासो की चित्र-भाषा हो गयी है। ध्यान में रखने की बात है कि कोई भी प्रतीक तभी तक भावोत्तेजना की शक्ति रखता है, जब तक कि उसकी जड़ें सामाजिक-सामूहिक अनुभवों की धरती में समायी हुई हों। मात्र व्यक्तिगत धरातल पर तो हज़ारों प्रतीक खड़े किये जा सकते हैं।

कला के इस विश्लेषण से हमारे सामने दो बातें और साफ़ हो जाती हैं। कला यद्यपि व्यक्तिगत आधार पर होती है, किन्तु उसकी चेतना उस वर्ग में समाहित तथा उससे विकसित है जिसके भीतर रहकर कलाकार ने अपने अनुभव प्राप्त किये हैं। उसकी गतिहीनता पिकासो के लिए मर्मभेदी है, किन्तु उससे ऊपर उठकर उसने उस गतिहीनता पर कोई परिप्रेक्ष्य नहीं अपनाया। यहाँ तक कि ऐसा प्रतीत होता है मानो वह उस पीड़ा में आत्मघाती विकृत आनन्द ले रहा हो। किन्तु इस प्रकार के कथन से किसी भी कला या कलाकार का महत्त्व कम नहीं होता। कला का श्रेष्ठत्व, अपने युग की अनिवार्य उपलब्धि के रूप में, उस अनिवार्यता के परिणाम के रूप में उपस्थित होता है। पिकासो की महानता सर्वसम्मत मानी जाती है। उसके चित्र का अर्थ करना मेरे लिए दुःसाहस है। मैं क्षमा चाहता हूँ। मैंने यह दुःसाहस अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण के रूप में किया। मुख्य बात यह है कि प्रतीक विधान जैसा हो, उसे यथार्थ पर आधारित तथा यथार्थ-बोध में सहायक होना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के सिलसिले में हम केवल एक बात और कहना चाहते हैं। उसके बिना हमारा वक्तव्य अधूरा ही रहेगा। वह यह कि अगर साहित्य की महत्ता वास्तविक जीवन मूल्यों में प्रगतिशील योग दान में ही है, तो यूनानी तथा रोमन नग्न शिल्प मूर्तियों के बारे में आपका क्या खयाल है?

इसका उत्तर स्पष्ट है। शरीर-सौन्दर्य का विकास मनुष्य की स्थायी इच्छाओं में से एक है। यदि ये स्थायी वृत्तियाँ न होतीं तो विकास ही न होता। यदि ये स्थायी वृत्तियाँ न होतीं तो मनुष्य, मनुष्य न होकर कुछ और होता। मनुष्य की ये स्थायी वृत्तियाँ विभिन्न सामाजिक स्थितियों में विभिन्न रूप तथा विभिन्न महत्त्व प्राप्त करती रहती हैं। कहीं-कहीं उनका रूप अत्यन्त विकृत भी हो जाता है। ध्यान में रखने की बात है कि हमारे भारतीय साहित्य में विपरीत रति की भी घोषणा की गयी है तथा 'मदन सिंहासन' का ज़िक्र आया है। हिन्दी के एक कवि कालिदास त्रिपाठी कहते हैं

मेरे पग महदी लगी है नन्दलाल प्यारे,
लट उरझी है नक वेसर सँभारि दै।

इस पंक्ति में मात्र कामुक गूँज है। किन्तु जहाँ यह नहीं है, वहाँ भी प्रेम का वर्णन मधुर हो उठता है। जैसे—

अति रस लम्पट मेरे नैन,
तृप्ति न मानत पियत कमल मुख सुन्दरता मधु ऐन।

अथवा—

यह रितु रूसिबे की नाहीं।
बरसत मघ मेदिनी के हित,

प्रीतम हरषि मिलाही।
जैसी बेलि ग्रीष्म रितु डाही,
ते तरुवर लपटाही।
जे जल बिनु सरिता ते पूरन,
मिलन समुद्रहि जाही।
जोबन धन है दिवस चारि को,
ज्यो बदरी की छाही।
मैं दम्पति-रस रीति कही है,
समुझि चतुर तन माही।
यह चित धरि री सखी राधिका,
दै दूती को बाँही।
सूरदास उठि चलहु राधिका,
सग इती पिय पाही।।

उपर्युक्त काव्य-पक्तियो मे हमारी बात सुस्पष्ट हो जायेगी। मनुष्य की स्थायी वृत्तिया तो इसमे प्रकट हैं ही, उनमे उन स्थायी वृत्तियो के जीवन-मूल्य भी, जो मानव-मूल्य हैं, प्रकट हैं। यही कारण है कि सूरदास का काव्य अपने सर्वोच्च सौन्दर्य क्षणो मे अत्यन्त मानवीय है।

जिस वर्ग अथवा समाज मे ये जीवन-मूल्य नही हैं जहाँ व्यक्तिगत प्रेम परिणय के अधिकार तथा उससे निःसृत सामाजिक उत्तरदायित्व की मान्यता नही है, वहाँ दोनो स्थितियो मे भ्रष्टाचार फैलेगा—प्रेम-परिणय अधिकार के अभाव मे, अथवा सामाजिक उत्तरदायित्व के अभाव मे। वहाँ वेश्या व्यवसाय तथा भ्रष्टाचार की व्यापकता तो होगी ही, वह सही कही भी जायेगी, तथा काव्य से ऐसी गूँजें निकलेंगी :

अबुज कज से सोहत है अरु कचन कुम्भ भरे से धये है।
बारे खरे गदकारे महा बटपारे लसे अरु मैन छये हैं।।
ऊँचे उजागर नागर हैं अरु पीय के चित्त के मित्त भये हैं।
है तो नये कुच ये सजनी पर जो लौं नये नही तौ लौं नये हैं।।

इस प्रकार अत्यन्त कामुक भाव के सैकडो उदाहरण हिन्दी साहित्य स दिये जा सकते हैं। जिस वर्ग तथा समाज मे प्रेम के समान साधारण मनोवृत्तियो पर दबाव होता है, उस वर्ग मे न केवल दासीत्व के आदर्शीकरण पर प्राप्त विवाहिता स्त्री ही कष्ट भोगती है, वरन् अधिकारी पुरुष के जीवन-मूल्य भी अस्वस्थ और रुग्ण हो उठते है। ऐसे समाजो म स्त्री की दशा केवल यही होती है

आँचल मे है दूध, और आखो मे पानी।
अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।।

अधिक-से-अधिक नारी के आदर्शीकरण के सम्बन्ध म पुरुष यह कहता है :

नारी, तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत-नग-पग तल मे,
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल मे।

दोनो मे वह पुरुष की सहचरी नहीं है। वर्ग-समाज मे पहले स्त्री की स्वतन्त्रता की

हत्या की गयी। उसे 'देवी' बनाया गया या दासी अथवा वेश्या। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। लक्ष्मण के लिए उर्मिला का यह कथन सहचरत्व की मानव भावना को ध्वनित करता है

खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम।
चाहती हैं एक तुम-सा पात्र हम।
आन्तरिक सुख-दुःख हम जिसमे धरें।
और निज भवभार यो हलका करें॥

इन चार पंक्तियों मे मैथिलीशरण गुप्त जैसे बुजुर्ग कवि ने प्रत्येक स्त्री के मन की बात कही है। वास्तविक सहचरत्व— चाहे वह मैत्री ही क्यो न हो— आन्तरिक सुख दुःखो की पारस्परिक प्रेषणीयता के बिना असम्भव ही है। इस पारस्परिक साहचर्य की भावना के बिना हमारे कितने ही भारतीय परिवार रह रहे हैं। कालिदास का दुष्यन्त बहु विवाह प्रणाली मे ग्रस्त है। किन्तु जहाँ तक शकुन्तला से उसके प्रेम का प्रश्न है, वह अत्यन्त सरल, स्वाभाविक तथा स्वस्थ है। इसीलिए हमे उसकी ये पंक्तियाँ अच्छी मालूम होती है

कार्यासैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी।
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरो पावन ॥
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरो निर्मातुमिच्छाम्यध।
पार्श्वे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्डूयमाना मृगीम्॥

कृष्ण-मृगी का चित्र खड़ा करके, दुष्यन्त शकुन्तला के सम्बन्ध मे अपनी इच्छा को ही प्रकट कर रहा है। पूरा चित्र मूर्त वास्तव यथार्थ पर आधारित है। किन्तु वह मूर्त वास्तव यथार्थ, एक ही साथ, दुष्यन्त शकुन्तला के सौन्दर्यालोकपूर्ण मनोजगत् तथा उस मनोजगत् की गहन और सुन्दर इच्छाओ को व्यक्त करता है। सक्षेप म वह, एक ही साथ, मूर्त यथार्थ चित्र है, और निगूढ इच्छाओ का प्रतीक-चित्र। हमारी सास्कृतिक परम्परा मे से हमे वही भाव आकर्षित करते है, जो हमारे वर्तमान जीवन के आदर्शों तथा मूल्यो को विकसित करने मे योग देते हो, तथा वर्तमान जीवन मूल्यो की स्थिति-रक्षा करते हो। यदि हमारे वर्ग तथा समाज मे गलत जीवन-मूल्य प्रचलित है, तो हम पुराने साहित्य से केवल उन्ही के अनुसार अपने लिए चुनाव करते हैं। उदाहरणत, एक हिन्दी के नौजवान कवि ने, अपनी कहानियो मे, उरोजो को ऐसे कपोतो की उपमा दी है जो उडने के लिए मानो तैयार बैठे हो। अब इस भाव को पजनेस की निम्नलिखित पंक्ति से मिलाइये

उरज उठौना चक्रवाकन के छौन कैधौं,
मदन खिलौना या सलौना प्रानप्यारी के।

स्पष्ट है कि उस नौजवान कवि ने अपनी कहानी मे चक्रवाक को केवल कपोत बना दिया है। बात वही है।

वर्तमान युग मे ऐसे पुराने साहित्य के प्रति व्यापक आकर्षण नहीं रह गया है, जिसमे सकुचित (अथवा कह लीजिए साम्प्रदायिक) धार्मिक भाव हो, चाहे वे कबीर के हो या किसी दूसरे के। इगला, पिंगला, सुषुम्ना, अनहद नाद आदि पारिभाषिक शब्दावली मन म विशेष भावोत्तेजन नहीं करती। जन-मानस की व्यापक दृष्टि से देखने पर यह पता चलता है कि बहुत-सी धार्मिक कल्पनाएँ भी आज मृतवत् हैं, तथा अभिरुचि भी बदल गयी है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक

विशेष युग मे विशेष प्रकार के साहित्य के श्रेष्ठ अस्तित्व मात्र से वह साहित्य हर युग के लिए उतना ही विशेष आकर्षण रखे, यह आवश्यक नही है। इसीलिए, साधारणतया, श्रेष्ठ माने जानेवाले साहित्य पर भाषण इत्यादि होते हैं, किन्तु भाषणकर्ताओ से एकान्त मे यदि जानकारी ली जाये तो उनमे से पचास फीसदी यह कहेगे कि केवल बचपन मे या शुरू की जवानी मे उन्होने उस 'श्रेष्ठ' साहित्य को पढा था। ध्यान मे रखने की बात है कि तुलसीदासजी का **रामचरितमानस** भी अब लोगो के लिए उतना आकर्षक नही रह गया है जितना कि वह पहले था। साहित्य की श्रेष्ठता-मात्र ही उसके नित्य आकर्षण का आधार नही है। उसकी श्रेष्ठता का युगयुगीन आधार है— वे जीवन-मूल्य तथा उनकी अत्यन्त कलात्मक अभिव्यक्ति, जो मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा उच्चतर मानव-विकास मे सक्रिय रूप से सहयोग दें, चाहे ऐसे सहयोगी जीवन मूल्यो का प्रतिपादन करनेवाले [illegible]

सारांश यह कि पुराने साहित्य का केवल वही श्री-सौन्दर्य हमारे लिए ग्राह्य होगा, जो हमारे नवीन जीवन-मूल्यो के विकास मे सक्रिय सहयोग दे, अथवा उसकी स्थिति-रक्षा मे सहायक हो। किन्तु यदि ये जीवन-मूल्य स्वय हमारी ह्रास-ग्रस्त दशा से उत्पन्न है, तो वह श्रेष्ठ साहित्य हमारे नवीन भावो के अनुकूल न होने से, हम उसका आदर करते हुए भी उसमे रस न ले पायेगे। शुद्ध साहित्यिक सौन्दर्य, मात्र सौन्दर्य, निरपेक्ष सौन्दर्य की निरपेक्ष सत्ता स्वीकार करनेवाले लोग या तो स्वय धोखे मे है, अथवा धोखा देना चाहते है।

ऐसे लोग सौन्दर्य के मानो को उनके सामाजिक सम्बन्धो से दूर करके तो देखते ही है, वे चित्रकला, सगीत, शिल्प तथा स्थापत्य कला के सौन्दर्य-मानो के दृष्टिकोण से साहित्यिक सौन्दर्य की व्याख्या करके उसके नित्य-आकर्षण की काल-निरपेक्षता सिद्ध किया चाहते हैं। वस्तुत, चित्रकला, शिल्प, आदि कलाएँ अपनी रेखाओं और गठन की मनोहारिता के साथ-साथ विशेष भावो और भाव-दृष्टियो को प्रदर्शित करती है। किन्तु जहाँ यह गठन और भाव अधिक शैली-ग्रस्त तथा प्रस्तरीभूत हो जाते है, उनका आकर्षण भी हमारे लिए कम हो जाता है। आगे चलकर उनकी अपील तो हमारे लिए केवल आलकारिक हो जाती है। निश्चय ही, यह विकार तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक मूल्यो की रूढिग्रस्त अवस्था की जडता से उत्पन्न है। किन्तु यदि उस कला मे जीवन-भावो का प्रस्फुरण है, तो हम, उनकी धार्मिक कल्पनाओ के बावजूद, उनसे प्रभावित होते हैं। वस्तुत, प्रभावित होते समय हम उनकी धार्मिक सीमाओ को अचेतन रूप से अपने मन से हटाकर उनके आकर्षण को ग्रहण करते है। जितना अधिक उनका आकर्षण होगा, उतना ही प्रभावन अधिक होगा, उतनी ही अपने-अपने मन मे, उनकी अनुकूलता का आस्वादन करने के लिए, प्रतिकूलता की काट-छाँट भी होगी। कालिदास के **अभिज्ञान शाकुन्तल** मे ज़रा-ज़रा-सी बात पर जब पद्यो का व्यवहार होता है, तब हमारे रसास्वादन मे बाधा होती है, किन्तु कवि-नाटककार ने अपनी निपुणता के तथा कला-विवेक के सचेत प्रयोग द्वारा उन पद्यो को पात्र तथा कथा के विकास मे योगकारी बना दिया है, मनोहारी तो उन्हें बनाया ही है। राम-

तथा उचित सिद्ध हो। इस प्रकार का उदात्तीकरण हमारे लिए आदर्श की वस्तु नहीं। किन्तु शोषक-शासक वर्गों में भी बहुत बार, उनकी विशेष परिस्थितियों में तथा जनमत के दबाव के कारण, उनके विशेष क्षेत्रों में विशेष जीवन मूल्य भी हो सकते हैं, जो तत्कालीन परिस्थितियों में प्रगतिशील सिद्ध हों। जैसे, रूस में सामन्ती शासक महान पीटर अपने देश की उन्नति के लिए अनेक प्रगतिशील देशोत्थान-मूलक कार्य करता है। ऐसी स्थिति में जिन जीवन-मूल्यों ने उसे देशोत्थान के कार्य में लगाया, वे जनता के अनुकूल थे। अतः वे प्रगतिशील थे। सामाजिक प्रगतिविरोधी जीवन-मूल्य गलत जीवन-मूल्य भी हैं, भले ही वे अनेक मनोहर नाम-रूप धारण करके हमारे सामने आयें। गलत जीवन-मूल्यों से संयुक्त उदात्तीकरण रिक्त सौन्दर्य होगा या सौन्दर्य ही नहीं होगा—और कुछ भले ही हो, तथा कुछ लोगों को उसमें सौन्दर्य भले ही दिखायी दे। मनोवेगों का सच्चा उदात्तीकरण सही जीवन मूल्य-संयुक्त मनोवेगों से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। ये जीवन मूल्य कलाकार के वास्तविक जीवन से, तथा उनके आधार पर बनी हुई भाव दृष्टि से, सम्बद्ध हैं। इस दृष्टि के बिना तथा सचेत वास्तविक जीवन के आधार के बिना, कृत्रिम रूप में मात्र बौद्धिक प्रणाली से अथवा काल्पनिक रीति से किया गया जीवन मूल्यों का सम्मिश्रण, रिक्त सौन्दर्य को जन्म देगा अथवा उसमें सौन्दर्य ही नहीं होगा। इन सही जीवन-मूल्यों का भावात्मक, हार्दिक अन्तःकरणमूलक समस्त व्यक्तिगत-उत्सर्गशील ग्रहण तब तक सम्भव नहीं है, जब तक लेखक अथवा कलाकार प्रगतिशील मानवीय जीवन-मूल्यों से तथा उनको वहन करनेवाली शक्तियों से, और समाज के उस पक्ष में जिसको हम जनता का पक्ष कहते हैं अपने को तदाकार नहीं कर लेता। किन्तु, यह ध्यान में रखने की बात है कि सब युगों में यह सम्भव नहीं है। क्योंकि जनता यदि निद्रावस्था में लीन है, यदि उसके भीतर उसके अपने तीव्र भावों का वहन करनेवाले महापुरुष या प्रतिभाशाली प्रतिनिधि उत्पन्न नहीं हुए हैं, अथवा ऐसी परिस्थिति पैदा हुई है कि जिसमें उसके इन प्रतिनिधियों का प्रभाव नहीं है—और उसका अपना स्वयं का प्रभाव नहीं है—संक्षेप में, यदि वह एक प्राय [illegible]

[illegible] जीवन-
[illegible]चरणा-
[illegible]ड़ जाता

है, वरन् अपने वर्ग तथा समाज से भी द्वन्द्व-युद्ध करना पड़ता है। ऐसे मौके पर बहुत कम ऐसे साथी होते हैं, जो आदर्शों का राम-नामस्मरण करते हुए भी सच्ची सहानुभूति तथा प्रेरणा देते हों। इसके साथ ही, कलाकार के इस नैतिक साहस के अतिरिक्त उसकी कार्यकारी-क्षमता पर भी निर्भर रहेगा कि वह यथार्थ का कितना परस्पर-सम्बन्धों से युक्त विवेकपूर्ण आकलन कर सकता है। कलाकार की इस *दिशा की ओर सक्रिय जितनी बड़ी पीड़ा होगी, उतनी ही उसकी दृष्टि मर्म भेदी* तथा सक्रिय होगी। ठीक उसी के अनुपात में उसकी कला सृष्टि भी सबल रहेगी। किन्तु, साथ ही साथ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि वास्तविक जीवन की वास्तविक परिणति मात्र आत्म-सीमित कार्य नहीं है। उसकी पूर्णता वास्तविक

समाज की प्रगतिशील शक्तियों के संघर्ष में सम्पूर्ण हार्दिक तथा सक्रिय योग देने की संवेदनशील कार्यकारी क्षमता के विकास पर निर्भर है। साथ ही-साथ, यह इस बात पर भी निर्भर है कि वे प्रगतिशील शक्तियां समाज में कहाँ तक प्रभावशाली हैं, मानव हृदयों को वे कहाँ तक सिंचित और आप्लावित कर सकी है।

इस स्थापना के सम्बन्ध में सोचते समय, एक फूहड़ सवाल की याद आती है। प्रश्न यों किया जाता है क्या कालिदास ने आपकी ऊपर लिखी शर्तों का पालन किया था? किन्तु उसकी कला भी तो सार्वभौम सार्वकालिक है। देखिए, उसके सम्बन्ध में गेटे ने क्या कहा था 'यदि कालिदास जर्मनी तक में लोकप्रिय हो सकता है तो फिर उसकी उच्चता में सन्देह नहीं है। किन्तु उसकी श्रेष्ठता आपकी शर्तों का पालन करने से नहीं हुई है।'

इस सम्बन्ध में हमारा उत्तर संक्षेप में, इस प्रकार है। वह काव्य या कला जो हम भावोत्तेजित तो करती है, किन्तु हमारे वास्तविक जीवन-पथ में मूल्यवान होकर सहायक नहीं बनती, निश्चय ही वह कला श्रेष्ठ होते हुए भी श्रेष्ठतम नहीं है। मेरे इस कथन से कालिदास के यश में कोई धब्बा नहीं लगता। न मैं किसी स्थूल उपयोगितावाद का समर्थन कर रहा हूँ। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि जो तात्कालिक रूप से उपयोगी है वही सत्य है। यह स्थूल उपयोगितावाद वास्तविक भौतिकवाद से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। मनुष्य अपने प्राचीन पूर्वकालीन समाजों के जीवन, रीति-नीति, कार्य-व्यवहार, उनकी श्रेष्ठ उपलब्धियों तथा सीमाओं में दिलचस्पी रखता आया है। निश्चय ही, जब हम कालिदास के काव्य का अनुशीलन करते हैं तो हम उस जीवन के सौन्दर्य-चित्रों तथा तत्कालीन सूक्ष्म दृष्टियों में आनन्द लेते हैं। कालिदास का काव्य हमारे लिए आज आधुनिक अर्थों में प्रेरणाप्रद भले न हो, किन्तु हमारा रंजन करने की शक्ति तो उसमें है। इसलिए कि, बावजूद सामन्ती समाज के क्रिया-कलापों के चित्रण के, मनुष्य-प्रेम तथा प्रकृति-प्रेम की उसमें जो तस्वीरें मिलती हैं, उनकी पूर्व-पीठिका में हमारे वर्तमान जीवन को रखने पर यह पता चलता है कि वैसा समाज बाधाहीन मानव-सुलभ प्रेम तथा प्रकृति-सौन्दर्य आज हमारे जीवन में नहीं रहा है। हमारे इस अभाव से ही कालिदास के प्रति हमारी अनुरक्ति बढ़ जाती है। किन्तु इस अभाव के अभाव में भी, कालिदास के प्रति हमारी आसक्ति इसलिए स्थिर रहती है कि उसमें मानव-सुलभ प्रेम तथा प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति स्वाभाविक अनुरक्ति के दर्शन होते हैं। उसमें प्रेमी द्वारा प्रेमिका की भयानक उपेक्षा का जो विरोध कलात्मक माध्यम से प्रस्तुत हुआ है, वह हमारे जीवन-मूल्यों को दृढ़ करता है, और हमारे हृदय को स्पर्श करता है।

वस्तुतः, साहित्य की शाश्वतता का प्रश्न परम्परा के रूपायन का प्रश्न है। हमारे पूर्वकालीन समाजों की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियाँ, जिन्हें हम अमर कहते हैं, इसीलिए हमारे लिए मूल्यवान हैं कि उनके भीतर समाये हुए जीवन-तत्वों को हमने अपनी परम्परा में अन्तर्भूत कर लिया है। यह अवश्य है कि परम्परा में पूर्वकालीन जीवन-तत्त्वों को अन्तर्भूत करते हुए हमने उनका रूप ही बदल डाला है। मानव-सुलभ प्रेम तथा प्रकृति-सौन्दर्य में स्वाभाविक मानव-अनुरक्ति हमारी परम्परा का अंग है, किन्तु बहु-विवाह उस परम्परा का अंग नहीं है, रति-विलास उस परम्परा का अंग नहीं है—कालिदास के लिए भले ही वह महत्त्वपूर्ण हो।

पुराने 'राजाओं के अन्तःपुर-उद्यान आदि के भीतर भोग-विलास या रंग-रहस्य के रूप में' भी प्रेम के चित्र खींचे गए हैं, जिसमें 'सपत्नियों के द्वेष, विदूषक आदि के हास परिहास और राजाओं की स्त्रैणता आदि का दृश्य होता है। उत्तर-काल के संस्कृत नाटकों में इसी प्रकार के पौरुषहीन निःसार और विलासमय प्रेम का वर्णन हुआ है, जैसे रत्नावली, प्रियदर्शिका, कर्पूरमंजरी, इत्यादि में। इनमें नायक को कहीं बाहर वन पर्वत आदि के बीच नहीं जाना पड़ा है, वह घर के भीतर ही लुकता-छिपता चौकड़ी भरता दिखाया गया है। ('जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, पृष्ठ 36, रामचन्द्र शुक्ल)। निश्चय ही, इस प्रकार की रति तथा प्रेम का हमारी परम्परा में कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। किन्तु इसके विपरीत भवभूति, कालिदास, कबीर तुलसी, सूर, घनानन्द, आदि के काव्य में हमें जहाँ-जहाँ मनोहर सूक्ष्म-दृष्टियाँ, जीवन-पक्षों का मार्मिक उद्घाटन तथा जीवन-विवेक दृष्टिगोचर होता है, वह सब साहित्य हमारी स्थायी सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति केवल पुस्तकों में ही बँधी नहीं रहती, वरन्, वास्तविक पथदर्शक जीवन-मूल्यों के रूप में परिणत होकर हमारे उन जीवन-मूल्यों को अधिक सम्पन्न कर, हमारी परम्परा का अंग बन जाती है। कला-कौशल की दृष्टि से किसी काव्य का मनोरंजक हो जाना एक बात है—बिलकुल भिन्न बात है उसका जीवन-मूल्यों के रूप में हमारे सामने आना। मात्र भावोत्तेजित करने वाली कला हमारे वास्तविक जीवन पथ के लिए मूल्यवान भी हो, यह आवश्यक नहीं है। हमारे लिए मूल्यवान कला वह है, जिसमें मार्मिक जीवन-विवेक, सूक्ष्म-दृष्टियाँ तथा जीवन के वास्तविक पक्षों का उद्घाटन हो।

[2]

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि साहित्य की केवल ऐतिहासिक अथवा स्थूल समाज शास्त्रीय विवेचना कर चुकने में जो आलोचक अपनी इतिकर्त्तव्यता समझ लेते हैं, वे न केवल एकपक्षीय अतिरेक करते हैं, वरन् वे, मनुष्य का विवेचन करने के स्थान पर, केवल उसके अस्थि-पंजर को ही पाठकों के सामने करके यह कहते हैं कि देखो मनुष्य जो कुछ है वह यही है। वस्तुतः, अस्थि पंजर के बिना मनुष्य का रूप ही असम्भव है। किन्तु जब तक उस अस्थि पंजर तथा उस पर आधारित सम्पूर्ण शरीर को हम हृदयंगम नहीं कर लेते, तब तक हमें उसके प्राणिशास्त्रीय महत्त्व का बोध नहीं हो सकता, तब तक शारीरिक अवयवों की तथा सम्पूर्ण शरीर की वैज्ञानिक जानकारी भी प्राप्त नहीं हो सकती। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि मनुष्य की ऐतिहासिक सामाजिक सत्ता ने ही उसको अपने पूर्वकालीन वानर-स्तर से ऊपर उठाकर मानव स्तर तक विकसित किया, तथा विभिन्न अधिकाधिक विकसित समाजों के उत्थान-क्रम के द्वारा उसे अपने वर्तमान रूप तक पहुँचाया है। इस ऐतिहासिक-सामाजिक सत्ता द्वारा विकसित मनोवैज्ञानिक रूप ही मानवचेतना है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि ऐतिहासिक-सामाजिक शक्तियों द्वारा उसकी यह जो चेतना विकसित है, वह उन शक्तियों से स्वयं सचेत हो। जब तुलसीदासजी की चेतना रामचन्द्र का चरित्र उपस्थित करती है, तब तुलसीदासजी यह नहीं जान रहे कि वे, वस्तुतः, रामचरित के द्वारा सामन्ती समाज के मानव-सम्बन्धों को उपस्थित कर रहे हैं। उन मानव-सम्बन्धों

का सामन्ती स्वरूप उनकी समस्त चेतना के बाहर है। किन्तु वह सामन्ती स्वरूप तो सत्य है ही—तुलसीदासजी उसे जानें या न जानें।

तुलसीदासजी के लिए, स्वभावत ही, सृष्टि तथा समाज के मूल विकास-नियम नहीं थे। समाज की एक विशेष विकासावस्था में, जब पूंजीवादी समाज के भीतर मजदूर वर्ग परिपक्व हो जाता है, तब उसकी विचार-धारा के रूप में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उपस्थित होता है, जो सृष्टि तथा मानव-समाज के मूल विकास-नियमों का वैज्ञानिक उद्घाटन करता है। तब से वैज्ञानिक पद्धति से समाज के रूपान्तर की कार्य प्रणालियाँ निर्धारित की जाती हैं, तथा मानव-विकास-क्रमों का वैज्ञानिक उद्घाटन किया जाता है। ये मूल विकास-नियम मानव-संकल्पों से पृथक् तथा स्वतन्त्र हैं। समाजवादी समाज में भी वे मानव-संकल्पों से स्वतन्त्र ही रहते हैं। पुराने तथा समाजवादी समाज में, इस सम्बन्ध में, स्थिति-भेद केवल यही है कि समाजवादी समाज में मनुष्य, उन मूल विकास-नियमों के प्रति जागरूक रहने के कारण, अपने को उनके अनुसार सचेत रूप में ढालता चलता है, किन्तु विकास-नियमों को वह स्वयं बदल नहीं सकता। पुराने समाजों में वह इन नियमों से सचेत भी नहीं रहता। पूंजीवादी वर्ग इन नियमों के अस्तित्व को मानता ही नहीं, इसलिए कि वे नियम उसके उत्थान, ह्रास तथा अवश्यम्भावी परिसमाप्ति की केवल घोषणा ही नहीं करते, वरन् ऐतिहासिक लक्ष्यानुसार ऐसी कार्य-पद्धतियाँ भी निर्धारित करते हैं जो पूंजीवाद के अन्त तथा समाजवाद की स्थापना के वैज्ञानिक कार्य सिद्धान्तों का विकास करते हैं। वैचारिक क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा आदर्शवादी विचारधाराओं का यह युद्ध, वस्तुत, श्रमिक वर्ग

जिस समाज का वह चित्रण कर रहा है, उसके मानव सम्बन्ध, वस्तुत, उस समाज के मूल आर्थिक ढाँचे के रूप स्वरूप में निहित तथा उससे उद्गत हैं। तुलसीदासजी यह नहीं जानते थे कि जिन मानव-सम्बन्धों का वे चित्रण तथा आदर्शीकरण कर रहे हैं वह समाज सामन्ती समाज है। किन्तु ध्यान में रखने की बात है कि सामन्ती मानव-सम्बन्धों तथा उनकी तत्कालीन स्थिति ने ही तुलसीदासजी की चेतना रूपायित की। अतएव, तुलसीदासजी की साहित्यिक अभिव्यक्ति के मर्म को समझने के लिए, उनके सन्देश तथा उनके काव्य-सौन्दर्य के वास्तविक आकलन ग्रहण के लिए, हमें तुलसीदासजी का ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय विश्लेषण करना ही होगा। इसके बिना हम उनके वास्तविक महत्त्व तथा हमारे लिए उनके मूल्य का भी आकलन ठीक-ठीक नहीं कर सकते।

हमारे वर्तमान साहित्य शास्त्रियों ने साहित्य-समीक्षा की चार प्रचलित पद्धतियाँ बतलायी हैं (1) साहित्यिक, (2) मनोवैज्ञानिक, (3) प्रभावाभिव्यञ्जक, (4) प्रगतिवादी, अर्थात् ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्यिक पद्धति को ही सर्वोत्तम माना है। वस्तुत, समाजशास्त्रीय-ऐतिहासिक पद्धति अपने भीतर इन चारों का समाहार करती है। यह बात अलग है कि हमारी वर्तमान ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय पद्धति अधिक विकसित न होने के कारण, हम जीवन की साहित्यिक अभिव्यक्ति के मनोवैज्ञानिक तथा कलात्मक

पक्षों का सम्पूर्ण उद्घाटन न कर पाये। किन्तु प्रगतिवाद के विरोधियों ने मनोवैज्ञानिकता के नाम पर झूठे मनोविज्ञान को खड़ा किया। यदि प्रसादजी ने इडा को बुद्धि का प्रतीक माना, तो इन तथाकथित मनोवैज्ञानिकों ने, इडा के चित्रित चरित्र का विश्लेषण न करते हुए, स्वयं भी उसे बुद्धि का प्रतीक मान लिया। यदि प्रसादजी ने मनु को मानव मन का प्रतीक माना, तो इन साहित्य शास्त्रियों ने, मनु के चित्रित चरित्र की विवेचना न करते हुए, स्वयं भी उसे मानव मन का प्रतीक माना, यद्यपि मनु स्वयं एक विशेष प्रकार से कमजोर मानव का ही प्रतिनिधित्व करते है, सारे मनुष्यों का नही।

ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय समीक्षा वस्तुत, दो भागों मे विभाजित की जा सकती है। एक वह जो समीक्ष्य साहित्य के मनोभावों, जीवन-चित्रणा तथा उनमे प्रस्थापित जीवन मूल्यों का विवेचन करती हुई मूल ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय उद्गम रूपायन का विवेचन करती है, तथा दूसरी, जीवन यथार्थ की कसौटी पर कसकर उनका मूल्यांकन तथा प्रभाव मापन करती है तथा इस विवेचन के दौरान मे जितने कला विवेक-सम्बन्धी प्रश्न उठते है उनका सक्षिप्त अथवा विस्तृत उत्तर देती चलती है। निश्चय ही यह बहुत बड़ा काम है जिसके लिए एक लेख नहीं, वरन् एक बृहत् अथवा अनेक बृहत् ग्रन्थों के गुफन की आवश्यकता है। इस ओर अभी तक हिन्दी मे विशेष रूप से कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नही हुआ।

[3]

साहित्य विवेक मूलत जीवन विवेक है। इसलिए जीवन से दूर अपनी आरामकुर्सी पर बैठा हुआ समीक्षक, बड़ा विद्वान ही क्या न हो, जीवन का वैज्ञानिक विवेचन नही कर सकता, फिर उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति से विश्लेषण की तो बात ही क्या! बगैर जीवन को जाने बगैर ज़िन्दगी को पहचाने जो आलोचक केवल जीवन की गूँजो (साहित्यिक अभिव्यक्ति) का विश्लेषण करता है उसको किसी-न किसी हद तक यान्त्रिकता का सहारा लेना ही पड़ता है। अर्थात दूसरे शब्दों मे, जो व्यक्ति जीवन की गतिमान प्रक्रियाओं को नही जानता [वह] इन प्रक्रियाओं के साहित्यिक प्रतिबिम्ब के स्वरूप को भी नही पहचान सकता। जीवन से दूर आलोचक की मुश्किल इसलिए भी रहती है कि साहित्य के बाहरी रूप विधान (छन्द इत्यादि) से पृथक् कला के भीतरी अपने नियम भी होते हैं। ये गतिमान प्रक्रियात्मक नियम, वस्तुत, साहित्य सृजन की मूल मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ है, और उनके अभिप्राय उसे तब तक समझ मे नहीं आ सकते, जब तक आलोचक स्वयं उस जीवन को नही पहचानता जिसे लेखक उपस्थित करना चाह रहा है। सच्ची बात तो यह है कि आलोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह उस जीवन को लेखक से भी अधिक पहचाने। तभी वह लेखक द्वारा कलात्मक रूप मे उपस्थित जीवन, तथा जीवन रूप मे उपस्थित कला की सच्चाई, ऊँचाई या निचाई को पहचान सकता हैं। बहुधा ऐसा होता है कि स्वयं लेखक जिस जीवन का कलात्मक रूप उपस्थित करना चाहता है, उसे वह अधूरा ही समझता है (उसको उसे पूरा ज्ञान नहीं होता) अथवा उसे एकपक्षीय दृष्टिकोण से देखते हुए उसके किसी एक अंग को ज्यादा फुलाकर देखता है, और उसके इस विकृत अथवा अर्ध-विकृत रूप को उपस्थित करता है। निश्चय ही, ऐसे मौके पर यह आवश्यक है कि आलोचक

लेखक द्वारा कलात्मक रूप में प्रस्तुत जीवन को लेखक से भी अधिक पहचाने। तभी वह जीवन की एकपक्षीय अथवा विकार प्रेरित उपस्थिति को उद्घाटित कर सकता है, लेखक की मूलभूत अक्षमताओं और अविवेक का पर्दाफाश कर सकता है।

अब तक ऐतिहासिक-सामाजिक विवेचना स्थूल रूप से ही होती आयी है। वह आलोच्य साहित्य के सामाजिक-ऐतिहासिक परिवेश का तो यथातथ्य निरूपण कर देती है, किन्तु लेखक के व्यक्तित्व के भीतर उसके सन्निवेश के मनोवैज्ञानिक मर्म को उद्घाटित नहीं करती। सच्चा ऐतिहासिक दृष्टिकोण वह है जो न केवल बाहरी स्थिति परिस्थिति को, वरन् साहित्य के मनोवैज्ञानिक तथ्यों को, समाज की विकासात्मक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण करता है, तथा उन मनोवैज्ञानिक तथ्यों को विकास की गतिमान धारा की बीच की लहरों के रूप में उद्घाटित करता है।

भाववादी समीक्षा के प्रेरक छायावाद की केवल मनोवैज्ञानिक व्याख्या कैसे असंगत तथा असम्पूर्ण है, यह यहाँ बतलाया जायेगा। छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहना बेमानी सा लगता है। यदि हम 'स्थूल' का अर्थ द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मकता ग्रहण करते हैं अथवा हमारे दैनिक जीवन के लोक व्यव-हारात्मक पक्ष को लेते हैं, और 'सूक्ष्म' का अर्थ [illegible]

अथवा

हाँ यह

नैतिक-साहित्यिक अभिव्यक्ति के) इतिवृत्तात्मक पक्ष के विरोध में यह तथाकथित 'सूक्ष्म' उठ खड़ा हुआ। हमको यह जानना चाहिए कि छायावाद के पूर्व भी, हजार डेढ़ हजार वर्ष के सामन्ती युग में, प्रेम सम्बन्धी सुकुमार भावनाओं की कविता हुई थी, और हृदय की कोमल वृत्तियों की सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति भी उसमें हुई थी। कालिदास को कौन भूल सकता है? सूर के साहित्य को कौन आँखों की ओट रख सकता है? प्रेम के मतवाले सूफी कवियों और उर्दू शायरों को हम नजरअन्दाज नहीं कर सकते। मीरा जब लोक लाज खो देती है, तब क्या उसमें स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं है? कबीर जब पण्डितों और मुल्लाओं को डाँट देते हैं, तब क्या वह स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं है? तुलसीदास जब समाज में यह देखते हैं कि 'नारि मुई सब सम्पत्ति नासी। मूँड़ मुड़ाय भये सन्यासी', अथवा वे जब यह कहते हैं कि ब्राह्मण शूद्र का काम कर रहे हैं और शूद्र ब्राह्मण का, और उनके विरुद्ध वे राम का चरित्र लेकर वर्णाश्रम धर्म का आदर्श उपस्थित करते हुए भी यह कहते हैं कि राम को केवल अपने भक्त ही प्यारे हैं, चाहे वे किसी भी जाति अथवा धर्म के हों तो क्या वे मनुष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भावुकता में गूँथकर, उसको सुकुमार बनाकर, तथा उसे दृढ़ता प्रदान कर, तत्कालीन सामाजिक सांस्कारिक व्यवहार के विरुद्ध उपस्थित नहीं कर रहे थे? मनुष्य के हृदय के जो तथाकथित 'सूक्ष्म' है, उसके तो अनेक रूप हो सकते हैं, अच्छे और बुरे दोनों। एक कबीर के हृदय का 'सूक्ष्म' है, तो दूसरा पद्माकर के कामुक हृदय का।

कबीर का 'सूक्ष्म' निस्सन्देह तत्कालीन समाज के अत्यन्त उच्च भावों की अग्रभूमि में उपस्थित किसी जागरूक मानस प्रहरी का काम करता है। इसी 'सूक्ष्म' के बल पर कबीर का मूल फक्कड़पन समाज की विषमताओं की मुट्ठी में दबे हुए गले को, अपने को, मुक्त कर लेने का सबक पढ़ाता है, निम्न जातियों

में आत्मगरिमा का संचार करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आपको यह बतलाना होगा कि छायावादी 'सूक्ष्म' किसी प्रकार मध्ययुगीन 'सूक्ष्म' से भिन्न है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो गया है कि वस्तुत जिसे हम 'सूक्ष्म' कहते हैं, वह यदि वस्तुत सूक्ष्म है, तो सामाजिक-ऐतिहासिक विकास-धारा का अगभूत होकर ही वह 'सूक्ष्म' है, अन्यथा वह कुछ है ही नहीं। सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियाँ जिस प्रकार बाह्य सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति-परिस्थिति निर्माण करती हैं, ठीक उसी तरह वे व्यक्ति के भीतर प्रवेश कर उसके 'सूक्ष्म' का निर्माण करती हैं, उसके 'सूक्ष्म' को विकसित कर उसे बल प्रदान करती हैं। साहित्य की सामाजिक-ऐतिहासिक व्याख्या 'सूक्ष्म' के रूप स्वरूप की ही वास्तविक व्याख्या है। उदाहरणत, हम छायावाद के तथाकथित 'सूक्ष्म' का तब तक विशदीकरण नहीं कर सकते, जब तक हम मध्ययुगीन 'सूक्ष्म' से भिन्न उसकी विविध विशेषताओं का निरूपण नहीं करते। इन विशेषताओं का निरूपण भी अधूरी सामाजिक-ऐतिहासिक व्याख्या है, जब तक हम यह नहीं बतलायेंगे कि ये विशेषताएँ उत्पन्न ही क्यों हुईं? एक विशेष देश-काल और वर्ग में ही उनका आविर्भाव क्यों हुआ?

हमारे यहाँ साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब माना गया है। किन्तु प्रतिबिम्ब तो निष्क्रिय होता है। इसके विपरीत बहुत सा ऐसा साहित्य है जिसने समाज के विचारों को बदल दिया, उसे अग्रगामी और प्रगतिशील बना दिया। मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासकार हरिनारायण आप्टे ने पण लक्षात कोण घेतो आदि सामाजिक उपन्यासों के द्वारा मध्यवर्गीय परिवार में सामन्ती उत्पीडन के विरुद्ध नारी के जो करुण दृश्य सामने रखे, उन्होंने महाराष्ट्रीय मध्यम वर्गीय स्त्री-पुरुष समुदाय की चेतना ही बदल दी।

आगे चलकर स्वय स्त्री-साहित्यकारों ने ही अपने पीडित जीवन का चित्रण, उनके प्रति की गयी वचनाओं और अन्यायों का अकन किया, तथा अपनी मुक्ति की खोज की। फलतः, आज तुलनात्मक दृष्टि से महाराष्ट्रीय स्त्री अन्य प्रान्तीय स्त्रियों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है, चाहे वह निरक्षर ही क्यों न हो। बगाल में शरत् ने अपने नारी पात्रों के गम्भीर अन्त स्वरूप का उद्घाटन तो किया, किन्तु कमता को छोड, शरच्चन्द्र के किसी स्त्री-पात्र ने पुरुष की नारी सम्बन्धी सामाजिक धारणाओं और भावनाओं को इतना नहीं झिंझोडा। परिस्थिति वैषम्य से धक्का खाते हुए विकसित होनेवाली, चरित्र की भीतरी गम्भीरता हमें चाहे जितना पिघला दे, वह गम्भीरता न तो परिस्थिति के वैषम्य का औचित्य ही है, न वह गम्भीरता परिस्थिति के वैषम्य को धक्का देने के लिए पाठक को मजबूर ही कर पाती है। वह गम्भीरता हमें उन वैषम्यों की ओर ध्यान देने के लिए बाध्य करे ही, यह आवश्यक नहीं है। शरत का पाठक नारी के चरित्र का गम्भीर सौन्दर्य देखता है, उस गम्भीरता के पीछे की मजबूरी और उसके कारणों की ओर नहीं खिचता। आखिर इसका कारण क्या है? कारण है बगाल की जमींदारी प्रथा से आक्रान्त मध्यम-वर्ग की सामन्ती लौह-शृखलाएँ।

तात्पर्य यह कि जब तक हम समीक्ष्य साहित्य के मनोवैज्ञानिक-सौन्दर्यात्मक विवेचन का समाजशास्त्रीय विश्लेषण नहीं करते, तब तक हम उसके अन्त स्वरूप का, उसकी क्षमताओं तथा सीमाओं का, पूरा विवेचन तथा मूल्य-मापन भी नहीं कर सकते।

जीवन तथ्य एक विचित्र शब्द है, आजकल के कलाकारों की दृष्टि में। वस्तुत, बाह्य जगत् से संवेदनात्मक तथा ज्ञानात्मक प्रतिक्रिया करके हमने विश्व का आभ्यन्तरीकरण किया है, और हम आत्म-जगत् के द्वारा बाह्य-जगत को स्वानुकूल करने का प्रयत्न किया है, और इस बाह्य-जगत से हमने विविध प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किये हैं। इन सब क्रियाओं से हमने अपने अन्तःकरण में भाव-पुंज बनाये हैं। इन भाव-पुंजों में, जगत् से हमारे सम्बन्ध, उसके प्रति हमारी भाव-दृष्टि तथा जीवन मूल्य— ये सब उन्हीं के रंग में डूबे हुए होने के कारण भले ही अलग अलग दिखायी न दें, किन्तु वे जीवनानुभव के रूप में अपने विभिन्न पक्ष रखते ही हैं। अतएव वे जीवनानुभव एक ही साथ वस्तु-तथ्य भी हैं, और एक संवेदनात्मक तथा भावात्मक पुंज भी।

दूसरे शब्दों में, जीवनानुभव के दो प्रधान पक्ष, मूलभूत पक्ष, नित्यश एकी-भूत स्थिति में विराजमान रहते हैं। एक है, बाह्य सन्दर्भ-सूत्र, जो बाह्य-जगत् को और उससे आत्म-सम्बन्धों को सूचित करते हैं। जीवनानुभव का दूसरा पक्ष है, बाह्य परिवेश के प्रति की गयी संवेदनाओं की प्रक्रियाएँ, जो अन्तर में भाव-पुंज उपस्थित करके उस पूरे जीवनानुभव को अत्यन्त आत्मीय बना देती हैं।

चूंकि यहाँ हम, प्रधानतः, जीवनानुभव के बाह्य सन्दर्भ-सूत्र को ध्यान में रखकर बात करना चाहते हैं, इसलिए हम जीवनानुभव को जीवन-तथ्य भी कह सकते हैं। ध्यान में रखने की बात यह है कि ये जीवन-तथ्य अनुभवात्मक रूप में ही हृदय में विद्यमान रह सकते हैं, इसलिए उन्हें जीवनानुभव कह देने में भी कोई हर्ज नहीं।

यह ध्यान में रखने की बात है कि विश्व का आभ्यन्तरीकरण जो हमने किया है, और बाहर हमने जो तरह-तरह के अपने सम्बन्ध स्थापित करके रखे हैं, वे एक विशेष परिवार, वर्ग, समाज, राष्ट्र और देश में ही। और यह सारी बाह्य रचना आदिकाल से चली आती हुई मानव-सत्ता के विकास की एक विशेष अवस्था का द्योतन करती है। और इस विशेष अर्थ में मनुष्य के अन्तर्तत्त्व ऐतिहासिक-सामाजिक शक्तियों द्वारा प्रदत्त हैं, क्योंकि वे शक्तियाँ, अपनी पूरी गति और स्थिति में, सामाजिक-सांस्कृतिक-आध्यात्मिक परम्परा के रूप में, नवीन आदर्श तथा मान मूल्यों के रूप में, सदभिरुचि तथा संस्कार के रूप में, तथा इसके अतिरिक्त सामाजिक-राजनैतिक वातावरण बनकर, आर्थिक सुस्थिति अथवा दुःस्थिति को धारण करनेवाली परिस्थिति के रूप में— और न मालूम कितने ही अकल्पनीय रूप लेकर वे मानव-अन्तःकरण में कार्य करती हैं। और मनुष्य स्वयं, उनसे क्रिया-प्रतिक्रिया करता हुआ, बाह्य विश्व को स्वानुकूल बनाने का प्रयत्न करता हुआ, और स्वयं को विश्व के अनुकूल बनाने की कोशिश करता हुआ, और इस पूरी प्रक्रिया में दोनों की काट-छाँट करता हुआ, अपनी जीवन-यात्रा करता रहता है। संक्षेप में, मनुष्य की वास्तविक जीवन-यात्रा और जीवनयापन पद्धति तथा इन दोनों के मूल में अपनी आकांक्षाएँ तृप्त करते रहने की उसकी प्रवृत्ति— ये तीनों मिलकर उसके हृदय के तत्त्वों का, उसके अन्तःकरण के तत्त्वों का, रसायन करती हैं। अतएव, अन्तःकरण में संचित इन तत्त्वों का ऐति-हासिक समाजशास्त्रीय विश्लेषण न केवल सम्भव है, वरन् वह आवश्यक भी है।

वह आवश्यक उसे प्रतीत होगा जिसे समग्र मानव सत्ता में अनुराग हो।

इतरों का, निःसन्देह, वह कुछ स्थूल-बुद्धि समीक्षकों का, कलाकारों, सौन्दर्य-वादियों तथा अध्यात्मवादियों के विरुद्ध, षड्यन्त्र-जैसा प्रतीत होगा।

किन्तु व्यक्ति-चेतना कितनी सीमित है, क्या हमें यह नहीं मालूम ? न हम पूरा आत्म साक्षात्कार ही कर सकते हैं, न पूरा अपना चरित्र-साक्षात्कार। कभी-कभी हम उसकी झलक भर दिखायी देती है।

इसीलिए हमें इतरों की आवश्यकता होती है—कवि-कलाकार, उपन्यासकार, चित्रकार से लेकर तो विज्ञान के महर्षियों की। तभी हम पूरी मानव-सत्ता का, और उसके आलोक में अपने आपके जीवन का, अपनी आत्म-सत्ता को, देख-परख सकते हैं।

लेखक की भाव दृष्टि में समन्वित जीवनानुभव, जो उसकी अनुभूति के माध्यम से कला के तत्त्व बन जाते हैं, अपनी प्रारम्भिक मूल अवस्था में जीवन तथ्य होने के कारण समाजशास्त्रीय तथा ऐतिहासिक विशेषताओं से युक्त होते हैं, समाज-विकास की ऐतिहासिक शक्तियों के द्वारा लेखक के हृदय के भीतर अभिव्यक्त होते हैं। लेखक जीवन-तथ्यों का, भावों का, स्रष्टा नहीं होता, उनका नियामक तथा प्रवर्तक नहीं होता, उनका केवल अनुभविता, भोक्ता और अभिव्यंजक होता है, यद्यपि लेखक के हृदय में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वे जीवन तथ्य अनुभूति बनकर अपने प्रकटीकरण के लिए अकुलाते रहते हैं। और इस प्रकार निगूढ़ मार्मिक अनुभव के क्षणों में लेखक उन्हें अपने भाव, अपने अनुभव, अपनी कल्पना, आदि कहकर पुकारता है, फिर भी वे जीवन-तथ्य लेखक द्वारा उत्पादित नहीं होते। लेखक उन जीवन-तथ्यों का अनुभव, चित्रण, मूल्यांकन करता है। जीवन-तथ्यों को अपने हृदय में अनुभव करते हुए, लेखक उन्हें निजी बना लेता है। तदनन्तर, उसकी विधायक शक्ति, सृजनशील कल्पना के द्वारा, उन्हें कलात्मक रूप में उपस्थित करती है। इन्हीं सीमित अर्थों में लेखक अपनी कला का विधाता है। वस्तुत, ये जीवन-तथ्य, लेखक के हृदय के भीतर उपस्थित होते हुए भी, अपने अस्तित्व के लिए मात्र उसकी सत्ता पर ही अवलम्बित नहीं रहते। वे सामाजिक अनुभवों के रूप में सबके हृदयों में विराजमान रहते हैं। उन जीवन-तथ्यों से जुड़नेवाला मूल्यांकनकारी, विवेचनकारी, मार्मिक दृष्टिकोण भी लेखक के विकास का ही एक बिन्दु है। यह विकास मात्र व्यक्तिगत न होकर, समाज-विकास की ऐतिहासिक शक्तियों द्वारा प्रवर्तित होता है, जिनके एक अंग रूप में वह लेखक स्वयं रहता है। साराश यह है कि, वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर, हमारे सामने यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य उपस्थित होता है कि साहित्य की समाजशास्त्रीय-ऐतिहासिक व्याख्या वस्तुत उतनी बाहरी नहीं है जितनी कि समझी जाती है। वह बाहरी और भीतरी, दोनों से युक्त और दोनों के परे है। कला के भीतर रूप से पृथक् (हम मात्र विश्लेषण की सुविधा के लिए यह पृथक्ता मान रहे हैं, रूप और तथ्य कभी एक-दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते) तत्त्व की आलोचना समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक भी हो सकती है, भले ही हम समाजशास्त्र और ऐतिहासिक विकास शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग न करें (न यह हमेशा जरूरी होता है)। किन्तु हमारी आलोचना को वास्तविकता पर आधारित होने के लिए समाज-रचना के ऐतिहासिक विकास के स्तर, आलोच्य वस्तु के समय प्रचलित भाव परम्परा, लेखक के वर्ग परिवार तथा व्यक्तिगत

विकासावस्था, तत्कालीन सांस्कृतिक विकास, आदि-आदि बातों के अध्ययन के साथ ही, लेखक की उस समस्त स्थिति-परिस्थिति से की गयी प्रतिक्रिया का अध्ययन भी नितान्त आवश्यक है, और इस अध्ययन के अन्तिम गर्भितार्थ समाज-शास्त्रीय और ऐतिहासिक ही हो सकते हैं।

लेखक के सम्बन्ध में उपर्युक्त वक्तव्यों से यह भ्रम सम्भव है कि लेखक अपने साहित्य में जीवन-तथ्यों को सक्रिय रूप से उपस्थित नहीं करता, अर्थात उसमें वे शान्तिक रूप से प्रकट हो जाते हैं। यह निष्कर्ष आधारहीन है। वस्तुतः, लेखक साहित्य द्वारा न केवल समाज के किसी पक्ष या प्रवृत्ति की आवाज को दृढ़ करता है, तथा इस प्रकार न केवल मूल सामाजिक द्वन्द्व में किसी पक्ष या उप पक्ष की, प्रवृत्ति या उस प्रवृत्ति के किसी सूत्र या उप सूत्र की, आवाज़ को मजबूत बनाता है, वरन ऐसे ही जीवन-अनुभव या अनुभूति या तथ्य को उपस्थित करता है, जो उस पक्ष या उप-पक्ष या प्रवृत्ति या उप-प्रवृत्ति की स्थिति को दृढ़ करें। पिछले वक्तव्यों में एक भ्रम यह भी हो सकता है कि लेखक मानो हमेशा ही जीवन-तथ्यों का, उन जीवन-तथ्यों की मूलभूत वास्तविकता को पहचानकर, कलात्मक रूप में उपस्थित करता हो। यह निष्कर्ष भी आधारहीन है। असलियत यह है कि बहुत बार लेखक जिन जीवन तथ्यों को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, उनको वह ठीक ढंग से नहीं समझता। उनके प्रति उसका दृष्टिकोण भी बहुत बार गलत होता है। ऐसी स्थिति में लेखक वास्तविकता के यथार्थ-बोध के स्थान पर अधिक-तम कल्पना का सहारा लेकर अपना काम पूरा करता है। उसकी यह अक्षमता न केवल व्यक्तिगत होती है, वरन् वह उस पक्ष से सम्बद्ध होती है, जो उन जीवन-तथ्यों के वास्तविक रूप को तथा उनके वास्तविक मूल्यों को प्रच्छन्न अथवा नितान्त गुप्त रखना चाहता है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मात्र एक छोटे-से लिरिक, महादेवी के एक गीत, शैले के चार पद्य, कीट्स की एक कविता, की समीक्षा के लिए सम्पूर्ण मानवेतिहास को प्रस्तुत करना आवश्यक है? क्या ऐतिहासिक भौतिक-वादी दृष्टिकोण से समाजशास्त्रीय विकास स्तर तथा तत्कालीन स्थिति और परि-स्थिति आदि-आदि बातों का सम्पूर्ण निरूपण आवश्यक है? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि जिस दृष्टि से जिस अनुभूति को, जिस जीवनानुभव को, जिस जीवन-तथ्य को, कवि उपस्थित कर रहा है, उसके समस्त समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सन्दर्भ और अर्थ आपके ध्यान में रहने चाहिए। निश्चय ही, जब ये सन्दर्भ और अर्थ आप में रमे हुए हैं, तो आप पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग करें या न करें, अथवा आप लेखक के केवल मानसिक पक्ष अथवा उसके शुद्ध अभिव्यक्ति-पक्ष का ही उद्घाटन करते हों, वे समस्त सन्दर्भ और अर्थ आपके विवेचन और निर्णयों में रमे हुए रहेंगे। अतएव, लेखक के संवेदनात्मक उद्देश्यों को पहचानकर उसकी कलाकृति का विवेचन किया जाना चाहिए, तथा उसके संवेदनात्मक उद्देश्यों और अन्तरानुभवों को व्यापकतर मानव-सत्ता के तथ्यों से जोड़ना चाहिए।

[सम्भावित रचनाकाल 1950-51। लेखक की कामायनी पुस्तक के अन्तिम अंश के रूप में मुद्रित, पर अप्रकाशित। कामायनी एक पुनर्विचार में इसे छोड़ दिया गया था। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित]

जनता का साहित्य किसे कहते हैं ?

जिन्दगी के दौरान में जो तजुर्बे हासिल होते हैं, उनसे नसीहतें लेने का सबक तो हमारे यहाँ सैकड़ों बार पढ़ाया गया है। होशियार और बेवकूफ में फर्क बताते हुए, एक बहुत बड़े विचारक ने यह कहा, 'गलतियाँ सब करते हैं, लेकिन होशियार वह है जो कम-से-कम गलतियाँ करे और गलती कहाँ हुई यह जान ले और यह सावधानी बरते कि कहीं वैसी गलती तो फिर नहीं हो रही है।" जो आदमी अपनी गलतियों में पक्षपात करता है उसका दिमाग साफ नहीं रह सकता।

गलतियों के पीछे एक मनोविज्ञान होता है। या यों कहिए कि गलतियों का स्वयं एक अपना मनोविज्ञान है। तजुर्बे से नसीहतें लेने वक्त, अपने गलतियोंवाले मनोविज्ञान के कुहरे को भेदना पड़ता है। जो जितना भेदेगा, उतना पायेगा। लेकिन पाने की यह जो प्रक्रिया है वह हमें कुछ सिद्धान्तों के किनारे तक ले जाती है, कुछ सामान्यीकरणों को जन्म देती है। यानी, तजुर्बे की कोख में सिद्धान्तों का जन्म होता है।

मैं अपने तजुर्बे में कौन-सा निष्कर्ष निकालूँ, यह एक सवाल है, और तजुर्बा यह है।

एक उत्साही सज्जन को जब मैंने यह कहा कि फलां पार्टी छुईखदान गोलीकाण्ड पर इतनी देर में क्यों वक्तव्य निकाल रही है, तो उसका जवाब देते हुए उन्होंने यह कहा कि वक्तव्य मैंने लिखा (वे उस पार्टी के हैं), और पार्टी उसे पास करने जा रही है। आपका भी यह काम था कि आप उस वक्तव्य को जल्दी-से-जल्दी लिखते और पास करवा लेते।

मैंने इसका जवाब यह दिया कि वह मेरा काम नहीं है। मेरे काम में हिस्सा बँटाने के लिए क्या वे लोग आते हैं ? ('मेरे काम' से मेरा मतलब 'साहित्यिक कार्य' से था) उन्होंने उसका जवाब यह कहकर दिया कि यह आपका व्यक्तिगत कार्य है और वह सामूहिक।

इसका यह मतलब हुआ कि साहित्य एक व्यक्तिगत कार्य है, और राजनीति सामूहिक कार्य, और सामूहिक कार्य में व्यक्तिगत स्वार्थ की कोई महत्ता नहीं।

लेकिन क्या यह सच है ? क्या कवि-कर्म मात्र व्यक्तिगत है ? क्या साहित्य-कार्य की मूल प्रेरणा और क्षेत्र शुद्ध व्यक्तिगत है ?

मजेदार बात यह है कि साहित्य को मात्र व्यक्तिगत कार्य कहकर, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व कहकर, अपने हाथ झाड़-पोंछकर साफ करनेवाले ठीक वे ही लोग हैं, जो 'जनता के लिए साहित्य' का नारा बुलन्द करते हैं सो उन्हें यह मालूम नहीं कि जिन शब्दों को वे बार बार दुहरा रहे हैं, उनका मतलब क्या है।

यह छोटी सी बात हमारे हिन्दुस्तान के पिछड़ेपन को ही सूचित करती है। स्वतन्त्र होने पर भी, हमारा देश आर्थिक दृष्टि से अभी गुलाम है। औपनिवेशिक देश के बुद्धिजीवी निश्चय ही उतने ही पिछड़े हुए हैं जितना कि उनका अर्थतन्त्र।

यूरोप में एक-एक विचार की प्रस्थापना के लिए बड़ी-बड़ी कुरबानियाँ देनी पड़ी हैं। लेकिन हिन्दुस्तान को पका-पकाया मिल रहा है। लेकिन, चूँकि उसके

पीछे स्वत उद्योग नहीं है, इसलिए बहुत-से विचार हजम नहीं हो पाते। शरीर में उनका खून नहीं बन पाता। आँखों म उनकी ज्योति नहीं जग पाती। मस्तिष्क में उनका प्रकाश नहीं फैल पाता। इसीलिए विचारों में बचकानापन रहता है, और कार्य विचारों का अनुसरण नहीं कर पाते। यह बात हिन्दुस्तान के औपनिवेशिक रूप पर ही हमारी दृष्टि ले जाती है।

हम अपने मूल प्रश्न पर आयें। क्या साहित्य-कार्य मात्र व्यक्तिगत कार्य है, मात्र व्यक्तिगत उत्तरदायित्व है ?

इसका जवाब यों है

1 साहित्य का सम्बन्ध आपकी सस्थिति से है, आपकी भूख-प्यास से है—मानसिक और सामाजिक। अतएव किसी प्रकार का भी आदर्शात्मक साहित्य जनता से असम्बद्ध नहीं।

2. 'जनता का साहित्य' का अर्थ जनता को तुरन्त ही समझ म आनेवाले साहित्य से हरगिज नहीं। अगर ऐसा होता तो किस्सा तोता मैना और नौटकी ही साहित्य के प्रधान रूप होते। साहित्य के अन्दर सास्कृतिक भाव होने हैं। सास्कृतिक भावो को ग्रहण करने के लिए, बुलन्दी बारीकी और खूबसूरती को पहचानने के लिए, उस असलियत को पाने के लिए जिसका नक्शा साहित्य मे रहना है, सुनने या पढनेवाले की कुछ स्थिति अपेक्षित होती है। वह स्थिति है उसकी शिक्षा, उसके मन का सास्कृतिक परिष्कार। साहित्य का उद्देश्य सास्कृतिक परिष्कार है, मानसिक परिष्कार है। किन्तु यह परिष्कार साहित्य के माध्यम द्वारा तभी सम्भव है जब स्वय सुननेवाले या पढनेवाले की अवस्था शिक्षित [की] हो। यही कारण है कि मार्क्स का डास कैपिटल, लेनिन के ग्रन्थ, रोम्याँ रोलाँ के, तॉल्स्तॉय और गोर्की के उपन्यास एकदम अशिक्षित और असस्कृतों के न समझ मे आ सकते हैं, न वे उनके पढने के लिए होते ही हैं। 'जनता का साहित्य' का अर्थ 'जनता के लिए साहित्य' से है, और वह जनता ऐसी हो जो शिक्षा और सस्कृति द्वारा कुछ स्टण्डर्ड प्राप्त कर चुकी हो। ध्यान रहे कि राजनीति के मूल ग्रन्थ बहुत बार बुद्धिजीवियो के भी समझ मे नही आते, जनता का तो कहना ही क्या। लेकिन वे हमारी सास्कृतिक विरासत हैं। ऐसे राजनीति ग्रन्थो के मूल भाव हमारी राजनीतिक पार्टियाँ और सामाजिक कार्यकर्ता अपने भाषणो और आसान जबान में लिखी किताबों द्वारा प्रसारित करते रहते हैं। चूंकि ऐसे ग्रन्थ जनता की एकदम समझ मे नही आते (बहुत बार बुद्धिजीवियो की समझ मे नही आते), इसलिए वे ग्रथ जनता के लिए नहीं यह समझना गलत है। अज्ञान और अशिक्षा से अपने उद्धार के लिए जनता का ऐसे ग्रन्थो की जरूरत है। जो लोग 'जनता का साहित्य' से यह मतलब लेते हैं कि वह साहित्य जनता के तुरन्त समझ मे आये, जनता उसका मर्म पा सके यही उसकी पहली कसौटी है—वे लोग यह भूल जाते हैं कि जनता को पहले सुशिक्षित और सुसस्कृत करना है। वह फिलहाल अन्धकार मे है। जनता को अज्ञान से उठाने के लिए हम पहले उसको शिक्षा देनी होगी। शिक्षित करने के लिए जैसे ग्रन्थों की आवश्यकता होगी, वैसे ग्रन्थ निकाले जायेंगे और निकाले जाने चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उसको प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाले ग्रन्थ तो श्रेष्ठ हैं, और सर्वोच्च शिक्षा देनेवाले ग्रन्थ श्रेष्ठ नहीं हैं। ठीक यही भेद साहित्य मे भी है। कुछ साहित्य तो निश्चय ही प्रारम्भिक शिक्षा के

अनुकूल होगा, तो कुछ सर्वोच्च शिक्षा के लिए। प्रारम्भिक श्रेणी के लिए उपयुक्त साहित्य तो साहित्य है, और सर्वोच्च श्रेणी के लिए उपयुक्त साहित्य जनता का साहित्य नहीं है, यह कहना जनता से गद्दारी करना है।

तो फिर 'जनता का साहित्य' का अर्थ क्या है? जनता के साहित्य से अर्थ है ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन-मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को, प्रतिष्ठापित करता हो, उसे अपने मुक्तिपथ पर अग्रसर करता हो। इस मुक्तिपथ का अर्थ राजनैतिक मुक्ति से लगाकर अज्ञान से मुक्ति तक है। अत इसमें प्रत्येक प्रकार का साहित्य सम्मिलित है, बशर्ते कि वह सचमुच उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करे।

जनता के मानसिक परिष्कार, उसके आदर्श मनोरजन से लगाकर तो क्रान्ति-पथ पर मोडनेवाला साहित्य, मानवीय भावनाओं का उदात्त वातावरण उपस्थित करनेवाला साहित्य, जनता का जीवन-चित्रण करनेवाला साहित्य, मन को मानवीय और जन को जन-जन करनेवाला साहित्य, शोषण और सत्ता के घमण्ड को चूर करनेवाले स्वातन्त्र्य और मुक्ति के गीतोंवाला साहित्य, प्राकृतिक शोभा और स्नेह के सुकुमार दृश्योंवाला साहित्य—सभी प्रकार का साहित्य सम्मिलित है बशर्ते कि वह मन को मानवीय, जन को जन जन बना सके और जनता को मुक्ति-पथ पर अग्रसर कर सके। साहित्य के सम्बन्ध मे यही दृष्टिकोण जनता का दृष्टिकोण है। फ्राम के लुई एरॅगाँ ने द्वितीय विश्व युद्ध म जनता के बीच काम किया, और युद्ध-समाप्ति पर रोमैंण्टिक उपन्यास लिखा। शायद उन्हे जन-सघर्ष के दौरान म दुश्मनो मे लडते लडते रोमैंण्टिक अनुभव भी हुए हो। उन अनुभवो के आधार पर उन्होने रोमैण्टिक उपन्यास लिखे। किन्तु तुरन्त बाद ही वे ऐसे उपन्यास लेकर आये जिसमे, अलावा एक रोमैण्टिक धारा के, जनता के सघर्ष का सौन्दर्यात्मक चित्रण [illegible]
उपन्यास स्टॉर्म (तूफ
के दौरान का चित्रण
उपकथाओ का सन्निवेश है। उसी तरह सोवियत साहित्य के अन्तर्गत द्वितीय विश्वयुद्ध के विशाल साहित्य चित्रो म मानवोचित सुकुमार रोमैण्टिक कथाओ और प्राकृतिक सौन्दर्य-दृश्यो का अकन किया गया है।

जो जाति, जो राष्ट्र जितना ही स्वाधीन है, यानी जहाँ की जनता शोषण और अज्ञान मे जितने अशो तक मुक्ति प्राप्त कर चुकी होती है, उतने ही अशो तक वह शक्ति और सौंदर्य तथा मानवादर्श के समीप पहुँचती हुई होती है। आज की दुनिया मे जिस हद तक शोषण बढा हुआ है, जिस हद तक भूख और प्यास बढी हुई है, उसी हद तक मुक्ति सघर्ष भी बढा हुआ है, और उसी हद तक बुद्धि तथा हृदय की भूख प्यास भी बढी हुई है।

आज के युग म साहित्य का यह कार्य है कि वह जनता के बुद्धि तथा हृदय की इस भूख प्यास का चित्रण करे और उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करने के लिए ऐसी कला का विकास करे जिससे जनता प्रेरणा प्राप्त कर सके और जो स्वय जनता से प्रेरणा ले सके। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि जनता के साहित्य के अन्तर्गत सिर्फ एक ही प्रकार का साहित्य नही, सभी प्रकार का साहित्य है। यह बात अलग है कि साहित्य मे कभी-कभी जनता के अनुकूल एक विशेष धारा का ही प्रभाव

है—जैसे प्रगतिशील साहित्य में किसान-मज़दूरों की कविता था।

इस विवेचन के उपरान्त यह स्पष्ट हो जायेगा कि जनता के जीवन-मूल्यों और जीवनादर्शों को दृष्टि में रख जो साहित्य निर्माण होता है, वह यद्यपि व्यक्ति-व्यक्ति की लेखनी द्वारा उत्पन्न होता है, किन्तु उसका उत्तरदायित्व मात्र व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक उत्तरदायित्व है। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में अनुसन्धान करता है, और शोध कर चुकने पर एक फॉर्मूला तैयार करता है, यद्यपि वह साधारण जनता की समझ में न आये, लेकिन वैज्ञानिक यह जानता है कि उस फार्मूले को कार्य में परिणत करने पर नयी मशीनें और नये रसायन तैयार होते हैं, जो मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी है। तो उसी तरह जनता भी यह जानती है कि वह वैज्ञानिक जनता के लिए ही कार्य कर रहा है। उसी तरह साहित्य भी है। उदाहरणतः, साहित्य-शास्त्र का ग्रन्थ साधारण जनता की समझ में भले ही न आये, किन्तु वह लेखकों और आलोचकों के लिए जरूरी है—उन लेखकों और आलोचकों के लिए जो जनता के जीवनादर्शों और जीवन मूल्यों को अपने सामने रखते हैं। यह बात ऐसे साहित्य के लिए भी सच है जिनमें मनोभावों के चित्रण में बारीकी से काम लिया गया है, और अत्याधुनिक विचार-धाराओं के अद्यतन रूप का अंकन किया गया है।

वास्तविक बात यह है कि शोषण के खिलाफ संघर्ष, तदनन्तर शोषण से छुटकारा, और फिर उसके बाद दैनिक जीवन के उदर-निर्वाह-सम्बन्धी व्यवसाय में कम-से कम समय खर्च होने की स्थिति, और अपनी मानसिक-सांस्कृतिक उन्नति के लिए समय और विश्राम की सुविधा व्यवस्था की स्थापना, जब तक नहीं होती, तब तक शत-प्रतिशत जनता साहित्य और संस्कृति का पूर्ण उपयोग नहीं कर सकती, न उससे अपना पूर्ण रंजन ही कर सकती है।

इस सम्पूर्ण मनुष्य-सत्ता का निर्माण करने का एकमात्र मार्ग राजनीति है, जिसका सहायक साहित्य है। तो वह राजनैतिक पार्टी जनता के प्रति अपना कर्त्तव्य नहीं पूरा करती, जो कि लेखक के साहित्य निर्माण को व्यक्तिगत उत्तर-दायित्व कहकर टाल देती है।

[नया खून, फरवरी 1953 में प्रकाशित। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित]

'प्रगतिशीलता' और मानव-सत्य

इस नदी का जन्म कहाँ और कैसे हुआ, यह कहना मुश्किल है। भूगर्भशास्त्रियों का मत है कि इस हिमयुग में (यह शायद चौथा हिमयुग है) हजारों सालों से एकत्र प्राचीन हिम-खण्डों का भार जब अधिकाधिक असन्तुलित होने लगा, तब एकाएक उसके कुछ हिस्से अपनी-अपनी जगहों पर हिलने लगे। ज्यों-ज्यों भार

बढ़ता गया, त्यों-त्यों हिम-खण्डों के पैर उखड़ते गये, और आखिर वह समय भी आया जब वे हिमनदी या ग्लेशियर्स बनकर अनेकों महासरिताओं के आदि-स्रोत बन बैठे।

नदियाँ हमारे सामने हैं। उनका मूल स्रोत अमुक हिमनदी है, यह कहना मुश्किल है। किन्तु यह पक्की बात है कि उनका आदि-हिम बहुत पुराना है।

यह आदि हिम क्या है, इसका पता नहीं है ऐसी बात नहीं। आज की ज़िन्दगी में वही दृश्य हमें दिखायी देते हैं जो महाभारत काल में थे। अन्तर इतना ही है कि गुरु द्रोण के प्रांगण में आधुनिक कौरव और पाण्डव दोनों तालीम पा रहे हैं। दोनों पक्षों में, आन्तरिक उद्देश्यों और स्वभावों के भेद के साथ ही-साथ, एक बात सामान्य है, और वह यह है कि समाज की ह्रासकालीन स्थिति और व्यक्तित्व की ह्रास-ग्रस्त मति के दृश्य दोनों की परिस्थिति बन गये हैं। इनके विरुद्ध या इनके अनुकूल कौन कैसी प्रतिक्रियाएँ करता हुआ, अपने व्यक्तित्व और जीवन का तथा उसके द्वारा समाज का किस ढंग से विकास करता चलता है, इस पर सब कुछ निर्भर है। *अभी भी बहुत से महापुरुष कौरवों की चाकरी करते हुए पाण्डवों से* प्रेम करते हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। किन्तु द्रोण, भीष्म और कर्ण-जैसे प्रचण्ड व्यक्तित्वों की ऐतिहासिक पराजय जैसी महाभारत काल में हुई थी, वैसी आज भी होनेवाली है।

अन्तर इतना ही है कि इस संघर्ष में (जो आगे चलकर आज नहीं तो पच्चीस साल बाद तुमुल युद्ध का रूप लेगा) कौन किस स्वभाव-धर्म और समाज-धर्म के आदर्शों से प्रेरित होकर ऐतिहासिक विकास के क्षेत्र में अपना-अपना रोल अदा करेगा, इसकी प्रारम्भिक दृश्यावली अभी से तैयार है।

हजारों सालों के महाभारत में और आज के महाभारत में उतना ही अन्तर है जितना कि प्रथम हिमयुग और चौथे हिमयुग के बीच। भूगर्भशास्त्रियों का कहना है कि अति-प्राचीनकाल में सिन्धु, सतलज, सरस्वती, यमुना और गंगा एक ही घाटी में बहती थीं। *यानी उस काल में भौगोलिक स्थिति कुछ दूसरी ही* थी और ये विभिन्न नदियाँ न थीं, वरन् एक ही सरिता थी जो पश्चिम से पूर्व की ओर बहती थी। आज उस प्राचीन स्थिति को सूचित करनेवाली सिर्फ़ पुरानी घाटी के *शिला-प्रसार हैं, जो आज भी सिन्धु की* तलहटी से चलकर गंगा के मुहाने तक घाटी के चिह्नों के रूप में विराजमान हैं, और भूगर्भशास्त्रियों के ज्ञान के उपकरण बने हुए हैं। तात्पर्य यह कि जल के मूल तत्त्वों में परिवर्तन न होते हुए भी, वर्तमान नदियों की दिशाओं में परिवर्तन हो गया है। परिवर्तित दिशा-कोणवाली इन नदियों का महत्त्व कौन न स्वीकारेगा, जबकि आज उनका मधुर जल पीकर प्रगल्भ सभ्य शक्तियाँ स्वयं को पुष्ट करती जा रही हैं, और जिनके तट पर से बहती हुई हवा अनेक मानसिक और शारीरिक व्याधियों की दवा बन बैठी है।

यह दिशा-परिवर्तन बौद्धिक सत्य की अपेक्षा जीवन का एक जीता-जागता तथ्य है। यह अलग बात है कि कुछ लोग इस तथ्य का पौराणिक विश्लेषण करें और कुछ लोग वैज्ञानिक। हर समय, हर युग में, ऐसी शक्तियाँ रही हैं जो पहले 'नवीन' का विरोध करती हैं, किन्तु जब वे उस नवीन को बदल नहीं सकतीं तो उसकी इस प्रकार से व्याख्या करती हैं, कि जिससे वह 'नवीन' पुरातन का आरज

मानसिक पुत्र बनकर उनके घर सेवा-चाकरी करता रहे। नवीन मत्यों के आधुनिक पौराणिक व्याख्याकार हमारे बीच में अनगिनत है, और यह पर्याप्त सम्भव है कि [illegible] की खोज में

[illegible]

लोग आज युनेस्को की अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली मे बात करते हो, और यह भी हो सकता है कि नागपुर यूनिवर्सिटी से तुलसीदास के दर्शन पर उन्होंने अपनी पुस्तक प्रकाशित करवायी हो। पुराणपन्थी से हमारा तात्पर्य उन सभी सज्जनो से है जिनका सौजन्य सामान्य-जन की बौद्धिक-सामाजिक-राजनैतिक मुक्ति के आडे आता है। 'सामान्य-जन' या 'जनता' शब्द के प्रयोग से घबराने की जरूरत नही (यद्यपि तरह-तरह के अवसरवादियो द्वारा इस शब्द का खूब दुरुपयोग किया गया है)। [illegible] शामिल है, बशर्ते कि वे

[illegible] व बुद्धिजीवी और

छीन नहीं लेता।

और आम तौर पर उसकी स्थिति ही ऐसी है कि वह जनता मे है। चण्डीदास का वह पद—शुनह मानुष भाई सबार ऊपर मानुष सत्तो ताहार ऊपरे नाई।—जिस मनुष्य-सत्य की घोषणा करता है उसका मूल अधिष्ठान जनता मे है। इस जनता को आँखो से ओझल करके देशभक्ति नही हो सकती।

सच तो यह है कि स्वय के मनोभावों की कविता प्रत्यक्षत व्यक्ति की होने से जन-विरोधी नहीं हो जाती, बशर्ते कि वे मनोभाव समाज के बीच मे रहकर स्वाभाविक हुए हो। जन-मन की सर्व-साधारण मन स्थिति व्यक्ति की मनोदशाओ द्वारा प्रकट हो, तो फिर क्या कहना! वे मनोभाव तो उत्पीडित वर्गों की साधारण मन स्थिति के ही द्योतक हैं। अपनी बिकी हुई मेहनत, बेसहारा जिन्दगी की आकाक्षाएँ, सामाजिक उलझनो से होनेवाले मानसिक तनाव, स्थिति परिस्थिति की क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सम्वेदनाएँ आदि को अपने में सम्मिलित करनेवाला विचार-वेदना-मण्डल, जब लोक-मुक्ति की नयी भावधारा से और भी सशक्त, और भी सम्वेदनमय हो जाता है, तब जिस साहित्य का आविर्भाव होता है उसमे महान् 'मनुष्य-सत्य' होता है। इस मनुष्य-सत्य का अनादर करनेवाले साधारण रूप से दो परस्पर विरोधी क्षेत्रो से आते हैं। एक वे, जो मात्र क्रान्तिकारी शब्दो का शोर खडा करनेवालो के हिमायती के रूप मे अपने सिद्धान्तों की यान्त्रिक चौखट तैयार रखते हैं—जो उसमे फिट हो जाये वह प्रगतिशील, और जो उसमें कसा न जा सके वह प्रगति-विरोधी। यह उनका प्रत्यक्ष, परोक्ष, प्रस्तुत और अप्रस्तुत, मुखर और गोपनीय निर्णय होता है। ये लोग उत्पीडित मध्यवर्ग के जीवन के तत्त्वों से दूर अलग-अलग होते हैं। भले ही ये लोग शाब्दिक रूप मे गरीबो के कितने ही हिमायती क्यो न हो, इनका व्यक्तित्व स्वय आत्मबद्ध, अहंग्रस्त महत्त्वाकाक्षाओ का शिकार और राग-द्वेष की बहुमुखी प्रवृत्तियो से निपीडित होता है। बोधहीन बौद्धिकता का शिकार, यह वर्ग जिस सवेदनमय कविता की आलोचना करता है, उसकी सवेदनाओं की मूल आधार-भूमि को वह हृदयंगम नही कर सकता।

हमारे उत्पीडित मध्यवर्गीय सचेत युवको के कष्टो का इतिहास केवल

तात्कालिक व्यक्तिगत आर्थिक कारणों से ही नहीं है, वरन् वर्ग के अनेक रूप पुराण-पन्थी संस्कारों और अविचारों से, संघर्ष की रवनाल वेदनाओं से, आच्छन्न है। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की आरामकुरसी पर बैठे हुए ये मसीहा निर्णय दे सकते हैं, लेकिन नवयुवक लेखक की बाँह पकड़कर सहारा नहीं दे सकते, उसकी काव्योन्मुखी मनोदशाओं को नहीं समझ सकते। उसके व्यस्त कष्टों में उन्हें कोई मनुष्य-सत्य नहीं दिखायी देता। वे तो उस कविता को अपना प्रमाण-पत्र देंगे जिसमें उनकी अभिरुचि की ज़िद पूरी होती हो। असलियत यह है कि आलोचकगण उस जीवन-भूमि को ही नहीं समझते (अथवा उनमें इतनी संवेदन-क्षमता नहीं है कि वे समझ सकें), जिसमें गरीब नवयुवक लेखक की प्रतिभा का जन्म हुआ है। इसलिए ये लोग व्यवहार और विचार में भेद रखनेवाले (विचार और काव्य से प्रगतिशील, किन्तु वास्तविक जीवन में उच्चवर्गीय दृष्टि और जीवन प्रणाली के स्तूप) लोगों की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाते हैं, या फिर ऐसे लोगों को ही प्रगतिवादी समझते हैं जो उनकी 'राजनैतिक' शब्दोंवाली परिभाषाओं की कविता करते हों। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि नवीन कष्टग्रस्त प्रतिभा का लक्ष्य प्रोत्साहन और प्रेरणा के लिए उनकी तरफ नहीं देखता। इसलिए कि हमारे ये साहित्यिक नेता हृदय और बुद्धि के क्षेत्र में कठोर अहंवादी है, कष्टग्रस्त मनुष्य-जीवन के मर्मज्ञ होने के पहले वे आलोचक और मसीहा हैं। मनुष्य-जीवन के भव्य संवेदना-सत्यों के प्रति उनमें आवश्यक नम्रता भी नहीं है। न इतनी आस्था है कि वे ये मानें कि युग-सत्य विभिन्न रूपों और विविध आलोकों में विविध विचारों और भावनाओं में वलयित होकर आज की कष्टग्रस्त मानवता के हृदय में अधिष्ठित है। इस आस्थाहीनता के कारण ही, उनके द्वारा समर्थित कविता में सम्पूर्ण मनुष्य की गौरवपूर्ण नीतिमत्ता, सर्वांगीण मानवीय पक्षों का भव्य दृश्य, सुकुमार भावनाओं की मनुष्योचित गरिमा दिखायी नहीं देती, वरन् पिटी-पिटायी क्रान्तिकारिता का सभामंचा आत्म-प्रदर्शन दिखायी देता है।

कहने का तात्पर्य किसी व्यक्ति को नीचा दिखाना नहीं है, अथवा हिन्दी के प्रगतिशील आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण सफलताओं को नज़र-अन्दाज करना भी नहीं है। इन सफलताओं का एक महत्त्वपूर्ण कारण ये नेता भी हैं, इसमें कोई शक नहीं। और जो लोग उनके प्रति राग द्वेष की अहग्रस्त भावना से आक्रमण करते हैं, उनके प्रधान निन्दकों में से हम स्वयं हैं। किन्तु यह भी निश्चित है कि इस नेतृत्व की कमज़ोरी ने हिन्दी के वास्तविक प्रगतिशील साहित्य के और आगे विकास में बाधा उपस्थित की है, और उनके व्यक्तिगत दुराग्रहों ने (जिस पर मार्क्सवाद का मुलम्मा चढ़ाया जाता है) उसका गला घोटने में कोई कसर नहीं रखी है। यही कारण है कि प्रगतिशील कविता अधिक उन्नति न कर सकी।

नवीन कष्टग्रस्त प्रतिभा का विरोध एक दूसरे क्षेत्र से भी होता है। इस क्षेत्र के प्रतिनिधि कष्टग्रस्त जीवन के कारण कवि में उत्पन्न हुई अन्तर्मुखता का उपयोग अपने लिए करना चाहते हैं। वे उस अन्तर्मुखता के मूल उद्वेगों के क्रान्तिकारी अभिप्रायों को दबाकर, उस अन्तर्मुखता को इस प्रकार से प्रोत्साहन देते हैं कि वह अन्तर्मुखता अपने प्रधान विद्रोहों से छूटकर अलग हट जाय। अन्तर्मुखता में 'व्यक्ति' को ही प्रधान मानकर, उस व्यक्ति को सामाजिक परिवर्तन की आग्रही शक्तियों से अलग हटाते हुए, वे 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' की घोषणा करते हैं। असलियत

यह है कि जिस मन की अन्तर्मुखता जन-मन की भावनाओ मे भीगी हुई है, उसके क्षोभो और द्रोहो मे सबल हुई है, पीडित मानवता का मर्मज्ञ वह मन, जनता से टिटक कर 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' और 'अह' के कॉफी हाउस मे यूरोपीय और भारतीय सस्कृति की गप्प नहीं लडा सकता। आरामपसन्द अर्ध-सामन्ती उच्च-मध्यवर्ग की लालसाओ मे जकडे हुओ ने उस लालसा का आध्यात्मीकरण किया है। उनकी महत्त्वाकाक्षा वर्तमान समाज मे शासन करने की है—अपने विचारो द्वारा, अपनी भावनाओ द्वारा। ध्यान मे रखने की बात है कि आज उच्च-मध्यवर्ग और गरीब निम्न-मध्यवर्ग मे खाई पडी हुई है, भेद की दीवार खडी हुई है। उच्च-मध्यवर्गीय सस्कृति के ये प्रतिनिधि गरीब मध्यवर्गीय कविता की वामपक्षीय दृष्टि और उसम पाये जानवाले जनशक्ति के तत्त्वो मे परहेज़ करते हैं। और वे काफी हद तक उसे दबाने मे सफल भी हो चुके हैं।

हमारे गरीब मध्यवर्गीय युवक को इन बातो से सावधान रहना होगा। अपनी कविता की पुष्टि के लिए उसे अपने मूल उद्वेगो की स्थिति-परिस्थितिगत स्रोतो का पता लगाना होगा, और उन परिस्थितियो को दूर करने के लिए उसे सही और निर्णायक, कदम बढाने होगे। उसे अपने माता पिता की याद करनी होगी जिन्होने शक्ति दी, किन्तु सुख नही दिया। अपने कष्टग्रस्त माता-पिता, भाई-बहनो, सगी-साथियो के सजल आन्तरिक आशीर्वाद से पुष्ट, इस गरीब मध्यवर्गीय कविता का प्रधान 'सेंटिमेण्ट' जनतान्त्रिक ही रहेगा, चाहे उसका विषय शृगार ही क्यो न हो। उसका शृगार गीतगोविन्द, हयूल रोमाय आदि का शृगार नही होगा, वरन् होरी और धनिया तथा मिलिया का शृगार होगा। उसकी करुणा, दया और प्रेम मे यही सार्वजनिक मानवीयता काम करेगी। पर्यंकशायी अध्यात्म की अन्तर्मुखता के बजाय उसमे सूर और मीरा की तन्मयता और कबीर का फक्कडपन होगा। नयी कविता का रूप चाहे जो हो, उसकी धारा बडी आस्थावान है।

[इस लेख का एक प्रारूप 'नयी दिशा' (सम्पादक श्रीकान्त वर्मा तथा रामकृष्ण श्रीवास्तव) के एक अक में छपा था। बाद मे इस प्रारूप मे लेखक ने स्वय कई प्रकार के सशोधन किये और कई अश बीच में और फिर अन्त म काट दिये। यहाँ लेखक के बीच मे काटे हुए अशो को तो छोड दिया गया है, और लेख उसी रूप मे दिया जा रहा है जैसा स्वय मुक्तिबोध ने सशोधन के बाद रहने दिया था। पर उसका अन्तिम अश जो 'नयी दिशा' वाले प्रारूप म मौजूद था, शामिल कर लिया गया है क्योंकि वह उस पत्रिका के साथ मुक्तिबोध के सम्बन्ध को जाहिर करता है। 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' पुस्तक म यह लेख बडे ही भ्रष्ट रूप म छपा था जिसमे जगह-जगह पक्तियाँ छूट गयी थी, और एक दो अश वे भी शामिल हो गये थे जिन्हें मुक्तिबोध ने काट दिया था।—स]

नयी दिशा मध्यप्रदेश के गरीब मध्यवर्ग के कष्टग्रस्त नवयुवको का एक सहकारी साहित्यिक प्रयास है। उसमे अभी हाथ की सफाई और बात की सफाई भले हो न हो, किन्तु स्वतन्त्र सकल्प-शक्ति और प्रेरणा है। इस सकल्प-पुस्तिका के सम्पूर्ण समायोजन का श्रेय निस्सन्देह श्री श्रीकान्त वर्मा को है। इस पुस्तिका मे, हम अपने आदर्शों के बहुत समीप नही आ सके हैं। अनेको कठिनाइयो को पार कर, ये पुस्तिका निकल सकी है। श्री वर्माजी—जो स्वय मध्यप्रदेश के एक महत्त्व-

पूर्ण नये कवि हैं—इस प्रयास मे कितने पिसे हैं, ये वे और हम जानते हैं। मध्यवर्गीय लखको की कष्टग्रस्त प्रतिभा के प्रकाशन के मार्ग खोजने का काम, एक बहुत बडा काम है, जो वर्माजी न अपनी छोटी-सी देह पर उठा लिया। इस पुस्तिका का सम्पादन भी उन्होने बहुत मेहनत और लगन के साथ किया है। आशा है कि हमारे बन्धुगण इसकी त्रुटियो को क्षमा करेंगे और अपनी सद्भावना-द्वारा हमे प्रोत्साहित करेंगे। असल म, श्री रामकृष्ण श्रीवास्तव और श्री श्रीकान्त वर्मा ही वे प्रधान स्तम्भ हैं, जिन पर ये सारी इमारत खडी हुई है।

आगे चलकर, इसी सहकारिता के आधार पर, हम मध्यप्रदेश के प्रतिभा-सम्पन्न नये कवियो का एक सग्रह 'नर्मदा की सुबह' निकालने जा रहे हैं। इस सग्रह मे नये कवियो की प्रतिनिधि प्रवृत्तियो को पाठको के सम्मुख प्रस्तुत किया जायेगा। हमे आशा है कि ये सग्रह मध्यप्रदेश के नये कवियो की ऊँचाइयो और गहराइयो का वास्तविक प्रतिनिधित्व कर सकेगा।

एक बात और। इस पुस्तिका मे एक लेख मेरा भी है, जिनमे मैंने जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे विचार-विमर्श के लिए, बहस-मुबाहिसे के लिए और किसी वास्तविक निर्णय पर सामूहिक विचार-विनिमय द्वारा आने के लिए ही है। उनके बारे म, मरी भी कोई अन्तिम राय नही है। हो सकता है, पाठको की सहायता मे यह मत भी बदला जावे। अन्त मे, त्रुटियो के लिए पाठको से क्षमा मांगता हुआ विदा लेता हूँ।

विनीत
गजानन माधव मुक्तिबोध

[नयी दिशा, मई 1955 मे प्रकाशित]

नवीन समीक्षा का आधार

सघर्ष करनेवाले व्यक्ति को जिस क्षेत्र मे, जिन वास्तविकताओ के विरुद्ध, जिन मूल्यो की स्थापना के लिए, प्रयास करना होता है, उसे सर्वप्रथम जीवन के उन दृश्यो से तदाकार होना पडता है, जो उसके स्वय के दृश्य और उसके आसपास के लोगो के दृश्य हैं। न केवल यह, इन दृश्यो का एक छोर, यदि वह स्वय और उसकी जीवन परिधि है तो दूसरा छोर विरोधी वास्तविकताओ तक फैलकर उन्हे समेटे हुए है। इस पसी भीतरी सम्बन्धो, उनके रूप और उनकी दिशाओ के ज्ञान का अर्थ ही यह है कि मनुष्य अपनी वास्तविकताएँ समझता है, और उन्हे समझकर, उनकी आन्तरिक क्रिया प्रतिक्रियाओ के तजुर्बे मे सहायता लेते हुए, वह अपने प्रयास मे तत्पर रहता है।

साहित्य-समीक्षा के मूल बीज वास्तविक जीवन मे तजुर्बे के बतौर उपलब्ध

होनेवाले ज्ञान-संवेदन तथा संवेदन-ज्ञान में ही हैं। इस ज्ञान-संवेदन और संवेदन-ज्ञान के परे जानेवाली 'समीक्षा' में न 'ईक्षा' यानी देखना या दृष्टि है, न सम्यक्ता। जब-जब समीक्षा इस मूलाधार को छोड़कर, विचारों की बारीकी और लक्ष्यों की ऊँचाई प्रदर्शित करने के गोपनीय या प्रकट उद्देश्य से, इधर-उधर भटकी है, उसने लेखकों और पाठकों की सच्ची सहायता देना छोड़ दिया है। कहा जाता है कि साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है। इस खण्ड-तथ्य को हम यों भी कह सकते हैं कि साहित्य में इन प्रतिबिम्बों की रचना अनेकों पैटर्न्स में होती है। जब तक समीक्षक उस जीवन को नहीं जानता, जिसके प्रतिबिम्बों के विभिन्न पैटर्न्स में गुँथी हुई रचना की वह आलोचना करने बैठा है, तब तक वह समुद्र-दर्शन के नाम पर लहरें गिनता हुआ बैठा है। यदि वे लहरें आलोचक की बुद्धि की आज्ञाएँ न मानें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! आलोचक या समीक्षक का कार्य, वस्तुतः, कलाकार या लेखक से भी अधिक तन्मयतापूर्ण और सृजनशील होता है। उसे एक साथ जीवन के वास्तविक अनुभवों के समुद्र में डूबना पड़ता है, और उससे उबरना भी पड़ता है, कि जिससे लहरों का पानी उनकी आँखों में न घुस पड़े। अपने वर्ग, समाज या श्रेणी की जिन्दगी में अपनी जिन्दगी की सही हिस्सेदारी के बगैर, जो समीक्षक उस जिन्दगी के प्रतिबिम्बों के पैटर्न्स का मूल्यांकन करने बैठता है, वह कभी भी सच्ची आलोचना नहीं कर सकता। जीवन के वास्तविक अनुभवों से, प्राप्त सत्यों के अभाव में, बौद्धिक खामखयाली को वह सूक्ष्मदर्शिता का लिबास भले ही पहना दे, उसकी समीक्षा कभी भी सृजनशील नहीं हो सकती। क्योंकि साहित्य में उतरे हुए उन प्राण-प्रतिबिम्बों का महत्त्व वह समझ ही नहीं सकता, चाहे वह कविता हो, निबन्ध हो या उपन्यास।

जिस प्रकार अनुभव-ज्ञान सम्पन्न मनुष्य, वास्तविक जीवन में पाये जानेवाले व्यक्तित्वों, परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का हार्दिक और बौद्धिक आकलन करके अपना मार्ग बनाता है, यानी, दूसरे शब्दों में, अपनी संवेदनात्मक ज्ञान-शक्ति के द्वारा वह मार्ग बनाने के लिए लगातार समीक्षा करता चलता है (इस समीक्षा के बगैर उसका मार्ग ही नहीं बन सकता), उसी प्रकार, ईमानदार समीक्षक वास्तविक जीवन की मूल भूमि में उपजी हुई समीक्षा-शक्ति के सहारे साहित्य की समीक्षा करता है। यदि वह ऐसा न करे तो शैले के कल्पना बिम्बों के रूप-स्वरूप के कारणों को, वह स्पेन्सर के कल्पना-बिम्बों के रूप-स्वरूप के कारणों से, अलग नहीं कर सकता। आज भी, इसी भारतीय जिन्दगी में, शैले, व्यक्तित्व की दृष्टि से, एक 'टाइप' है, स्पेन्सर दूसरा 'टाइप'। तॉल्स्तॉय की नैतिक भावना की मूल पीड़ा जिन परिस्थितियों में बद्ध और ग्रस्त जिस 'टाइप' में हो सकती है, वह परिस्थिति और व्यक्तित्व या वह 'टाइप' आज भी हमारे भारतीय जीवन में, जैसा कि वह जिया जाता है, पाया जाता है। असल में, वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति के अभाव में, साहित्य के क्षेत्र की समीक्षा-शक्ति थोथी होती है। इसीलिए समीक्षक का आदि कर्त्तव्य वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति का विकास करना है। जीवन की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, गतिविधियों, और उसमें पले हुए व्यक्तित्वों का संवेदनात्मक ज्ञान जब तक समीक्षक को नहीं है, (और वह हो नहीं सकता जब तक कि अपने वर्ग, श्रेणी या समाज की व्यापक जिन्दगी में समीक्षक की जिन्दगी की हिस्सेदारी न हो), तब तक

समीक्षक की साहित्यिक समीक्षा कुतिया के उस बच्चे के समान है जिसकी आँखें नहीं खुली है।

वास्तविक जीवन की सवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति के द्वारा ही हम यह जान लेते हैं कि प्रत्येक परिस्थिति की सर्वसामान्यता और निजी विशेषता कौन-सी है, और किस प्रकार अलग अलग व्यक्तित्वो पर उसका भिन्न भिन्न मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है। परिस्थिति की सर्वसामान्यता के कारण, प्रभाव मे भी सामान्यता है, किन्तु व्यक्तित्वो की भिन्नता के कारण ही प्रभावो की विशेषता है। साराश यह कि वास्तविक जीवन के सवेदनात्मक धरातल पर लेखक और समीक्षक की होड है। लेखक और समीक्षक की यह प्रतियोगिता नि सन्देह अत्यन्त वाछनीय है। जिन्दगी को कौन ज्यादा समझता है? समीक्षक या लेखक? यद्यपि इन दो के कर्त्तव्य अलग-अलग है फिर भी उनके कर्त्तव्यो की पूर्ति जीवन के वास्तविक सवेदनात्मक ज्ञान के आधार पर ही होगी। यदि साहित्य जीवन का उद्घाटन है, तो समीक्षक को तो यह जानना ही पडेगा कि उदघाटित जीवन वास्तविक जीवन है या नहीं। असल मे, कसौटी वास्तविक जीवन का सवेदनात्मक ज्ञान ही है, जो न केवल लखक और समीक्षक म होता है, वरन् पाठक म भी रहता है। वास्तविक जीवन की सवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति किसी की बपौती नही है। इसी समीक्षा शक्ति के सहारे बडे बडे व्यक्तित्वो का निर्माण होता है।

साधारण मनुष्य मे प्रकट होनेवाली महानता भले ही उसे समाज के ऊर्ध्व-स्थान पर प्रतिष्ठित न करे उसी की महानता पूरी दुनिया को चला रही है। नहीं तो राग द्वेष के आघात प्रत्याघाता से वह कभी की चूर चूर हो गयी होती। साधारण मनुष्य की इस असाधारणता का मर्म समीक्षक क्या समझेगा यदि उसकी जिन्दगी अपने वर्ग, श्रेणी या समाज के वास्तविक जीवन की हिस्सेदारी नही है! घर की पडोसिन, जो बडी लडाकू है न मालूम कब और क्यो पिघल जाती है, कि आपके सकट के काल म सारा भार अपने ऊपर ले लेती है! उसके हृदय का न मालूम कौन सा छोर भीग गया है!

क्या समीक्षक को इन तथ्यो स मतलब नही है? साहित्य म व्यक्तित्व चरित्रो का, मानव मूल्यो का जीवन प्रवृत्तियो का उद्घाटन होता है। जिन्दगी मे तटस्थ रहकर उसके साहित्यिक प्रतिबिम्बो की नाप जोख करनेवाला समीक्षक, सामाजिक प्रतिष्ठा के शिखर की फटी हुई पताका का एक तत्तर भले ही हो जाय, वह उस शिखर के नीचे बैठी हुई देवमूर्ति की स्थापना करनेवाले अनगिनत लोगो का जीवन नही समझ सकता।

वास्तविक जीवन की सवेदनात्मक समीक्षा शक्ति के अभाव मे, साहित्य-समीक्षा का हाल बुरा होता है। रोम्याँ रोलाँ के प्रसिद्ध उपन्यास ज्याँ क्रिस्तोफ के अन्तर्गत दार्शनिक मन स्थिति म लिखे गये प्रदीर्घ जीवन-आलोचनात्मक खण्डो को निकाल देने की सलाह देनेवाले समीक्षका की कमी कभी नही रही। मोपासाँ तक आते आते फ्रेंच साहित्य ह्रासग्रस्त हो गया था। ठीक उसी प्रकार समीक्षा ने भी ह्रास कालीन चौखटो के मूल्यो की वकालत शुरू कर दी थी। वस्तु मत्यो के मान वीय महत्त्व का लोप होकर यानी स्वरूप को आँखो से ओझल कर रूप की सरा हना होने लगी। निश्चय ही यह रूप भी विशिष्ट कोटि या विशिष्ट श्रेणी का होना चाहिए। समीक्षा जब ह्रासकालीन जीवन मूल्यो की वकालत करने लगती

है, तब रूप के नाम पर भी एक विशेष प्रकार के रूप का ही समर्थन किया जाता है। ह्रासकालीन फ्रेंच लेखकों की वास्तविक जीवन-संवेदनाओं से, इन समीक्षकों का कोई सम्बन्ध नहीं था। फिर भी, उनको निराशा, नकारवाद, उदास रंग की वकालत करने में वे, वस्तुत, खुद की वकालत कर रहे थे। इसके विपरीत मैक्सिम गोर्की इन लेखकों की वास्तविक अन्तर्भूमि समझता था। उनकी वेदना के रूप-स्वरूप के कारणों का विश्लेषण करके, उनकी पीड़ा में अपनी हिस्सेदारी करके भी, मैक्सिम गोर्की ने ह्रास मूल्यों की वकालत नहीं की। मैक्सिम गोर्की ज्यादा गहरा उतरा। उस ढंग की जीवन गहराई के सत्यों का निरूपण करके उन्हीं सत्यों के अनुभव सिद्ध तर्कसंगत निष्कर्ष उसने सामने रख दिये। किन्तु, फ्रेंच समीक्षक कभी अतीत के साहित्य की तुलना में नवीन को हेच ठहराने लगे, तो कभी नये ह्रासकालीन साहित्य के जीवन मूल्यों की वकालत करने लगे।

वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा शक्ति की दुर्बल मन स्थिति का ही यह परिणाम है कि समीक्षा कभी साहित्य के पीछे पीछे चलने लगती है, (उसकी अनुगामी हो जाती है), या उसके नेतृत्व के जोश में मीलों आगे बढ़ जाती है। किन्तु उसका हाथ पकड़, उसके साथ-साथ चलते हुए, उसको मार्ग नहीं बताती। हम इसका एक उदाहरण देंगे। छायावाद की आलोचना करनेवाले हमारे महान् आलोचक छायावाद के निःसहाय बच्चे हैं। प्रसाद ने 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत-नग-पग तल में' कहा तो आलोचकों ने नारी का कैसा-कैसा आदर्शीकरण नहीं किया! वास्तविक नारी और समाज में उसके व्यक्तित्व की गरिमा की स्थापना के लिए सामाजिक संघर्ष आदि समस्त बातें छूट गयीं। छायावादी आलोचक छायावाद के कल्पना स्वप्नों के उलझे भटकाव-भरे मार्ग पर ही चले। छायावादी सम्मोह और उसके अद्वैतवादी प्रयास साहित्यिक आलोचना के मानदण्ड नहीं हैं। इन सम्मोह, कल्पना स्वप्नों का भावुक विवरण, विश्लेषण नहीं है। बताया जाना चाहिए था कि छायावादी मनोवृत्ति क्यों और कैसे उत्पन्न होती है। उसमें सन्निहित भावों और मनोविचारों और जीवनमूल्यों से आच्छन्न होने की कोई जरूरत ही नहीं थी।

साहित्य के वास्तविक जन्मदाताओं के जीवन से मीलों आगे बढ़कर नेतृत्व प्रदान करनेवाले आलोचकों में प्रगतिवादी समीक्षकों का स्थान अग्रणी है। उस पीढ़ी का जीवन, जो आगे आ रही है और लिख रही है, इन समीक्षकों के लिए तभी तक महत्त्वपूर्ण है, जब तक वह 'प्रगतिवादी' भावों को उन्हीं के ढर्रे पर प्रकट करे। उस पीढ़ी की असली जिन्दगी के संघर्ष, कष्ट और संवेदनाओं से उन्हें कोई मतलब नहीं। जब यह पीढ़ी निराशा, घुटन, उदासीनता, प्रणय, स्नेह, सौन्दर्य, आश्चर्य, साहस, उत्साह, संघर्ष और विजय की भावनाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण करती है, तो उन्हें वह आत्मबद्ध, आत्मग्रस्त, कुण्ठामय, अवरुद्ध और व्यक्तिनिष्ठ, अहंवादी और गतिरुद्ध, प्रतीत होती है। कुल मिलाकर नतीजा यह है कि ये आलोचक साहित्य की वास्तविक जन्मदात्री पीढ़ी की जिन्दगी समझ ही नहीं पाते। एक ओर ऐतिहासिक भौतिकवाद की दृष्टि में वे साहित्य की व्याख्या करते हैं, किन्तु उसी दृष्टि से वे हमारे साहित्यिक नौजवानों के जीवन को और उनकी मनोभावनाओं को हृदयंगम नहीं कर पाते। नतीजा यह है कि हमारे नवयुवक साहित्यिकों को उनकी आलोचनाओं से विशेष लाभ नहीं होता। वास्तविक जीवन

की ज्ञान-संवेदनात्मक और संवेदन-ज्ञानात्मक समीक्षा-बुद्धि का अभाव ही इस असामर्थ्य का मूल कारण है।

समीक्षकों की इस दयनीय उपहासात्मक स्थिति के कारण ही आज प्रत्येक लेखक को अपना समीक्षक होना पड़ रहा है। लेखक, और कुछ न सही, जीवन की संवेदनाएँ प्रकट करने का प्रयत्न तो कर रहा है। समीक्षक तो एकदम 'चिन्तक' हो गया है, उसकी असली जिन्दगी के आवेगों से कोई मतलब नहीं। यह सही नहीं है कि लेखक समीक्षा की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। बहुधा, उसके मतों में एकांगिता और उसके निर्णयों में अधूरापन पाया जाता है। अपने जीवन में प्राप्त संवेदनात्मक अनुभव के आधार पर ही वह मत बना रहा है, या निर्णय दे रहा है। यह हो सकता है कि उसके ये आधार सभी के लिए समान न हों। अंग्रेजी में कोलरिज, वर्ड्सवर्थ, शैले, टी. एस. एलियट, आदि प्रमुख कलाकार आलोचक हैं। इनमें से मुख्यतः विचारणीय कोलरिज और टी. एस. एलियट ही हैं। स्पष्ट है कि इन सबके मूलाधार अलग-अलग हैं। किन्तु कौन कह सकता है कि वास्तविक साहित्यिक सृजन में इनकी समीक्षाओं का योगदान न रहा? कारण साफ है। इनका समीक्षात्मक चिन्तन वास्तविक अनुभवों का निष्कर्ष है। बुजुर्ग की सीख सभी के लिए और सब जगह यकसाँ फायदेमन्द नहीं होती। किन्तु उनका आधार वास्तविक जीवन होता है। लोग अपनी-अपनी विवेक-बुद्धि से अपने लिए अनुकूल बातें उठा लेते है, प्रतिकूल अस्वीकार कर देते हैं। समीक्षा के बारे में यह बिलकुल सही रुख है। किन्तु ऐसे लेखक-समीक्षकों में बहुधा जीवन के महत्त्वपूर्ण सत्यों के ऐसे-ऐसे उद्‌घाटन होते हैं कि दंग रह जाना पड़ता है।

क्या इसका अर्थ यह है कि आलोचना के कोई मूल सिद्धान्त नहीं है? हैं, किन्तु सिद्धान्तों का प्रयोग किस ढंग से होना चाहिए, यह भी महत्त्वपूर्ण है। यह विज्ञान या शास्त्र, मूलतः इन्डक्शन (आगमन) पर आधारित है, उसके बाद ही डिडक्शन (निगमन) होता है। डिडक्शन इन्डक्शन का स्थान नहीं ले सकता वह अपने सही होने के लिए इन्डक्शन पर ही अवलम्बित है। ठीक उसी प्रकार, सिद्धान्त *जीवन के आन्तरिक और बाह्य तथ्यों का स्थान नहीं ले सकता, वस्तुतः*, वह स्थिति के लिए उन्हीं पर अवलम्बित है। जो सिद्धान्त इन तथ्यों और सत्यों की अवहेलना कर आगे बढ़ेंगे, वे चाहे किसी वाद की दुहाई दें, असफल ही रहेंगे, क्योंकि उन सिद्धान्तों का प्रयोग वास्तविक जीवन-सत्यों को हृदयंगम करके नहीं किया जा रहा है। केवल वही समीक्षा महत्त्वपूर्ण होती है जो संवेदनात्मक जीवन के सत्य उद्‌घाटित करते हुए लेखक को अपने वस्तु सत्यों से अधिक परिचित सचेत करती है। लेखक जीवन की विभिन्न मनोवृत्तियों, स्थितियों, आदि-आदि का अंकन करने का प्रयत्न करता है। समीक्षक को इन जीवन सत्यों से अधिक परिचय होने की आवश्यकता है, तभी वह लेखक की सहायता कर सकता है, उसकी चेतना की परिधि विस्तृत कर सकता है, अन्यथा नहीं। लेखक की सचमुच सहायता करनेवाले समीक्षक जीवन सत्यों से लेखक से भी अधिक परिचित होते हैं। तभी वे लेखक द्वारा प्रस्तुत की गयी जीवन-समीक्षा की समीक्षा कर सकते हैं। समीक्षक द्वारा प्रस्तुत की गयी ऐसी समीक्षा का आधार वस्तुतः जीवन, जैसा कि *वह जिया जाता है, ही है, किताबी शब्द-समुदाय नहीं। जीवन-सत्यों पर आधारित* साहित्यिक समीक्षा स्वयं एक सृजनशील कार्य है, और वह न केवल लेखक

को वरन् पाठक को भी जीवन-सत्यों के अपने उद्‌घाटनों द्वारा सहायता करती जाती है।

कहा जायगा कि ये सब प्रारम्भिक बातें हैं। समीक्षा इसके बहुत आगे बढ़ गयी। इस आपत्ति का उत्तर यह है कि वर्तमान समीक्षा ऐसी मूलभूत बातें भूल रही है, जिन बातों के आधार पर ही सिद्धान्तों की मीनारें खड़ी की जा सकती हैं। वास्तविक जीवन की ज्ञान सवेदनात्मक और सवेदन ज्ञानात्मक समीक्षा-शक्ति का इतना ह्रास हो गया है कि सिद्धान्तों के आधार पर साहित्यिक बातें देखी जाती हैं, किन्तु जीवन-सत्यों के आधार पर स्वयं सिद्धान्तों का परीक्षण और प्रयोग नहीं किया जाता। सीधी बात यह है कि आज की तरुण सघर्षशील पीढ़ी की जिन्दगी के भीतर समायी हुई पीड़ित मनुष्यता को किस समीक्षा ने अपना आधार बनाया है? इस पीढ़ी के सघर्षशील जीवन के स्नेह और मैत्री बाधा और विजय, अनुरमाह और निराशा, उत्साह और विश्वास, लक्ष्य और आदर्श को जरा नजदीक से देखने पर पता चलेगा कि उसके द्वारा पैदा किये गये साहित्य की समीक्षा किस ढग की होनी चाहिए। एक ओर, व्यक्ति स्वातन्त्र्य और व्यक्तित्व की सम्पूर्ण मानवीय गरिमा की स्थापना, और दूसरी ओर, सामाजिक प्रवचनाओं तथा बाधा-वरोधों पर विजय की स्थिति की स्थापना, इस जिन्दगी का तकाजा है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और व्यक्तित्व की सम्पूर्ण मानवीय गरिमा, तथा नये साम्यमूलक शोषणविहीन मानवोचित समाज की स्थापना, एक ही सत्य के दो पहलू और दो तकाजे हैं, जो एक-दूसरे पर अपनी पूर्ति के लिए, अपने विकास के लिए, अवलम्बित हैं। प्रश्न यह है कि यह सत्य जिन्दगी में किस प्रकार, किन मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं, स्थिति-प्रतिस्थितियों, आघात-प्रत्याघातों द्वारा प्रकट होते हैं? इनका उद्‌घाटन करनेवाला साहित्य, इनका उद्‌घाटन करनेवाली समीक्षा, वस्तुत , महत्त्वपूर्ण साहित्य और महत्त्वपूर्ण समीक्षा होगी।

आलोचना दो प्रकार की होती है, एक, रूप की, दूसरी, तत्त्व की। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रूप अपनी स्थिति के लिए तत्त्व पर ही अवलम्बित होता है। तत्त्व अपने प्रकट होने की प्रक्रिया में रूप निर्धारित और विकसित करता है। इसीलिए तत्त्व की आलोचना रूप की आलोचना से अधिक मूलभूत है। आपत्ति की जायगी कि यह तत्त्व, जो समीक्षा का विषय है, साहित्यिक तत्त्व है, (साहित्य में प्रकट तत्त्व है), न कि जीवन में जिया जानेवाला तत्त्व। जीवन में जिये जानेवाले तत्त्व साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र के बाहर की चीज है। यह आपत्ति एकदम निराधार है। साहित्य में प्रकट तत्त्व की सत्यता की जाँच की कसौटी क्या है? सिद्धान्त? समीक्षक की कल्पनाएँ? नहीं, बिलकुल नहीं। साहित्य में प्रकट तत्त्व की जाँच की कसौटी है—वास्तविक जीवन में पाये जानेवाले तत्त्व। इसी कसौटी के आधार पर हम यह कहते हैं कि अमुक कवि के आँसू वास्तविक करुणा नहीं, करुणा की विलासपूर्ण कल्पना है। इसी कसौटी के आधार पर हम यह कहते हैं कि सच्ची वेदना की 'भावना' छायावाद में मुख्य नहीं है, जैसे आपको बहुत से ठाकुर जैसे रीतिकालीन कवियों और सूर और मीरा-जैसे सन्तों में मिल जायेगी। पात्रों के चरित्र की स्वाभाविकता या कृत्रिमता हम वास्तविक जीवन के अपने अनुभवों से ही घोषित करते हैं।

निष्कर्ष यह कि जब तक वास्तविक जीवन की सवेदन ज्ञानात्मक और ज्ञान-

संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति लेखक और समीक्षक दोनों में विकसित और सम्पन्न नहीं होती, तब तक हमारे सारे प्रयत्न अधूरे हैं। जिस लेखक की यह जीवनगत समीक्षा-शक्ति बढ़ी हुई होगी, वह अपनी संवेदनाओं के माध्यम से जीवन-तथ्यों का सही-सही मूल्यांकन और चित्रण करेगा, उसकी दृष्टि उतनी ही गहरी और विशाल होगी। समीक्षक की सफलता के लिए भी यही स्थिति आवश्यक है।

[वसुधा, मई 1956 में प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसंघर्ष में संकलित]

आत्मबद्ध आलोचना के खतरे

संक्षेप में, रचना प्रक्रिया की विशिष्टता कवि स्वभाव-सिद्ध संवेदनात्मक उद्देश्यों की विशिष्टता से उद्गत है।

किन्तु प्रश्न यह है कि इस निवेदन का कारण क्या है? आखिर, क्यों मैं यह *कह रहा हूँ? उत्तर मिलता है कि (1) रचना-प्रक्रिया का कोई सामान्यीकृत* सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता, (2) रचना-प्रक्रियाएँ जितनी भी हैं, उनका अन्वेषण करने से सौन्दर्य की व्याख्या हो सकती है। अर्थात्, रचना-प्रक्रिया की समस्त विविधताओं में जो मूलभूत समानताएँ हैं, उन्हें संकलित और संगठित करने से, सम्भवत, सौन्दर्य गुण की उत्पत्ति के और सौन्दर्य के स्वरूप के, सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किये जा सकते हैं।

उपर्युक्त दोनों बातें एक दूसरे के विपरीत जान पड़ती हैं। यदि रचना-प्रक्रिया का कोई सामान्यीकृत सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता, तो सौन्दर्य की व्याख्या *कैसे की जा सकती है? और, यदि विभिन्न रचना-प्रक्रियाओं* में पाये जानेवाले समान तत्त्वों के आधार पर, और उनमें तर्कत उद्गत, वस्तुत प्रकट, सचमुच सौन्दर्य-सम्बन्धी कोई परिकल्पना प्रस्तुत की जा सकती है, तो फिर वैसी स्थिति में उस परिकल्पना की दृष्टि से किसी कलाकृति में प्रकट सौन्दर्य का विवेचन क्यों नहीं किया जा सकता? ये प्रश्न स्वाभाविक, सर्वथा उचित और अपरिहार्य हैं।

इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार है। पहली बात तो जो मुझे समझ में आती है, वह यह कि रचना प्रक्रियाओं के अन्तर्गत प्राप्त समान तत्त्वों के आधार पर बनी हुई सौन्दर्य-कल्पना इतनी अधिक सर्वसामान्य होती है कि वह किसी विशिष्ट *कलाकृति की विशिष्ट रचना-प्रक्रिया की विशेषताओं को ध्यान में नहीं रखती।* भरत मुनि की रस-तत्त्व सम्बन्धी व्याख्या इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है। यही नहीं जब भी हमारा आलोचक, व्यावहारिक क्षेत्र में, आलोचना करने बैठता है, उसके अन्त.करण में सौन्दर्य सम्बन्धी कल्पना जो भी होती है वह वस्तुत एक पैटर्न, एक रूप और आकार को लेकर होती है। एक स्टैण्डर्ड पैटर्न, वस्तु तत्त्वों का एक

विशिष्ट रूपाकार, उसके मन में होता है। वह उस पैटर्न को, उस रूप-तत्त्व या तत्त्व-रूप को, एक कसौटी-सा समझकर, अपने जाने या अनजाने उस पैटर्न या तत्त्व-रूपवाली कसौटी के आधार पर कलाकृति को कसकर देखता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो कलाकृतियाँ और कलाकार उस पैटर्न या तत्त्व-रूप वाली कसौटी के अनुकूल हैं, उन्हें तो वह निश्चयतः सुन्दर समझता है, और शेष को वैसा कहने में उसे पीड़ा होती है। बड़े-बड़े लोग इस रोग के शिकार रहे हैं। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल को छायावादी काव्य असुन्दर और विद्रूप और अवांछनीय जान पड़ा था। डाक्टर रामविलास शर्मा को प्रयोगवादी कविता या नयी कविता भयानक विद्रूप और प्रतिक्रियावादी जान पड़ती है। उसी प्रकार, नयी कविता के अन्तर्गत जो कई शिविर बन गये हैं, उन्हें भी अन्य शिविरवालों की कृतियों में सौन्दर्य-लक्षण नहीं दिखायी देते। जो उदारता के नाम पर रचनात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत सौन्दर्य के उद्भास के तथ्य को महत्त्व देते हैं, उन्हें भी उनकी अपनी से भिन्न रचनात्मक प्रक्रिया से उद्गत कलाकृति में सौन्दर्य के दर्शन नहीं होते। नाम लेने की आवश्यकता नहीं है। नयी कविता के क्षेत्र में ही कलाकृति की विभिन्न रूप शैलियाँ, या कहिए, अभिव्यक्ति के विभिन्न रूप चल पड़े हैं। इनका कोई सुव्यवस्थित सौन्दर्य-विवेचन या मूल्यांकन नहीं किया जाता—मैं स्वयं नहीं कर पाता।

ये असफलताएँ ऐतिहासिक हैं। इन असफलताओं के पीछे हमारे देश-जीवन और समाज-जीवन की सीमाएँ और प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। अतएव उन्हें कमजोरी कहकर टाला नहीं जा सकता। महत्त्व की बात यह है कि असफलताएँ विचारकों और सिद्धान्तशास्त्रियों की हैं, भले ही उनमें से बहुत-से कवि क्यों न हों, या कवि क्यों न रहे हों।

दूसरे शब्दों में, मूल समस्या सामान्यीकरण की है। जैसा कि सुविदित है, सामान्यीकरण समान तत्त्वों को, समान रूप से प्राप्त समान तत्त्वों को, ग्रहण करने का फल है। सौन्दर्य-सम्बन्धी परिकल्पना किसी-न-किसी सामान्यीकरण के आधार पर ही उपस्थित होती है, चाहे वह पश्चिमी ढंग की हो या प्राचीन भारतीय। तो ऐसी स्थिति में, सामान्यीकरण करने की प्रक्रिया में, विशिष्टों को छोड़कर केवल समान रूप से प्राप्त समान तत्त्वों को ही ग्रहण किया जाता है, और यह समझा जाता है कि सामान्यीकरण सगत और सफल है।

किन्तु, प्रश्न यह है कि उन विशिष्टों का क्या होगा जो समान रूप से समान तत्त्वों के रूप में प्राप्त नहीं होते ? क्या उन विशिष्टों की कोई संगत, सुस्पष्ट और उचित व्याख्या हो सकती है, या नहीं ?

इस प्रकार के प्रश्न एक विशेष प्रसंग में उठते हैं। काव्य-धारा जब बदलने लगती है, अथवा अनेक अभिव्यक्ति-पद्धतियाँ प्रकट होने लगती हैं, तब उनमें प्राप्त जो विशिष्ट तत्त्व हैं, या विशिष्ट रेखाएँ हैं, वे अब तक किसी भी काव्य-सौन्दर्य-सम्बन्धी परिकल्पना के भीतर जो मूलभूत सामान्यीकरण है, उन सामान्यीकरणों के क्षेत्र के भीतर के समान रूप से प्राप्त समान तत्त्वों में से नहीं थीं, उनमें शामिल नहीं थीं, यानी दूसरे शब्दों में, जिन तत्त्वों का सामान्यीकरण हुआ है, उन तत्त्वों में से वे नहीं थीं।

और, चूँकि ऐसा नहीं था, चूँकि वे एकदम नवीन विशिष्ट थीं, जो उन

सामान्यीकरणो के क्षेत्र के बाहर थी, इसलिए उन सामान्यीकरणो पर आधारित सौन्दर्य-सम्बन्धी परिकल्पना उन पर लागू नही हो सकती थी। अतएव यह मान लिया गया कि चूँकि सौन्दर्य-सम्बन्धी परिकल्पना सार्वभौमिक और सार्वकालिक है, इसलिए वह विशिष्ट तत्त्व या रूपरेखा अनुचित और विद्रूपता-प्रेरक है। यह नही सोचा गया, या सोचा जाता, कि सौन्दर्य-सम्बन्धी परिकल्पना के भीतर सामान्यीकरण, विद्यमान स्थिति मे, अपर्याप्त, असगत और अनुचित है। यानी, दिमाग फेल हो जाता है, लेकिन सोचा यह जाता है कि कलाकृति दोष-पूर्ण है। इस प्रकार के प्रसग और उदाहरण प रामचन्द्र शुक्ल, डॉ रामविलास शर्मा आदि ने प्रस्तुत किये हैं। इनम नन्ददुलारे वाजपेयी-जैसे आचार्य भी सम्मिलित हैं। यही बात नयी कविता के विभिन्न शिविरो द्वारा सीमित विचारधाराओ पर भी लागू होती है, कम या अधिक मात्रा म।

प्रश्न यह है विशिष्ट कैसे उत्पन्न और विकसित होता है? पुराने सामान्यीकरण कैसे गडबड हो जाते हैं? उन सामान्यीकरणो पर आधारित सौन्दर्य सम्बन्धी परिकल्पनाएँ कैसे अनुचित और असगत हो उठती हैं?

कहा तो यह जाता है कि तत्त्व अपने-आप रूप को विकसित करता है। किन्तु इस सिद्धान्त का प्रयोग कुशलता और सफलतापूर्वक नही हो पाता। इसका सबसे बडा कारण यह है कि आलोचक को अपने घेरे क बाहर जाना पडता है, और वैसा करना न सहज है न कठिन। उसके लिए दूसरे प्रकार के आलोचक की आवश्यकता होती है। वह प्रकार ही भिन्न है।

ऐसा आलोचक तत्त्व के रूपायन की प्रक्रिया को देखेगा। तत्त्व के स्वरूप को आत्मसात् करके ही वह तत्त्व के आत्म-रूपायन की प्रक्रिया को जान सकेगा, अन्यथा नही। सक्षेप मे, आलोचक का एक आत्मोन्मुख डिसिप्लिन होता है। और यह डिसिप्लिन उस कमाण्डर की अन्तर्व्यवस्था या मानसिक व्यवस्था होती है, जो बदलती हुई परिस्थितियो म, बदलते हुए सघर्ष-प्रकारो के अनुसार, अपने सैन्य-तत्त्वो मे उचित और प्रभावकारी परिवर्तन के प्रयत्न करता रहता है। जिस प्रकार युद्ध के मोर्चे पर परिस्थिति द्रवणशील अर्थात् परिवर्तनशील होती है, उसी प्रकार आलोचक के सामने प्रस्तुत कलाकृति के अन्तर्गत विभिन्न तत्त्व द्रवणशील और सक्रामक होते हैं। उन्हे आत्मसात् करना उनकी गतियो का आत्मसात् करना, सहज भी नही है, कठिन भी नही है। उसके लिए आलोचक की दृष्टि ही भिन्न चाहिए, अर्थात् प्राक् सामान्यीकरण-जन्य सौन्दर्य-सम्बन्धी परिकल्पनाओ का कलाकृति पर न लादे। यानी, आलोचक को सबसे पहले विशदीकरण करनेवाला व्याख्याकार होना आवश्यक है मूल्य निर्णय वह बाद मे द।

आलोचक द्वारा ही जानेवाली व्याख्या कहाँ तक यथार्थ और सगत है, यह आलोचक के केवल दृष्टिकोण पर निर्भर नही करता, वरन उसके जीवन-ज्ञान पर भी निर्भर होता है। मोटी तनख्वाह पानेवाले कुर्सी तोड आलोचकों की बधिरान्धता, वस्तुत, उनके जीवन-ज्ञान की अल्पता को, सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदनों की हास्यास्पद क्षीणता को, प्रकट करती है। व बुद्धिजीवी होने के कारण अपने अज्ञान को सैद्धान्तिक रूप गर्व प्रदर्श करते हुए आगे बढते हैं। इसके एक नही, अनेकानेक उदाहरण हमारे सामने मौजूद हैं।

मैं ये सब बातें कार्यशील आलोचकों के ही लिए नहीं कह रहा हूँ। प्रत्येक मनुष्य—लेखक और कवि—किसी-न-किसी रूप में आलोचक है। अतएव आलोचना को केवल पेशेवर आलोचकों का काम कहकर टाला नहीं जा सकता। आलोचनात्मक कार्य चूँकि हमारे हाथ या मुँह से होते ही रहते हैं, इसलिए हमें काव्य की रचना-प्रक्रिया जैसे विषय जान लेना जरूरी है। मैं स्वयं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि, बावजूद समानताओं के, काव्य की रचना-प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं। न केवल कवियों के स्वभाव और व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न हैं, वरन् उनके मूल संवेदनात्मक उद्देश्य और काव्य-सम्बन्धी उनकी अपनी समस्याएँ भी भिन्न हैं। शमशेर की काव्य-सम्बन्धी जो समस्याएँ हो सकती हैं, वे, सम्भवत, अन्य की नहीं हैं। उसी प्रकार एतत्सम्बन्धी जो मेरी समस्याएँ हो सकती हैं, वे दूसरों की नहीं। अभिव्यक्ति-सम्बन्धी संघर्ष प्रत्येक कवि का अपना अलग-अलग है। ऐसा इसलिए है कि उनके कथ्य भिन्न-भिन्न हैं, उनके अपने संवेदनात्मक पुंज अलग-अलग हैं।

नयी कविता या प्रयोगवादी कविता की सबसे बड़ी हानि तो इस कारण हुई, या हो रही है, कि उसके रचयिताओं की समीक्षा ठीक-ठीक न हो सकी। समीक्षा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। नयी कविता के सामान्य विरोध या सामान्य समर्थन में तो बहुत-से लेख देखने में आये और आते हैं, किन्तु उसके विशिष्ट कवियों की रचनाओं की ऐसी समीक्षा, जिनमें कला-सम्बन्धी समस्याएँ प्रस्तुत की जा सकें, नहीं देखने में आयीं। नयी कविता के क्षेत्र में विभिन्न अभिव्यक्ति-पद्धतियों और भाव-परम्पराओं का आविर्भाव हुआ है। उन सबकी समुचित व्याख्या और उन व्याख्याओं के आधार पर मूल्यांकन करने के अतिरिक्त, कला-सम्बन्धी समस्याओं को मूर्त्त रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक है। तभी, अर्थात् उस स्थिति में, रचना-प्रक्रियाओं के वैविध्य पर दृष्टि रखकर उनके स्वरूपों की विशिष्टताओं का विशदीकरण किया जा सकता है, जिससे कि उन सबमें, तथा पूर्वयुगीन रचना प्रक्रियाओं में, जो सर्व-सामान्य है, उसका आकलन और विश्लेषण, और, उसके अलावा, उनमें जो विशिष्ट है—प्रवृत्ति-विशिष्ट, व्यक्ति-विशिष्ट—उन सबकी व्याख्या और विश्लेषण किया जा सके।

किन्तु इन सब कार्यों के अभाव में, रचना प्रक्रिया की व्याख्या, मूलत आत्म-बद्ध अर्थात् सब्जेक्टिव होगी। इसमें तो सन्देह नहीं कि इस प्रकार की व्याख्याएँ किसी-न किसी रूप में उपयोगी ही होती हैं। किन्तु, मेरा अपना यह खयाल है कि वे व्याख्याएँ, अति-व्याप्ति के दोष से पूर्ण होंगी। यदि इस खतरे को ध्यान में रखकर फिर उन व्याख्याओं का आकलन किया जाय तो अत्यन्त लाभप्रद ही सिद्ध होगा।

[अपूर्ण। रचनाकाल अनिश्चित। सम्भवत 1958 के आसपास]

मार्क्सवादी साहित्य का सौन्दर्य-पक्ष

'मार्क्सवादी साहित्य का सौन्दर्य-पक्ष' शीर्षक के अन्तर्गत लिखते हुए, मेरे मित्र गोरखनाथजी ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनमे सहमत होना मेरे लिए मुश्किल हो गया है।

गोरखनाथजी के लेख मे यह जान पडता है कि वर्तमान चीनी साहित्य मे व्याप्त जन मगल भावना से उन्हें कोई आपत्ति नही है। यह शुभ सकेत है। इस बात मे मैं उनके साथ हूँ कि वह साहित्य जन-मगल की भावना मे अनुप्राणित होने के अतिरिक्त अधिक कलात्मक भी है।

किन्तु इसके आगे, मेरे लिए उनसे सहमत होना मुश्किल हो रहा है। वे कहते हैं कि आये दिन चीन मे पाठको की बेतहाशा वृद्धि और विस्तार के साथ-साथ नये लेखको की जो एक बेशुमार भीड आगे बढ रही है, उससे, 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा' के परिपोष के लिए खतरा है। 'खतरा' शब्द का प्रयोग उन्होंने नही किया है, *किन्तु उनके कहने का तात्पर्य लगभग यही है। कू येन नामक* चीनी लेखक ने नये लेखको की इस बेशुमार भीड के विरुद्ध यह जो स्थापना की कि इस भीड के कारण कलात्मक सौष्ठव की रक्षा नहीं हो रही है और कलाहीन साहित्य उत्पन्न हो रहा है—इस स्थापना के समर्थन मे गोरखनाथजी ने अपने लेख मे दूसरे प्रश्न भी उठाये हैं।

सबसे पहले तो मैं यह कहना चाहूँगा कि प्रत्येक युग मे साहित्य को नये विषय प्राप्त होते हैं। सचमुच युग ही विषयो का सकलन करता है। साहित्य-विषयो से युग का आवयविक सम्बन्ध है। किसी युग-विशेष मे विशिष्ट विषय-क्षेत्र आवृत्त *और पुनरावृत्त होते हैं। उन विषयो के प्रति लेखक-गण जो दृष्टिकोण विकसित* करते है, उनमे भी बहुत सी मूलबद्ध समानताएँ होती हैं।

आज चीनी साहित्य म जो विषय प्रचलित हैं, वे उस देश के युग के अनुरूप ही हैं। ये विषय सामान्य जनता के अतिशय निकट हैं, इसलिए कि वे उन्ही के जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। विषयो की इस अतिशय निकटता के फलस्वरूप आज वहाँ की सामान्य जनता साहित्य क्षेत्र मे सक्रिय हो उठी है। साहित्य-क्षेत्र म सामान्य जनता तभी सक्रिय हो उठती है, जब उसमे कोई व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन चल रहा हो—ऐसा आन्दोलन, जो उसके आत्म-गौरव और आत्म-*गरिमा को स्थापित और पुन स्थापित कर रहा हो।* किसी जमाने मे हमारे भारत मे भी (भिन्न परिस्थितियो मे ही क्यो न सही) ऐसा ही हुआ था, दलित पीडित और गरीब वर्गों के लोग साहित्य क्षेत्र मे सक्रिय हो उठे थे। हमारे भक्ति-आन्दोलन के पूर्वार्ध का स्मरण कीजिए। उस समय भी शास्त्री-कलाकारो और पण्डित कवियो ने उनका विरोध किया था, क्योकि साहित्य-सौन्दर्य के उनके मानदण्डो के अनुसार, गरीब लोगो का वह साहित्य तुच्छ और विद्रूप था।

'वसुधा' मार्च 60 के अक म श्री गोरखनाथ ने चीनी साहित्य के स दर्भ मे यह स्थापना की थी कि आम मार्क्सवादी साहित्य सौन्दर्य-पक्ष की अवहेलना करता है। यह निबन्ध उक्त लेख का प्रत्युत्तर है और 'वसुधा' मे ही प्रकाशित हुआ था।—स

आज चीन मे मुक्ति के वातावरण मे जनता सांस ले रही है, और वह अपने देश के पुनर्निर्माण मे लगी है। उस देश म आज जा युग है उसके अनुसार वहाँ के साहित्य-विषय हैं। ये साहित्य-विषय जनता के अत्यधिक निकट होने स, तथा उसी के वास्तविक जीवन से सम्बन्धित होने के कारण, वह (जनता) स्वय अब साहित्य क्षेत्र मे सक्रिय हो उठी है, और वहाँ के जन-क्षेत्र व्यापक सास्कृतिक-सामाजिक आन्दोलन से अनुप्राणित हो उठे हैं। इस सास्कृतिक आन्दोलन की एक अभिव्यक्ति के रूप मे, स्वय जनता के हाथो से गढा हुआ, नया साहित्य प्रस्तुत हुआ है। चूँकि जनता स्वय साहित्य तैयार कर रही है, इसलिए लेखको की बेशुमार भीड होना स्वाभाविक ही है। साथ ही यह भी स्वाभाविक है कि जनता द्वारा उत्पन्न सारा-का सारा साहित्य वस्तुत उच्च कोटि का न हो।

इस साहित्य का कलात्मक स्तर और ऊँचा उठाने का क्या उपाय है ? क्या इसका उपाय यह है कि उन लेखको को साहित्य प्रकाशन की सुविधा दी जाये ? अथवा यह कि उनका लेखन कार्य निषिद्ध ठहराया जाय ? अथवा यह कि जनता मे जो सास्कृतिक आन्दोलन चल रहा है, उसम सक्रिय भाग लेकर लेखको की रचनात्मक आलोचना की जाय ?

आलोचक का कार्य केवल गुण दोष-विवेचन ही नही है, वरन् साहित्य का नेतृत्व करना भी है। आलोचक का धर्म साहित्यिक नेतागिरी करना नही है, वरन् जीवन का मर्मज्ञ बनना और उसी विशेषता की सहायता म कला समीक्षा करना भी है। साहित्य नतृत्व करने के लिए तो जीवन-मर्मज्ञता की और भी अधिक आवश्यकता है। सक्षेप मे, सामान्यत जनता के, और विशेषत जनता के बीच से आये हुए लेखको के, शैक्षणिक-सास्कृतिक-स्तर तथा उनके कलात्मक स्तर को और भी अधिक विकसित करना आवश्यक है।

यह कार्य मुख्य है। यदि इस कार्य को लक्ष्य बनाकर कू येन द्वारा आलोचना की गयी होती, और उस आलोचना मे कलात्मक स्तर के विकास के उपायो को निर्देशित किया गया होता, तो बात अलग थी। किन्तु लेखको की बाढ से 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा' को खतरे का नारा देकर जो आलोचना की जायगी, वह न केवल निरर्थक और असगत होगी, वरन् वह उस व्यक्तिवाद को सूचित करेगी, कि जो व्यक्तिवाद जनता को ढोर समझता है, मूर्ख समझता है।

यह सही है कि साहित्य-रचना मे प्रतिभा का बहुत बडा स्थान होता है। किन्तु वास्तविक प्रतिभावान कौन कहाँ तक है, इसका निर्णय महान् उपलब्धियो के पूर्व नही, पश्चात् होता है। पूर्वतर स्थिति म तो सभी लेखक गुणवान होते हैं। सच तो यह है कि समय की कसौटी पर जिस लेखक का साहित्य खरा उतरेगा, वही प्रतिभावान कहलायेगा। लेकिन, क्या इसके लिए यह आवश्यक नही है कि हम सभी को लिखने दें, ऐसो को भी कि जो पेशेवर साहित्यिक नही हैं ?

हिन्दी साहित्य मे पेशेवर साहित्यिको के कारण जीवन का वैविध्य प्रकट नही हो पाता, जिन्दगी के असली तजुर्बे नही आ पाते, और वे जीवन मूल्य स्थापित नही हो पाते कि जिनके लिए साधारण व्यक्ति सघर्ष करता है। साहित्य मे जीवन के ज्वलन्त प्रतिबिम्ब अपनी सम्पूर्ण निष्कलुपता के साथ उतर नही पाते। पेशेवर साहित्यिको मे जो 'साहित्यिक योग्यता' है, यदि वह सचमुच योग्यता होती तो देश का कल्याण हो जाता! सच तो यह है कि ऐसी योग्यता

जिसमे महान् प्रेरणा न हो, जिसमे लोक-कल्याण के लिए त्याग की भावना न हो, जिसमे जन-जीवन की अन्तर्धाराओ को देखने की दृष्टि न हो—ऐसी योग्यता निरर्थक है।

इसका अर्थ यह नही है कि मैं वास्तविक साहित्यिक योग्यता का अनादर कर रहा हूँ। यह योग्यता किसानो मे भी हो सकती है, गरीब मध्यवर्ग मे भी, मजदूरो मे भी। उसके लिए साहित्यकारो द्वारा अनुमोदित और समर्थित होकर 'साहित्यिक' बनना आवश्यक नही है। जिस देश म साहित्यकारो का एक अलग वर्ग होता है, वह देश भयानक विषमताओ मे पीडित होता है, यह निर्विवाद है। साहित्यकारो के वर्ग मे भी वास्तविक प्रतिभावान साहित्यिक बहुत थोडे होते हैं।

किन्तु जनतन्त्र मे हर एक को यह अधिकार है कि वह लिखे। उसकी रचना यदि सर्वमान्य स्तर की है, तो उसके प्रकाशित होने म कोई रुकावट नही होनी चाहिए। आज चीन की सामान्य जनता यदि सामान्य कोटि की रचना करती है, तो इसका कारण यह है कि समाजवादी संस्कृति का वहाँ इतना अधिक विकास नही हुआ है जितना कि अन्य देशो मे सदियो से चली आ रही पूंजीवादी व्यक्ति-वादी संस्कृति का। सक्षेप मे साहित्य का वहाँ एक नये आधार पर विकास हो रहा है। उसके सम्पूर्ण उत्कर्ष के लिए समय लगेगा।

ध्यान दीजिए उस जमाने पर, जब हमारे यहाँ भारतेन्दु युग था। तब हमारी कृतियो का क्या साहित्यिक स्तर था? जब खडी बोली मे बडे पैमाने पर कविताएँ लिखना शुरू हुआ, तब ब्रजभाषावालो ने 'कलात्मकता' के नाम पर ही उसका विरोध किया। जब प्रयोगवादी कविता शुरू हुई, तब कलात्मक स्तर के नाम पर भी उसकी भीषण आलोचना की गयी। ऐसी स्थिति मे, किसी नयी प्रवृत्ति का जो प्रारम्भिक चरण होता है वह, आपेक्षिक रूप से तथा पिछली उपलब्धियो की तुलना मे, अविकसित और अपुष्ट ही होता है।

ऐसी नयी प्रवृत्तियो का प्रत्येक विरोधक, उस प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित रचनाओ मे से जो अति साधारण या हीन कोटि की होती हैं उन्ह ही लक्ष्य मे रखकर, उन [illegible]

की आलोचना करता है जिनका अभी पूर्ण विकास और उत्कर्ष नही हुआ है। ऐसे विरोध का एकमात्र उद्देश्य नयी प्रवृत्ति को हतोत्साह करना है।

रूस, फास, ब्रिटेन, अमरीका बहुत बडे देश हैं। वहाँ अनगिनत पत्र पत्रिकाएँ है, और उनमे लिखनेवाले लेखक अनगिनत हैं। ऐसी स्थिति मे वहाँ लेखको मे गहन स्पर्धा है। अच्छे लेखको को भी जरा देर से मान्यता मिलती है। फिर भी उस स्पर्धा की परीक्षा मे गुजरकर सफल होनेवाला साहित्य, अपने प्रभावोत्पादक गुणो के कारण ही, न केवल उन देशो मे वरन् विदेशो मे भी—अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर—यशस्वी हो उठता है। वहाँ की 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा' को लेखको के अनगिनतपन से डर नही लगता। तो ऐसी स्थिति मे, चीन मे सामान्य लेखकों के अनगिनतपन द्वारा 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा' वालो को खतरा क्यो महसूस होना चाहिए?

निष्कर्ष—(अ) मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभावाला को वस्तुत यदि कोई खतरा है, तो अपने भीतर मे है, बाहर स न ी। यदि उनकी प्रतिभा सचमुच मौलिक तथा विशिष्ट है, तो अपने प्रभावोत्पादक गुणों के फलस्वरूप वह स्वय उदाहरण-स्वरूप बन जायेगी, यहाँ तक कि वह किसी उज्ज्वल परम्परा का जन्म देगी। यदि वह मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा के नाम पर पनपनेवाला मात्र एक साहित्यिक अहवाद है, तो इतिहास उससे वैसा व्यवहार करेगा।

(ब) कोई भी नयी साहित्यिक प्रवृत्ति, साधारणत, शुरू म अपरिपक्व ही होती है। उस साहित्यिक प्रवृत्ति की व्यापक अपरिपक्वता की भर्त्सना करने के बजाय, उसके अधिकाधिक विकास मे योग देकर उसे अधिक परिष्कृत करने की आवश्यकता है।

(स) चीन का नया सास्कृतिक-साहित्यिक आन्दोलन जनता की अपनी चीज है। जनता के दान-सहस्र प्रदीर्घ प्रयासो से ही सफलताओ का आविर्भाव होगा।

यह कहना गलत है कि चीन मे आज जो सारा साहित्य उत्पन्न हो रहा है, उसम कलात्मकता का एकदम अभाव है। इसके विपरीत, यह कहना सही है कि चीन म पिछले दस वर्षों के भीतर कुछ स्मरणीय उपलब्धियाँ भी विराजमान हैं। अगर उनम किसी को अनुभूति के दर्शन न हो, मात्र प्रचार दीखे, और वह निष्प्राण प्रतीत हो, तो यही कहा जायेगा कि देखनेवाले को उस साहित्य के मूल मानवीय स्रोतो से कोई सहानुभूति नही है।

दूसरे, यह बात भूलने की नही है कि साधारण लेखक वर्ग, बहुधा, मर्मज्ञ पाठक-वर्ग होता है, जो अभिव्यक्ति की अभिलाषा के कारण लेखक-रूप म परिणत हो जाता है। साहित्य प्रयासो द्वारा पाठक स्वय साहित्य-मर्मज्ञ बनता है। ऐसी स्थिति मे एक व्यापक लेखक-वर्ग के रूप म जो एक विशाल प्रबुद्ध पाठक-वर्ग है, उसका साहित्य के विकास मे बहुत बडा योग होता है। चीन के 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा' वालो को वह योग प्राप्त है बशर्ते कि वे उसको स्वीकार करें। किन्तु यदि वे अपनी उच्चतर स्थिति के शिखर पर बैठकर उन पदतलवासियो को अवहेलना की दृष्टि से देखें, तो इसके लिए कोई क्या करे। सौन्दर्यवाद के नाम से प्रचलित व्यक्ति-बद्धता की जो एक प्रवृत्ति है, उसे हम उस सौन्दर्यवाद से अलग करके देखते हैं जिसका सम्बन्ध व्यापक प्रभावोत्पादकता के साहित्यिक गुण से है। अतएव हम कलात्मकता के उन समर्थको के साथ है, जो वस्तुत समर्पित भाव से जनता मे से आये हुए लेखको के कलात्मक स्तर को ऊँचा उठाने की तत्पर बुद्धि रखते हो, तथा अपने स्वय की साहित्य-रचना द्वारा वास्तविक कलात्मकता का मार्ग प्रशस्त करते हो। किन्तु हम कलात्मकता के उन समर्थको के विरुद्ध हैं, जो जनता म से आय हुए लेखको की आपेक्षिक अपरिपक्वता का निदर्शन-प्रदर्शन केवल इसलिए करते हैं कि उनके साहित्यिक शिखरवाद की, अर्थात् व्यक्तिवादी सास्कृतिकता की, रक्षा हो। साहित्य क्षेत्र मे सौन्दर्यवाद और कलात्मकतावाद की ऐसी एक प्रवृत्ति रही है, जिसने लेखको को सामान्य जन अनुभव मे अलग कर दिया है। ऐसी स्थिति म, जब गोरखनाथजी मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा को अनतिशिक्षित और अनतिसस्कृत साधारण लेखको के कन्ट्रास्ट मे—विरोधात्मक भूमिका म—रखना चाहते हैं, तो मेरे मन म वैसी शका उठना स्वाभाविक ही है।

शास्त्र है। चूँकि हमारे जीवन की प्रधान दिशाएँ और तत्सम्बन्धी जिज्ञासाएँ विभिन्न युगों मे बदलती रही हैं और बदलती रहेंगी, इसलिए इस शास्त्र का वैसा विकास नहीं हो पाता जिस प्रकार कि, उदाहरणत, भौतिकशास्त्र का है, जिसमे परवर्ती विचारक पूर्ववर्ती चिन्तक के सिद्धान्तों को या तो नयी व्यवस्था मे बांधता है, अथवा उसके कन्धे पर खडे होकर नव-नवीन-विकास के परिदृश्य देखता है। सौन्दर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, आदि मूल्य शास्त्र होने के कारण, वे मुख्यत सिद्धान्त-प्रणालियो के समवाय के रूप मे प्रस्तुत होते हैं। अन्तिम निर्णय करने का भार हम पर ही रह जाता है कि उनमे से कौन-सी बात हमारे लिए स्वीकरणीय है और कौन-सी त्याज्य। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र मे तो सिद्धान्तो का एक जगल-का-जगल खडा हो गया है।

सौन्दर्यशास्त्र के सम्बन्ध मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसके सिद्धान्तो मे परिवर्तन होता रहता है, और किसी युग मे किसी विशेष प्रवृत्ति की औचित्य-स्थापना के लिए वैसे सौन्दर्य-सिद्धान्त बनते और बनाये जाते हैं। आज की स्थिति तो यह है कि आधुनिकतम चित्रकला को समझने के लिए सबसे पहले हमे उसकी सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओ का ही अध्ययन करना चाहिए।

किसी प्रवृत्ति की औचित्य-स्थापना के हेतु जिस सौन्दर्य-सिद्धान्त का जन्म होता है, वह सिद्धान्त उस प्रवृत्ति के ह्रास के साथ ही निर्बल हो जाता है। आज पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित हम लोग जिस भाव और उसकी जिस अभिव्यक्ति मे सौन्दर्य देखते है, उसका कारण यह है कि हमारी मन प्रवृत्तियाँ भी उसी भाव के अनुकूल हैं। साधारणत, आत्मोन्मुख साहित्य-धारा मे सौन्दर्य का जो अर्थ हो सकता है, वह अर्थ बहिरन्तर समग्र-जीवनोन्मुख साहित्य-धारा मे परिवर्तित हो जाता है। फलत, जिसे हम सौन्दर्य कहते है, उसमे कुछ लोग अपूर्णता या एकांगिता तथा बाधाग्रस्तता देखते हैं, और वे जिसे सौन्दर्य कहते हैं उसमे हमे खोखलेपन की बू आती है। यह एक वास्तविक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। हममे, हम सबमे, साहित्यिक सस्कृति का इतना विकास नही हुआ है कि हम अपनी प्रवृत्तियों और रुझानो, धारणाओ और अभिरुचियो के घेरे से उठकर, वस्तुत, अन्य तथा कभी कभी विरोधी प्रवृत्ति के साहित्य की क्षमताएँ पहचान सकें और उन क्षमताओ को गहराई से पहचानकर उसकी सीमाएँ भी जान सकें।

भारत मे पहुँचनेवाला रूसी तथा चीनी साहित्य-पत्रिकाओ मे प्रकाशित साहित्य हमेशा उच्च कोटि का नही होता, यह कहने की आवश्यकता नही। उन पत्रिकाओ मे प्रकाशित साहित्य को देखकर उन उन देशो की प्रधान उपलब्धियो के बारे म सोचना असगत होगा। किसी भी देश के किसी भी युग मे श्रेष्ठ साहित्यिक थोडे ही होते है। उन्ही के नाम से उस देश के साहित्य की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता पहचानी जाती है, न कि पत्र पत्रिकाओ म निरन्तर निकलनेवाले साहित्य से। किन्तु—और यह बहुत बडा किन्तु है—पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित साहित्य और उसके लेखक साहित्य के विकास मे अपने प्रयत्नो द्वारा योग देते हैं। उनसे सूचित होता है कि राष्ट्र की प्रधान प्रवृत्तियाँ और प्रयत्न क्या हैं। यह आवश्यक है कि ये प्रवृत्तियाँ स्वस्थ और कल्याणकारी हो। इस आवश्यकता से कौन इनकार करेगा? इस आवश्यकता को ध्यान मे रखकर काम करने की जरूरत है।

मैं गोरखनाथजी को धन्यवाद देता हूँ कि उनके लेख ने मुझे अपने विचार प्रकट करने के लिए आतुर कर दिया। गोरखनाथजी का लेख सद्भावनापूर्ण था, बुनियादी तौर पर। इसीलिए मैंने उत्तर देने का साहस किया। उत्तर देते समय मैं इधर-उधर अपने विचारों में भटक गया हूँ। लेकिन इसमें मुझे कोई हानि मालूम नहीं होती।

[वसुधा, 1960 में प्रकाशित। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित।]

वस्तु और रूप : एक

[इस लेख के चार रूप उपलब्ध हैं। अनेक प्रकार की पुनरावृत्तियों के बावजूद, प्रत्येक में किसी न किसी अलग और विशिष्ट पक्ष पर ज़ोर है। इस तरह वे सब मिलकर मूल विषय को अधिक समग्रता में और कई स्तरों पर प्रस्तुत करते हैं। साथ ही, उनसे मुक्तिबोध की चिंतन और लेखन प्रक्रिया की बड़ी उत्तेजक जानकारी मिलती है। इसलिए लेख के चारों ही रूपों को प्रकाशित करना उपयुक्त समझा गया। इनमें से पहला उज्जैन से निकलनेवाले मासिक 'कालिदास' के दो अंकों में प्रकाशित हुआ था। इसकी पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं है। बाकी तीन अप्रकाशित हैं। दूसरा और तीसरा अपूर्ण भी हैं। चौथा यद्यपि पूर्ण है पर उसमें भी बीच के एक दो पृष्ठ नहीं हैं। चौथे में ही सम्भवतः पुनरावृत्ति सबसे अधिक है। उसके शुरू में लेख की पूरी सिनाप्सिस भी दी हुई है।—सं०]

जब कभी कोई नयी काव्य-प्रवृत्ति अथवा साहित्य प्रवृत्ति अवतरित होती है, कला के मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में, सिद्धान्तों के बारे में, बहस शुरू हो जाती है। यदि इस विचार विनिमय को वास्तववादी होना है, तो उसे एक साथ दो काम करने होंगे। एक तो अपने युग-विशेष की प्रवृत्तियों को उसे समझना होगा, दूसरे, नयी काव्य-प्रवृत्ति के स्वरूप को हृदयंगम करना होगा। नयी काव्य-प्रवृत्ति अभी तक पण्डितों, आचार्य-प्रवरों और आलोचक-वरेण्यों द्वारा हृदयंगम नहीं हो सकी है। किन्तु यह चिन्ता की बात नहीं है। चिन्ता की बात यह है कि नयी काव्य प्रवृत्ति के क्षेत्र के भीतर से ऐसी कोई आलोचना अभी नहीं उठ खड़ी हुई है, जो उसकी सीमाएँ बताये, अर्थात उस प्रवृत्ति की व्यापक समीक्षा करे।

कला के वस्तु और रूप का प्रश्न आज ही क्यों उठ खड़ा हुआ? वह भी इतने ज़ोर से क्यों? संवेदनशील कवि को उसके आस-पास की वास्तविकता के मार्मिक पक्ष गहरी चुनौती देते हैं। यह चुनौती दो प्रकार की होती है—एक, तत्त्व-सम्बन्धी, दूसरी, रूप-सम्बन्धी। आज के कवि के हृदय में तनाव भी है, साथ ही एक विचित्र घिराव भी। किन्तु कवि-हृदय फैलाना चाहता है, आत्म-विस्तार करना चाहता है। फैलने की इस मनोवृत्ति के सक्रिय होते ही उसे मानव-वास्तविकता के मूल मार्मिक पक्ष दिखायी देने लगते हैं। किन्तु, कहना चाहिए कि उन मार्मिक पक्षों का

संवेदनात्मक आकलन करने की सारी तत्परता होते हुए भी, अभिव्यक्ति लँगड़ा जाती है। आज की काव्य प्रवृत्ति की मनोवैज्ञानिक धारा यदि विशुद्ध आत्मपरक भाव-धारा होती, अर्थात अनायास प्रवाहित होनेवाले स्वच्छन्द भावों का वह प्रवाह होता, तो दिक्कत का सामना न करना पड़ता। किन्तु वह कविता संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनों के तीव्र मानसिक प्रतिक्रियाघातों को प्रकट करना चाहती है (वह सर्वत्र कहाँ तक सफल है, यह एक अलग प्रश्न है)। ऐसी स्थिति में, उसे न केवल अनुभूति-पक्ष के, वरन् वस्तु-पक्ष के और उससे सम्बन्धित परिज्ञान के, विकास की अपेक्षा है। यह सवाल, या इससे सम्बन्धित प्रश्न, कवि जनों के मन में उठते रहते हैं।

ज्ञान-पक्ष संवेदना से हटकर काव्योपयोगी नहीं रहेगा। यह तथ्य स्वीकृत करने पर भी इस बात से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि आज की नयी कविता के प्रगल्भ विकास के लिए कवि की मूलभूत संवेदन-शक्ति में विलक्षण विश्लेषण-प्रवृत्ति चाहिए।

ऐसा क्यों? इसलिए कि आज की कविता पुराने काव्य-युगों से कहीं अधिक, बहुत अधिक, अपने परिवेश के साथ द्वन्द्व-स्थिति में प्रस्तुत है। इसीलिए उसके भीतर तनाव का वातावरण है। परिस्थिति की पेचीदगी से बाहर न निकल सकने की हालत में मन जिस प्रकार अन्तर्मुख होकर निपीड़ित हो उठता है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आज की कविता में घिराव का वातावरण भी है।

अतएव, आज की कविता किसी-न किसी प्रकार से अपने परिवेश के साथ द्वन्द्व में उपस्थित होती है, जिसके फलस्वरूप यह आग्रह दुर्निवार हो उठता है कि कवि-हृदय द्वन्द्वों का भी अध्ययन करें, अर्थात वास्तविकता में बौद्धिक दृष्टि द्वारा भी अन्त प्रवेश करें, और ऐसी विश्व-दृष्टि का विकास करें जिससे व्यापक जीवन-जगत की व्याख्या हो सके, तथा अन्तर्जीवन के भीतर के आन्दोलन, आरपार फैली हुई वास्तविकता के सन्दर्भ से व्याख्यात, विश्लेषित और मूल्यांकित हो।

[illegible] वास्तविकता के उन मार्मिक पक्षों का,
[illegible] उदघाटन-
[illegible] ौद्धिक कार्य
[illegible] गे, अनुभूति
को ज्ञान प्रेरित जीवनानुभव प्राप्त होने [illegible]। इस प्रकार, व्यक्तित्व अधिक सक्षम हो सकेगा। किन्तु केवल इतना ही काफी नहीं है। इस वैविध्यपूर्ण, स्पन्दनशील, आस-पास फैले हुए मानव-जगत् के मार्मिक पक्षों के संवेदनात्मक चित्रण के लिए अभिव्यक्ति-सम्पदा भी चाहिए। केवल आत्मपरक तीव्र संवेदनाघातपूर्ण मानसिक प्रतिक्रिया करनेवाली काव्य शैली को अधिक लचीली, अधिक सक्षम और सम्पन्न बनाना होगा, जिससे कि वह, एक ओर, कवि-हृदय की अत्यन्त सूक्ष्म संवेदनाएँ मूर्तिमान कर सके, तो, दूसरी ओर, वास्तव जीवन जगत की लहर-लहर को हृदयंगम कर उसे समुचित वाणी दे सके। पुरानी शास्त्रीय शब्दावली में कहा जाये तो, उसे भाव-पक्ष के साथ विभाव-पक्ष का चित्रण करना होगा।

सच बात तो यह है कि आज के कवि को एक साथ तीन क्षेत्रों में संघर्ष करना है। उसके संघर्ष का यह त्रिविध स्वरूप है या होना चाहिए (1) तत्व के लिए

संघर्ष, (2) अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने का संघर्ष, (3) दृष्टि-विकास का संघर्ष। प्रथम का सम्बन्ध मानव-वास्तविकता के अधिकाधिक सक्षम उद्घाटन-अवलोकन से है, दूसरे का सम्बन्ध चित्रण-सामर्थ्य से है, और तीसरे का सम्बन्ध थियॅरी से है, विश्व-दृष्टि के विकास से है, वास्तविकताओं की व्याख्या से है। यह त्रिविध संघर्ष है।

इन बातों को ध्यान में रख मैंने आगे आनेवाले पृष्ठों में अपने कतिपय विचार मित्रों और सहृदयों के सम्मुख रखे हैं। ये सारे विचार वैकल्पिक हैं, अन्तिम कुछ भी नहीं। वे केवल प्रस्ताव रूप में हैं, विचारार्थ प्रस्तुत हैं।

•

कला के वस्तु-तत्त्व अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का ही एक भाग हैं। वे ऐसे अन्तर्तत्त्व हैं जो बाहर के धक्के से या उन धक्कों के, संचय से उद्वेलित, अर्थात् (1) तरंगायित के (2) मानसिक दृष्टि के सम्मुख उद्घाटित, (3) जीवन-मूल्यों तथा पूर्वतर अनुभवों में आलोकित, तथा (4) अभिव्यक्ति के लिए आतुर, हो उठते हैं।

तरंगायित होकर जब वे मानसिक दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो उठते हैं, तभी उनमें रूप आ जाता है, अर्थात् कल्पना-बिम्ब या स्वर या प्रवाह से युक्त-संवृत हो उठते हैं। कल्पना का कार्य यहीं से शुरू हो जाता है। बोध-पक्ष अर्थात् ज्ञान-वृत्ति भी यहाँ सक्रिय हो उठती है। यह उद्घाटन-क्षण है—यह कला का प्रथम क्षण है। इसके अनन्तर कवि की मानसिक दृष्टि अर्थात् दर्शक-मन, जो उस तत्त्व-रूप को अन्तर-नेत्रों से देख रहा था, उसके रस में निमग्न-सा होने लगता है, साथ ही बोध-पक्ष यानी ज्ञान-वृत्ति की प्रेरणा के फलस्वरूप वह तटस्थ भी हो जाता है। वह अन्त प्रवेश करने लगता है, साथ ही वह बाहर से पर्यवलोकन भी करता है। फलत , एक ओर, रस का प्रवाह या भाव प्रवाह अन्य सम-स्वभावी और सम-रूप अनुभवों को उस तत्त्व में मिलाता हुआ चलता है, तो, दूसरी ओर, हृदय में संचित जीवन मूल्यों की, अर्थात् हमारे अन्त करण में स्थित आदर्शात्मक सत्ता की, भी एक धारा उस मनोमय मूल-तत्त्व में मिलने लगती है। कल्पना-शक्ति उद्दीप्त होकर, संवेदना से आप्लुत उस मूल तत्त्व को समरूप अनुभवों और जीवन-मूल्यों से संश्लेषित करते हुए, एक संश्लिष्ट जीवन-बिम्ब-माला उपस्थित कर देती है। यह कला का दूसरा क्षण है, कि जिसमें हमारे वेदनात्मक हेतु और संवेदनात्मक अभिप्राय किसी व्यापक मार्मिक जीवन महत्त्व से न्यस्त हो जाते हैं, और हमारे लिए वह आत्मतत्त्व इतना अधिक महत्त्वमय मालूम होता है कि हम उसकी अभिव्यक्ति के लिए छटपटाते हैं। इस छटपटाहट को जब हम शब्द, रंग तथा स्वर में अभिव्यक्त करने लगते हैं, तब कला का तीसरा क्षण शुरू हो जाता है। अभिव्यक्ति के साधन (अर्थात् हमारे लिए भाषा) सामाजिक हैं; दूसरे उसके शब्द-संयोग भाव-परम्परा और ज्ञान-परम्परा से आपूर्ण हैं। अतएव, हमें अपने हृद्गत तत्त्वों को उनके मौलिक रूप-रंग और भाव-गाम्भीर्य में स्थापित और प्रकट करने के लिए नये शब्द-संयोग बनाने या लाने पड़ते हैं। शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो, हमें नवीन वक्रोक्तियों और भंगिमाओं का सहारा लेना पड़ता है। साथ ही कल्पना-शक्ति भी नव नवीन रूप-बिम्बों का विधान करती है, कि जिससे मनस्तत्त्व अपने मौलिक रूप-रंग में प्रकट हो सकें।

अभिव्यक्ति का संघर्ष दीर्घ होता है। कला का यह तीसरा क्षण दीर्घ है। उस संघर्ष में अभिव्यक्ति के स्तर तक आते-आते हमारे मनोमय तत्त्व रूप बदलने लगते हैं। होता यह है कि उस संघर्ष के दौरान में भाषा के भीतर अवस्थित ज्ञान-परम्परा और भाव-परम्परा के फलस्वरूप जो पहले से शब्द-संयोग बने हुए हैं—अर्थात् उन शब्द-संयोगों के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े हुए जो अर्थानुषंग हैं, उन अर्थानुषंगों के प्रभाव में आकर मनोमय रूप-तत्त्व, समशील-समरूप अर्थानुषंगों को आत्मसात् कर अपने को और पुष्ट करते हैं। फलत, वे उस हद तक बदल भी जाते हैं। जब वे अपना ख़ास साइज, अपनी ख़ास प्रकार की अभिव्यक्ति, पा लेते हैं, तब वे मनोमय तत्त्व-रूप पहले से बहुत कुछ बदले हुए होते हैं। सामाजिक सम्पदा होने के कारण भाषा मनोमय रूप तत्त्वों को उनके प्रकट होने के दौरान में घटा-बढ़ा देती है, और अनजाने ढंग से उनसे नये तत्त्व-रूप मिला देती है। साथ ही यह अभिव्यक्ति-संघर्ष भी भाषा को कुछ बदल देता है, उसे नवीन शब्द-संयोग, नवीन अर्थवत्ता, नयी भंगिमाएँ और व्यंजनाएँ देता है। इस प्रकार कलाकार भाषा का भी निर्माण करता है। अभिव्यक्ति समाप्त होते ही, उसके संघर्ष का अन्त होते ही, *कला का तीसरा क्षण भी समाप्त होता है। कलाकृति सामने आ* जाती है। अब उसमें [सिवाय] केवल इधर-उधर कुछ शब्दों या स्वरों के फेरफार के, अर्थात् रि-टचिंग के, कुछ बाकी नहीं रह जाता।

यदि उपर्युक्त स्थापना सही है तो उसमें कई निष्कर्ष निकलते हैं

सृजन-प्रक्रिया के दौरान में काव्य के मनोमय तत्त्व और रूप स्थिर नहीं होते। वे मनोमय तत्त्व-रूप तब तक अपने को विकसित और संशोधित करते जाते हैं, अपने को पुष्ट और प्रकाशान्वित करते जाते हैं, जब तक कि अभिव्यक्ति में सम्पूर्णता *आकर कला का तीसरा क्षण समाप्त न हो जाये।* इसका अर्थ यह है कि जो महानुभाव आत्मोद्‌घाटन को ही काव्य का उद्देश्य समझते हैं, आत्म-प्रकटीकरण को प्रधान मानते हैं, वे सज्जन आत्म-प्रकटीकरण की प्रक्रिया ही हृदयंगम नहीं कर सके हैं। कवि अपने अन्तर में व्याप्त जीवन-जगत् को प्रकट करता है। वह किसी भावोद्देश्य को प्रकट करता है। किन्तु यह भावोद्देश्य निरा व्यक्तिगत नहीं होता। सच तो यह है कि मनुष्य जब काव्य में अपने आपका प्रकट करता है, तब वह [illegible] ही नहीं करता वरन वह आत्म औचित्य की भी स्थापना

प्रस्थापना करता है।

वह अपने भीतर जो कुछ उसका अपना विशिष्ट है उसे सामान्य म—उस सामान्य म जिसे वह सामान्य *समझता है— इतना अधिक मिला देता है कि उस सामान्य के प्रवाह में बहकर* उसका विशिष्ट आत्म-भाव बदल जाता है। और जब वह विशिष्ट सामान्य में घुल मिलकर रूपान्तरित हो जाता है, तब कवि आह्लाद और प्रकाश का अनुभव करता है। और उसे लगता है कि उसका विशिष्ट, जो अब विशिष्ट रहा ही नहीं, बहुत ही मार्मिक महत्त्व प्रकाश विकीरित कर रहा है। यह सामान्य क्या है? वे जीवन मूल्य हैं, और वे जीवन दृष्टियाँ हैं, जो कवि ने अपने विस्तृत जीवन में पायी। दूसरे शब्दों म, उसके अन्तर म व्याप्त ये जीवन मूल्य और जीवन दृष्टियाँ बाह्य जीवन-जगत् का ही मनोवैज्ञानिक रूप हैं।

सृजन-प्रक्रिया के दौरान में एक विलक्षण बात प्रस्तुत होती है। एक तो यह

कि विशिष्ट जब सामान्य मे घुलता है, तब उस विशिष्ट के कारण कवि की आत्म-बद्ध दशा का जो सवेदनात्मक पुज है वह तो स्थायी रहता है, किन्तु उस बद्धता के घेरे की दीवारें नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार कवि-मन सवेदनात्मक पुज धारण करते हुए भी---जो पुज उसकी आत्मबद्ध स्थिति मे उद्‌बुद्ध हुए थे—सामान्य भूमि पर आकर जीवन-मूल्यो और जीवन-दृष्टियो से समन्वित होने से, अपने को उन [illegible] है; साथ ही, वे [illegible] से मिलकर अपने [illegible] सवेदना-पुजो मे दर्शक-मन को एक अद्वितीय आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार दर्शक-मन अपने को एकदम तटस्थ, तो, दूसरी ओर, एकदम रसमग्न अनुभव करता है। विशिष्ट को सामान्य करने के हेतु कवि-मन वेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होकर निरन्तर भाव सशोधन और भाव-सम्पादन करता रहता है। यह कवि की आन्तरिक क्रिया का एक अग है। कविता एक सास्कृतिक प्रक्रिया है।

सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत विशिष्ट को सामान्य बनाने की यह क्रिया तभी से शुरू हो जाती है जब कवि कला के प्रथम क्षण मे अन्तर-नेत्रो से इस तत्त्व को देखने लगता है, कि जो तत्त्व उसकी आँखो के सामने तरगायित और उद्घाटित हो उठा है। आगे चलकर समरूप अनुभवो से मिलाते हुए वह मनोमय तत्त्व, जब जीवन-मूल्यो और जीवन-दृष्टियो से अपना सगम करता है, तब वह और भी सामान्य हो उठता है। प्रश्न यह उठता है कि वे जीवन-मूल्य और जीवन-दृष्टियाँ किसकी हैं? यह प्रश्न स्वाभाविक है। यह प्रश्न हमे समाजशास्त्रीय आलोचना की ओर ले जाता है। आगे चलकर जब कवि अपने मनोमय तत्त्व-रूप को बाह्य-अभिव्यक्ति के साँचे मे ढालने लगता है, या जब वह बाह्य-अभिव्यक्ति को अन्तर-अभिव्यक्ति (मनोमय तत्त्वात्मक रूप) के साइज की काट की रग की बनाने लगता है, तब उसकी आँखो के सामने सौन्दर्य-प्रतिमान किस सौन्दर्याभिरुचि ने, अर्थात् किस वर्ग की सौन्दर्याभिरुचि ने, उत्पन्न किया है, यह प्रश्न स्वाभाविक हो उठता है। सौन्दर्याभिरुचि यदि मात्र व्यक्तिजन्य होती तो बात अलग थी। किन्तु सौन्दर्याभिरुचि का वह फ्रेम मात्र व्यक्तिजन्य नही है। अतएव यह प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक है कि उस बीते सौन्दर्याभिरुचि के फ्रेम का विकास [किसने] किया, क्यो किया, उसका औचित्य क्या है, उसकी सीमाएँ क्या है, आदि-आदि।

ध्यान रहे कि सौन्दर्याभिरुचि अपनी रक्षा के सेंसर्स का भी विकास करती है। प्रश्न यह है कि सेंसर्स किन मनस्तत्त्वो के विरुद्ध हैं, क्या है, क्या इसका विश्लेषण आवश्यक नही है? उदाहरण के लिए, आज की 'नयी कविता' मे कर्कश विद्रोह स्वर, अथवा गली-कूचो की धूल और मिट्टी की बदरग तसवीर, अथवा क्रान्तिकारी चण्डता सौन्दर्यात्मक नही समझी जाती। भद्रवर्ग की बैठको मे सुनायी गयी ऐसी कविताओ के प्रति प्रतिष्ठित महारथियो ने अविश्वास, अरुचि और वैराग्य ही प्रकट किया। उन्होने बार-बार यह कहा कि उन्हे प्रतीत नही होता कि वह चण्ड स्वर वस्तुत आत्मानुभूति है। अर्थात्, उन्होने उस पर अविश्वास किया। दूसरे शब्दो मे, 'नयी कविता' खास काट की, खास शैली की, होने के अलावा, कुछ विशेष विषयो और मनस्तत्त्वो तक ही सीमित रहनी चाहिए। स्पष्ट है कि उनकी सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष वर्ग की है, कि जिस विशेष वर्ग ने विशेष स्थिति मे ही, उस

विशेष सौन्दर्याभिरुचि को अंगीकार किया है। उस अभिरुचि के अन्तर्गत सेंसर्स काफी सक्रिय है। उस उच्च-मध्यवर्गीय सौन्दर्याभिरुचि के अधीन हो, निम्न-मध्य-वर्गीय कविजन जाने अनजाने (उस प्रेम के कारण) सेंसर्स लगाते रहते हैं, और इस प्रकार अपने स्वय के मानव-स्पन्दन और मर्मानुभव [सीमित] करते रहते हैं। निस्सन्देह, सौन्दर्याभिरुचि और उसके अधीनस्थ सेंसर्स के विश्लेषण के सिलसिले में हमे उस सौन्दर्याभिरुचि और सेंसर्स की सामान्य भूमि अर्थात् वर्गीय भूमि तक पहुँचना ही पडता है।

सच तो यह है कि काव्य की विशिष्ट और सामान्य भूमियो को पूर्णत समझने का अभी प्रयास नही किया गया है, अथवा इन प्रयासो मे सर्वांगीण पूर्णता नही आ पायी है। जो हो, यह सही है कि कविता मे कवि का आत्मोद्घाटन उतना विश्वसनीय नही है, जितनी कि उसकी सामान्य भूमि।

वस्तुत दुर्बोध हो जाती हैं, उन कविताओ मे मन रम-मग्नता मे साथ-ही साथ पर्यवेक्षणपूर्ण तटस्थता का निर्वाह नही कर पाता। तटस्थता के पूर्ण निर्वाह के अभाव का प्रमुख कारण यह है कि वह अपनी वेदनाओ को, जीवन मूल्यो और जीवन-दृष्टियो के प्रकाश मे नही देख रहा है, कि वह अभी भी व्यक्तिबद्ध है, आत्म-बद्ध है। वे दृष्टियाँ और वे मूल्य उसके सवेदनानुभूति-तत्त्वो का अग नहीं बनी हैं, उनका सात्म्यीकरण नही हुआ है। मैं कला के दूसरे क्षण की बात कर चुका हूँ। फलत, कवि अपने आत्मबद्ध भाव को तो देख पाता है, किन्तु वह पूर्वगत अनुभवो से प्रकाशित और जीवन मूल्यो से समन्वित करनेवाली जीवन दृष्टि से एकात्म नही हो पा रहा है। इस सामान्य भूमि पर खडे होकर ही वह तटस्थ हो सकता है। जब तक उसकी क्षमता व्यापक मार्मिक अर्थ नही देती, तब तक कला का दूसरा क्षण सम्पन्न ही नही हो सकता।

सक्षेप मे, वह उस सामान्य भूमि को और अपनी विशिष्ट अनुभूति को समन्वित और एकात्म नही कर पाता। फलत, वह मात्र आत्मग्रस्त होकर रह जाता है। इसके विपरीत, जिन कवियो के पास अपना सवेदन शिथिल है वे शीघ्र ही तटस्थ हो जाते हैं, अपने से बहुत जल्दी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु मनोमय तत्त्व म आनन्द प्राप्त होने की दशा क्षीण होने के कारण वे उस मनोमय तत्त्व के सवेदना-पुजो को ही ग्रहण नही कर पाते। फलत, उनकी कविता रिक्त रह जाती है शुष्क हो जाती है। मनोमय तत्त्व के सवेदना-पुजो को प्राप्त करना कवि का आद्य-प्राथमिक कर्तव्य है। वे उसे ही भूल जाते हैं। सच तो यह है कि कवि सृजन प्रक्रिया के दौरान म निराला जीवन जीता है। उसे उस जीवन को ईमानदारी से, आग्रह-पूर्वक, ध्यानलीन होकर जीना चाहिए। नही तो बीच-बीच मे साँस उखड जायेगी, और उसक फलस्वरूप काव्य मे खोट पैदा होगी।

सृजन-प्रक्रिया के उपर्युक्त विश्लेषण से एक तीसरा निष्कर्ष निकलता है। यह कि यदि कवि की सवेदन क्षमता, कल्पना की सश्लेषण शक्ति और बुद्धि की विश्लेषण शक्ति, इन तीनो म से कोई भी बात कमजोर हुई तो मनोमय तत्त्व-रूप अपनी सही सही ऊँचाई को प्राप्त नही कर सकेगा। इसके साथ अभिव्यक्ति-

सामर्थ्य को भी जोड़िए।

अभिव्यक्ति-सम्पदा प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष आवश्यक है। वह प्रयत्न-साध्य है। अभ्यासगम्य है।

हमारे जन्म-काल से ही शुरू होनेवाला हमारा जो जीवन है, वह बाह्य जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण द्वारा ही सम्पन्न और विकसित होता है। यदि यह आभ्यन्तरीकरण न हो, तो हम अन्ध-कृमि—पानी का जीव, हाइड्रा—बन जायें। हमारी भाव-सम्पदा, ज्ञान सम्पदा, अनुभव-समृद्धि तो उस अन्तस्तत्त्व-व्यवस्था ही का अभिन्न अंग है, कि जो अन्तस्तत्त्व-व्यवस्था हमने बाह्य जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण से प्राप्त की है। हम मरते दम तक बाह्य जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण करते जाते हैं। किन्तु बातचीत, बहस, लेखन, भाषण, साहित्य और काव्य द्वारा हम निरन्तर स्वयं का बाह्यीकरण करते जाते हैं। बाह्य का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तरीकृत का बाह्यीकरण एक निरन्तर चक्र है। यह आभ्यन्तरीकरण मात्र मनन-जन्य नहीं, वरन् कर्म-जन्य भी है। जो हो, कला अभ्यन्तर के बाह्यीकरण का एक रूप है।

बातचीत, बहस, भाषण, लेखन, चित्रकला, काव्य-साहित्य, आदि द्वारा हम बाह्य जीवन-जगत् के साथ या तो सामंजस्य उत्पन्न करते हैं, या उस सामंजस्य के अनुकूल प्रस्तुत होते हैं। अथवा उसके साथ हम द्वन्द्व में उपस्थित होते हैं। काव्य भी या तो बाह्य जीवन-जगत् के साथ सामंजस्य में, या उसके अनुकूल, उपस्थित होता है, अथवा उसके साथ द्वन्द्व रूप में प्रस्तुत होता है। अथवा काव्य-प्रवृत्ति (बातचीत, भाषण, लेखन के समान ही) एक स्तर या क्षेत्र में सामंजस्य और दूसरे स्तर या क्षेत्र में द्वन्द्व को लेकर प्रस्तुत होती है। संक्षेप में, अभ्यन्तर का बाह्यीकरण सामंजस्य या द्वन्द्व अथवा दोनों के मिश्र रूप में उपस्थित होता है। कला इस नियम का अपवाद नहीं है, नहीं है।

आज की कविता में उक्त सामंजस्य से अधिक द्वन्द्व ही है। इसलिए उसके भीतर तनाव या घिराव का वातावरण है। आज का पद्याभास गद्य जो बात, मुख्यत, व्यक्त करता है वह यह कि इस द्वन्द्व में, इस घिराव में, सुमधुर लयात्मक किन्तु गणित यन्त्रीय छन्दों का स्थान नहीं। संक्षेप में, इस पार्श्वभूमि को देखकर ही वर्तमान कविता की विवेचना होनी चाहिए।

किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि हम इस द्वन्द्व को पूर्णतः समझें और तदनुसार अनुभव समृद्धि बढ़ायें। मेरा अपना मत है कि हमारी साहित्य-चिन्ता या कलात्मक सृष्टि का विकास नहीं हो[illegible]

[illegible] विश्वास है कि नयी काव्य प्रवृत्तियाँ, चाहे वे गीत-रूप में ही क्यों न आयें, उक्त कार्य कर सकेंगी। वास्तविक जीवन जगत् के मार्मिक पक्षों को प्रकट करने के लिए, दूसरे शब्दों में, हमारे अभ्यन्तर में व्याप्त वास्तविक जीवन-जगत के मार्मिक पक्षों की अभिव्यक्ति के लिए, हमें कुछ खतरों से सावधान रहना होगा।

उनमें से एक खतरा है जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि का। नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र के कुछ महान् व्यक्ति, अपनी वर्गीय अभिव्यक्ति के फलस्वरूप, सौन्दर्य का जो प्रति-

मान हमारे सामने रखते हैं, उसमें जब तक व्यापक संशोधन नहीं होता, तब तक हम अपने ही जीवन्त अनुभवों का मूर्त और प्रभावशाली चित्र उपस्थित नहीं कर सकते। स्थिर यांत्रिक व्यक्तित्व, जो एक 'बन्द सन्दूक' (क्लोज्ड सिस्टम) बनता है ('तुम नहीं व्याप सकते, तुम में जो व्यापा है उसी को निबाहो'), जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि को प्रस्तुत कर रहा है। इस तरह की जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि के फलस्वरूप ही कुछ साहित्यिक समाजशास्त्री अपने ढर्रे के बाहर के क्षेत्र में उपस्थित नयी काव्य-समृद्धि में विद्रूपता के अतिरिक्त कुछ नहीं देखते। यदि हमें वैविध्यपूर्ण, पर स्पष्ट, द्वन्द्वमय मानव-जीवन के (अपने अन्तर में व्याप्त) मार्मिक पक्षों का वास्तविक प्रभावशाली चित्रण करना है, तो हमें जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि और उसके संस्कार त्यागने होंगे, तथा अनवरत रूप से अपने ढाँचों और फ्रेमों में संशोधन करते रहना होगा। मनुष्य-जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं है जो साहित्याभिव्यक्ति के अनुपयुक्त हो। जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष शैली [को] दूसरी शैली के विरुद्ध स्थापित करती है। गीत का नयी कविता से कोई विरोध नहीं है, न नयी कविता को उसके विरुद्ध अपने को प्रतिष्ठापित करना चाहिए। आवश्यकता इस *बात की है कि गीत में नये तत्त्व आयें, न कि गीत-शैली की धारा की समाप्ति हो।* किन्तु जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि ज़बर्दस्ती का विरोध पैदा करा देगी। वह स्वयं अपना धारा का विकास भी कुण्ठित करेगी, साथ ही पूरे साहित्य का भी। नयी कविता के विभिन्न कवियों की अपनी-अपनी विशेष शैलियाँ हैं। इन शैलियों का विकास अनवरत है। आगे चलकर जब वे प्रौढ़तर होंगी, नयी कविता विशेष रूप से ज्योतिर्मान होकर सामने आयेगी। महत्त्व की बात है कि नयी कविता में स्वयं कई भाव-धाराएँ हैं, एक भाव-धारा नहीं।

इनमें से एक भाव-धारा में प्रगतिशील तत्त्व पर्याप्त है। उसकी समीक्षा होना बहुत-बहुत आवश्यक है। मेरा अपना मत है कि आगे चलकर नयी कविता में प्रगतिशील तत्त्व अधिकाधिक बढ़ते जायेंगे और वह उत्पीड़ित मानवता के समीपतर आयेगी।

[कालिदास, (उज्जैन), के दिसम्बर 1961 और जनवरी 1962 के अंकों में दो किस्तों में प्रकाशित।]

वस्तु और रूप : दो

काव्य के 'वस्तु और रूप' के सम्बन्ध में सोचते हुए, मैं किन्हीं विशेष बातों पर रुक जाता हूँ। 'वस्तु' का क्या अर्थ है? क्या 'वस्तु' से हमारा अभिप्राय काव्य-विषय से है? किन्तु, विषय स्वयं अपने-आपमें काव्य का विषय नहीं होता। उदाहरण के लिए, तुलसी का मानस, और वाल्मीकि की रामायण, दोनों का विषय एक होते हुए भी, मेरे खयाल से, दोनों के काव्यगत वस्तु-तत्त्व अलग-अलग हैं।

उषाकाल पर लिखी हुई दो कविताओं में वस्तु-तत्त्व अलग अलग हो सकते हैं, होते हैं। सच तो यह है कि काव्य का वस्तु-तत्त्व वह मनस्तत्त्व है जो कि कलाभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठा है। हाँ, यह सही है कि इस मनस्तत्त्व का आधारकारण कवि की प्रकृति और जीवन-जगत् इन दोनों की परस्पर-प्रतिक्रिया के गुम्फों से तैयार हुआ है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि कलात्मक अभिव्यक्ति भी कवि-प्रकृति और बाह्य जगत् के द्वन्द्वों का ही, किसी एक उच्च मनोवैज्ञानिक स्तर पर आविर्भूत, रूप है। इससे अधिक कुछ नहीं। किन्तु यह द्वन्द्वात्मक विश्लेषण आवश्यक है। कुछ भाववादी आलोचक-विचारकगण अपने अध्यात्मवाद अथवा आत्म-स्वातन्त्र्यवाद को सिद्ध करने के फेर में, कला की 'वस्तु' की 'मात्र-आध्यात्मिक' अथवा 'मात्र-मनोवैज्ञानिक' व्याख्या करते हैं। इस प्रकार की व्याख्या उनके दृष्टिकोण की औचित्य-सिद्धि के लिए बहुत आवश्यक होती है।

संक्षेप में, काव्य का विषय और काव्य की वस्तु—इन दोनों में बहुत भेद है। 'विषय' शब्द का अर्थ व्यापक है, 'वस्तु' का संकुचित। उपर्युक्त बात को सिद्ध करने के लिए अनेकानेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

[illegible] ...न-जगत् के बिम्ब [illegible] मन के भीतर की [illegible] जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण का जो सिलसिला बचपन में चालू होता है उसी के विकसित रूप में उपस्थित होते हैं। नि सन्देह, क्रियावान संवेदनशील मन, अपनी वृत्तियों के अनुसार, उनका सम्पादन-संशोधन करता है। महत्त्व की [बात] केवल इतनी ही है: (1) ये अन्तर्तत्त्व बाह्य जीवन-जगत् के संशोधित-सम्पादित तत्त्व होते हैं। समाज के परम्परागत अर्जित ज्ञान के अतिरिक्त वे उन तत्त्वों को भी आत्मसात कर लेते हैं जो हमारे समाज की अच्छी या बुरी प्रवृत्तियाँ समझी जाती हैं। (2) मन की क्रिया का अधिष्ठान प्राणिशास्त्रीय होते हुए भी, मन की क्रिया उसकी वृत्तियों और इच्छाओं (तथा प्रयत्नों) में प्रकट होती है। ये वृत्तियाँ और इच्छाएँ बाह्य-जीवन-जगत् से इतनी अधिक प्रभावित, संस्कारित और सीमित होती है कि 'आत्म-स्वातन्त्र्यवाद' का सहारा लेना गलत सिद्ध होता है।

जो यह कहना चाहते हैं कि बाह्य जीवन-जगत् के सन्दर्भ से यदि हमने अन्त.-तत्त्वों की व्याख्या की तो हमें मन के स्वरूप को पैसिव—निष्क्रिय—मानना पड़ेगा, तो उन्हें मेरा उत्तर यह है कि मन की क्रिया का जो गति पक्ष है वह तो स्वतन्त्र है, किन्तु उसके भीतर के जो तत्त्व हैं, [वे] बाह्याधारित हैं, बाह्य निर्मित हैं। मन प्रवहमान है—मरते दम तक। किन्तु वे तत्त्व जिन पर वह प्रतिक्रिया करता है, और उस प्रतिक्रिया के तत्त्व जो उसकी क्रिया का ही एक अंग है [illegible]

[illegible] ...हो जाता है, उस 'स्वतन्त्र क्रिया' की कल्पना के भीतर वे मानसिक तत्त्व और मानसिक गति इन दोनों का समावेश करते हैं। यह निराधार है।

यह तो सही है कि मन का मूलाधार प्राणिशास्त्रीय है। और इसलिए, उसकी मूल वृत्तियाँ—जैसे भोजन, प्रजनन, आत्मरक्षा, इत्यादि—उसे अन्य प्राणियों से

मिला देती हैं। ये वृत्तियाँ देह-जन्य हैं, जो मन की ऊर्जा में परिणत होती हैं। मानव-स्तर पर आकर ऊर्जा बाह्य जीवन-जगत् के तत्त्वों को आत्मसात् करके उन्हें ज्ञान-तत्त्वों में ढाल देती है। ये ज्ञान-तत्त्व हजारों वर्षों से चली आती हुई ज्ञान-परम्परा की समृद्धि के ही बिम्ब होते हैं। मन जब किसी बात पर प्रतिक्रिया करता है, तो उसके संवेदनात्मक या भावनात्मक पक्ष में ज्ञान-पक्ष भी होता है। हो सकता है वह मिथ्या ज्ञान है, फिर भी वह बोध-पक्ष है। मन की जो ऊर्जा है, वह बाह्य जीवन-जगत् को आत्मसात् करके ही प्रतिक्रिया कर सकती है, अन्यथा नहीं। संक्षेप में, (1) अन्तर्तत्त्व संशोधित-सम्पादित-आत्मसात्कृत बाह्य जीवन-जगत् ही है, (2) मन का स्वातन्त्र्य सापेक्ष है, (3) मन की ऊर्जा में ही उसकी स्वतन्त्रता है, किन्तु वह ऊर्जा भी देह स्थिति और वातावरण से नियन्त्रित है।

यदि उपर्युक्त बातें सही हैं [तो] इसके दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक तो यह है कि मनस्तत्त्वों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या वहाँ तक सही हो सकती है जहाँ तक वह वर्णनात्मक और विवेचनात्मक है। किन्तु जहाँ वह मात्र मनोवैज्ञानिक आधार पर ही जीवन-जगत्-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान का प्रासाद खड़ा करती है, वहाँ वह गलत हो उठती है। पूँजीवादी युग में, केवल मन की अध्यात्मवादी कल्पना को लेकर, (जिसे वे 'चेतना' कहते हैं—शब्दावली अलग-अलग है) अथवा केवल फिजिक्स के सहारे, या केवल बायलाजी या प्राणिशास्त्र को लेकर, जीवन-जगत्-सम्बन्धी दृष्टिकोण का विकास किया गया है। (स्पेंगलर ने इसी प्राणिशास्त्र की कल्पना, 'मानव-सभ्यता', को एक आर्गेनिज्म कहा है)। बर्गसों का elan vital प्राणिशास्त्र की कल्पना पर ही आधारित है। हमारे बहुत-से भाईबन्द आज भी कला की भी केवल मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए आध्यात्मिक कल्पना पर आते हैं, अथवा आध्यात्मिक कल्पना के आधार पर खड़े होकर कला की व्याख्या करते हैं। इसकी प्रतिक्रिया में ही मानो कला की व्याख्या प्राणिशास्त्रीय भी की जाती है। ये व्याख्याएँ केवल एकपक्षीय ही नहीं, वरन गलत भी हैं, क्योंकि यहाँ उत्साहियों ने अपने प्रिय विज्ञान के क्षेत्र का ऐसा अतिक्रमण किया है जो क्षम्य नहीं कहा जा सकता।

मन, आरम्भ-काल से ही जीवन-जगत् से प्रतिक्रिया करते हुए अपना विकास करता है। यद्यपि प्राणिशास्त्रीय आधार पर उत्थित ऊर्जा मन की अपनी है, किन्तु आत्मसात्कृत जीवन-जगत्, अर्थात संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन, के मूर्त तत्त्व जीवन-जगत् के ही होते हैं। यह जीवन-जगत् समाज और वर्ग और परिवार के भीतर पायी जानेवाली मानव-स्थिति और मानव सम्बन्धों और मानव प्रयत्नों द्वारा अर्जित परम्परागत ज्ञान या मिथ्या ज्ञान से बना हुआ होता है। मन के तत्त्व जीवन-जगत् के दिये हुए तत्त्व हैं।

अतएव मनुष्य की समाजशास्त्रीय व्याख्या और मनोवैज्ञानिक व्याख्या को एक-दूसरे से अलग करना सुविधाजनक भले ही हो, इन दोनों की सीमाएँ जान लेना आवश्यक है। इस सीमा बोध के अभाव ने ही कला की व्याख्या को यदि एक ओर यान्त्रिक समाजशास्त्रीय बना दिया है, तो दूसरी ओर उसे विशुद्ध मनोविज्ञान का या अध्यात्मवाद का अंग मान लिया गया है।

कला के मनस्तत्त्व अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का ही एक भाग है। यह अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था आत्मसात्कृत जीवन-जगत् ही है। अतएव, कला के मनस्तत्त्व भी

आत्मसात्कृत जीवन जगत् का अग हैं। आत्मसात्कृत जीवन-जगत् [और] बाह्य जीवन-जगत् मे हमेशा द्वन्द्व होता है, फिर सामजस्य होता है, फिर द्वन्द्व होता है। आत्मसात्कृत जीवन जगत् मन की विकासमान स्थिति का द्योतक है। बाह्य जीवन-जगत् मानव सम्बन्धो की अपनी विकासमान विशेष स्थितियो के विशेष स्तर को उपस्थित करता है। परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया करनेवाले इन दोनो केन्द्रो मे आधारभूत परस्पर-सामजस्य है, साथ ही द्वन्द्व भी है। ये दोनो एक-दूसरे को सशोधित-परिवर्धित परिवर्तित करते रहते है। इनका द्वन्द्व सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। सामजस्य सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। यह विवेचन क्यो आवश्यक है, इसका उत्तर आगे मिलेगा।

बाह्य जीवन-जगत् के प्रत्याघात से विचलित होकर जब अन्तर्तत्त्व व्यवस्था का अगभूत कोई मनस्तत्त्व, एक तीव्र लहर के रूप मे उत्थित होकर, मन की आँखो के सामने तरगायित और उद्घाटित और आलोकित होते हुए, अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठता है, तब वह कला के वस्तु तत्त्व के रूप मे प्रस्तुत हो जाता है। ध्यान रहे कि कला-वस्तु बनने के लिए मन की आँखो के सामने (1) तरगायित, (2) उद्घाटित, (3) आलोकित, (4) अभिव्यक्ति के लिए आतुर, हो उठना नितान्त आवश्यक है।

तरगायित होन का सम्बन्ध आवेग से है। उद्घाटित होने की अवस्था का सम्बन्ध बोध-पक्ष से है—ऐसे बोध-पक्ष से जो ज्ञानात्मक आधार पर स्थिर होकर व्यक्तिबद्धता की स्थिति से अनुभव-कर्ता को ऊँचा कर देता है। वस्तुत, यहीं से रूप पक्ष भी आरम्भ हो जाता है। मनस्तत्त्व यहाँ रूप लेकर प्रस्तुत होता है। यह कला का प्रथम क्षण है। किन्तु यह रूप स्थिर नहीं है। कला का द्वितीय क्षण तब से आरम्भ होता है, जब वह मनस्तत्त्व अन्य समशील मनस्तत्त्वो अथवा अनुभवो से मिल अधिक मूर्त, अधिक सश्लेषित तथा कल्पनालोकित हो जाता है। ऐसी स्थिति मे, कला के प्रथम क्षण मे उपस्थित रूप कुछ न कुछ बदल जाता है, उसमे व्यापक अर्थ आ जाता है, वह अधिक सामान्य हो जाता है, वह किसी व्यापक महत्त्व से भर उठता है। व्यक्तिबद्धता की स्थिति नष्ट होकर उस तत्त्व के व्यापक महत्त्व [illegible] अनुभव-कर्ता

[illegible] । यहाँ से कला

[illegible] । की अभिव्यक्त

करने लगता है, तब वे रूप बहुत कुछ बदल जाते हैं। परिणामत, पूर्ण की हुई कविता, पूर्ण की हुई कलाकृति, अपनी पूर्वगत तत्त्वानुभूति की वास्तविकता से बहुत कुछ भिन्न हो जाती है।

सक्षेप मे, तत्त्व अपना रूप लेकर उपस्थित होता है। किन्तु न यह तत्त्व स्थिर है और न यह रूप। यह हृदय मे समशील तत्त्वों और अनुभवों से संयुक्त होता हुआ व्यापक अर्थमत्ता से अपने को परिपूर्ण करता जाता है। इसमे नवीन अवयवो का विकास होता जाता है, व्यक्तिबद्धता की स्थिति हटती जाती है, और एक विशेष प्रकार की हार्दिक मुक्तावस्था बढ़ती जाती है। यह तत्त्व-समुदाय या रूप समुच्चय जब शब्द-रग स्वराभिव्यक्ति के प्रयत्नों मे लीन होता है, तब वह स्वय भी बदलने लगता है।

शब्द, आदि सामाजिक परम्परा से उपलब्ध होते हैं। विभिन्न शब्द-समीपों

द्वारा मनस्तत्त्वानुकूल प्रभावो को संगठित करने की कोशिश की जाती है। कवि यह अनुभव करता है कि वह अपने अन्तरानुभूत तत्त्वो को प्रकट कर रहा है। होता यह है कि वह अभिव्यक्ति की प्रक्रिया मे उन तत्त्व-रूपो को अनजाने मे बदलने लगता है। वस्तुत, आत्मसात्कृत जीवन-जगत् कलात्मक आवेग मे तरंगायित होकर कवि के हृदय मे जब एक कलात्मक वेदना बन जाता है, तब वह अपने बाह्यीकरण के लिए छटपटाने लगता है। कलात्मक चेतना अन्तर्तत्त्वो की बाह्योन्मुख गति धारा से बनी हुई है। जिस प्रकार हम जीवन मे बाह्य जीवन-जगत् को अपने अभ्यन्तर मे संशोधित-सम्पादित कर आत्मसात करते जाते हैं, उसी तरह हम शब्दो द्वारा आत्मसात्कृत को बाह्यगत करते जाते हैं, चाहे ये शब्द साधारण बातचीत मे प्रकट हो, भाषणो मे, लेखो मे प्रकट हो, अथवा छन्द-लय मे उद्घाटित हो। बाह्य का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तरीकृत का बाह्यीकरण—यह एक चक्र है जो अविरत है।

बाह्य के आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया मे बाह्य और अभ्यन्तर का सामंजस्य और द्वन्द्व छिपा हुआ है, उसी प्रकार अभ्यन्तर के बाह्यीकरण मे भी सामंजस्य और द्वन्द्व सन्निहित है।

कलाकार, साधारणत, जिन विषयो का कला के लिए चुनाव करता है, वह युगानुरूप ही होता है। यदि हम कलाकृतियो का ऐतिहासिक अध्ययन करें तो हम पायेंगे कि विशेष युग मे विशेष विषयों को लेकर ही कलाकृतियाँ सामने आयी हैं। जो वर्ग-संस्कृति के क्षेत्र मे सक्रिय है, वह अपने वर्ग सम्बन्धो के भीतर उपस्थित मानव-सम्बन्धो को ध्यान मे रख, अपनी विशेष स्थिति और अवस्था के अनुसार, अपनी विशेष प्रवृत्तियाँ प्रकट करता है। उदाहरणत', हिन्दी साहित्य के सामन्ती काल मे वीर, शृंगार और अध्यात्म—ये तीन ही विषय आवृत्त और पुनरावृत्त होते [रहे]। आत्मसात्कृत जीवन जगत् तो वैविध्यपूर्ण है। किन्तु क्या कारण है कि साहित्यिक प्रयास केवल वीर, शृंगार और अध्यात्म तक ही सीमित रहे? क्या कारण है कि आत्मसात्कृत जीवन-जगत् के वैविध्य की उपेक्षा की गयी? इसका क्या उत्तर है? क्या कारण है कि सांस्कृतिक क्षेत्र मे सक्रिय वर्ग — चाहे वह निम्न वर्ग मे उठे हुए कबीर [हो,] या शासक सामन्ती वर्ग मे उठे हुए रहीम — शृंगार और अध्यात्म को ही प्रधानता देते रहे? इस प्रश्न को यह कहकर टरका दिया जाता है कि उन दिनो आत्म-चेतना विकसित नही हुई थी। किन्तु अन्तश्चेतना के विकास के मानी भी क्या हैं?

स्पष्ट है कि बाह्य जीवन-जगत् को संशोधित-सम्पादित करते हुए जो आत्मसात्कृत जीवन-जगत् हृदय मे उपलब्ध होता है, उस आत्मसात्कृत जीवन-जगत् के केवल वे ही अंग प्रकाश मे लाये जाते हैं, अर्थात् कलात्मक रूप मे बाह्यीकृत किये जाते हैं, कि जिन अंगो का समाज मे कोई मूल्य हो, कोई स्थान हो, अथवा मूल्य हो सकने की सम्भावना हो स्थान पा सकने की सम्भावना हो।

महत्त्व की बात यह है कि समाज के भीतर मानव-सम्बन्धो की जो अवस्था है, वह अवस्था अर्जित ज्ञान परम्परा या भाव-परम्परा मे ही अपने-आपको उद्बुद्ध और सचेत पाती है। मध्ययुग मे निम्न वर्ग से आये सन्त और कवि इस अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा मे ही कुछ फेरफार करके अपने को उद्बुद्ध और सचेत पाते हैं। इस अर्जित ज्ञान परम्परा या भाव-परम्परा के ही कुछ तत्त्वो को

(भक्ति-तत्त्व को) अपने लिए उपयुक्त समझ, उसके आधार पर अपनी स्थिति संगठित करते हैं। और फिर इन तत्त्वों के अनुसार जो बातें समाज में नहीं हैं या उसके बिलकुल विरुद्ध जाती हैं, उनका खण्डन करते हैं, अथवा ऐसी जीवन पद्धति या भाव-पद्धति का निर्माण करते हैं जिनसे वे प्रतिकूल बातें खण्डित हों। इस प्रकार वे, एक ओर, समाज के साथ सामंजस्य, तो, दूसरी ओर, उसके साथ द्वन्द्व—इन दोनों का निर्माण करते हैं। समाज के साथ सामंजस्य और द्वन्द्व की यह युगपत् प्रक्रिया हम भक्ति-आन्दोलन में परिलक्षित होती है। समाज के साथ सामंजस्य और द्वन्द्व एक साथ उपस्थित करनेवाले इस भक्ति-आन्दोलन की विशेषता दृष्टव्य है।

संक्षेप में, अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा के उन तत्त्वों को, जो आत्मसातकृत जीवन-जगत् का ही अंग हैं, कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए चुना जाता है जो बाह्य जगत् से या तो वर्तमान वास्तविकता के आधार पर अपने ढंग से मनोवैज्ञानिक सामंजस्य स्थापित करें, अथवा किसी बृहत्तर अभिलषित सामंजस्य के लिए द्वन्द्व स्थापित करें, अथवा सामंजस्य और द्वन्द्व दोनों को एक साथ लेकर चलें। कौन-सी बात द्वन्द्व स्थापित करेगी और कौन से तत्त्व सामंजस्य स्थापित करेंगे, यह बात अपनी अपनी श्रेणी की वास्तविक मनोवैज्ञानिक स्थिति पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में, उस श्रेणी के जीवन-मूल्यों पर अवलम्बित है। महत्त्व की बात यह है कि केवल उन अभ्यंतर तत्त्वों को कलात्मक बाह्यीकरण के लिए आवश्यक समझा जाता है जो उक्त सामंजस्य या द्वन्द्व के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हों या महत्त्वपूर्ण प्रतीत हों। कलाकार अन्तर में उत्थित उन तत्त्वों को ही प्रधानता देता है, जो उसे महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। यह महत्त्व भावना केवल सब्जैक्टिव नहीं है। वह महत्त्व भावना उस वर्ग की मनोवैज्ञानिक स्थिति के आधार पर खड़ी हुई मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के अनुसार बनती है। फलतः अन्य अन्तस्तत्त्वों की कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। बाह्य जीवन-जगत् से प्राप्त जो जीवन मूल्य उसने गृहीत, सम्पादित और संशोधित किये हैं, उनके अनुसार वह बनी हुई है। संक्षेप में, यह मूल्य भावना अथवा महत्त्व भावना केवल आत्म सम्भूत नहीं है, वरन् वह बाह्य जीवन जगत् के मूल्यों से समन्वित-संशोधित है।

अर्जित ज्ञान परम्परा और भाव-परम्परा के आधार पर ही सामन्त काल में कलाकारों ने वीर शृंगार और अध्यात्म सम्बन्धी विषय लिये। सामन्ती समाज में व्यक्ति स्वातन्त्र्य के मूल्यों का अभाव होने से, अन्य अन्तर्तत्त्वों की बाह्याभिव्यक्ति न हो सकी।

ब्रिटिश छत्र छाया के अन्तर्गत पूँजीवादी आधुनिक युग का जो अभ्युत्थान हुआ, उसमें एक ओर, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यानुकूल व्यक्ति निष्ठ भाव धारा और राष्ट्रीय भाव धारा का उत्थान हुआ। इन जीवन मूल्यों के अनुसार, अर्जित ज्ञान परम्परा और भाव-परम्परा का सम्पादन संशोधन संकलन और विकास किया गया। कलाकारों ने वे ही विषय चुने जो उनके युग प्रवृत्तियों के अनुकूल हों। छायावाद का जन्म और विकास इन्हीं आग्रहों के उत्थान का रूप है।

छायावादी प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रगतिवाद का जो महान आन्दोलन उठ खड़ा हुआ, वह एक विशेष काल में मध्यवर्ग की एक विशेष मनोवैज्ञानिक स्थिति का द्योतक है। हमारे राष्ट्रवाद ने राष्ट्रीय मुक्ति की जो कल्पना की थी उसका सार-

तत्त्व प्रगतिवाद मे पूर्ण रूप से स्फुट हुआ। प्रगतिवादी काव्य राष्ट्रीय काव्य है।' राष्ट्रवादी आन्दोलन मे बार-बार उठाये [गये] शोषण से सर्वांगीण मुक्ति के स्वप्न को वह तर्क-सगत निष्कर्षों तक ले गया। निराला और पन्त का इस आन्दोलन मे आना या अन्यो का उसमे समीप रहना यही बताता है।

सक्षेप मे, आत्मसात्कृत जीवन-जगत् के वे ही अश कलाकार को अभिव्यक्ति के लिए बाध्य करते है, कि जो अश समाज अथवा वर्ग की मन स्थिति से उत्पन्न तथा उसके द्वारा प्रदत्त जीवन-मूल्यो से हृदय मे उत्पन्न हुई महत्त्व-भावना द्वारा अभिव्यक्ति के लिए सकलित किये जाते है। कला के ऐतिहासिक अनुशीलन से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

सक्षेप मे, आत्माभिव्यक्ति बाह्य जीवन-जगत् मे प्रचलित जीवन-मूल्यो के आग्रहों से सचालित है। हम यह पहले ही कह चुके है कि मन की स्वतन्त्रता, वस्तुत, अत्यन्त सीमित और सापेक्ष है। यही कारण है कि अन्तर्तत्त्व व्यवस्था का बहुत थोडा अंश—अपने जीवनानुभवो, ज्ञान-सवेदनाओ और सवेदनात्मक ज्ञान का बहुत थोडा भाग—कला के वस्तु-तत्त्व के रूप मे प्रकट और अभिव्यक्त होता है। बहुत-से महान् और महत्त्वपूर्ण अनुभव अप्रकट रह जाते हैं। इसका कारण ही यह है कि प्रकटीकरण के लिए अन्तर्तत्त्वो का सकलन करनेवाली जो महत्त्व-भावना है, वह बाह्य जीवन-जगत् के आत्मसात किये हुए जीवन मूल्यो मे बनी हुई। यही कारण है कि युग-विशेष मे कला के क्षेत्र मे अभिव्यक्ति के लिए विशेष-विशेष विषय ही चुने जाते हैं। कलाकार यह सोचता है कि वह विषय के चुनाव मे स्वतन्त्र है। सच तो यह है कि उसका यह स्वातन्त्र्य, उसके अनजाने ही, काट-तराशकर बहुत ही छोटा, सीमित और सापेक्ष कर दिया गया है। चूंकि उसकी तथाकथित स्वतन्त्रता को काटने-तराशनेवाली यह शक्ति, प्रच्छन्न और परोक्ष रहकर, अदृश्य रूप से उसके अन्त करण मे प्रवेश कर, उसी के अन्त करण का भाग बनकर, काम करती है, इसलिए वह सोचता है कि वह स्वतन्त्र है।

कहने का साराश यह है कि कला के वस्तु तत्त्व वे अन्तर्तत्त्व हैं जो बाह्य जीवन-जगत के आत्मसात् किये हुए जीवन-मूल्यो द्वारा सयुक्त होकर मन की आंखो के सामने आलोकित और तरगायित हो उठते हैं और जिनके बारे मे यह प्रतीत होता रहता है कि वे अभिव्यक्ति के लिए, अर्थात् कलात्मक बाह्यीकरण के लिए, किसी न-किसी प्रकार से महत्त्वपूर्ण हैं। इस महत्त्व-भावना के अभाव मे कलाभिव्यक्ति असम्भव है।

यह महत्त्व-भावना ही कलाभिव्यक्ति को वर्ग या समाज से सामजस्य मे स्थापित करती है, अथवा बृहत्तर सामजस्य के लिए उसे द्वन्द्व रूप मे उपस्थित करती है। कौन-सी रचना समाजशास्त्रीय दृष्टि से प्रगतिशील या अप्रगतिशील है, इसका विचार करने के लिए पहले यह प्रश्न पूछना होगा कि वह द्वन्द्व या सामजस्य समाज या वर्ग की किसी स्थिति, अवस्था या प्रवृत्ति के साथ है। यह प्रश्न पूर्णत वैध है।

आलोचना रूप की भी होती है, तत्त्व की भी। जब तत्त्व की आलोचना की जाती है तब समाजशास्त्रीय प्रश्न दरकिनार रखना गलत है। हां, यह हो सकता है कि समाजशास्त्रीय विवेचनो मे मतभेद हो। परन्तु इस प्रश्न को उड़ा देना अन्धता है।

हम कला के तीन क्षणों का उल्लेख कर चुके हैं। अभ्यन्तर में तत्त्व, रूप के बिना प्रकट होना असम्भव है। रूप का अर्थ केवल चित्र ही नहीं, वरन् शब्द-रंग-स्वर-प्रवाह, इनमें से कुछ भी हो सकता है, अथवा उनका संयोग हो सकता है। मनस्तत्त्व का रूप—या तत्त्वस्वय—निश्चल नहीं है। वह समशील अन्तर्तत्त्वों से संयोग करता हुआ रूप-विकास या रूप-संशोधन करता जाता है। सच तो यह है कि उनका परलवन और विकसन होता जाता है। इस अन्तर-अभिव्यक्ति को जब बाह्य अभिव्यक्ति में बदला जाता है तब अन्तर-अभिव्यक्ति का रूप भी बहुत-कुछ परिवर्तित हो जाता है।

भाषा एक सामाजिक सम्पत्ति है। आत्मसात्कृत जीवन-जगत् के तत्त्व, जब इस सामाजिक माध्यम द्वारा प्रकट होने के लिए आतुर हो उठते हैं, तब उनके प्रयत्नों में दो विशेषताएँ दिखायी पड़ती हैं। एक तो यह कि मनस्तत्त्व अपनी अन्तर-अभिव्यक्ति को कायम रखने और उसी मौलिक रूप में प्रकट होने के लिए भाषा में विविध प्रकार के शब्द-संयोगों की रचना करते हैं। इस प्रकार वे भाषा पर अपना प्रभाव छोड़ जाते हैं। साथ ही भाषा की सामाजिकता के ढाँचे में अपने को फिट करने के लिए स्वयं ही अपने-आपको काटते-तराशते रहते हैं।

वस्तु और रूप : तीन

काव्य के 'वस्तु और रूप' के सम्बन्ध में सोचते हुए, मेरा मन किन्हीं बातों पर रुक जाता है। पहली बात तो यह कि क्या काव्य की वस्तु का मेरे हृदय से सीधा सम्बन्ध है? उत्तर है, 'हाँ'। किन्तु, जब मैं इस 'हाँ' की पड़ताल करने बैठता हूँ तो पता चलता है कि उस 'वस्तु' का जो व्यापक अभिप्राय है, उसे मैंने अनुभूत किया है, इसीलिए मैंने बड़ी मेहनत से उसे (उस वस्तु को) प्रस्तुत किया है। 'व्यापक अभिप्राय' से मेरा मतलब क्या है? इसका उत्तर देते हुए, असन्दिग्ध रूप से, मैं बाह्य जीवन-जगत् पर आ जाता हूँ। 'बाह्य' का अर्थ है, मुझसे बाह्य—मित्र, परिवार, परिवेश, साहित्य-जगत् राजनैतिक क्षेत्र, आदि-आदि। हाँ, यह हो सकता है कि मेरी कविताएँ कोई न पढ़े, वे रद्दी की टोकरी में डाल दी जायें, मेरी मृत्यु के बाद वे जला दी जायें। फिर भी मैं उन्हें लिखता अवश्य हूँ। मेरा वातावरण, मेरा परिवेश, मुझे साहित्यिक कार्यों के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं देता। इसके विपरीत, वह मुझे परावृत्त करता है। फिर भी, मैं लिखता हूँ। दीर्घ कविताएँ लिखता हूँ। एक-एक कविता छह-छह महीना चलती है। सब कार्य [illegible]

हिस्से अवश्य पसन्द आयगे। ना, उस समान-धर्मा के इन्तजार मे—या यूँ कहिए

कि आशा में—मेरे इस कमरे में कवि-कर्म चल रहा है! उस समान-धर्मा का रूप मेरी आँखों के सामने अवश्य प्रस्तुत होता है। वह मुझसे अधिक बुद्धिमान, अधिक अनुभवी, अधिक उदार, अधिक सहृदय, अधिक मर्मज्ञ, अधिक मेधावी होगा। वह मेरे गुण-दोषों का विवेचन करेगा।

किन्तु, मैं इस प्रकार की कल्पना करके किन निष्कर्षों को छुपा रहा हूँ या प्रकट कर रहा हूँ? उत्तर मिलता है (1) यह युग उस पूँजीवाद का युग है, कि जो पूँजीवाद कविता का दुश्मन है। पूँजीवाद एक बार सुप्रतिष्ठित हो जाने पर सांस्कृतिक क्षेत्र में सबसे पहले कविता पर हमला करता है। कविता को समस्त भावावेशों से छिन्न कर, इस विशाल परस्पर-द्वन्द्वमय महान् गुणों से युक्त वैविध्य-पूर्ण जीवन जगत् के सार्थक स्पर्शों से बहुत दूर हटाकर, यह युग उसे (कविता को) निष्प्राण अथवा क्षीण-छाया-समान बना देता है।

(2) सबसे पहले यह पूँजीवाद कवियों को वह विश्व-दृष्टि और विश्व-स्वप्न रखने ही नहीं देता, कि जो दृष्टि या जो स्वप्न जीवन-जगत् की व्याख्या और उसकी विकासमान प्रक्रिया के आभ्यन्तरीकरण से उत्पन्न होता है। कवि भले ही अपनी आस्था के तत्त्व गिनाये, सच तो यह है कि वह किसी वायवीय मानवता में ही वायवीय आस्था रखता है। यह आस्था प्रेरणाप्रद सिद्धान्त नहीं बन पाती। ऐसी आस्था किसी विशाल उद्देश्य और लक्ष्य की ओर जीवन-क्रिया को प्रवाहित नहीं करती। जीवन-जगत में चलनेवाले प्रक्रिया-आवेगों में कवि आध्यात्मिक और क्रियात्मक रूप से भाग नहीं लेता; राजनैतिक और सामाजिक क्रिया प्रवाह की तो बात ही दूर रही। छायावाद के पास और कुछ न सही तो व्यापक आध्यात्मिक विश्व स्वप्न था, साथ ही राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रेरणा थी। उसके पास अपना एक दर्शन था। स्वाधीनता की प्राप्ति के अनन्तर, पूँजीवाद के सम्पूर्ण प्रभुत्व के बाद, उसकी भावनाओं का भी दार्शनिक औचित्यीकरण था। वर्तमान प्रवृत्तियों के पास तो वह भी नहीं है। फलत, आज की प्रवृत्तियाँ एकदम व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वादी हैं।

(3) लेकिन इन बातों से मेरा क्या सम्बन्ध है? नहीं, मैं मानूँ या न मानूँ, सम्बन्ध तो है ही! मैंने वस्तुत तीन युग देखे हैं। छायावाद का पूर्ण प्रकाश मेरी आँखों के सामने हुआ। किन्तु मैं कभी छायावादी नहीं हो सका। उसके विरुद्ध प्रति-क्रियाएँ ही हृदय में जमा होती गयीं। मैंने प्रगतिवाद का अभ्युत्थान देखा। अपने छोटे-से क्षेत्र में, छोटे-से गाँव, शहर या कस्बे में, भरसक कोशिश की कि उसका फैलाव हो। वह खूब फैला। किन्तु मेरी कविता प्रगतिवादी ढाँचे को नहीं अपना सकी। मैंने, व्यक्तिश, इतर जनों में उसके प्रभाव का प्रसार किया। आज भी प्रगतिवादी कविताएँ हमारे निम्न मध्यवर्ग में बहुत लोकप्रिय हैं। अगर भद्र साहित्य-क्षेत्र से वह प्रवृत्ति उठ गयी हो तो उठ जाए। किन्तु हमारे छोटे छोटे शिक्षक, गाँव या शहर के पोस्ट मास्टर, उत्सुक विद्यार्थी, यहाँ तक कि हमारे चाय-घर में बैठनेवाले युवक, आदि-आदि लोग, उसे बेहद पसन्द करते हैं। मजा यह है कि मैं 'नयी कविता' भी उन्हें सुना जाता हूँ, बहुतों को वे पसन्द आती हैं।

यह कहना गलत है कि मेरी कविताएँ लोगों को समझ में नहीं आतीं। किन्तु, यह बात सत्य है कि वे प्रगतिवादी ढाँचे की नहीं हैं, न उनकी तत्त्व-व्यवस्था विशुद्ध सामाजिक-राजनैतिक है, यद्यपि ये सामाजिक-राजनैतिक तत्त्व, बेमालूम तरीके

से, उनमे मिले हुए हैं।

सच तो यह है कि मैंने काव्य जगत् के आत्मीय क्षेत्र मे, प्रगतिवाद-विशिष्ट यान्त्रिक रूप से चलनेवाले राजनैतिक-सामाजिक विचार-भाव, यान्त्रिक सोच और यान्त्रिक छन्द अस्वीकार कर दिये। मुझे प्रतीत हुआ कि काव्य मे मनुष्य की सामाजिक-राजनैतिक इयत्ता ही प्रकट नही होनी चाहिए (किन्तु उसको काटकर नहीं फेंका जा सकता, जैसा कि आजकल हो रहा है), किन्तु पूर्ण मनुष्य के दर्शन, मानव-जीवन के सभी पक्षो के दर्शन, होने चाहिए, स्पन्दनशील वैविध्यपूर्ण महान् गुणों से युक्त साहसिक मानव-जीवन की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। प्रगतिवाद एक-क्षेत्रीय था, यन्त्रवत् था, वह एक विशेष काल मे मध्यवर्ग की एक विशेष मनोवैज्ञानिक दशा का ही सूचक था। वह दशा समाप्त हुई, और वह धारा भी (धारा के रूप मे) समाप्त हो गयी। किन्तु उसके द्वारा उठाये गये प्रश्न आज भी सुलझे नही। उसके लक्ष्य अभी भी पूरे नही हुए। सक्षेप मे, मेरे अपने मानसिक क्षेत्र मे छायावाद और तदनन्तर प्रगतिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ होती रही। मैं चुपचाप अपनी कविता का विकास करता रहा। विशेष प्रोत्साहन भी नही था।

स्वाधीनता-पूर्व के काल मे जोर 'नयी कविता' बढी है, वह अलग ढग से बढी है। नयी कविता' के उत्थान या आरम्भ का श्रेय (स्वाधीनता-पूर्व के काल मे) एक व्यक्ति को देना अनैतिहासिक होगा। हम लोग किसी के प्रभाव मे नहीं थे, न हम किसी को प्रभावित कर रहे थे। स्वाधीनता-काल शुरू होते ही, साहित्यिक क्षेत्र मे अवसरवाद की बाढ आ गयी। सरकारी नौकरियो मे तो साहित्यकार पहुँचे ही, उन्होंने अपने को साहित्यकार क्षेत्र मे आयी हुई नयी पीढियो से पृथक् कर लिया। इस अवसरवाद की बाढ मे प्रगतिवाद तो सूख ही गया, उस पर हमले भी शुरू हुए। उसका रहा-सहा प्रभाव खत्म करने की कोशिशें हुईं। 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवाद' चल पडा। उन्ही दिनो, 'नयी कविता' का दूसरा उत्थान शुरू होता है।

छायावाद और प्रगतिवाद के बाद, कोई ऐसी व्यापक मानव-आस्था मैदान मे नहीं आयी जो जीवन को विद्युन्मय कर दे। मेरा मतलब साहित्यिक मैदान से है। किन्तु जो लोग साहित्य नही पढते, साहित्यिक क्षेत्र से छिन्न होकर साधारण जनता (वह उत्पीडित मध्यवर्गीय जनता ही क्यो न सही) से दूर नही हटे उनके भाव और बुद्धि और आस्था स्थिर रही। ये लोग वायवीय आस्था मे वायवीय तरीके से अपनी [illegible]

[illegible] न रहे), क्योकि जनता रहेगी। उस जनता के जीवन स्पन्दनो को कोई नही मार सकता। सक्षेप मे हमे अन्त मे जनता पर ही आना पडता है, क्योकि वही हमे प्रहारो से बचाती है, हमे आश्रय देती है और अपने तरीके से हमें जीवन-सविधाएँ भी देती है। उसको छोडकर हम कहाँ जायें! उसका अँधेरा विशाल है। किन्तु उसमें अग्नि है, उससे ऊष्मा मिलती है, प्रकाश भी। हमारे पास कोई न्यस्त स्वार्थ नही है। ज्यादा से-ज्यादा तुम कविता नही छापोगे। मत छापो! तुम हमे प्राइमरी स्कूलो मे, जनपद-भवनो मे जाने से नहीं रोक सकते।

तो, मैं यह कहना चाहता था कि कला का संघर्ष, वस्तुतः, तत्त्व का, तत्त्व के एकत्रीकरण का, तत्त्व के परिष्कार का, तत्त्व के विकास का, संघर्ष है। जो लोग यह सोचते हैं कि 'तुम नहीं व्याप सकते, तुम में जो व्यापा है, उसी को निबाहो'... तो हम मनुष्य को बन्द सन्दूक, क्लोज्ड सिस्टम, नहीं मानते। तुम कहते हो, 'दीठ से टोहकर नहीं, मन के उन्मेष से उसे जानो'। किन्तु हमारा खयाल है कि दीठ से टोहना भी आवश्यक है। संक्षेप में, तत्त्व के विकास और परिष्कार के बिना हम अपना स्वयं का जीवन भी परिष्कृत नहीं कर सकते, जान नहीं सकते।

यह बिल्कुल सही है कि मनुष्य का जीवन जितना व्यापक, विविध क्षेत्रीय होगा, तथा जीवन-जगत् की विभिन्न विकासमान प्रक्रियाओं में भाग लेता रहेगा, उतना ही वह समृद्ध होगा। सच तो यह है कि वस्तु के परिष्करण के लिए अनुभव-समृद्धि आवश्यक है। इस अनुभव-समृद्धि के बिना, तत्त्व हल्का रहेगा। साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है। इसीलिए हमें सबसे पहले जीवन की चिन्ता होनी चाहिए। किन्तु मेरी इस भूमिका को लोग नहीं मानते। वे ऐसे मौके पर साहित्यशास्त्रीय ढंग से इस प्रश्न पर विचार करना चाहते हैं। मेरा खयाल है कि साहित्य-चिन्ता और जीवन-चिन्ता में जीवन चिन्ता का स्थान प्रथम और साहित्य-चिन्ता का स्थान द्वितीय है। 'जीवन चिन्ता' में जीवन-जगत् आ गया। जो लेखक तत्त्व के विकास और परिष्कार की चिन्ता नहीं करता, वस्तुतः वह प्रतिक्रिया के हाथों में खेलता है। यही नहीं, वह यह सोचता है कि उसकी अपनी संवेदना, जो अभिव्यक्ति चाहती है, अभिव्यक्ति की आतुरता-मात्र के कारण बहुत सिगनीफिकेंट है, मार्मिक है। उसका औचित्य वह अपनी आतुर उद्विग्नता में खोजता है। निःसन्देह, अभिव्यक्ति-कार्य के औचित्य का यह आत्म-पक्ष है। किन्तु उसका एक वस्तु-पक्ष भी है, और वह यह कि कहाँ तक हमारी व्यंजना व्यापक अभिप्राय रखती हैं, और कहाँ तक वह मानव-जीवन के मार्मिक पक्षों का उद्घाटन और चित्रण करती है। किन्तु लेखक का इस वस्तु-पक्ष की ओर ध्यान नहीं जाता।

इसका एक अनिष्टकारी परिणाम होता है। वह यह कि व्यक्तित्व स्थित्यात्मक और जड़ीभूत हो जाता है। जीवन-जगत के ज्ञानात्मक संवेदनों और संवेदनात्मक ज्ञान के प्रतिपल विकास का कार्य तो पीछे छूट जाता है, और मनुष्य अपने में घिर जाता है। सच पूछा जाये तो आज की कविता की प्रच्छन्न अर्ध प्रच्छन्न आधार-भूमि यही घिराव, फैलाव और तनाव है। अगर तनाव रहे तो कोई बात नहीं। तनाव केवल घिराव से ही उत्पन्न नहीं होता। वह तो सचेत और जागरूक द्वन्द्व संघर्ष से भी उत्पन्न हो सकता है। लेकिन मुश्किल यह है कि यदि व्यक्तित्व में केवल घिराव-ही घिराव रहे—भले ही लेखक इस घिराव को कोई न-कोई अच्छा नाम देकर टरका दे—तो व्यक्तित्व स्थित्यात्मक हो जायेगा। मुझे भय है कि हमारी साहित्यिक टेकड़ी के सिर पर बैठे हुए बहुत-से लेखक विचारकों का व्यक्तित्व जड़ीभूत और स्थित्यात्मक हो गया है। उनकी अभिरुचि भी जड़ीभूत हो गयी है। यहाँ मेरा अभिप्राय उनकी प्रतिभा पर कीचड़ उछालना नहीं है, वरन् यह तथ्य प्रकट करना है कि जीवन-जगत् के मार्मिक पक्षों को आत्मसात करने और उन पक्षों की सारी भीतरी सूक्ष्मताओं तथा विशेषताओं को प्रकट करने की तत्परता न उनमें पहले कभी थी, न आगे रहेगी। उनके भीतर जो वेदना नाम की चीज़ है, वह काफी पुरानी पूँजी है, जिसका वे सिर्फ ब्याज खा रहे हैं। वह बेचारी तो कब

की बुढ़िया हो चुकी। रहा यह कि उनके आस-पास जो प्रतिभाशाली लोग एकत्र हैं, वे शायद कुछ अधिक प्रदान करें, यह सम्भावना हो सकती है। किन्तु इसके लक्षण दिखायी नहीं देते। सम्भव है, वे लक्षण मेरी दृष्टि-ओझल हों।

सच बात तो यह है कि आज के कवि को आत्म चेतस् होकर अपने काव्य तत्त्व के विकास परिष्कार और समृद्धि के लिए संघर्ष करना चाहिए। वास्तविकता [illegible] भाँति [illegible] सच्चे [illegible] स तो दूर, हम तो केवल कुछ ही व्यक्तिगत मनोदशाओं या उनके प्रति प्रतिक्रियाओं की संवेदनात्मक रूपरेखा प्रस्तुत कर छुट्टी पा लेते हैं। जगत् और जीवन के प्रति सचेत और जागरूक होकर, वैविध्यपूर्ण महान् गुणों से युक्त जन-साधारण के जीवन से जो व्यक्ति सचेत है, वही सच्चा आत्म-चेतस् है। प्रश्न 'आत्म-चेतना' की परिभाषा का नहीं है। प्रश्न उस आत्म-चेतना के तत्त्वों का है। प्रश्न शास्त्रीय ढंग से विचार करने का नहीं है। सवाल है कि आप कहाँ तक अपनी वास्तविकता को, अर्थात् जीवन-जगत् की मार्मिक वास्तविकताओं को, आत्मसात् कर, आभ्यन्तरीकृत कर, उन मार्मिक वास्तविकताओं को कला-रूप देते हैं। यह प्रश्न है, यह एक चुनौती भी है।

यह बिलकुल सत्य है कि कला की वस्तु—मात्र विषय नहीं—यह मनस्तत्त्व है। यह भी सच है कि वह मनस्तत्त्व अपने रूप का, अपने रूपावयवों का, संगठन करेगा। किन्तु यदि हम ईमानदार हैं, तो हम स्वयं वैविध्यपूर्ण जीवन-जगत् की मार्मिक वास्तविकताओं को क्यों न आत्मसात् करें, उन्हें अपने मनस्तत्त्व का क्यों न अंग बनायें? कृत्रिम रूप से यह नहीं हो सकता। यदि हममें मानव-आस्था है, तो उस आस्था के लिए बलिदान देकर, उस आस्था से एकात्म होकर, हमें अपने जीवन को, अपने व्यक्तिगत जीवन को, उस दिशा की ओर मोड़ना होगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि पहले जीवन-चिन्ता करनी होगी, साहित्य-चिन्ता उसका अनुगमन करेगी। जीवन के—आपके जीवन के, हमारे जीवन के—मूलभूत उद्देश्य ही साहित्य के उद्देश्य हैं। संक्षेप में, जब तक जीवन-जगत् की मार्मिक वास्तविकताओं का आभ्यन्तरीकरण नहीं होता, उन्हें आत्मसात् नहीं किया जाता, तब तक हमने साहित्य का उद्देश्य भी पूरा नहीं किया, यह समझा जायेगा।

यदि हमारे मनस्तत्त्व, जो कला में प्रकट होने के लिए आतुर हैं वस्तुत [illegible] है। वह [illegible] यानी मार्मिक तभी होगी, जब कि हम व्यापक मानव-जीवन की मार्मिक वास्तविकताओं को ग्रहण करेंगे, और मार्मिक रूप से उनका चित्रण करेंगे। अपने व्यक्तित्व की पूरी शक्ति, हृदय का पूरा ओज, बुद्धि की पूरी विश्लेषण-प्रतिभा, और कल्पना का सम्पूर्ण उद्दीप्त आलोक, एकत्र समन्वित और केन्द्रीभूत होकर जब उस तत्त्व का चित्रण करने लगेगा, तभी वह तत्त्व अपने सम्पूर्ण विस्तार में, सम्पूर्ण तेजस्विता के साथ, प्रकट होगा। यह सीधी-सादी बात कुछ लोग भूल जाया करते हैं। वे तो केवल आत्मोद्घाटन की बात करते हैं। जहाँ तक उनका यह आत्मोद्घाटन सही

है, मार्मिक है, विश्वसनीय है, यह एक अलग ही प्रश्न है।

निश्चय ही, रूप के विकास का प्रश्न तत्त्व के विकास के प्रश्न से जुडा हुआ है। वह सारे जीवन से जुडा हुआ है। हम अपनी बौद्धिक सुविधा की दृष्टि से भले ...एक-दूसरे मे अविच्छिन्न ... जीवन मे समाये हुए हैं। ... तत्त्व की समस्या उठती है।

विभिन्न कवियो के लिए रूप-तत्त्व की समस्या भिन्न भिन्न है। जो समस्या मेरे लिए है, वह शमशेर के लिए नही। काव्य-तत्त्व केवल विषय नही, वह मनस्तत्त्व है। मनस्तत्त्व के स्वरूप की जिन विशेषताओ पर कवि जोर देना चाहता है, उन्ही विशेषताओ के अनुरूप ही वह अपना अभिव्यक्ति-विन्यास गठित करेगा। बहिर्मुख कवियो के लिए रूप की समस्या विशेष नही होती। किन्तु यदि वे जीवन-जगत् की विविध तथा विशिष्ट मार्मिकताओ के उद्घाटन और चित्रण का कार्य हाथ मे लें, तो निस्सन्देह ये नये तत्त्व उनकी अब तक की कमायी भाषा सम्पदा और अभिव्यक्ति-शक्ति को चुनौती दे देंगे।

अन्तर्मुख कवियो के लिए—विशेषकर उन कवियो के लिए जिनके मानसिक तन्तु कमजोर हैं, अतएव भाव विद्युत का अधिक भार सह नही सकते—उनके लिए (मैं दैहिक कारण बता रहा हूँ) रूप सम्बन्धी कार्य अधिक कठिन हो जाता है। कारण यह है कि मानसिक तन्तु सवेदनाकुल होकर या तो सारी-की-सारी सवेदनाएँ कुछ ही पक्तियो मे उँडेल देना चाहते हैं, अथवा वे तन्तु सवेदनाओ ... प्रस्तुत करके

के कारण दुर्बोध अथवा अस्पष्ट हो जायगे। सच तो यह है कि ...

तत्त्व गुम्फो को प्रकट करने के हेतु, *यथार्थ प्रेरित सश्लेषणकारी कल्पना शक्ति* और विश्लेषणकारी बौद्धिक प्रतिभा, इन दोनो के सयोग और सहयोग की नितान्त आवश्यकता होती है। इनमे से यदि कोई भी कमजोर हुई तो बडी गडबड हो जाती है।

महत्त्व की बात है समस्याओ का, विषयो का, चुनाव। प्रत्येक युग मे विशेष विषय और विशेष शैलियाँ ही साहित्य के क्षेत्र म आती हैं। यह सच है। कला के इतिहास को आप देख जाइए। अपने देश के और यूरोप के साहित्येतिहास पर दृष्टि डालिए। युग स्वय 'रेजिमेण्टेशन' करता है—कभी सही ढग से, कभी गलत ... । ऐसी स्थिति मे हम महान् साहित्यिक ... साहित्य युग ... कि वही वर्तमान युग हमे ढलान की ओर तो नहो ले जा रहा है। यदि कोई आवाज उठाये और यदि वह हमे कर्कश प्रतीत हो, तो नि सन्देह हमे कुछ तो आत्म निरीक्षण करना ही होगा। किन्तु उसका अर्थ यह नही है कि हमारी उपलब्धियो का हम अनादर करें। न यह कि हम ऐंठकर बैठ जायें।

तत्त्व और रूप का प्रश्न हमारे सामने उठता ही क्यो है? इसके दो कारण

हैं। एक तो यह है कि [जो] स्पन्दनशील वैविध्यपूर्ण मानव-जीवन अपनी सारी मार्मिकताओं के साथ हमारी व्यक्तिमत्ता से टकराता रहता है, हम उसको काट-कर फेंक देते हैं। क्यों? इसलिए कि उसको अभिव्यक्त करने के लिए जो शैली तथा जो शब्द-सम्पदा होनी चाहिए, उसके विकास की ओर हमने ध्यान नहीं दिया, नहीं देना चाहते। हम तो केवल अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया प्रस्तुत कर चुप रहना चाहते हैं। प्रतिक्रिया की भी हम केवल रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे।

क्यों? इसलिए कि कहीं भद्र वर्ग के ड्राइंग-रूम में कर्कश स्वर न उठे। हमारे हाथ से कोई ऐसी बात न हो जाये, जिससे उस वर्ग की अभिरुचि को धक्का लगे। संक्षेप में, हमने भद्र वर्ग की अभिरुचि को ही सौन्दर्य का मान स्वीकार कर लिया है। इसी प्रकार से निम्न-मध्यवर्ग अपने को उत्पीड़ित जनता की ओर ले जाने के बजाय, भद्र-वर्ग के पास पहुँचना चाहता है और उससे 'सर्टिफिकेट' हासिल करना चाहता है।

सारांश यह है कि अपनी व्यक्तिमत्ता के आस-पास टकरानेवाली (मानव-जीवन की) मार्मिक वास्तविकताओं को प्रकट करने के लिए जिस प्रकार की शैली और शब्द-सम्पदा चाहिए, उसके लिए संघर्ष करना आवश्यक है। यह धीरे-धीरे होगा, अभ्यास से होगा। किन्तु सर्वप्रथम तो उन वास्तविकताओं को आत्मसात् करना पड़ेगा। अगर व्यक्ति स्वातन्त्र्य के नाम पर मन को पाषाणवत जड़ीभूत नहीं करना है, तो हमें जीवन की उन मार्मिक वास्तविकताओं को आत्मसात् करना ही होगा। जागरूकता का यही अर्थ है।

तत्त्व और रूप का प्रश्न इसीलिए हमारे सामने आता है, उसे आना चाहिए। एक चुनौती खड़ी होती है वास्तविक जीवन में से, दूसरी चुनौती खड़ी होती है हमारी अभिव्यक्ति-शैली की सीमाओं और शब्द-सम्पदा की अक्षमताओं में से। (इन सीमाओं के पीछे अभिरुचि की सीमा काम कर रही है)। ये चुनौतियाँ बहुत बड़ी हैं, बहुत विशाल हैं, सम्भव है कई पीढ़ियाँ खप जायें। किन्तु काम तो करना ही होगा।

महत्त्व की दूसरी बात यह है कि हम अपने साहित्य को एक संक्रमण-काल में से गुजरते हुए देख रहे हैं। इस संक्रमण-काल में काव्य साहित्य का विशेष नेतृत्व आवश्यक है। यह नेतृत्व ऊपर से नहीं आयेगा। भीतर से पैदा होगा। इसलिए, आवश्यक है कि विचार-विनिमय को—अर्थात् सद्भावपूर्ण आलोचना को—अधिक स्थान दिया जाये। जो हमसे भिन्न है वह हमारा विरोधी ही हो, यह आवश्यक नहीं है। किन्तु यह आलोचना वृत्ति सबसे पहले जीवन में ही सक्रिय होनी चाहिए। जब तक हम आलोचक की तटस्थ और साथ ही साथ मर्मज्ञ दृष्टि से जीवन-आलोचना नहीं करते, सूक्ष्म भावों को अवास्तव कहकर उड़ा देते हैं, उनको जीवन की शृंखला-बद्ध वास्तविकता के रूप में नहीं देखते, तब तक काम नहीं चलेगा। साथ ही, इन सूक्ष्म भावों को आसमान तक उठाकर, यदि हम अपने सामाजिक-राजनैतिक-दार्शनिक, यहाँ तक कि आध्यात्मिक, लक्ष्यों और आदर्शों से एकाकार नहीं होते, तब तक यह आलोचना भी पंगु है। सच तो यह है कि आलोचना की क्षमता के लिए बड़ी ही आध्यात्मिक गम्भीर प्रेरणा चाहिए। वह नहीं है।

इस वास्तविक आत्मबल के अभाव के फलस्वरूप ही, हमारी कविता में

व्यक्तित्व का पूर्ण प्रभाव, हृदय का गम्भीर आवेश, बुद्धि की विश्लेषण-प्रतिभा और कल्पना के दीप्त आलोक के एकत्रित समन्वित केन्द्रीकरण के दर्शन नहीं होते। इसीलिए केवल मानसिक प्रतिक्रिया की कविता चल पड़ी है। मानसिक प्रतिक्रिया की रूपरेखा प्रस्तुत कर हमारे भाईबन्द छुट्टी पा लेते हैं। सच तो यह है कि ये लोग क्लर्क हैं, अहलकार हैं—पूँजीवादी सभ्यता के कारकुन। साधारणतः क्लर्कों में जो टुटपुँजिया उद्वेग होता है और मनोबल का अभाव दिखायी देता है, लगभग वही उनमें भी प्रकट होता है। क्लर्क लोग क्षमा करेंगे, मेरी बात गलत भी हो सकती है। सारे क्लर्क ऐसे होते भी नहीं। न सारी 'नयी कविता' भी ऐसी है।

इस आत्मबल के अभाव के फलस्वरूप ही, यदि, एक ओर, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बात कही जाती है, तो दूसरी ओर, व्यक्तित्व के पूर्णोद्भास को ढाँका जाता है। काव्यात्मक अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में सेंसर्स काम करने लगते हैं. व्यक्तित्व अपनी सम्पूर्ण तेजस्विता और दुर्दम आकांक्षा के साथ खुलकर सामने नहीं आता। यदि वह खुलकर सामने आने लगे, तो सौन्दर्याभिरुचि बीच में टाँग अड़ा देती है। मतलब यह कि मानसिक सेंसर्स काम करने लगते हैं। तभी मुझे लगता है कि आत्मविश्वास और मनोबल की बहुत बड़ी हानि हुई है, जिसको ढाँकने और दबाने के लिए मानसिक प्रतिक्रिया की रूपरेखा-मात्र प्रस्तुत की जाती है। इस हानि की परम्परा कायम करने की कोशिशें भी होती हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि नयी कविता में ओज और व्यक्तित्व की तेजस्विता का बिलकुल प्रकाश नहीं है। यदि वैसा होता तो वह चल नहीं पड़ती। किन्तु यह बिलकुल सही है कि बौद्धिक प्रतिक्रिया के नाम पर व्यक्तित्व की सम्पूर्ण तेजस्विता के अनुरोध की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। सच तो यह है कि नयी कविता ने बहुत-कुछ पाया है। व्यक्तिगत क्षेत्र में मर्मज्ञता और सूक्ष्म भावावलोकन उसने खूब ही किया है। मनोवैज्ञानिक यथार्थ को उसने उभारा है। सूक्ष्म को मूर्त किया है। उसमें बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ हैं। यह काव्य-प्रवृत्ति अभी भी नयी है। उसका विकास अभी होने को है। इसी बात को दृष्टि में रखकर यहाँ विचार प्रस्तुत किये गये हैं। चूँकि मैं 'नयी कविता' से एक होकर यह बात लिख रहा हूँ, इसीलिए मेरा स्वर आलोचनात्मक हो उठा है। कई जगह वह शायद अनुचित भी हो।

मुख्य बातें दो हैं (1) जीवन-जगत् की अभिव्यक्ति के लिए आध्यात्मिक सामर्थ्य उत्पन्न करना आवश्यक है। इस जीवन जगत् की चुनौती बहुत बड़ी है। जीवन जगत् की अभिव्यक्ति के लिए सबसे पहले चेतना का विकास चाहिए, ऐतिहासिक प्रवाहों के आकलन के लिए दृष्टिकोण चाहिए, विश्व-दृष्टि चाहिए, आधुनिक मानव जीवन के प्रति गहरी मर्मज्ञ दृष्टि चाहिए। (2) अभिव्यक्ति-शैली और शब्द-सम्पदा का निरन्तर विकास आवश्यक है, विभिन्न जीवन-स्थितियों, मनोदशाओं, मानव-चरित्रों तथा वातावरणों को प्रकट करने का काम टाला नहीं जा सकता।

जैसा कि मैंने अभी बताया, हमारी काव्याभिव्यक्ति में सेंसर्स बहुत काम करते हैं। इन सेंसर्स का उद्गम हमारी उस स्थिति में है जहाँ अनुभूत सत्ता तथा अनुभविता व्यक्तित्व के पूरे गुणों को प्रकट करने में हम अभिरुचि-दोष समझने लगते हैं। इस प्रकार के सेंसर्स के सक्रिय होने का अर्थ ही यही है कि हम जड़ीभूत

प्रकट ही नहीं हो सका, वह जीवन-जगत् कितना वैविध्यपूर्ण, विस्तृत, मनोरम, और महान् है !

हमारे साहित्य-जगत् के आज के नेता विस्तृत, वैविध्यपूर्ण, परस्पर-द्वन्द्वमय तथा महानता के सारे गुणों से युक्त इस जीवन-जगत् को क्यों नहीं देखते और क्यों वे उन्हें किन्हीं विशेष विषयों और शैलियों के [यहाँ पाण्डुलिपि में कुछ पृष्ठ अप्राप्त हैं।—सं०] बाह्य-जगत् के द्वन्द्वों का ही, किसी उच्च मनोवैज्ञानिक स्तर पर, आविर्भूत रूप है।

काव्य का वस्तु-तत्त्व कवि की अन्तर्तत्त्व व्यवस्था का ही एक उद्दीप्त रूप है। यह अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था क्या है ? हम बाल्यकाल से ही बाह्य जीवन जगत् का, बाह्य तथ्यों, व्यवहार प्रकारों, मूल्यों, भाव तथा ज्ञान की परम्पराओं, आदि-आदि का, अपनी आयु के अनुसार आभ्यन्तरीकरण करते जाते हैं। अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था बाह्य जीवन-जगत् का, अपनी वृत्तियों के अनुसार, आत्मसात्कृत रूप है। किन्तु, यह आत्मसात्कृत जीवन जगत बाह्य जीवन जगत् की प्रकृति नहीं है। हमारा मन ज्ञानात्मक संवेदनों और संवेदनात्मक ज्ञान द्वारा केवल बाह्य जीवन-जगत् को ग्रहण करता है, वरन् वह उन गृहीत तत्त्वों का, अपने अनुसार, संशोधन सम्पादन और संस्करण करता है। यह मन की क्रिया है। इस प्रकार आत्मसात्कृत जीवन-जगत् एक मनोवैज्ञानिक सत्ता है जिसकी स्थिति, गति और विकास के मनोवैज्ञानिक नियम होते हैं। इसके विपरीत, बाह्य जीवन-जगत् एक सामाजिक-भौतिक सत्ता है। उसकी स्थिति गति और विकास के अपने अलग नियम हैं।

मन, निःसन्देह, बाल्यकाल से ही, जीवनारम्भ से ही, बाह्य जगत् के सम्पर्क में, उसके साथ सामंजस्य और द्वन्द्व में, आता है। इस सामंजस्य और द्वन्द्व से ही उस मन की वृत्तियों का विस्तार विकास होता है। मन की क्रिया, अपने ऊर्जा-रूप में, स्वतन्त्र है। किन्तु, मन की वृत्तियाँ और इच्छाएँ बाह्य से विस्तृत और सीमित विकसित अथवा दमित होती हैं। उन्हें अपने विकास के नये नये क्षेत्र मिलते हैं अथवा वे संक्षिप्त हो जाती हैं। बाल्यकाल बहुत नाजुक समय होता है। संक्षेप में, बाह्य जीवन-जगत का अन्त:संगठन करनेवाली मन की वृत्तियाँ निरपेक्ष रूप में स्वतन्त्र नहीं हैं। ऊर्जा रूप में वे स्वतन्त्र हैं। *बोध पर आधारित सामान्यी-कृत* (जेनेरेलाइज्ड) ज्ञान प्राप्त करने की बौद्धिक वृत्ति भी बाह्य से प्रभावित होकर संक्षिप्त, विक्षिप्त या विकसित होती है।

संक्षेप में, मन पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है। वह केवल ऊर्जा-रूप में स्वतन्त्र है। प्रतिभा तत्त्व तो प्रकृति-दत्त होने से स्वतन्त्र हैं ही नहीं। उनका नियन्त्रण प्रकृति द्वारा होता है। मन की प्रतिक्रिया के तत्त्व वे तत्त्व हैं जो मन ने बाह्य से कभी न-कभी प्राप्त कर संशोधित सम्पादित और संस्कारित किए हैं। मन जिन तत्त्वों पर प्रतिक्रिया करता है, वे तत्त्व तो आत्मसात्कृत जीवन जगत् के भाग हैं ही।

संक्षेप में, अन्तर्जगत् के तत्त्व मनोवैज्ञानिक तत्त्व हैं। तत्त्व आभ्यन्तर जगत् का भाग होते हुए भी बाह्य जीवन-जगत् के ही बिम्ब-रूप में या भाव रूप में स्थित हैं। मन केवल ऊर्जा रूप में स्वतन्त्र है। भोजन, प्रजनन, आत्मरक्षादि वृत्तियों से संचालित होते हुए भी, वह मानसिक ऊर्जा, बाह्य जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण करते हुए, उस बाह्य जीवन-जगत् से सामंजस्य और द्वन्द्व की क्रिया में लगी रहती है, और इस प्रकार वह अपनी वृत्तियों को केवल मूर्त ही नहीं करती वरन् उन

वृत्तियों को भी नये-नये उच्च-स्तरीय रूप या निम्न स्तरीय रूप देती है।

अपने-आपको प्रकट करने की इच्छा आत्म-प्रस्थापना की वासना है। इस आत्म-प्रस्थापना का भावोद्देश्य बाह्य जीवन जगत् के साथ स्वयं को एक विशेष सामंजस्य में उपस्थित करना, या एक विशेष द्वन्द्व में अथवा दोनों के परस्पर मिश्रित रूप में प्रस्तुत करना है। जिस प्रकार हम संवेदनात्मक ज्ञान तथा ज्ञानात्मक संवेदन द्वारा बचपन से ही बाह्य जीवन-जगत् को आत्मसात् कर उसे मनोवैज्ञानिक रूप देते आये हैं, उसी तरह हम इस आत्मसात्कृत, अर्थात् मन द्वारा संसाधित-सम्पादित-सस्कारित-गठित-पुनर्गठित, जीवन-जगत् को बाह्य रूप भी देते हैं। बातचीत, बहस, भाषण, लेख, वक्तव्य, कला, आदि द्वारा हम इस आभ्यन्तर आत्मसात्कृत जीवन-जगत् का बाह्यीकरण करते आये हैं। बाह्य जीवन जगत् का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तरीकृत का बाह्यीकरण एक सनातन मानव-प्रक्रिया है। कला आत्म जगत् के बाह्यीकरण का ही एक मार्ग है—एक विशेष रूप है। हम बाह्य जगत् से आभ्यन्तर जगत् में और आभ्यन्तर जगत् से बाह्य जगत् में मिलना चाहते हैं। इसीलिए हम कविता लिखते हैं।

हम केवल बाह्य जीवन-जगत् को आत्मसात् ही नहीं करते, वरन् उस बाह्य जीवन जगत् में हम फैलते भी हैं। हम उसमें अपना विस्तार करते हैं, उस पर, एक विशेष अर्थ में, अधिकार करते हैं, और अपने अनुसार हम उसमें संशोधन-परिवर्तन करना चाहते हैं, करते हैं, करने में सफल-असफल भी होते हैं। मनुष्य की ज्ञान-प्रक्रिया कर्म-प्रक्रिया से अपने तत्त्व प्राप्त करती है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की इच्छा शक्ति उसे बाह्य जीवन-जगत् में फैलने और उस क्षेत्र में कर्म करने, कार्य-संगठन करने और कार्य-विस्तार करने के लिए बाध्य करती है। उसके बिना व्यक्ति-जीवन भी असम्भव है। इस कर्म-संगठन से, कार्य-विस्तार से, यत्नों द्वारा हमें नया नया संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन प्राप्त होता है, जिसके फलस्वरूप हम जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण करते जाते हैं, अपने आभ्यन्तर जगत् को सम्पन्न और विकसित करते जाते हैं। संक्षेप में, ज्ञान कर्म की उपज है। कर्म के पीछे इच्छा वृत्ति है, जो हमें बाह्य की ओर ले जाती है। बाह्य क्षेत्र में कर्म करके हम बोध और ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीलिए ज्ञान-संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान का विकास होता जाता है। पुस्तकों द्वारा प्राप्त ज्ञान किसी न-किसी के कर्म से उत्पन्न ज्ञान है, जो हमें उपलब्ध होता है।

किन्तु, जब हम कर्म-तत्पर होते हैं, तब हम नि सग रॉबिन्सन क्रूसो की भांति अकेले नहीं होते, वरन् वह समाज द्वारा निर्धारित क्षेत्रों में, स्वयं द्वारा अंगीकृत क्षेत्रों में, होता है। अतएव हमारे व्यवसाय का, हमारे अंगीकृत बाह्य जीवन क्षेत्र का, हम पर बहुत गहरा प्रभाव होता है। न केवल हम उस क्षेत्र में जीवन ज्ञान प्राप्त करते हैं, वरन वह जीवन-क्षेत्र हमारी वृत्तियों को, इच्छाओं को, नया रूप देता है। वास्तविक जीवन का वास्तविक ज्ञान हमें कर्म से ही प्राप्त होता है। साथ ही, उस प्राप्त ज्ञान द्वारा हम कर्म को सम्पन्न और सशक्त बनाकर बाह्य क्षेत्र को प्रभावित करते हैं। मनुष्य के वास्तविक व्यक्तित्व और चरित्र की कल्पना बाह्य जीवन-क्षेत्र में कर्म संगठन के प्राप्त दृश्यों के बिना की ही नहीं जा सकती। प्रकृति की यह विशेषता है कि उसने इच्छा-वृत्ति देकर हमें बाह्य की ओर प्रेरित किया। यह इच्छा-वृत्ति ही हमें कार्य संगठन में लीन करती है।

प्रकट ही नहीं हो सका, वह जीवन-जगत् कितना वैविध्यपूर्ण, विस्तृत, मनोरम, और महान् है।

हमारे साहित्य-जगत् के आज के नेता विस्तृत, वैविध्यपूर्ण, परस्पर-द्वन्द्वमय तथा महानता के सारे गुणों से युक्त इस जीवन-जगत् को क्या नहीं देखते और क्यों वे उन्हें किन्हीं विशेष विषयों और शैलियों के ' [यहाँ पाण्डुलिपि में कुछ पृष्ठ अप्राप्त हैं। —स०] ' बाह्य-जगत् के द्वन्द्वों का ही, किसी उच्च मनोवैज्ञानिक स्तर पर, आविर्भूत रूप है।

काव्य का वस्तु-तत्त्व कवि की अन्तर्तत्त्व व्यवस्था का ही एक उद्दीप्त रूप है। यह अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था क्या है? हम बाल्यकाल से ही बाह्य जीवन-जगत् का, बाह्य तथ्यों, व्यवहार प्रकारों, मूल्यों, भाव तथा ज्ञान की परम्पराओं, आदि-आदि का, अपनी आयु के अनुसार आभ्यन्तरीकरण करते जाते हैं। अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था बाह्य जीवन-जगत् का, अपनी वृत्तियों के अनुसार, आत्मसात्कृत रूप है। किन्तु, यह आत्मसात्कृत जीवन जगत बाह्य जीवन जगत् की प्रकृति नहीं है। हमारा मन ज्ञानात्मक संवेदनों और संवेदनात्मक ज्ञान द्वारा केवल बाह्य जीवन-जगत् को ग्रहण करता है, वरन् वह उन गृहीत तत्त्वों का, अपने अनुसार, संशोधन सम्पादन और संस्करण करता है। यह मन की क्रिया है। इस प्रकार आत्मसात्कृत जीवन-जगत् एक मनोवैज्ञानिक सत्ता है जिसकी स्थिति, गति और विकास के मनोवैज्ञानिक नियम होते हैं। इसके विपरीत, बाह्य जीवन-जगत् एक सामाजिक-भौतिक सत्ता है। उसकी स्थिति गति और विकास के अपने अलग नियम हैं।

मन, निःसन्देह, बाल्यकाल से ही, जीवनारम्भ से ही, बाह्य जगत् के सम्पर्क में, उसके साथ सामंजस्य और द्वन्द्व में, आता है। इस सामंजस्य और द्वन्द्व से ही उस मन की वृत्तियों का विस्तार-विकास होता है। मन की क्रिया, अपने ऊर्जा रूप में, स्वतन्त्र है। किन्तु, मन की वृत्तियाँ और इच्छाएँ बाह्य से विस्तृत और सीमित विकसित अथवा दमित होती हैं। उन्हें अपने विकास के नये नये क्षेत्र मिलते हैं अथवा वे संक्षिप्त हो जाती हैं। बाल्यकाल बहुत नाजुक समय होता है। संक्षेप में, बाह्य जीवन-जगत् का अन्तःसंगठन करनेवाली मन की वृत्तियाँ निरपेक्ष रूप में स्वतन्त्र नहीं हैं। ऊर्जा रूप में वे स्वतन्त्र हैं। बोध पर आधारित सामान्यीकृत (जेनेरेलाइज्ड) ज्ञान प्राप्त करने की बौद्धिक वृत्ति भी बाह्य से प्रभावित होकर संक्षिप्त, विक्षिप्त या विकसित होती है।

संक्षेप में, मन पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है। वह केवल ऊर्जा-रूप में स्वतन्त्र है। प्रातिभ तत्त्व तो प्रकृति दत्त होने से स्वतन्त्र हैं ही नहीं। उनका नियन्त्रण प्रकृति द्वारा होता है। मन की प्रतिक्रिया के तत्त्व वे तत्त्व हैं जो मन ने बाह्य से कभी न-कभी प्राप्त कर संशोधित सम्पादित और संस्कारित किये हैं। मन जिन तत्त्वों पर प्रतिक्रिया करता है, वे तत्त्व तो आत्मसात्कृत जीवन-जगत् के भाग हैं ही।

संक्षेप में, अन्तर्जगत् के तत्त्व मनोवैज्ञानिक तत्त्व हैं। तत्त्व आभ्यन्तर जगत् का भाग होते हुए भी बाह्य जीवन जगत् के ही बिम्ब-रूप में या भाव रूप में स्थित हैं। मन केवल ऊर्जा रूप में स्वतन्त्र है। भोजन, प्रजनन, आत्मरक्षादि वृत्तियों से संचालित होते हुए भी, वह मानसिक ऊर्जा, बाह्य जीवन जगत् का आभ्यन्तरीकरण करते हुए, उस बाह्य जीवन-जगत् से सामंजस्य और द्वन्द्व की क्रिया में लगी रहती है, और इस प्रकार वह अपनी वृत्तियों को केवल मूर्त ही नहीं करती वरन् उन

वृत्तियों को भी नये-नये उच्च-स्तरीय रूप या निम्न स्तरीय रूप देती है।

अपने-आपको प्रकट करने की इच्छा आत्म-प्रस्थापना की वासना है। इस आत्म-प्रस्थापना का भावोद्देश्य बाह्य जीवन-जगत् के साथ स्वयं को एक विशेष सामंजस्य में उपस्थित करना, या एक विशेष द्वन्द्व में अथवा दोनों के परस्पर मिश्रित रूप में प्रस्तुत करना है। जिस प्रकार हम संवेदनात्मक ज्ञान तथा ज्ञानात्मक संवेदन द्वारा बचपन से ही बाह्य जीवन-जगत् को आत्मसात् कर उसे मनोवैज्ञानिक रूप देते आये हैं, उसी तरह हम इस आत्मसात्कृत, अर्थात् मन द्वारा संशोधित-सम्पादित-संस्कारित-गठित-पुनर्गठित, जीवन-जगत् को बाह्य रूप भी देते हैं। बातचीत, बहस, भाषण, लेख, वक्तव्य, कला, आदि द्वारा हम इस आभ्यन्तर आत्मसात्कृत जीवन-जगत् का बाह्यीकरण करते आये हैं। बाह्य जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तरीकृत का बाह्यीकरण एक सनातन मानव-प्रक्रिया है। कला आत्म जगत् के बाह्यीकरण का ही एक मार्ग है—एक विशेष रूप है। हम बाह्य जगत् से आभ्यन्तर जगत् में और आभ्यन्तर जगत् से बाह्य जगत् में मिलना चाहते हैं। इसीलिए हम कविता लिखते हैं।

हम केवल बाह्य जीवन-जगत् को आत्मसात् ही नहीं करते, वरन् उस बाह्य जीवन-जगत् में हम फैलते भी हैं। हम उसमें अपना विस्तार करते हैं, उस पर, एक विशेष अर्थ में, अधिकार करते हैं, और अपने अनुसार हम उसमें संशोधन-परिवर्तन करना चाहते हैं, करते हैं, करने में सफल-असफल भी होते हैं। मनुष्य की ज्ञान-प्रक्रिया कर्म-प्रक्रिया से अपने तत्त्व प्राप्त करती है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की इच्छा शक्ति उसे बाह्य जीवन-जगत् में फैलने और उस क्षेत्र में कर्म करने, कार्य-संगठन करने और कार्य-विस्तार करने के लिए बाध्य करती है। उसके बिना व्यक्ति-जीवन भी असम्भव है। इस कर्म-संगठन से, कार्य-विस्तार से, यत्नों द्वारा हमें नया-नया संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन प्राप्त होता है, जिसके फलस्वरूप हम जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण करते जाते हैं, अपने आभ्यन्तर जगत् को सम्पन्न और विकसित करते जाते हैं। संक्षेप में, ज्ञान कर्म की उपज है। कर्म के पीछे इच्छा वृत्ति है, जो हमें बाह्य की ओर ले जाती है। बाह्य क्षेत्र में कर्म करके हम बोध और ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीलिए ज्ञान-संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान का विकास होता जाता है। पुस्तकों द्वारा प्राप्त ज्ञान किसी-न-किसी के कर्म से उत्पन्न ज्ञान है, जो हमें उपलब्ध होता है।

किन्तु, जब हम कर्म-तत्पर होते हैं, तब हम निःसंग रॉबिन्सन क्रूसो की भाँति अकेले नहीं होते, वरन् वह समाज द्वारा निर्धारित क्षेत्रों में, स्वयं द्वारा अंगीकृत क्षेत्रों में, होता है। अतएव हमारे व्यवसाय का, हमारे अंगीकृत बाह्य जीवन-क्षेत्र का, हम पर बहुत गहरा प्रभाव होता है। न केवल हम उस क्षेत्र में जीवन-ज्ञान प्राप्त करते हैं, वरन् वह जीवन-क्षेत्र हमारी वृत्तियों को, इच्छाओं को, नया रूप देता है। वास्तविक जीवन का वास्तविक ज्ञान हमें कर्म से ही प्राप्त होता है। साथ ही, उस प्राप्त ज्ञान द्वारा हम कर्म को सम्पन्न और सशक्त बनाकर बाह्य क्षेत्र को प्रभावित करते हैं। मनुष्य के वास्तविक व्यक्तित्व और चरित्र की कल्पना बाह्य जीवन-क्षेत्र में कर्म-संगठन के प्राप्त दृश्यों के बिना की ही नहीं जा सकती। प्रकृति की यह विशेषता है कि उसने इच्छा-वृत्ति देकर हमें बाह्य की ओर प्रेरित किया। यह इच्छा-वृत्ति ही हमें कार्य-संगठन में लीन करती है।

संक्षेप में, आत्म-जीवन के बाह्यीकरण की एक प्रेरणा इच्छा वृत्ति है। वह भी हमें बाह्य जगत् से सामंजस्य या द्वन्द्व में स्थापित करती है। ज्ञान या तो कर्म-सम्भूत जीवन्त ज्ञान है, अथवा वह ज्ञान-परम्परा और भाव परम्परा, जो बाह्य सामाजिक सांस्कृतिक जीवन-जगत् का ही एक अंग है, से हमें प्राप्त होता है। कार्य और इच्छा से अलग होकर ज्ञान या भाव मिट जाता है।

संक्षेप में, मन आरम्भ काल से ही, जीवन-जगत् की प्रतिक्रिया करते हुए अपना भावात्मक और ज्ञानात्मक विकास करता है। उसके भीतर के ज्ञानात्मक संवेदन या संवेदनात्मक ज्ञान बाह्य जीवन जगत् के ही भाव-रूप या बिम्ब रूप मनोवैज्ञानिक तत्त्व होते हैं। इच्छा वृत्ति द्वारा [प्रेरित] होकर मनुष्य बाह्य जगत् में फैलता है, कर्म-संगठन करता है मानव-सम्बन्धों को आत्मसात् करता है बाह्य जगत् में फैलने से ही, अर्थात् वास्तविक कर्म से ही, मनुष्य का ज्ञान विकसित होता है, व्यक्तित्व-चरित्र बनता और प्रकाशमान होता है। मनुष्य का अन्तर्जगत् समाज, वर्ग और परिवार के भीतर पायी जानेवाली मानव-स्थितियों तथा मानव-सम्बन्धों का संवेदनात्मक ज्ञान तो होता ही है, वह मानव-प्रयत्नों द्वारा अर्जित ज्ञान भी होता है। इस ज्ञान-सम्पदा में परम्परागत ज्ञान-सम्पदा या भाव-समृद्धि अथवा मिथ्या ज्ञान भी शामिल है। मन के तत्त्व, मूलतः बाह्य जीवन-जगत् के दिये हुए तत्त्व हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या या समाजशास्त्रीय व्याख्या को एक-दूसरे से अलग करना सुविधाजनक भले ही हो, इन दोनों व्याख्या-प्रकारों की दृढ़ सीमाएँ जान लेना अत्यन्त आवश्यक है।

काव्य का मनस्तत्त्व भीतर की अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था [का] ही एक भाग है, जो बाहर के धक्के से तरंगायित, उद्घाटित और आलोड़ित होकर काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए छटपटा उठता है। कविता या तो बाह्य में सामंजस्य उपस्थित करती है, या द्वन्द्व अथवा इन दोनों का सम्मिश्र उलझा रूप। नयी काव्य-प्रवृत्तियों में बाह्य से द्वन्द्व के फलस्वरूप उत्पन्न तनाव का ही वातावरण अधिक है।

नयी कविता में केवल तनाव ही नहीं, वरन् घिराव भी है। नयी कविता ऐसे मध्यवर्ग की कविता है, जिसने पुरानी श्रद्धाएँ तो छोड़ दी है, किन्तु नयी श्रद्धाएँ विकसित नहीं कीं। भले ही वे मानवीय आस्था की बात करें, सच तो यह है कि उनकी मानवीय आस्था न केवल बहुत वायवीय है, वरन् उनकी प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो उन्हें उन मानव-सम्बन्धों की ओर ले जाती है, कि जो मानव-सम्बन्ध पूँजीवादी वर्ग के होते हैं। फलतः उनके काव्य में तनाव का जो वातावरण है, वह वातावरण किसी विद्रोह का सूचक नहीं है। साथ ही अब तनाव का यह वातावरण कुछ कवियों में प्रणय प्रेम के ढाँचों में बदल रहा है। यह तनाव कुछ कवियों में, कम होता जा रहा है। ऐसे कुछ कवि उस खाते-पीते फरमती वर्ग के जीवन है, कि जो वर्ग उच्च मध्यवर्ग के रूप में, पिछले दस बारह वर्षों में निम्न-मध्यवर्ग से पृथक् होकर, सर्वोच्च वर्ग के बैठकघरों में जाकर, सर्वोच्च वर्ग की सामाजिक-राजनैतिक सांस्कृतिक नीतियों में खास हिस्सा ले रहा है। यह उच्च-मध्यवर्गीय कवि-श्रेणी, अपनी वर्ग विशिष्ट विचारधारा के अनुसार, इस बात के विशिष्ट यत्न करती है कि साहित्यिक सांस्कृतिक जगत् का नेतृत्व उसके हाथ में रहे; अर्थात्, उसकी (अ) अभिरुचि ही सौन्दर्य का प्रतिमान हो, (ब) उसकी विशिष्ट साहित्यिक विचारधाराएँ, जिनमें व्याख्याएँ और मूल्यांकन भी शामिल हैं,

साहित्यिक प्रश्नों के उत्तर का शासन करें, (स) वे ही कवि श्रेष्ठ हों, (द) उन्हीं को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिले कि जो उनकी अपनी विचारधारा अथवा उनकी अपनी सौन्दर्य-दृष्टि के अनुकूल अथवा समीप हों।

निम्न मध्यवर्गीय कवि के अन्तःकरण में मानव-सम्बन्धों और मानव-स्थितियों की जो प्रतिच्छायाएँ हैं, वे, एक ओर, उन्हें मानवता की वह परिभाषा करने के लिए उद्यत और तत्पर करती हैं कि जिस मानवता में आर्थिक उत्पीड़न नहीं है, शोषण नहीं है, सामाजिक विषमता नहीं है। यह परिभाषा उन्हें उत्पीड़कों और शोषकों के विरुद्ध संघर्ष के लिए तैयार करने लगती है।

फलतः, उनकी कर्कश, कठोर, सूखी, भावनाओं से उत्पन्न जो सौन्दर्य है, वह भद्र-वर्गीय कविजनों की सौन्दर्याभिरुचि के विरुद्ध जाता है। इसलिए, उच्च-मध्यवर्ग के कवि को चण्ड विद्रोहात्मक कर्कश स्वर अभद्र [लगता है।] यह वर्ग निम्न-मध्यवर्ग के असन्तोष के स्वर को तो सह लेता है, किन्तु विद्रोह के कर्कश स्वर उसे अच्छे नहीं लगते। अतएव, निम्न-मध्यवर्ग की व्यापक सत्ता को जान-अनजाने विद्रोह के मार्ग से हटाने के लिए तरह-तरह के साहित्यिक और साहित्येतर प्रयोग किये जाते हैं। वे विविध हैं। उदाहरणार्थ, झूठा प्रोत्साहन देना, लोभ देना, सम्पूर्ण उपेक्षा करना, प्रकाशन की सुविधाएँ काट देना, घोषित रूप से श्रेष्ठ बना देना, निकृष्ट करार देना, आदि-आदि। यह सब इसलिए है कि निम्न-मध्यवर्ग में जितनी भी थोड़ी बहुत क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ हैं, उन्हें या तो नष्ट कर दिया जाय अथवा निर्बल बनाया जाय।

निम्न-मध्यवर्ग अपनी अवसरवादिता के कारण भले ही विचार-भावों की नोक भोथर कर ले, उसके हृदय में व्याप्त जो मानव स्थितियाँ, मानव सम्बन्ध और मानव-मूल्य हैं, वे उसके हृदय में उस तनाव की सृष्टि करते हैं, कि जो तनाव बाह्य जीवन-जगत में उसकी और उसके वर्ग की स्थिति के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। नयी कविता में यह तनाव प्रगाढ़ रूप से पाया जाता है। साथ ही, इस वर्ग की कृतियों में यत्र-तत्र, स्पष्टतः अथवा सांकेतिक रूप में उपस्थित, प्रगतिशील तत्त्व भी मिलते हैं। मैं अपना यह लेख इन निम्न-मध्यवर्गीय साहित्यिक बन्धुओं के चरणों में ही अर्पित कर रहा हूँ, और यदि मेरी लेखनी में कटु-तिक्त बात निकले तो उसे यह जान-कर वे अवश्य क्षमा कर देंगे कि वह बात पूर्ण सद्भावना के साथ प्रकट की गयी है।

पहली बात तो यह है कि आधुनिक साहित्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम सामन्ती संस्कारच्छन्न उच्च-मध्यवर्ग ही सक्रिय हुआ—चाहे वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हों, अथवा बिगड़े रईस जगदाकर प्रसाद हों, अथवा आधुनिक परिष्कार-युक्त विलायती शिक्षा-प्राप्त अथवा उससे प्रभावित अन्य कविजन हों। किन्तु धीरे-धीरे निम्न मध्यवर्ग भी इस क्षेत्र में सक्रिय हुआ। आधुनिक शिक्षा-प्राप्त होकर आज यह वर्ग जिलों और परगनों तक के केन्द्रों में विस्तृत, और साहित्यिक क्षेत्र में सक्रिय, हो उठा है। वह परगनों के केन्द्रों से लेकर तो कलकत्ता, बम्बई, इलाहाबाद, बनारस, दिल्ली, नागपुर, आदि बड़े बड़े शहरों के गली-कूचों में जी रहा है। आधुनिक जीवन-जगत् का बोध उसके पास है। किन्तु, उच्च-मध्यवर्ग की जगमगा-हट उसकी आँखों में रहती है। सब तो उस उच्च-मध्यवर्ग की श्रेणी में बैठ नहीं सकते। वैसी सुविधा सबको नहीं मिल सकती। इसीलिए उनमें यह होड़ मची रहती है कि कौन अपने लिए 'सिक्योर' (सुरक्षित) उच्च स्थान प्राप्त कर लेगा।

"ऐसे लोग अपने वर्ग को (जिसमे वे उत्पन्न हुए हैं) लात मारने मे अव्वल दर्जे के साबित हुए हैं। निम्न-मध्यवर्ग की स्पृहा उच्च-मध्यवर्ग मे जाकर बैठने की है। किन्तु वास्तविकता उसे पीछे ढकेलती है और निचले वर्ग के साथ होने के लिए, आर्थिक दृष्टि से भी, बाध्य करती है। संक्षेप मे, उसमे उच्च मध्यवर्गीय मनोरम स्वप्न-भ्रम है, तो, दूसरी ओर समाज की क्रान्तिकारी शक्तियो की ओर जाने की प्रवृत्ति भी है। हाँ, मैं यहाँ व्यक्तियो की बात नही कर रहा हूँ। फलत उसके भीतर न केवल द्वन्द्व है, अपनी मूलभूत इच्छापूर्ति के अभाव के फलस्वरूप उसमे तनाव भी है। चूँकि वह मौजूदा स्थिति मे अपने पूर्ण विकास का मार्ग नही खोज पाता, इसलिए उसमे एक ऐकान्तिक घिराव भी है।

इसके विपरीत, उच्च-मध्यवर्ग के कवियो का व्यक्तित्व अब स्थित्यात्मक हो गया है उनकी अभिरुचि जड़ीभूत हो गयी है, उनकी दृष्टि अब पैनी नही रही। वे एक क्लोज्ड सिस्टम शीशे का एक नुमाइशी बन्द सन्दूक, बन गये हैं, जिसके भीतर कुछ अच्छी-अच्छी चमकदार चीजें रखी हैं। उनके पास जो देने के लिए है, वह उन्हे अब ज्यादा नहीं उठा सकता।

इसके विपरीत, निम्न मध्यवर्ग के कवियो मे तनाव और घिराव के बावजूद, अभी विकास की प्रक्रिया जारी है। अभी उन्हे जिन्दगी के कई मैदान सर करने हैं। उन्हे हारना है, जीतना है पार करना है।

यह सामाजिक-वास्तविक पार्श्वभूमि है। इसको और भी विस्तृत रूप मे बताया जा सकता है। इस पार्श्वभूमि के सन्दर्भ को ध्यान मे रख नवीन काव्य-प्रवृत्ति के तत्त्व और रूप से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार किया जा सकेगा।

मुख्य बात यह है कि नयी कविता एक मानसिक संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है जो जीवन परिवेश मे उपस्थित बातो के प्रति की गयी है। वह तीव्र मानसिक प्रतिक्रिया के रूप मे उपस्थित होने ही से उसकी लय गद्यात्मक है। वह, मुख्यत., पद्याभास गद्य है। उसका सौन्दर्य, उसकी गहराई और प्रभाव, न केवल उसकी तीव्रता मे है, वरन् उसके व्यापक मार्मिक अभिप्राय मे है, बशर्ते कि ऐसा व्यापक मानसिक अभिप्राय हो। कहने का तात्पर्य यह है कि जो प्रतिक्रिया व्यापक मार्मिक अभिप्राय रखती है—ऐसा अभिप्राय, जो हमारे जीवन तथ्यो या सत्यो को उद्-घाटित करता है—तो उस स्थिति मे वह प्रतिक्रिया—विशेष सूचक शक्ति और महत्त्व रखती है। अर्थात् वह सिग्नीफिकेण्ट है, उसमे निर्देश-महत्त्व है। किन्तु, बहुत-सी ऐसी हल्की-फुलकी प्रतिक्रियाएँ होती हैं, जिनकी तथ्यात्मकता विशेष मार्मिक और महत्त्वपूर्ण नही होती। फिर भी, नयी कविता के क्षेत्र के महारथियो ने ऐसी महत्त्वहीन कविताएँ महत्त्वपूर्ण ढग से और बहुत सभ्य प्रभाव के साथ प्रकाशित करवायी हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये प्रतिक्रियाएँ मार्मिक व्यापक महत्त्व रखें जो, एक ओर, हमारे हृदय को स्पर्श करें, तो, दूसरी ओर उस हृदय-स्पर्श के माध्यम से कोई विशेष ज्ञान पहुँचायें।

सच तो यह है कि नयी कविता के क्षेत्र मे प्रवृत्ति की एकता नही है। इस क्षेत्र मे एक विशेष शैली को लेकर भिन्न भिन्न भाव धाराएँ और उनके अनुषग से विचार-धाराएँ बह रही हैं। इसलिए विभिन्न भाव-धाराओ की एक-दूसरे से अलग तत्त्व-सम्बन्धी समस्याएँ है। निश्चय ही, इन धाराओ मे एक भाव धारा प्रगतिशील है, या उसके समीपतर है, अथवा उसमे विभिन्न प्रगतिशील तत्त्व पाये

तो, वस्तुत , कला का संघर्ष तत्व के संकलन, परिष्कार और विकास का संघर्ष है। हम यदि अपने-आपको बन्द सन्दूक, क्लोज्ड सिस्टम, मान लें तो फिर यह प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यह प्रश्न उन लोगों के सामने जरूर उठता है जो अपने को बन्द सन्दूक नहीं मानते, कि जो लोग यह समझते हैं कि उनके सामने कर्त्तव्य और अनुभव का, सौन्दर्य और विकास का, ज्ञान और प्रकाश का, विस्तृत क्षेत्र खुला हुआ है।

हमारे आस-पास स्पन्दशील वैविध्यपूर्ण, द्वन्द्वमय, मानव जीवन अपने मार्मिक पक्षों का उद्घाटन करता रहता है। वह हमारे व्यक्तित्व में टकराता भी है। हम इतने निमग्न नहीं हो गये हैं कि उसकी पूर्ण उपेक्षा कर सकें। किन्तु, मनोबल-पूर्वक, यदि हम उसे अभिव्यक्त करने के लिए कलम चलाने की कोशिश भी करते हैं, तो अब तक तैयार किया हुआ हमारा सारा रूप-विधान गडबडाता हुआ लड-खडाकर गिर पड़ता है। यह मैं मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि द्वन्द्वमय वैविध्य-पूर्ण और सारी महानताओं के गुणों से युक्त हमारा यह जो व्यापक मानव जीवन है, उसके मार्मिक पक्ष हमारे हृदय पर आघात नहीं करते। नहीं, वे आघात करते हैं। किन्तु, जिस कलात्मक रूप-विधान का हमने अभ्यास कर रखा है, उसके अनुरूप जो शब्द-सम्पदा हमने एकत्र की है जिन शब्द-प्रयोगों की हमने आदत बना ली है, जिन व्यंजना-पूर्ण कल्पना-बिम्बों को हमने अपने-आपमें जमा कर रखा है—वे सब उन मार्मिक पक्षों के उद्घाटन में, उसके चित्रण में, असफल सिद्ध हो रहे हैं, होते हैं। केवल तीव्र मानसिक प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के रूप-साधन व्यापक मानव-जीवन के विशेष प्रवाहों और मार्मिक पक्षों के उद्घाटन और चित्रण में असमर्थ हैं।

सच तो यह है कि कलाकार के लिए वह संघर्ष, जो अभिव्यक्ति का संघर्ष कहा जाता है, तत्व ही का और उसी के लिए किया गया संघर्ष है। ध्यान में रखने की बात है कि एक ही विषय या समरूप विषयों की अभिव्यक्ति साधना के फलस्वरूप जो रूप-विधान आप ही-आप विकसित हो जाता है, उन्हीं तत्त्वों से घनिष्ठ रूप से ग्रथित होता है। इस रूप विधान में दूसरे तत्त्व नहीं जम सकते। हमारी अभि-व्यक्ति साधना अपने कण्डीशंड रिफलेक्सेज़ को जन्म देती है। अर्थात्, अभिव्यक्ति का एक पूर्व-नियन्त्रित मार्ग बन जाता है। अतएव, हमारे लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि हम विभिन्न मर्मानुभवों को काव्य का विषय बनायें।

होता यह है कि हम केवल कुछ ही चुने हुए मर्मानुभवों को प्रकट करते हैं। हमारी अभिव्यक्ति के माध्यम में जो बातें प्रकट होती हैं, उनसे कहीं अधिक विस्तृत और व्यापक हमारे मर्मानुभव हैं। किन्तु, हमने कुछ ही मर्मानुभवों के अनुरोध स तदनुरूप अभिव्यक्ति का एक ढाँचा खडा किया, जो आगे चलकर हमारा बन्दीगृह बन जाता है। अतएव, अपने ही व्यापक जीवनानुभवों को काव्याभिव्यक्ति यदि दी जाय, तो अभिव्यक्ति का यह ढाँचा बदलना पडेगा, अथवा उसमें कुछ महत्त्व-पूर्ण सुधार करने पड़ेंगे।

कुछ ही चुने हुए आवृत्त-पुनरावृत्त विषयों पर (मर्मानुभवों पर) लेखनी चलाने के इस दृश्य से मुझे युग के सम्बन्ध में कुछ कहने का उत्साह हुआ है। प्रत्येक युग में कुछ विशेष दृष्टियों से, कुछ विशेष शैलियों में ही तथा कुछ विशेष विषयों पर ही, लेखनी चलायी गयी। मध्ययुग के अन्त तक शृंगार, वीर और

अध्यात्म की कविताएँ चलती रहीं। आधुनिक युग में छायावाद, प्रबन्ध-काव्यात्मक प्रवृत्ति, राष्ट्रीय भावनाओं की कविताएँ तथा रोमैण्टिक प्रगीत होते रहे—मानो हिन्दी जगत् का सारा मानव-अनुभव, सारा जीवन-चिन्तन केवल इन्हीं विषयों व वृत्तियों तक ही सीमित हो। विषयों और शैलियों का इस प्रकार का सकलन कौन करता है? छायावाद के युग में, सारा काव्य राष्ट्रवादी सास्कृतिक भावना अथवा रोमैण्टिक प्रणयात्मक भावना तक ही सीमित क्यों रहा? सच तो यह है कि युग स्वय रेजिमेण्टेशन करता है। कविताएँ स्वय अपने-आप रेजिमेण्टेड होने लगती हैं और कवि रेजिमेण्टेड होने के लिए तैयार बैठे रहते है—अर्थात् वे वैविध्यपूर्ण मानव-जीवन के वास्तविक मार्मिक पक्षों का उदघाटन-चित्रण करने के बजाय, किन्हीं विषयों में घिर जाते हैं। यहाँ तक कि वे अपने प्रति भी न्याय नहीं करते, अपने सम्पूर्ण मार्मिक जीवनानुभवों को भी वाणी नहीं दे पाते।

इसका कारण जो मेरी समझ में आता है वह यह है कि साहित्यिक-सास्कृतिक क्षेत्र में जो वर्ग सक्रिय होता है वह न केवल अपनी अभिरुचि को सौन्दर्य के मान के रूप में स्थापित करता है, वरन वह उन मनोवैज्ञानिक सेंसर्स को भी विकसित करता है, कि जो सेंसर्स मार्मिक जीवनानुभवों को भी काटकर फेंक देते हैं, केवल कुछ ही गिनी चुनी मन स्थितियो और प्रवृत्तियो और तदनुकूल शैलियो को ही जीवित रहने की इजाजत देते है। हाँ, यह सच है कि साहित्य क्षेत्र में नेतृत्व करनेवाला यह वर्ग यदि अभ्युत्थानशील, मानवीय तथा प्रगतिशील ऐतिहासिक आकाक्षाओं का प्रतिनिधि बनता है, तो उसका साहित्य भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है। किन्तु क्या कारण है कि उसकी सारी प्रतिभा और शक्ति के बावजूद, मानव-जीवन का मार्मिक वैविध्य जो उस वर्ग ने या उसके मुख्य प्रतिनिधियों ने जाना या भोगा है, साहित्य में प्रकट नहीं हो पाता? क्या वैसा ही भाग्य 'नयी कविता' के सम्बन्ध में तो नहीं होनेवाला है? क्या 'व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादी' महारथी स्वय अपना उदाहरण स्थापित कर, तथा सगठित बल और प्रभाव द्वारा, 'नयी कविता' को रेजिमेण्टेड तो नहीं बना रहे हैं? नि सन्देह, यह रेजिमेण्टेशन मनोवैज्ञानिक मार्गों से, अर्थात् एक विशिष्ट अभिरुचि को सौन्दर्य-मान का महत्त्व प्रदान कर, तथा तदनुसार मानसिक सेंसर्स का विकास कर, सगठित किया जा रहा है। यदि यह बात है तो हमें सबसे पहले सेंसर्स के सम्बन्ध में ही कहना होगा।

जब मर्मज्ञ कवि, अपनी विशिष्ट आन्तरिक आग्रह-धारा के द्वारा, किन्हीं विशिष्ट मर्मों को ही प्रकटीकरण के लिए उपस्थित करता है, तब उन मर्म-तत्त्वों की अभिव्यक्ति के सिलसिले में ऐसे सेंसर्स का विकास करता है, कि जो सेंसर्स उन तत्त्वों के अनुपयुक्त शब्द सयोगों और कल्पना-चित्रों को रास्ते से हटा देते हैं। निषिद्ध होने पर वे शब्द सयोग और कल्पना चित्र अथवा भाव बिम्ब अकेले पड़ जाते हैं निरुपयोग के कारण वे असगठित भी हो जाते हैं, और विस्मरण शक्ति के फलस्वरूप तथा अभिरुचि के आग्रहों के विरुद्ध होने के कारण वे सब मानसिक तहखाने में दाखिल हो जाते हैं। उधर सेंसर्स अभिरुचि के आदर्शों में विशेष प्रकार का रूप विधान तैयार करने में ही अपनी शक्ति खर्च कर देते हैं।

ये सेंसर्स रूप सम्बन्धी और तत्त्व सम्बन्धी दोनों प्रकार के होते है। उदाहरण के लिए, 'नयी कविता' में वे सेंसर्स सामाजिक क्रान्ति की बात खुले तौर पर नहीं करने देंगे। वे विद्रोह का कर्कश स्वर नहीं आने देंगे, और यदि आया भी

तो उसे इतना लचीला बना देंगे कि जिससे वह साहित्यिक ड्राइंग-रूम में खप सके। उसी प्रकार, जीवन की अन्य कठोर और कर्कश अनुभूतियों का खड़ा-खड़ा मैदानी कण्ठ भी उनके काम का नहीं है। व्यक्तित्व का सारा बल, हृदय का पूर्ण ओज, बुद्धि की सम्पूर्ण विश्लेषण-प्रतिभा, और कल्पना का प्रखर उद्दीप्त आलोक, यदि आपस में मिलकर, समन्वित होकर, एक ही विषय को निखार दें, तो तेजस्विता माधुर्य, साहस और चण्डता का जो प्रवाह बहेगा, वह प्रवाह केवल तीव्र मानसिक प्रतिक्रियाओं और छोटे-छोटे संवेदनाघातों को प्रकट करनेवाली और उसी में अपनी सार्थकता समझनेवाली 'नयी कविता' में भला कैसे बह सकेगा, जब तक कि इस 'नयी कविता' के रूप-शिल्प में आवश्यक संशोधन न हों। मेरा अपना खयाल तो यह है कि 'नयी कविता' के बहुतेरे कवि इस ओर दत्त चित्त हैं, और अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुरूप अपनी नयी शैलियों का उन्मेष करते जा रहे हैं। शैलियों की भिन्नता तो हमें आज भी दिखायी दे रही है, और वह समय दूर नहीं है जब इन शैलियों में अधिक घनत्व और विस्तार एक साथ आ सकेगा।

समीक्षा की समस्याएँ

कवि और लेखक होने के नाते, समीक्षा-साहित्य की वर्तमान प्रवृत्तियों पर मेरी नजर जाना स्वाभाविक ही है। मुझे समीक्षकों की स्थिति पर दुःख होता है।

मुझे बार-बार लगता है कि वे खुद जिन्दगी से बहुत दूर हैं। वे मध्यवर्गीय जनसाधारण के भाव-क्षेत्र से भी दूर हैं। नये प्रकार के समीक्षक-विचारक (अब उन्हें नया नहीं कहा जा सकता), जो बनते हुए साहित्य की समीक्षा के क्षेत्र में दिशा-निर्देश करते रहते हैं, उनमें से कुछ मुझे त्याज्य प्रतीत होते हैं। मुझे बार-बार लगता है कि वे लेखक को जिन्दगी के तजुर्बों से हटा देना चाहते हैं। उनका सौन्दर्य-सम्बन्धी सिद्धान्त, कलाकार के धर्म और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में उनके विचार, आधुनिक भावबोध की उनकी धारणा, जनसाधारण की उपेक्षा करके लघु-मानव की उनकी कल्पना, समाज और जनता को भीड़ कहकर उसका अपमान करने की उनकी प्रवृत्ति, पूँजीवादी समाज-रचना और साम्यवादी समाज-रचना दोनों को औद्योगिक सभ्यता कहकर उस औद्योगिक सभ्यता के अन्तर्गत व्यक्ति के व्यक्तित्व के नाश की अनिवार्यता को मानना और इस प्रकार मानव की विफलता

[illegible]

देश है। औद्योगिक क्रान्ति उसमें चल रही है, किन्तु पूरी नहीं हुई है। दूसरे यह कि यद्यपि कवियों के अन्तर्व्यक्तित्व और काव्य पर किसी दर्शन-विशेष का भावात्मक

नियन्त्रण नही है, फिर भी धर्म और परिवार के माध्यम से पुराने संस्कार शेष हैं। तीसरे यह कि विश्व-मानवता की कोई-न-कोई कल्पना उनके पास है, ऐसी कल्पना जो उनके भावात्मक जीवन मे किसी-न-किसी रूप मे उपस्थित है। चौथे यह कि ऊपर बतायी गयी धारणाएँ जब तक व्यापक रूप से शिक्षित मध्यवर्ग मे, उच्च-मध्यवर्ग मे, निम्न-मध्यवर्ग मे, बुद्धिजीवी वर्ग मे मूलबद्ध नहीं होतीं, और अपना एक विशेष सामाजिक वातावरण नही बनातीं, तब तक वे लेखकों मे भी व्यापक नही हो सकतीं। और, चूँकि भारत ब्रिटेन-अमरीका की उन सामाजिक विकासावस्थाओं को अब तक पार नही कर सका है जो, सम्भवतः उन्होने सौ साल पहले ही पार कर ली थीं, इसलिए ब्रिटेन-अमरीका की वर्तमान भावात्मक प्रवृत्तियाँ इस देश मे उपजाऊ जमीन नही पा सकती, भले ही कुछ लोग और कुछ क्षेत्र इसे बड़े चाव के साथ ग्रहण कर लें।

एक बात स्पष्ट है। प्रयोगवादी या नयी कविता मे, प्रारम्भ काल से लेकर तो आज तक के इस समय-क्रम में, अनाशा और वैफल्य की भावना के साथ-ही-साथ स्वस्थ मानवीय उन्मेषशील मानव-कल्याणमूलक तथा कोमल मानवीय भावनापूर्ण और प्रगतिशील तत्त्व रहे है। वे आज भी है।

किन्तु, मानव-कष्ट दुःख सन्ताप की जीवन-भूमि इतनी स्पष्ट और सहज संवेद्य है (आज की सामाजिक-आर्थिक स्थिति मे ऐसा होना ही स्वाभाविक है) कि उससे इनकार नहीं किया जा सकता। वह विविध रूपों में काव्य में भी व्यक्त है। यह सही है कि वह जीवन प्रसंगो के अन्तर्गत भाव-प्रसंग या भाव दशा को सूचित करती है, न कि वास्तविक जीवन-प्रसंगों के सामाजिक ताने-बाने को।

पश्चिमी क्षेत्रों मे सभ्यता समीक्षा के अन्तर्गत मानव की, या कहिए व्यक्ति की, कल्पना के प्रकाश मे व्यक्ति-सत्ता के विनाश के तथ्य को जो निरूपित किया गया है, और उसके चरम वैफल्य, अगतिकता और अनाशा का जो बोध कराया गया है, इन सारी बातों की श्रेणी मे—उस अनाशा, उस अगतिकता, उस वैफल्य की श्रेणी मे—नयी कविता की सारी दुःखात्मक अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों को नहीं डाला जा सकता। किन्तु इस खतरे को तो समझा ही जा सकता है कि स्वयं लेखक अपने भावो की व्याख्या जाने-अनजाने उस प्रकार से कर सकता है, क्योंकि उनमे से कुछ अवश्य ही वैसा करते है।

यह खतरा कम करके भी नहीं आँका जाना चाहिए। अध्यात्मवादी, भाववादी समीक्षक अपनी अध्यापकीय या सरकारी ऊँचाइयों पर बैठे हुए नयी धाराओं का विरोध करते हैं, और उनसे अलग रह जाते है। उनका उद्देश्य भलाई के दो-चार शब्द कहकर, उपदेश देकर, साहित्य सिद्धान्त निरूपित कर, छुट्टी पा लेना है। पुराने प्रगतिवादी समीक्षक अभी भी नयी काव्य-शैली के प्रति अपनी विरक्ति को दूर नहीं कर सके हैं। इसके विपरीत, वे कसकर उसका अभी भी विरोध किये जा रहे हैं। और इस प्रकार उन्होने यह पूरा क्षेत्र अपने प्रतिपक्षियों को समर्पित कर दिया है।

हमारा कवि (विशेष-विशेष अपवादों को छोड़कर) यह मान चुका है कि उसे जीवन-जगत् की व्याख्या करनेवाली दार्शनिक मानवीय भाव-धारा से, सामाजिक-राजनैतिक भाव धारा से, कोई मतलब नहीं। उसका सर्वप्रधान उद्देश्य कलात्मक सौन्दर्य से पूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत करना है।

किन्तु कवि-कलाकारों की ऐसी रचनाओं को प्रकाशित करनेवाली प्रकाशन-संस्थाओं के संचालकों की सामाजिक-राजनैतिक विचारधारा में तो दिलचस्पी है ही। सम्पादकगण अ-कलाकारों से सामाजिक-राजनैतिक भाव धारा को अवश्य ही प्रकट कराते रहते हैं। और उनके लेख अवश्य ही छापते रहते हैं। इस प्रकार कवि-कलाकार न केवल ह्वीलर स्टॉल से, वरन् पत्र-पत्रिकाओं से जिनमें कभी-कभी उनकी रचनाएँ छपती हैं, सामाजिक-राजनैतिक विचार, दार्शनिक-राजनैतिक भाव प्राप्त कर, उन्हें अवश्य ही हृदयंगम करते हैं। इस प्रकार, किसी-न-किसी अंश में, उन्होंने अपने अन्त:करण के संस्कार के कार्य का दायित्व दूसरों को दे डाला है। उनका तो दृष्टिकोण ही यह है कि कलाकार का धर्म केवल कला-कर्म है, सौन्दर्य-पूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत करना ही उनका दायित्व है। शेष जो कुछ है उससे उन्हें, एक कलाकार के रूप में, एक कलाकार की हैसियत से, कोई मतलब नहीं। और मेरा विचार यह है कि विश्व के प्रत्येक स्पन्दन से कलाकार का सम्बन्ध है।

किन्तु साथ ही, यह बात भी ध्यान में रखने की है (नहीं तो हम किसी बात की व्यर्थ ही अतिरंजना करते जायेंगे) कि आज किसी भी व्यवस्थाबद्ध-जैसी विचारधारा का समाज में प्रभाव नहीं—इतना व्यापक, सर्वांगीण और सघन प्रभाव नहीं कि लेखक सामाजिक वातावरण में उसे खींचकर आत्मसात् कर सके। यह है परिस्थिति, जिसे प्रगतिवादी, आधुनिक भावबोधवादी, आदर्शवादी इत्यादि समीक्षकों को, नयी कविता की व्याख्या और मूल्यांकन के समय, ध्यान में रखना चाहिए।

प्रगतिवादी तथा आदर्शवादी समालोचक पूरी नयी काव्य-शैली के विरोधी हैं। विरोध का उतना प्रश्न नहीं, जितना इस बात का कि यह विरोध वे करते हुए साहित्य की जीवन भूमि से असंपृक्त रहकर, साहित्यांकित जीवन और साहित्य-सृजन की वास्तविक मानव-भूमि, इन दोनों के घनिष्ठ परस्पर-सम्बन्धों के स्वरूप का, इन दोनों के अपने-अपने विशिष्ट-विशिष्ट स्वरूप का, आकलन न करते हुए, या छिछली-सतही-दृष्टि से उनका आकलन करते हुए, न्याय-निर्णय प्रदान करते हैं। वास्तविक और विविध नवीन साहित्य-प्रवृत्तियों तथा विविध साहित्य-कृतियों का मार्मिक विश्लेषण तथा मूल्यांकन करना उन्हें अभीष्ट नहीं। सच तो यह है कि [वे] अपने-अपने सिद्धान्तों की तर्क-व्यवस्था के ऊँचे आयवरी टॉवर पर बैठे, बनते हुए साहित्य को देखते हैं। वहाँ से उन्हें आदमी छोटा नजर आता है। इस-लिए वे अरुचि और विरक्ति से अपना मुँह फेर लेते हैं।

ध्यान में रखने की बात है कि सत् और असत् का विवेक, निश्चय, इतना सीधा और सरल नहीं होता कि साहित्य-सृजन की जो वास्तविक जीवन-भूमि है उससे, उस वास्तविक जीवन-भूमि की विविध परिस्थितियों तथा प्रक्रियाओं से, साहित्यिक कलाकारों के बाह्य तथा अन्तर्जीवन से—इन सबसे या इनमें से किसी एक से, असपृक्त और सम्बन्धहीन बनकर, उनके और अपने बीच लम्बे-चौड़े फासले कायम करके, वह समीक्षकीय सत्-असत्-विवेक एक अनिवार्यत: होनेवाले परिणाम की भाँति अपने ही आप सत्य प्राप्त कर सके।

सही है कि मानव-ज्ञान स्थिति-सापेक्ष है, वह काल-सापेक्ष है। लेखक के अन्त:करण में संचित संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन समीक्षक को प्राप्त करना कठिन भी है। यह सचमुच सम्भव नहीं है कि समीक्षक लेखकों का आत्मवृत्त

[illegible]
के अन्तर्बाह्य जीवन में ज्यादा दिलचस्पी ले। इस प्रकार की ज्ञान प्राप्ति से नि सन्देह उसे लाभ होगा, और उसमें समीक्षा अधिक यथार्थोन्मुख और गहरी होगी।

हम लोग परिवार और पारिवारिक जीवन को साहित्य के अध्ययन में विशेष महत्त्व ही नहीं देते। आज भी व्यक्ति का विकास बाह्य समाज में तो होता ही है, वह परिवार में भी होता है। परिवार व्यक्ति के अन्त करण के संस्कार में तथा प्रवृत्ति विकास में पर्याप्त योग देता है।

मेरा अपना यह खयाल है (और इसके लिए पर्याप्त आधार है) कि [illegible]

[illegible] और [illegible] में, खोजा जा सकता है।

क्या यह बताने की जरूरत है कि परिवार के भीतर नये और पुराने का जबरदस्त संघर्ष चलता है कि उसके भीतर अहवादी तथा अनुदार सकुचित दृष्टि-वादी प्रवृत्तियों की टकराहट होती है,—उस प्रवृत्ति से, जो अधिक उदार है, अधिक व्यापक दृष्टिवाली है।

और क्या सिर्फ इतना समझकर ही सन्तुष्ट हुआ जा सकता है? क्या यह नहीं जानना चाहिए कि परिवार में जिस व्यक्ति में प्रेम का प्रगाढ सम्बन्ध होता है (कभी-कभी [या] बहुत बार भी) उसी से हृदयविदारक संघर्ष होते हैं? क्या यह जानना जरूरी नहीं है कि अगर कहीं दिल सबसे ज्यादा टूटता है, तो परिवार के भीतर रहकर पारिवारिक संघर्ष में ही? जिस व्यक्ति से प्रगाढ प्रेम, उसी से तीव्र विरक्ति—क्या ये दृश्य हमें दिखायी नहीं देते? क्या इस प्रकार का एम्बीवैलेन्स (जो कि परिवार ही से शुरू होता है), यह द्विविध विपरीत-विधि प्रवृत्ति, हमें अपने अन्त करण में भयानक पीड़ा प्रदान नहीं करती?

जब कवि कहता है—बार बार कहता है—कि मैं केवल अपने-आपको प्रकट कर रहा हूँ, तो क्यों यह समझा जाय कि वह जगत् का प्रतिनिधित्व कर रहा है? उसकी विफलता के भाव को, उसकी निराशा के भाव को, उसका जीवन-दर्शन क्यों माना जाय उसकी दो चार कविताओं को ही देखकर?

यह आवश्यक है कि हम उसकी सब रचनाओं को देखें, और यदि वह कहानीकार और निबन्धकार भी है, तो उसकी उन रचनाओं को भी पढ़ जायें। तब इस समग्र को पढ़कर लेखक व्यक्तित्व की आनुमानिक आकृति अपने सामने उपस्थित करें। जहाँ उसका विरोध करना है उसके विचित्र तत्वों की प्रतिकूल आलोचना करनी है वह अवश्य ही करें। किन्तु यह सब जल्दबाजी में न हो, अपने किसी पूर्वप्राप्त सिद्धान्त अथवा मान्यता की पुष्टि ही के लिए उसी लेखक के अन्य उदाहरणों को छोड़कर, न हो।

यह एकदम सही है कि कविता एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। इस अर्थ में वह सांस्कृतिक प्रक्रिया है कि लेखक अपने जाने अनजाने अपने अन्त करण में सचित भावावेगों के साथ जीवन मूल्य भी प्रकट कर रहा है—गूँज की एक अनुगूँज के रूप में।

वह इस अर्थ में भी सांस्कृतिक प्रक्रिया है कि लेखक, शिक्षा, संस्कार और परम्परा से लालित और परिमार्जित जो भाव-समुदाय हैं, उन्हें निज विशिष्ट भूमि

से ऊपर उठाकर, सर्व-सामान्य भूमि पर स्थापित करते हुए, सर्व-विशिष्ट बना रहा है।

यह सब सही है। किन्तु वह इस अर्थ में सांस्कृतिक प्रक्रिया नहीं है कि लेखक काव्य में नेतृत्व प्रदान करता है, या उपदेश देता है, अथवा केवल उच्च, उदात्त, श्रेष्ठ तथा महापुरुषोचित भावनाओं को ही प्रकट करता है। वह सामान्य मानव के रूप में सामान्य किन्तु प्रधान भावनाएँ प्रकट करता है—वे भावनाएँ जो उसकी स्थिति को सूचित करती हैं।

और, इस प्रकार की भावनाएँ यदि सौन्दर्यपूर्ण होकर, कलात्मक स्वरूप धारण कर, काव्य में प्रस्तुत होती हैं, (बशर्ते कि भावना रूप में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होनेवाले जीवन-मूल्य उचित हों, और यथार्थ की संवेदनात्मक व्याख्या सही हो) तो निःसन्देह वह कविता या काव्य पाठक को मानव-यथार्थ में अन्तर्दृष्टि प्रदान करेगा, संवेदनात्मक जीवन-मूल्य प्रदान करेगा, उसकी संवेदनाओं को उद्‌बुद्ध करके उसे अधिक संवेदनक्षम बनायेगा। चूँकि साहित्य यह सब बातें करता है, इसीलिए वह (इस अर्थ में) पाठक को अधिक मानवीय भी बनाता है।

किसी जमाने में प्रयोगवादी कविता प्रगतिवाद के अधिक निकट थी। किन्तु प्रगतिवादियों ने उसकी खूब उपेक्षा की।

जो अपने से भिन्न है, वह अपना विरोधी भी है। जो काव्य के अपने माने हुए ढाँचे में जमा हुआ नहीं है, वह गलत भी है, असुन्दर भी है, प्रतिक्रियावादी है। इस प्रकार का सोच-विचार समीक्षकों की मानव-यथार्थ से दूरी—लम्बे-चौड़े फासले—सूचित करता है।

और इन फासलों ही के कारण साहित्य-क्षेत्र में एक विशेष प्रकार की परिस्थिति पैदा हो जाती है, जो साहित्य-विकास के अनुकूल नहीं कही जा सकती।

प्रगतिवादियों के व्यवहार द्वारा यह सूचित होता [था] कि वे मुक्ति-संघर्ष, राष्ट्र-प्रेम, प्राकृतिक सौन्दर्य, नारी-सौन्दर्य, यथार्थ-आलोचन-भावना, आशा, उत्साह, तथा तत्समान अन्य भावों को प्रगतिशील समझते हैं। किन्तु शेष सब भावनाएँ, जैसे, भयानक ग्लानि, निराशा-अनाशा, वैफल्य तथा इसी श्रेणी की अन्य भावनाएँ, प्रतिक्रियावादी हैं। यह उनकी पसन्दगियों से, उनके व्यवहार से, उनकी बातचीत के ढंग से, और उनके सम्पादकीयों अथवा लेखों से, सूचित होता था। इस प्रकार लगता था मानो वह एक योजनाबद्ध विभाजनीकरण हो।

कोई भी भावना न अपने आपमें प्रतिक्रियावादी होती है, न प्रगतिशील। वह वास्तविक जीवन-सम्बन्धों से *युक्त होकर ही उचित या अनुचित, संगत या असंगत,* सिद्ध हो सकती है। किसी भी भावना के जीवन-सम्बन्धों को देखना आवश्यक है। घृणा यदि उचित के प्रति है तो वह स्वयं घृण्य है, यदि वह अनुचित के प्रति है तो वह प्रशंसनीय है। उसी प्रकार, वैफल्य और निराशा किन जीवन सम्बन्धों के आधार पर है? उस निराशा की जन्मभूमि जो मानव-जीवन है, उसको ध्यान में रखकर ही, *उसका विश्लेषण और मूल्यांकन किया जा सकता है।*

यह कैसा अजीब आग्रह है कि कविता एक खास किस्म के ढाँचे में ही बँधी हुई होनी चाहिए! आज भी वे उसी छायावादी प्रगतिवादी युग के काव्य पैटर्न से नयी कविता को परखते हैं।

सच तो यह है कि वे काव्य को अपने सिद्धान्तों के उदाहरण के रूप में देखना

चाहते हैं। चूँकि यह हो नहीं पाता, इसलिए वे बिगड पडते हैं।

महत्त्व की बात यह है कि [वे] अपने सिद्धान्तों के टॉवर पर से नीचे उतरकर, वास्तव मानव-यथार्थ और उसकी काव्यात्मक प्रतिक्रियाओं से सम्पर्क स्थापित करना, और निरपेक्ष भाव से उसके स्वरूप का अध्ययन करना नहीं चाहते। मेरा अभी भी विश्वास है कि यदि वे अभी भी नीचे उतरें, और नदी के कगार पर खडे होकर उसके बाँके-तिरछे बहे जाने को उतना न कोसें, वरन् स्वयं उसका सर्वांगीण समीक्षण करें, तो उन्हें उसमें इतनी बुराई नहीं दीखेगी।

साथ ही, उससे निकट सम्पर्क, गहन आत्मीय सम्पर्क स्थापित करने के उपरान्त ही, वे उसे अपना भी कुछ दे सकेंगे। नहीं तो नहीं।

मार्क्सवादी दर्शन एक यथार्थ दर्शन है, यथार्थ-विकास का, मानव-सत्ता के विकास का, दर्शन है। अतएव उसके लिए सर्वाधिक मूलभूत और महत्त्वपूर्ण है, जीवन-तथ्यों की वास्तविकता, जो राजनीति, समाजनीति, कला, आदि का उपस्थित करती है।

जीवन-तथ्यों की वास्तविकता अर्थात् मानव-यथार्थ को दृष्टि से ओझल करके सिद्धान्तों को जब लागू किया जाता है, तब भूल होना स्वाभाविक होता है। महत्त्व की बात यह है कि जब मानव-यथार्थ ही को ठीक ढंग से नहीं समझा जा रहा है, तो उसके (कलाकार द्वारा किये गये) सामान्यीकरणों को, उन सामान्यीकरणों के चित्र-रूपों को, उनके प्रतीकों को, उनके बिम्बों को, कैसे समझा जायेगा!

मेरे उपर्युक्त निवेदन का यह अर्थ नहीं है कि मैं इस स्थान पर लेखकों का कोई डिफेन्स खडा कर रहा हूँ। मैं तो केवल यह कहना चाह रहा हूँ कि महान् से महान् समीक्षक जब काव्य-सृजन की मानव-भूमि से कट जाता है, तब वह एक बहुत बडा खतरा उठाता है। सच बात तो यह है कि ये लोग अपनी सिद्धान्त-व्यवस्था के भीतर अटक गये थे।

नयी काव्य-प्रवृत्तियों के आधारभूत मानव-जीवन के प्रति उन्हें कोई अनुराग न था। इसलिए उन प्रवृत्तियों के विशेष सन्दर्भ भी वे न समझ सके। अतएव उन प्रवृत्तियों को ग़लत सन्दर्भ में देखा गया। निराला की सघन बिम्ब-व्यवस्था और महादेवी की सघन प्रतीक-व्यवस्था उन्हें समझ में आ सकती थी, किन्तु नयी कविता की नहीं।

चूँकि मैं समीक्षा सिद्धान्तों के वास्तविक प्रयोग, वास्तविक व्यवहार, के सम्बन्ध में यहाँ लिख रहा हूँ, इसलिए इस विषय के भीतर भी पैठना चाहता हूँ। मैं जानबूझकर प्रगतिवादियों का विरोध करने के लिए, किसी राजनैतिक दृष्टि से प्रेरित दुर्भाव को लेकर नहीं बैठा हूँ। इसलिए और भी तत्पर होकर मैं इस सम्बन्ध में अपना कुछ निवेदन प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

आत्मग्रस्त व्यक्तिकेन्द्री काव्य! क्या शैले का काव्य आत्मग्रस्त व्यक्तिकेन्द्री नहीं था? क्या रवीन्द्र का काव्य आत्मग्रस्त व्यक्तिकेन्द्री नहीं था? क्या महादेवी और प्रसाद का काव्य आत्मग्रस्त व्यक्तिकेन्द्री नहीं था?

था, था, था! किन्तु उनमें जीवन के व्यापक आदर्श, जीवन की प्रबुद्ध चेतना, मानव-प्रेम, अपूर्व सौन्दर्य-दृष्टि थी। उनमें अन्तरात्मा का सौन्दर्य था। और प्रयोगवादी कविता, नयी कविता में यह सब नहीं है—उसमें वैयक्तिक विफलता,

वैयक्तिक निराशा तथा ग्लानि, और दूसरे कई भावों में व्यक्त आत्मग्रस्तता है। इसलिए हम उसका विरोध करते हैं। हम ठीक विरोध करते हैं।

किन्तु महोदय, क्या आप यह बतायेंगे कि उस नये काव्य-रूप में कहीं भी आपको ऐसी भयानक विफलता के अतिरिक्त, इन भावों के अतिरिक्त, दूसरे भाव नहीं मिले ? क्या आपने शमशेर की, नरेश मेहता की तथा अन्य कवियों की सब कविताएँ देखीं ?

और क्या आपने वास्तविक काव्य-कृतियों को उनकी समग्रता में लेकर किसी कवि-विशेष का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत किया ? (क्या आपने प्रगतिशील लेखक, जैसे, यशपाल—इनके सम्बन्ध में, अथवा अन्य, जैसे डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी —इनके सम्बन्ध में ऐसा किया ?) सर्वाधिक काव्य-संग्रह अज्ञेयजी के ही प्रकाशित थे। आप उन सबको पढ़कर (अपने दृष्टिकोण से) विशेष विश्लेषण प्रस्तुत कर सकते थे, उनका मूल्यांकन उपस्थित कर सकते थे।

यदि आप समीक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रहे थे—आप अवश्य ही इस क्षेत्र में क्रियाशील रहे आये हैं—तो क्या यह आवश्यक नहीं था कि किसी भी कवि की समग्र रचनाएँ पढ़कर आप उसके सम्बन्ध में अपनी धारणाएँ बनाते ?

और, अगर आपके पास उसकी समग्र रचनाएँ नहीं थीं, तो आप उस विशेष कवि से या अन्य कवियों से सम्पर्क स्थापित करके उनसे वे रचनाएँ मँगाते, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी या उसकी रचनाओं का संकलन करते। संक्षेप में, आप इस प्रारम्भिक कार्य को तत्परतापूर्वक, विशेष चिन्तापूर्वक, सम्पन्न करते। इस प्रकार, प्रधान कवियों को (इस धारा के उन कवियों को जिन्हें आप प्रधान समझते थे, या प्रधान समझ सकने की स्थिति में थे) अपने पास रखकर उनकी (प्राप्त) समग्र कविताओं का अध्ययन करते, विश्लेषण करते, मूल्यांकन करते। और फिर नये काव्य प्रकार के, नयी काव्य धारा के, सम्बन्ध में अपना मत बनाते।

उसकी क्षमताओं और सीमाओं, उसके गुणों और दुर्गुणों, उसकी विशेषताओं, का विश्लेषण और स्पष्टीकरण करना क्या किसी भी समीक्षक के लिए आवश्यक नहीं था ? और आप तो अत्यन्त प्रसिद्ध दक्ष समीक्षक थे—ऐसे समीक्षक, जो यथार्थ की गति को एक विशेष दिशा में मोड़ना चाहते हैं। तो क्या उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, आपको प्रयोगवादी नयी कविता की आधारभूत मानव-भूमि को समझना आवश्यक नहीं था ? सारे तथ्यों और सारी कृतियों को एकत्र करके उनकी विशेषताओं और क्षमताओं तथा सीमाओं का अध्ययन करना आवश्यक नहीं था ? और, क्या इस प्रकार किसी एक कवि की समग्र प्राप्त कृतियों का अध्ययन करके और इस प्रकार सब प्रधान और अप्रधान, किन्तु आपके अपने लेखे महत्त्वपूर्ण, कवियों का अध्ययन करके विश्लेषण और मूल्यांकन करना आवश्यक नहीं था ? और, इस प्रकार इन सब कवियों का विश्लेषण-मूल्यांकन करके, इस नयी काव्य धारा का स्वरूप-विश्लेषण और मूल्यांकन करना आवश्यक नहीं था ? क्या सचमुच ऐसा जरूरी नहीं था ?

यथार्थ की गति को अनुकूल दिशा में मोड़ने के लिए, यथार्थ के व्यक्त रूपों का—समग्र व्यक्त रूपों का—उनकी गति और स्थिति में अध्ययन करना आवश्यक है, उनके बहिरन्तर सम्बन्धों और परस्पर क्रिया प्रतिक्रियाओं का आकलन आवश्यक है।

यह मूल, प्रधान, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रथम कार्य है, क्योकि इसी के आधार पर आगे के कार्य किये जा सकते हैं। इसकी आधारभूत प्राथमिकता के महत्त्व को कभी भी कम करके नही देखा जा सकता, नही देखा जाना चाहिए। अगर यह आधार खिसक गया तो सारा भवन ढह जायेगा।

किसी भी अध्ययन-अनुशीलन के लिए प्रारम्भिक तथ्य अपनी समग्रता, अपनी सम्पूर्णता मे अपने मन के सामने उपस्थित करना आवश्यक है। फिर वह विज्ञान कोई भी हो, शास्त्र कोई भी हो। इनमे सम्पूर्ण आत्म-निरपेक्षता, सतर्कता, और जाग्रत दृष्टि आवश्यक है।

साथ ही, मार्मिकता भी आवश्यक है। यथार्थ के व्यक्त रूपो की, अर्थात् तथ्यो की, अगर आपने गलत तसवीर खडी की — अपने पूर्वाग्रहो से ग्रस्त होकर, स्वय आत्मग्रस्त होकर—तो ऐसी स्थिति मे आपकी जाग्रत दृष्टि आपके पूर्वाग्रहो के रग मे रँग जायेगी। इसका परिणाम यह होगा कि तथ्यो के केवल एक पक्ष या अग को ही आप देख सकेंगे, विभिन्न पक्षो को नही देख सकेंगे, समग्र को नही देख पायेंगे, और अपने देखे हुए उस एक अग को ही समग्र समझने लगेंगे, अथवा उस एक अग को ही आप सर्वप्रधान मानने लगेंगे, सारभूत मानने लगेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि गलत तसवीर आप खडी करेंगे, आपका अध्ययन भी एकागी होकर उसका प्रभाव विश्लेषण पर भी होगा, विश्लेषण मे त्रुटियाँ रह जायेंगी, मूल्याकन विकृत हो उठेगा।

ये अत्यन्त साधारण और मूलभूत बातें हैं। किन्तु क्या हम उनको बहुत बार भूल नही जाते? जी हाँ, यहाँ आदमी की अकसर भूल होती है।

तथ्याध्ययन के इस अत्यन्त प्रधान और प्राथमिक कार्य मे हमारे सच्चे मानवत्व की परीक्षा होती है। तथ्यो के प्रति कभी-कभी हमारे हृदय मे स्थित जो निगूढ प्रतिकूल भाव होते हैं, उनकी क्रियाओ को थाम लेना पडता है। आत्म-निरपेक्षता को पहले प्राप्त करना, और फिर प्रयोग करना पडता है। आत्म-निरपेक्षता महज तथ्य-वस्तु नही है।

जीवन के तथ्य तो और भी पेचीदा, और भी उलझे हुए, होते हैं। उनके प्रति हमारे अनुकूल या प्रतिकूल भाव पहले ही से सक्रिय होते है। अतएव हम बहुत शीघ्र उनके प्रति आत्मबद्ध प्रतिक्रिया कर जाते है। जिस समय काव्य मे जीवन-तथ्य सामान्यीकृत रूप मे कल्पना-चित्रो मे, बिम्ब-व्यवस्था मे, भाव-मात्र या केवल प्रवृत्ति-मात्र बनकर उपस्थित होते है, तो हमारी स्वाग्रही प्रवृत्तियाँ तुरन्त ही उन्हे स्वीकार या अस्वीकार कर डालती हैं। दूसरे शब्दो मे, समीक्षा के क्षेत्र मे आत्माग्रही प्रवृत्तियाँ जाने-अनजाने ढग से, विभिन्न वेशो और रूपो मे, कार्य करती हैं। वे सिद्धान्त के नाम पर, तो किसी आदर्श-विशेष के नाम पर या सौन्दर्य के नाम पर, अपने आपको लादने और थोपने का कार्य करती हैं। समीक्षा के क्षेत्र मे आत्म निरपेक्षता अभ्यासजन्य होती है।

मार्क्सवाद यदि एक विज्ञान है (जैसा कि वह है), तो वैसी स्थिति मे उसके लिए *तथ्यानुशीलन—जीवनगत और काव्यगत, दोनो एक साथ—प्राथमिक और* प्रधान महत्त्व रखता है।

और यह तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्य स्वय मानव जीवन से, उसके विभिन्न रूपो और प्रवृत्तियो से, घनिष्ठ सम्बन्ध रखे। किसी काव्य-प्रवृत्ति के

आधारभूत मानव-जीवन से जब तक समीक्षक एक-साथ आत्म-निरपेक्ष आत्म-सम्बन्ध स्थापित नही करता, तब तक वह समग्र तथ्यो को, उन तथ्यो के अपने निजी विशेष स्वरूप म, अपने मन के सामने उनके समग्र रूप मे, उनके अपने अन्त -सम्बन्धयुक्त सर्वांगीण रूप मे उपस्थित ही नही कर सकता।

ऐसा न कर पाने के अपराध के परिणामस्वरूप, प्रगतिवादी समीक्षको के प्रति लेखक-वर्ग की आदर-भावना जाती रही, उनकी श्रद्धा का क्षय हुआ। और [जब] इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होकर विकसित और विस्तृत होने लगी, तब विपक्षी तत्त्वो द्वारा शीतयुद्ध के उद्देश्यो से परिचालित आक्रमण शुरू हुए। अतएव प्रगतिवादी समीक्षको की इस असफलता का दोष, मुख्यत ,—हाँ, मुख्यत , एकमात्र रूप से—'प्रतिक्रिया' (जिस के साधारण शब्दावली मे, राजनैतिक ढग से प्रतिक्रिया

हो सके कि वे अक्षमताएँ अब नही हैं।

हाँ, यह सही है कि नयी कविता की भी विरोधी आलोचना हो सकती है, और खूब हो सकती है। लेकिन कब ? जीवन-यथार्थ के प्रति सवेदनशील होकर ही, उसमे सवेदनात्मक सूक्ष्म दृष्टि रखकर ही, वह हो सकती है, *अन्यथा नही।*

प्रत्येक कलाकृति के भीतर भाव-समुदाय के अपने विशेष सन्दर्भ होते हैं। उन सन्दर्भों को जब तक ठीक-ठीक नही समझा जाता, तब तक हम कलाकृति का भावार्थ नही समझ सकते। किन्तु उन सन्दर्भो को हम किस तरह पकड पायेंगे, *जब कि वे सन्दर्भ खुलासावार, यानी साफ-साफ तौर पर, भूमिका के रूप मे प्रस्तुत* न हो—इस प्रकार का प्रश्न किया जा सकता है।

किन्तु आधुनिक युग के आत्मपरक काव्य की एक विशेषता यह रही है कि कभी तो उसके सन्दर्भ स्पष्टत सकेतित होते हैं, और कभी वे काव्य मे व्यक्त भाव *या भावना के भीतर से दीपित और ज्योतित हो उठते है। अतएव काव्य भावना* के आन्तरिक वास्तविक सन्दर्भो को भूलने से, या उनको गलत ढग से लेने से, काम नही चलेगा।

ये सन्दर्भ असल मे क्या है ? उन सन्दर्भों की क्या स्थिति होती है ? वे कहाँ किस प्रकार से अवस्थित होते है ? आइए, इन प्रश्नों पर हम पल-भर विचार कर लें।

भावना स्वय हृदय मे सचित प्रतिक्रियाओ का, मानसिक सवेदनात्मक प्रतिक्रियाओ का एक समुदाय है। वह भाषा मे व्यक्त होकर, भाव-रूप बनकर, विशिष्ट-विशिष्ट सवेदनात्मक प्रतिक्रियाओ का सामान्यीकरण बन जाता है। उस भाव-रूप को भीतर से हमे जीवन की स्थितियो की—वस्तु-तथ्यो की—सूचना मिल जाती है कि जिनके प्रति अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ की गयी है। इस भाव-रूप के मूर्तिमान करने के लिए कल्पना-चित्र भी प्रस्तुत होते है। जरा सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि कल्पना-चित्र स्वय एक बोधात्मक ज्ञानात्मक (जीवन-ज्ञानात्मक) पक्ष रखते हैं, और उनका दूसरा पक्ष नि सन्देह सवेदनात्मक होता है। इस प्रकार दोनो पक्षो के सयोग से कल्पना-चित्र मे सौन्दर्य और सार्थकता उत्पन्न होती है। कल्पना और भावना, दोनो का जो मिला-जुला

विभिन्न अन्तर्तत्त्वों के अन्त सम्बन्ध पहचान सका, सवेदनात्मक रूप से उन्हे ग्रहण कर सका, उन अन्त सम्बन्धो के समुच्चय की विशेष गठन को आत्मगत कर सका—अर्थात उन्हें खूब अच्छी तरह जान सका—तथा विशेष दिशा मे प्रवाहित अन्तर्धारा की गति को और उसकी अन्तिम परिणति को समझ सका, तो यह समझा जायेगा कि वह क्षण अब शीघ्र ही आ रहा है जब समीक्षक स्वय उन अन्तर्तत्त्वो की व्याख्या तक पहुँचेगा, और कलाकृति को उसकी समग्रता मे समझकर, उसके स्वरूप का विश्लेषण करते हुए वह कलात्मक मूल्याकन करेगा, तथा कवि-व्यक्तित्व और उसकी विचार जीवन-भूमि पर प्रकाश डाल सकेगा। किन्तु यदि उसके ये प्राथमिक कार्य ही अधूरे है यदि उसके पास इतनी सवेदन क्षमता ही नही है कि वह कवि के साथ कुछ दूर तक चल सके, तो ऐसी स्थिति मे स्वरूप-विश्लेषण और व्याख्या, तथा सिद्धान्त—प्रयोग और शब्दावलियाँ—सब भ्रामक हो उठेंगी।

किन्तु यदि प्रगतिवादी महोदय वास्तविक कला-समीक्षा के कार्य म तत्पर होते तो उन्हें प्रयोगवाद मे, नयी कविता मे स्वस्थ प्रगतिकाक्षी मानवीय तत्त्व और कलात्मक सौन्दर्य का उदभाम अवश्य मिलता।

किन्तु प्रयोगवादी नयी कविता म सामाजिक राजनैतिक पक्ष की प्रधानता न होने के कारण (वह बिलकुल ही नही था या नही है यह कहना गलत है) उसके विषय भिन्न होने के कारण, प्रगतिवादियो मे इतनी मानसिक तत्परता नही थी कि जो मानसिक तत्परता अपने कार्य द्वारा विस्तृत कला-समीक्षा तथा विस्तृत समीक्षा साहित्य हमे प्रदान कर जाती।

यही कारण है कि साहित्य की रचनात्मक प्रक्रियाओ म उन्होने कोई दिलचस्पी नही ली। और यदि ली भी, तो छिटपुट ढग से। वे यह भूल गये कि लेखको का एक विशाल समुदाय होता है। और बात इस तरह कही जानी चाहिए, ऐसी शब्दावली मे कही जानी चाहिए कि जो लेखको के गले उतरे, प्रयोगवादी या नये कवियो के गले उतरे, और लेखक को यह महसूस होता रहे कि समीक्षक मेरा आत्मीय बन्धु है, और वह भले ही मुझसे मतभेद रखता हो, किन्तु मुझम और साहित्य की प्रक्रियाओ म उसकी सच्ची और गहरी दिलचस्पी है।

जिस लेखक के काव्य मे जितनी ही अधिक दु खात्मक अनवस्था व्यक्त होती है, उसे मानवीय सहानुभूति और प्रेम की उतनी ही अधिक आवश्यकता होती है। वह लेखक अपनी दु खात्मक अनवस्था मे प्रेम और सहानुभूति के द्वारा ही ऊपर उठ सकता है। नि सन्देह समीक्षक का यह एक प्रधान धर्म है कि इस दु खात्मक अनवस्था के भौतिक और मनोवैज्ञानिक कारणो को हृदयगम करे, और अपने विवेक तथा हृदय की सारी शक्ति का केन्द्रित करके, हलके-हलके, नाजुक ढग से, क्रमश अपने प्रेम और सहानुभूति की उष्ण शक्ति के द्वारा, उसे ऊपर उठाये। समीक्षक का यह मानव-धर्म है, या यो कहिए कि जीवनानुभवसम्पन्न सवेदनशील विवेकवान समीक्षक के समीक्षा-कार्य की यह मानवीयता है। किन्तु जहाँ समीक्षक लेखक को अवाछनीय अथवा विपक्षी या शत्रु समझता है, व्यक्ति के रूप मे नहीं, किसी प्रवृत्ति के प्रतीक या प्रतिनिधि के रूप मे—ऐसे लेखक को जो आपसे भिन्न मत रख सकता है फिर भी जो अभी विकासमान है, जिसमे अभी ज्वलन्त स्फुलिंग हैं, जो आपके विपक्षियो के घोषित दल का सिपहसालार नही है, जो अभी बन

रहा है, प्रसिद्ध हो चुका है, किन्तु अपनी विकास यात्रा के दीर्घ पथ को जिसे अभी पार करना है—ऐसे लेखक को यदि समीक्षक अपना, अपने आक्रमणो का, लक्ष्य बनाता है, तो भले ही उसके आक्रमण सफल हो, वह समीक्षक अपने लक्ष्य से च्युत हो गया, यह सन्देह के परे है। किन्तु समीक्षक यदि ऐसे लेखक अथवा लेखको की उपेक्षा कर जाता है, अपनी विवेकशील सहानुभूति और प्रेम की उष्ण शक्ति का प्रयोग इस कार्य मे नही करता, तो ऐसी स्थिति मे भी वह समीक्षक भारी भूल करता है।

और समीक्षा के क्षेत्र मे ऐसे भयानक विभ्राट तब होते है, जब समीक्षक, साहित्य सृजन की मूलाधार वास्तविक मानव भूमि से सम्बन्ध त्याग करके, अपने-आपमे स्वय पूर्ण-सम्पूर्ण बनकर उपस्थित होता है तथा पाण्डित्य का चण्डत्व और चिन्तन की चतुरता बताते हुए सैद्धान्तिक शब्दावली मे अपने-आपको स्थापित करने का प्रयत्न करने लगता है। ऐसे समय समीक्षक का उद्देश्य लेखक से परस्पर सवाद करना, आत्मीय आधार पर विचार-विनिमय करना, एक-दूसरे का परिज्ञान करना, नही है,वरन् कुछ और है। वह अपनी मूलभूत सचाई और ईमानदारी के उष्ण और आलोकपूर्ण प्रकाश म लेखक के हृदय को जीतना नही चाहता,वरन् अपन-आपको उससे महत्त्वपूर्ण समझते हुए, अथवा उससे भटका हुआ समझते हुए, अपने अस्तित्व के महान् औचित्य को स्थापित करना चाहता है।

सच [यह] है कि लेखक महापुरुष बनकर पैदा नही होता, वह आदर्शवादी, अध्यात्मवादी, साम्यवादी बनकर नही जनमता। वह अपने सामाजिक वातावरण मे सांस लेकर अपने परिवेश स प्रतिक्रिया करता है। उसे अपने परिवेश के भीतर जो कटु अनुभव प्राप्त हैं, उन कटु अनुभवो की वारम्बारता उसमे सघन निविड कटुत्व का भाव उत्पन्न करती है, और यह भाव स्थायी भाव भी बन सकता है। उसी प्रकार अन्य अनुभवो के सम्बन्ध मे भी यह सच है। एक विशेष जीवनावस्था की विशेष परिस्थितियो मे, और उन परिस्थितियो की प्राय नित्यता की स्थिति मे, एक विशेष प्रकार की एक विशेष रूप शैली की सवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ अपनी तीव्रतम बारम्बारता स्थापित कर लेती हैं। और ऐसी प्रतिक्रियाओ की तीव्रतम बारम्बारता जब प्राय नित्यत्व मे बदल जाती है तो लेखक के हृदय मे वे सवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ, क्रमश, अपनी अभिव्यक्ति के कलात्मक उपादानो का विकास करने लगती हैं, और अन्त मे, एक कलाकृति नही, कलाकृतियो मे परिणत हो जाती है।

ऐसे समय मे, जो कवि-दृष्टि है, अर्थात् कवि की जो भाव-दृष्टि है, वह जीवन-दृष्टि उन सवेदनात्मक प्रतिक्रियाओ मे डूबी हुई होती है। वह उसी प्रकार डूबी हुई होती है जिस प्रकार ज्ञान स्वय वेदना म डूबकर वेदनायित हो उठता है। सक्षेप मे, काव्य मे वेदना की भाषा, दु ख की भाषा दिखायी देती है। और इस तरह के काव्य मे हमे जो एक दु खात्मक अनवस्था के भीतर जीवन-आलोचन दिखायी देता है, वह अपने परिवेश के प्रति उन क्षणो मे की गयी एक प्रतिक्रिया या प्रतिक्रियाओ की तीव्राघातपूर्ण ध्वनि है। वह लेखक का कोई सैद्धान्तिक जीवन दर्शन नही है।

यह एकदम सही है कि लेखक जितना अधिक अनुभवसम्पन्न, विवेकशील, और वैविध्यपूर्ण प्रसगो का भोक्ता रहा होगा, जीवन-विस्तारो के प्रति जितनी

ही अधिक उत्सुकता, जिज्ञासा और सर्वाश्लेषी भावना उसमे रही होगी, उसमे उतनी ही अधिक उदात्तता, गम्भीरता और विशालता आयेगी। यह पुस्तकी आदर्शों से अनुप्राणित होने के कारण नही आयेगा, वरन् साधारण जीवन मे साधारण मानव की व्यक्त उदार हृदय-शक्तियो से, और उदात्त व्यक्तित्व के धारक सामान्य मनुष्यो से, अति-लघु-कण मे व्यक्त सूर्य-बिम्ब की अनुभूति से, मामूली लागो की बेमामूली खूबसूरती से, मुखमण्डल के वास्तविक चन्द्रस्मित से, प्राप्त होगी, भाषणो और पुस्तको तथा समीक्षा-लेखको मे प्राप्त आदर्शो से नहीं, नही ही।

लेखक अपने परिवेश मे, पारिवारिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय वातावरण मे, साँस लेता है। साहित्य-क्षेत्र मे भी उसे एक वातावरण मिलता है। यदि साहित्य-क्षेत्र मे प्रगतिवादियो का व्यापक प्रभाव होता, तो लेखक भी जाने-अनजाने उनके भाव-तत्त्व अपनी साँस मे खीच लेता। किन्तु वैसी स्थिति नही है। क्यो नही है? क्या इसका दोष केवल, हाँ केवल, बाहर के पूँजीवादी-प्रतिक्रियावादी के मत्थे मढा जा सकता है? मेरे खयाल से, वह सिर्फ उसी पर नही मढा जा सकता। उसका एक कारण—उस हानि का एक कारण—स्वय प्रगतिवादी है!

साहित्य-क्षेत्र मे किसी प्रवृत्ति का प्रभाव कब बढता है, किन स्थितियो मे बढता है? प्रभाव बढने का या घटने का एक कारण, नि सन्देह, सामाजिक-राजनैतिक है। किन्तु हम उस विषय पर यहाँ बात नही करेंगे, यद्यपि वह एक अत्यन्त [illegible] है। हम यह कहना चाहते हैं कि, अलावा सामाजिक-राजनैतिक
की प्रभाव हानि का एक कारण
[illegible]तर की कमजोरियाँ।

साहित्य क्षेत्र मे सर्वाधिक प्रभावशाली होता है साहित्य और साहित्यकार, न कि समीक्षक और उसकी समीक्षा। हाँ, यह अवश्य है कि पण्डित रामचन्द्र शुक्ल और महावीरप्रसाद द्विवेदी-सरीखे लोग भी अत्यन्त प्रभावशाली रहे है। किन्तु निर्णायक प्रभाव कलात्मक साहित्य और साहित्यिक कलाकार का ही होता है। समीक्षा कम पढी जाती है, कहानी, उपन्यास और कविता अधिक, समीक्षा से अधिक। और समीक्षक अपनी समीक्षा इतनी प्रकाण्ड और प्रचण्ड पाण्डित्यपूर्ण शब्दावली मे गठित करता है कि वह कलाप्रेमी साधारण पाठको के लिए नही, न लेखको के लिए, लिखता है (क्योकि अगर लेखको के हित के लिए लिखता होता तो उसका स्वर, शैली, गठन और रूप, सभी भिन्न प्रकार के होते), वह विचारो के क्षेत्र मे विचरण करनेवाले, सिद्धान्तो के क्षेत्र मे पर्यटन करनेवाले, और देश-विदेश से प्राप्त अनेकानेक बौद्धिक परिकल्पनाओ के क्षेत्र मे आनन्द-यात्रा करनेवाले, चिन्तको और विचारको के लिए लिखता है।

जो हो, यह सही है कि अगर साहित्य-क्षेत्र मे प्रगतिवादी कलाकारो की, प्रगतिवादियो द्वारा की गयी विस्तृत, गहन, मार्मिक तथा व्यवस्थाबद्ध आलोचना होती—जैसे, यशपाल की, उपेन्द्रनाथ अश्क की, राहुलजी की, नागार्जुन की, अमृतराय की तथा अन्यो की—तो यह बात समझ मे आ सकती थी कि प्रगतिवादी समीक्षक प्रयोगवादी कविता या नयी कविता के जन्मजात शत्रु ही सही, उनके सजातियो की साहित्यिक उपलब्धियो के विशद, मार्मिक और आत्म-निरपेक्ष विश्लेषण-मूल्याकन मे दिलचस्पी रखते हैं, और उसे कर रहे हैं। वे प्रगतिवादी

कलाकारों को लेकर ही क्यों न सही, अपनी कला-समीक्षा का विकास कर रहे हैं। क्या उन्होंने ऐसा किया ? विख्यात प्रगतिवादी कलाकारों के सम्बन्ध में उन्होंने कितने समीक्षात्मक ग्रन्थ निकाले ?

और, लीजिए। भारत विभाजन के दौरान में और उसके बाद हिन्दी में उस विषय पर बहुत कुछ लिखा गया है। काफी-से उपन्यास निकले, कहानियाँ निकलीं। क्या प्रगतिवादियों ने उन सबको एक जगह इकट्ठा करके, उन सबका विशद अध्ययन विश्लेषण तथा कलात्मक मूल्यांकन किया ? इस विषय पर उन्होंने कितने ग्रन्थ प्रकाशित किये अब तक ?

छायावाद के सम्बन्ध [illegible]
त्मक था। और वह ख्य [illegible]
महत्त्वपूर्ण थे जो अपने-आप [illegible]
शेष जो 'गौण' कवि थे — [illegible]
भगवतीचरण वर्मा, सुभ [illegible]
विशेष अभिव्यक्ति-शैली थी—उनके सम्बन्ध में प्रगतिवादियों ने कितनी ग्रन्थ-रचनाएँ कीं ? यदि वे छायावादी कवियों समेत इन सबके साहित्य का विश्लेषण-मूल्यांकन करते तो उनकी कला-समीक्षा—प्रगतिवादी कला-समीक्षा—क्या उस पूरे युग को समेट न लेती ?

और, लीजिए। सन् सैंतालीस के बाद, हिन्दी में अनेक नये कहानीकार आये जो प्रगतिशील भाव धारा के निकट थे, अथवा प्रगतिशील आदर्शों के निकट रहे, जैसे, फणीश्वरनाथ रेणु, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, भैरवप्रसाद गुप्त, हरिशंकर परसाई, कमलेश्वर तथा अन्य। प्रगतिवादियों ने इनके सब ग्रन्थों को पढ़कर, इनके कलात्मक साहित्य के विशद निरूपण विवेचन को, उनकी कला की विशेषताओं तथा उनके मूल्यांकन को, अपनी समीक्षा का प्रधान विषय क्यों नहीं बनाया ? उनके सम्बन्ध में उन्होंने कितने ग्रन्थ लिखे ? क्या वे इस योग्य नहीं हैं कि उनका कला समीक्षात्मक—प्रगतिवादी कला-समीक्षात्मक—विवेचन हो सके ?

और, लीजिए। प्रगतिवाद ने हिन्दी में एक ऐतिहासिक कार्य किया है। प्रगतिवादी प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत उपन्यासकार, कहानीकार, आलोचक, कवि, विद्वान्, अनुसन्धानकर्ता तथा बहुत-से लोग आये। इन सबकी एक लम्बी फेहरिस्त हो सकती है। यहाँ तक कि उनके कतिपय विपक्षियों ने भी इनके बहुत-से तर्कों और स्थापनाओं को इस तरह आत्मसात् कर लिया, मानो वे बड़े उदार हों। किसी-न-किसी रूप में प्रगतिवादी प्रवृत्तियाँ आज भी साहित्य में पनप रही हैं। तो क्या हिन्दी में प्रगतिवादी साहित्य का इतिहास-जैसा कोई ग्रन्थ नहीं लिखा जा सकता है ? हाँ, सही है, प्रगतिवाद के उपस्थापन में बहुत-सी जो भी त्रुटियाँ रही हों उनका भी आत्मालोचनपूर्ण व्याख्यान हो सकता है।

जरा इसे भी देखिए। हिन्दी में प्रगतिवादी समाज दर्शन, साहित्य-दर्शन, *सौन्दर्य-दर्शन तथा समीक्षा प्रश्न, आदि पर प्रगतिवादी दृष्टिकोण से,* और अत्यन्त सुविचारित व्यवस्थाबद्ध रूप से, सगठित रूप में, पुस्तकें लिखी जानी चाहिए थीं, जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त साहित्य तथा कला सम्बन्धी प्रश्नों पर, न केवल रूस वरन् पोलैण्ड, हंगरी तथा अन्य देशों में, जो विचार-विनिमय

हुआ है, वह विचार-विनिमय, तथा साम्यवादी जगत् के इन प्रश्नो को लेकर बाहर की दुनिया मे जो सवाल खडे किये गये हैं, और जो अपने-अपने ढग से हल-चल मचाते रहे हैं, उन र [illegible]
समाधान उपस्थित रहे [illegible]
तैयार की गयी, जिसे [illegible]
मीमासा से लेकर, दार्शनिक सिद्धान्तो और समाज-दर्शन से होते हुए, सौन्दर्य-दर्शन की गहराई मे डूबकर, साहित्य मे कल्पना-चित्र के आत्मपरक और वस्तु-परक महत्त्व तक पर, समुचित और विस्तृत प्रकाश डाला गया हो, और जिसमे हिन्दी के लेखको के मन मे बार-बार उठनेवाले प्रश्नो पर खूब विचार करके उनके विशेष सन्दर्भों को समझकर उनका समाधान किया गया हो ? क्या ऐसी पुस्तकें लिखी गयी ? नही, नही !

जबसे प्रगतिवाद आरम्भ हुआ तब से लेकर आज तक न मालूम कितनी ही तरह से विपक्षी समीक्षक-विचारक प्रगतिवाद के सम्बन्ध मे आरोप लगाते आये है। उनके कतिपय आरोपो के उत्तर समय-समय पर प्रगतिवादियो द्वारा दिये भी गये हैं। इन सबको फिर से सूत्रबद्ध करके, क्या ऐसी सागोपाग अध्ययनपूर्ण पुस्तक नही निकाली जा सकती, जिसमे प्रगतिवादी स्थिति का विशद और विस्तृत उपस्थापन हो, जिसमे सवालो का मजाक उडाते हुए जवाब न दिया गया हो, वरन् आज की सामाजिक और राष्ट्रीय अवस्था मे उन प्रश्नो को स्वाभाविक जान, उनका नम्रतापूर्वक उत्तर दिया गया हो ? क्या ऐसी पुस्तक सच-मुच लिखी गयी है ?

हाँ, यह सही है कि एक व्यक्ति का यह काम नही है। अपने ढग से डॉक्टर रामविलास शर्मा चिढते-खीझते, तडपते-छटपटाते हुए, अपनी शक्ति के अनुसार, अपनी सारी क्षमताओ और अपनी सारी सीमाओ और कमजोरियो के साथ, इस ओर, इस क्षेत्र मे काम करते रहे हैं।

किन्तु क्या यह सही नही है कि यह एक व्यक्ति का काम नही है ? डॉक्टर रामविलास शर्मा, श्री शिवदानसिंह चौहान, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्री अमृतराय, डॉक्टर नामवर सिंह, तथा इनके अतिरिक्त यशपाल और नागार्जुन-जैसे लेखक-कलाकार क्या कभी इकट्ठा होकर, सम्मिलित रूप से काम नही कर सकते थे ? क्या इस सम्बन्ध मे, इस क्षेत्र मे, सगठित और सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता नही है ?

और, अगर ये सम्मिलित रूप से, सगठित रूप से, काम नही कर सकते तो क्या इसका अर्थ यह नही है कि, अन्य बाधाओ के अतिरिक्त, एक बाधा यह भी है कि ये सब मध्यमवर्गीय व्यक्तिवादी हैं, जिन्हे अपनी व्यक्ति-सत्ता अन्य बातो से अधिक प्रिय है ? और फिर, क्या ऐसे लोग साहित्य-क्षेत्र पर अपने प्रभाव का विस्तार कर सकते हैं ? अपने प्रभाव का अर्थ अपनी विचार-धारा का प्रभाव है। और क्या यह सच नही है कि प्रगतिवाद-सम्बन्धी प्रश्नो को लेकर इन सबमे भिन्न-भिन्न प्रकार की धारणाएँ और विचार हैं ? और क्या यह सच नही है कि वैचारिक आदान-प्रदान द्वारा एकमत स्थापित होना चाहिए ? और यदि स्थापित न हो तो उन्हे दबाकर बैठने के बजाय उन्हें स्पष्ट करना चाहिए, ताकि हिन्दी मे स्वतन्त्र रूप से प्रगतिवादी भाव-धारा का अधिकाधिक विकास हो सके, कि

यह कुछ सिद्धान्त-सूत्रों का एक जड़ीभूत और बीच-बीच में टूटा हुआ स्तूप ही न बन पाये ? और, क्या इन सारी बातों में (प्रगतिवाद के पूर्णत: पक्षधर ही न सही, किन्तु) प्रगतिवाद के अनुकूल जो लेखक हैं उनसे सहयोग लेना गलत होगा ?

और, क्या प्रगतिवादी सज्जन, जिसमें से कुछ, भारत के निम्न-मध्यवर्गीय दारिद्र्य के स्तर को देखते हुए, पर्याप्त सम्पन्न हैं, क्या वे स्वयं प्रगतिवादी भाव को प्रधानता देनेवाली कोई पत्रिका नहीं निकाल सकते ? आज जब कि हमारी नयी कविता के छोटे-छोटे लेखक अपनी छोटी-छोटी पत्रिकाओं से अपना काम चला लेते हैं, तो क्या साहित्य के 'नेतृत्व' का प्रयास करनेवाले, और 'यथार्थ' को बदलने की महत्त्वाकांक्षा रखनेवाले, ये हमारे प्रगतिवादी सज्जन ऐसी कोई रचनात्मक साहित्य की सुरुचिपूर्ण और महत्त्वपूर्ण पत्रिका नहीं निकाल सकते, जिसमें लेखकों-कलाकारों, कवियों और समीक्षकों का सहयोग हो ?

जब साहित्य-क्षेत्र में रहकर आप अपना एक छोटा-मोटा पत्र भी नहीं निकाल सकते और उसके द्वारा आप वैचारिक आदान-प्रदान नहीं कर सकते, तो ऐसी स्थिति में आप यह कैसे समझ लेते हैं कि साहित्य-क्षेत्र में आप अपना एक वातावरण बना सकेंगे ? और, जब तक आप उस पत्र को आज की सामाजिक राष्ट्रीय अवस्था में बन रहे साहित्य से नहीं जोड़ते, तब तक आप यह कैसे समझ लेते हैं कि साहित्य-क्षेत्र की विकासमान गतियों को आप मोड़ लेंगे ?

तो फिर आपकी अबतर हालत को, और आपकी जड़ीभूत अनवस्था को, आपके मध्यमवर्गीय व्यक्तिवाद को, देखते हुए यदि यह कहा जाय कि आपको वास्तविक साहित्य में कोई विशेष अनुराग नहीं है, तो इसमें गलती कहाँ है ?

क्या आपने अपने प्रभाव-क्षय के कारणों पर आत्मालोचनपूर्ण विचार किया ? क्या विश्व के विभिन्न प्रगतिवादी क्षेत्रों में साहित्य-प्रश्नों के सम्बन्ध में जो विचार विनिमय हुआ करता है, उसके बारे में आपस में चर्चा करके कोई नतीजे निकाले ? क्या यह आवश्यक और उपयोगी नहीं है ? क्या आपको जबर्दस्त धक्का देने की जरूरत नहीं है, आपकी भयानक अनवस्था को देखकर ?

साहित्य-क्षेत्र में आपका प्रभाव आपकी उपलब्धियों से होगा, कला-समीक्षात्मक उपलब्धियों से, ईमानदार, वैज्ञानिक, नैतिक, निर्भय, तटस्थ, आत्मनिरपेक्ष, लेकिन सच्चे दिल से और अनुरागपूर्ण मन से किये गये मानवीय ज्ञान-संवेदनात्मक और संवेदन-ज्ञानात्मक समीक्षा-प्रयासों से और ऐसे ही तात्त्विक विश्लेषणों से। आपका प्रभाव आपकी समीक्षा में उद्भासित उदात्त, गम्भीर, कोमल, नम्र और अनुरागपूर्ण व्यक्तित्व से होगा, न कि सैद्धान्तिक कलह की भयानक उत्तेजनाओं के विसंवादी स्वर से। भूल न जाइए कि ठीक इसी स्वर ने आपको अपने खुद के लेखकों से अलग हटा दिया। बाहर के लेखकों की तो बात ही दूसरी है। कलह-पूर्ण विसंवादी स्वर का होना, और मतभेद की स्थापना, ये दोनों एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं, यह समझ लेना शायद आपके लिए हानिप्रद नहीं है।

ध्यान में रखने की बात है कि लेखकों से 'कलह' करके, ऐसे लेखकों से जिन्हें पूरा-का-पूरा विपक्षी नहीं कहा जा सकता, जो अभी अपनी विकास यात्रा पर आग बढ़ रहे हैं, आप अपने उन प्रभावशाली विपक्षियों के हाथ ही मजबूत बना रहे हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य आपकी विचारधारा को और आपको पूर्णत:

समाप्त कर देना है—ऐसे विपक्षियों के, जो आपसे अधिक एकताबद्ध, साधन-सम्पन्न और क्रियाशील हैं, और जो अपने वास्तविक कार्य व्यवहार द्वारा विकासमान लेखक-वर्ग से घनिष्ठ सम्पर्क बनाये हुए हैं, ऐसे विपक्षी समीक्षक जो स्वयं विद्वान, प्रभावशाली और जागरूक हैं। ऐसी स्थिति में भी यदि वे पूर्णतः साहित्य-क्षेत्र पर अपना प्रभावाधिकार नहीं जमा पा रहे हैं तो इसका एक कारण है, लेखक-वर्ग की अपनी उद्बुद्धता और चेतना। संक्षेप में, आपको स्थिति-परिस्थिति का, सामाजिक-राष्ट्रीय अवस्था का, परिप्रेक्ष्य रखना आवश्यक है। विपक्षियों से स्पर्धात्मक सफलता समीक्षा के क्षेत्र में, कला-समीक्षा के क्षेत्र में, विचार और चिन्तन के क्षेत्र में, अपनी स्वयं की गौरवपूर्ण और स्थायी मूल्य रखनेवाली उपलब्धियों में होगी। तभी आपका भाव-प्रभाव होगा, अन्यथा नहीं।

और, जब कि हिन्दी साहित्य-क्षेत्र पर आपका भाव-प्रभाव लगभग नहीं है, तब आप यह कैसे आशा करते हैं कि नये लेखक आपके अनुरोधों और आग्रहों को स्वीकार कर लेंगे, जबकि आपसे उनकी कविताओं के भीतर के सन्दर्भ से उनके ठीक ठीक अर्थ करना भी नहीं आता!

जब हिन्दी साहित्य-क्षेत्र पर आपका भाव-प्रभाव ही नहीं है, तब आप यह कैसे समझ लेते हैं कि लेखक भयानक अनाशा और अगतिकता से बचते हुए स्वस्थ मानवीय आकांक्षाओं को स्वर प्रदान कर सकेगा, और अगर वह ऐसा नहीं करता तो वह गलत किस्म का आदमी है, प्रतिक्रियावादी है?

जब हिन्दी के प्रान्तों में आपका सामाजिक राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा कोई निर्णायक प्रभाव ही नहीं है, जो सामाजिक-राष्ट्रीय वातावरण में से सीधे-सीधे खींचा जा सके, तो फिर ऐसी स्थिति में आप यह कैसे मानते हैं कि आपकी कठोर और कटु समीक्षाओं को पढ़कर लेखक अपनी 'लाइन' बना लेगा?

जब पश्चिम के ह्रासग्रस्त साहित्य और विचारधारा के विरोध में, जिसका कि प्रचार हिन्दी में खूब हो रहा है, उसी पश्चिम की इसी सदी के सुन्दर, स्वस्थ और मानवीय साहित्य का प्रचार प्रसार आप नहीं करते, और वहाँ के प्रभावशाली और विश्वमान्य लेखकों की कलात्मक विशेषताओं पर चर्चा नहीं करते, तो यह कैसे समझा जाये कि आप अच्छे साहित्य में दिलचस्पी रखते हैं? अमरीका ब्रिटेन, फ्रांस और इटली यहाँ तक कि पश्चिमी जर्मनी और जापान के साहित्य के सम्बन्ध में, महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों के सम्बन्ध में, सोवियत लिटरेचर में लेख समय समय पर प्रकाशित हो सकते हैं, और ऐसे साहित्य के मानवीय महत्त्व का वहाँ प्रतिपादन किया जा सकता है, तो क्यों साहब, आप उन उत्तमोत्तम कलाकृतियों द्वारा हमारे लेखकों के हृदय का सिंचन क्यों नहीं कर सकते? और जब आप हमारे लेखक-कलाकारों के हृदय का सिंचन नहीं कर सकते, जब आप उनकी हृदय-भूमि, उनकी मानव भूमि की उपेक्षा करना जाने अनजाने अपना गौरवपूर्ण समीक्षा धर्म समझ लेते हैं, तो ऐसी स्थिति में आप क्यों यह अपेक्षा करने लगते हैं, या यह चाहने लगते हैं, कि लेखक आपकी शुष्क, नीरस, अर्थ विक्षेप में उद्युक्त, वाक्य-व्याख्या सुने और उससे अपने लिए कोई निर्देश ग्रहण करे? और, जब आप देश विदेश में उत्पन्न ठीक इसी संकटापन्न बीसवीं सदी के श्रेष्ठ साहित्यकारों के कलात्मक आनन्द का वितरण इस प्रकार नहीं करते, नहीं करना चाहते, तो यह क्यों न समझा जाय कि कलात्मक साहित्य में भीगने की, उसमें रस लेने की, आपमें क्षमता

नहीं है ? और यदि है तो आप उसको अपने तई रखना चाहते हैं, जिससे यह साफ जाहिर होता है कि जहां तक हिन्दी के लेखकों का सम्बन्ध है—ऐसे लेखकों का जो अभी विकास यात्रा के पथ पर हैं, जिनके हृदय का सिंचन करना एक आवश्यक समीक्षात्मक कार्य है—आपको जीवन्त कलात्मक साहित्य में कोई गहरी और खास दिलचस्पी नहीं है, नहीं ही है।

और, आप अपनी ऐसी अबतर अफसोसनाक हालत पर नजरसानी न करते हुए, जब आप किसी चट्टान से लड़ जाते हैं, तो आपकी उस वीरत्वपूर्ण तेज पुंज मूर्ति का ध्यान किया जा सकता है, किन्तु उस कार्य की सार्थकता का अभावात्मक मूल्य ही आंका जा सकता है।

सर्वाधिक विस्मयजनक और, आपके अपने सम्बन्ध में शंकाजनक, बात यह है कि पिछले बीस-पच्चीस साल के आपके कार्यकाल में प्रगतिवादी समीक्षा का अनुभव प्रभावित विकास नहीं हुआ, और वह समीक्षा सृजनशील न हो सकी। क्या यह आपके लिए खेदजनक नहीं है ?

अपनी बात दूसरों के गले वही उतार सकता है, जो जिन्दगी से खुद सीखता है। जहां तक वास्तविक मानव ज्ञान का प्रश्न है—किसी भी वास्तविक ज्ञान का प्रश्न है—वह ज्ञान स्पर्धात्मक प्रयासों से नहीं, सहकार्यात्मक प्रयासों से प्राप्त और विकसित हो सकता है। दाना दुश्मन भी हमें बहुत-कुछ दे सकता है। उससे हमें सीखना चाहिए, वह बहुत-सी बातें सही कहता है, सही कह सकता है। इसलिए उसकी उन सही सही बातों को उठा लेना जरूरी है। अपने प्रतिपक्षी से क्या सीखना आवश्यक नहीं है ? द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में तो दो विरोधी पक्षों का संघर्ष और उस प्रक्रिया के अन्तर्गत परस्पर-प्रवेश आवश्यक माना गया है। तभी विकास होता है।

निःसन्देह प्रतिपक्षी का विरोध आवश्यक है। प्रत्येक क्षेत्र में विचारों का युद्ध होता है। किन्तु, तटस्थ भाव से, प्रथमतः, प्रतिपक्षी के उपस्थित दृष्टिकोण का, उसकी विशेषताओं को, उसकी विशेषताओं के मूल्य को, या उसकी विशेषताओं की निरर्थकताओं को, निरूपित करना, आत्म-निरपेक्ष रूप से उन्हें और उनके अन्तःसम्बन्धों को प्रस्तुत करना, उनका विश्लेषण करना, और उसकी दृष्टि का मूल्यांकन करना, जहां-जहां आवश्यक है वहां-वहां उसका खण्डन करना, अथवा वह पूर्णतः असंगत और अनुचित है तो पाठकों और लेखकों के गले उतरने लायक ढंग से उसका सम्पूर्ण उद्घाटन, उसकी अन्तर्व्यवस्था का समग्र निवारण और खण्डन, जोरदार मुखालफत, प्रबल विरोध करना, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। संक्षेप में, प्रतिपक्षी के प्रति भी पूरी ईमानदारी बरती जाये। ईमानदारी का अर्थ है, आत्मपरक और वस्तुपरक खरी-खरी और खड़ी-खड़ी बात, जो एकदम वास्तवाधारित हो और वास्तव का उद्घाटन कर दे।

यह मानकर चलना जरूरी है कि कभी-कभी अपना शत्रु भी सच्ची सच्ची बात कह सकता है कि उसके वक्तव्य में भी यथार्थ के अल्पज्ञान या अज्ञान पक्ष, अप्रकाशित या अर्धप्रकाशित पक्ष, क्षण भर के लिए ही क्यों न सही, अपनी झलक बता सकते हैं। ऐसी आस्था मानव-आस्था के अनुसार ही है, उसके विरुद्ध तो नहीं है।

यह भी समझना आवश्यक है कि जिसे हम अपना प्रतिपक्षी समझते हैं वह वस्तुतः प्रतिपक्षी है या नहीं। यह बहुत सम्भव है कि वह विरोधी पक्ष से केवल

प्रभावित हो, और वह प्रतिपक्ष के तर्कों और युक्तियों की पुनर्व्याख्या कर रहा हो, अपने ढंग से, और सम्भव है कि उसकी पुनर्व्याख्या में भी गलती हो।

यह भी पाया जाता है कि हम लोग, अपने से जो भिन्न है और भिन्न प्रकार के मनोविज्ञान को प्रदर्शित करता है, उसको जल्दबाजी में प्रतिपक्षी समझ लेते हैं और उसके बारे में यों ही विरोध भाव बना लेते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि हम उसकी रचनाओं तक की उपेक्षा कर जाते हैं, यद्यपि उसकी रचनाएँ उपेक्षा-योग्य नहीं होतीं।

साहित्य के प्रश्न मूलतः जीवन के प्रश्न हैं। मनुष्य के अन्तःकरण में अभिव्यक्ति की आकुलता होती है। वह जीवन तत्त्वों को, जीवन-यथार्थ को, जीवन-दृष्टि को, अपनी कृतियों में संवेदनात्मक रूप से प्रकट करता है। अतएव लेखक के वास्तविक मनोवैज्ञानिक संवेदनात्मक जीवन और उसकी अभिव्यक्ति के प्रश्न, वस्तुतः, उसके जीवन के प्रश्न होते हैं। साहित्य के प्रश्नों को हलके ढंग से नहीं लिया जा सकता। उनका समुचित, विस्तृत मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म-दृष्टिपूर्ण उत्तर प्रदान करना आवश्यक होता है। लेकिन वैसा नहीं किया गया, नहीं किया जाता।

जीवन-चिन्तन जीवन-यथार्थ के ज्ञान-संवेदनात्मक संवेदन-ज्ञानात्मक आकलन पर निर्भर रहना चाहिए। उसका मूल आधार उसकी मूल सामग्री है—जीवन यथार्थ ही। तभी बौद्धिक चिन्तन को सत्य-प्राप्ति होती है।

कोई भी विचारधारा मात्र एक बौद्धिक उपादान है—यथार्थ के स्वरूप उसकी गतिविधि, उसकी वर्तमान अवस्था, उसकी दिशा को जानने का। जिस प्रकार सुदूरतम को और सूक्ष्मतम को पाने के लिए नव-नवीन यन्त्रों का विकास होता आया है, पुराने ज्ञान में नवीन ज्ञान को जोड़कर, ठीक उसी प्रकार हमारी सिद्धान्त-व्यवस्था का भी विकास आवश्यक है। और वह किया भी जाता है। सिद्धान्त-विकास और सिद्धान्तहीनता (अथवा सिद्धान्त-विरोध) अलग-अलग बातें हैं।

तात्पर्य यह कि विचारधारा या भाव-धारा, सिद्धान्त व्यवस्था अर्थात् ज्ञान-व्यवस्था से प्राप्त सत्य, मूलतः, यथार्थ का (सम्भाव्य रूप से) निकटतम चित्र है। किन्तु और-और निकट पहुँचने की आवश्यकताएँ और सम्भाव्यताएँ बढ़ती ही जाती हैं। इसीलिए सैद्धान्तिक विकास भी आवश्यक होता है।

संक्षेप में, संवेदनात्मक ज्ञान तथा ज्ञानात्मक संवेदन से यथार्थ को अधिकाधिक हृदयंगम करते रहना, और इस प्रकार के यथार्थ के अन्तर्तत्त्वों का, उसके अन्तःसम्बन्धों को, उसके बाह्य-सम्बन्धों को, उसकी गति को और स्थिति को, संवेदनात्मक और बौद्धिक रूप से ग्रहण करते रहना आवश्यक है।

क [illegible]

के [illegible]

निज-विशिष्ट स्थान का भी समावेश होता है।

इतना ही नहीं, ज्ञान मनुष्य के प्रयोजन पर भी निर्भर होता है। इच्छा शक्ति से परिचालित होकर आप किसी विशेष कोण से ही अपना दृष्टि प्रसार करते हैं, अतएव यथार्थ सत्ता की अन्य दिशाएँ या दूसरे छोर आपकी दृष्टि में आ ही नहीं

पाते। इसीलिए समीक्षा में समीक्षक की इच्छा-शक्ति की भी लीला होती है। परिणामत, वह केवल स्वेच्छित क्षेत्रों, कोणों, दिशा प्रमारों पर ही दृष्टिपात करता है। अन्य क्षेत्र और अन्य कोण उसके ध्यान से हट जाते हैं, भले ही वे क्षेत्र, वे कोण उसके अपने क्षेत्र और कोण में गहन रूप से सम्बन्धित ही क्यों न हों।

संक्षेप में, स्थिति-मर्यादा, ज्ञान सीमा, सत्य-बोध की आपेक्षिक क्षमता और अक्षमता को ध्यान में रखकर आलोचक को, मूलत, यथार्थ के सम्मुख नम्र और आत्म निरपेक्ष होना आवश्यक है। यथार्थ को इस प्रकार हृदयंगम करके ही, उसके मूल स्वरूप को संवेदनात्मक और ज्ञान संवेदनात्मक पद्धति से आत्मसात् करके ही, समीक्षक उसकी गति को विशेष दिशा देने का यत्न कर सकता है, अन्यथा नहीं।

केवल सैद्धांतिक ज्ञान से यथार्थ का पूर्ण बोध नहीं होता। मनुष्य के बौद्धिक उपादान क्रमशः विकसित होते हैं, बदलते हैं, किन्तु वे यथार्थ की गति के साथ ही बदलते रहेंगे, विकासमान होंगे, यह आवश्यक नहीं होता। यथार्थ बहुत आगे बढ़ जाता है, विकास क्रम में। बौद्धिक उपादान पीछे छूट जाते हैं, कभी-कभी। इसीलिए बौद्धिक उपादानों के निरन्तर विकास की भी आवश्यकता होती है।

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि इसका अर्थ सिद्धान्त-त्याग नहीं होता। इसका अर्थ केवल यही है कि जिस प्रकार न्यूटन का सिद्धान्त आइंस्टाइन के सिद्धान्त में समाविष्ट और विकसित है उसी प्रकार समीक्षा के क्षेत्र में भी, चिन्तन के क्षेत्र में भी, सिद्धान्त विकास आवश्यक है।

मनुष्य का ज्ञान कितना कालसापेक्ष और स्थितिसापेक्ष है, यह चिन्तन के इतिहास से जाना जा सकता है। यही कारण है कि विचारधारा का विकास होता आया है। क्या हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी विचारधारा का विकास आवश्यक नहीं है?

ज्ञान की स्थितिसापेक्षता और कालसापेक्षता का यही प्रमाण है कि लेखकों का पुनर्मूल्यांकन होता आया है। पोलैण्ड का कवि मिस्कियेविच इसका प्रमाण है। यही नहीं, वर्ल्ड मार्क्सिस्ट रिव्यू में दॉस्तॉएवस्की का पुनर्मूल्यांकन हुआ है।

अपने साहित्य चिन्तन में प्रगतिवादियों ने तटस्थ और वैज्ञानिक दृष्टि से इस बात पर प्रकाश डालने की कोशिश नहीं की कि आखिर वे कौन-से तत्त्व हैं, वे कौन सी मूल शक्तियाँ हैं जिन्होंने काव्य रूप बदला। यह क्योंकर हुआ कि छायावादी और प्रगतिवादी काव्य प्रणाली बदल गयी? क्या इसका कारण केवल यह था कि स्वाधीनता के उपरान्त मध्यवर्ग—शिक्षित मध्यवर्ग—अवसरवादी होकर विशुद्ध प्रतिक्रियावादी हो गया? और, क्या इस प्रकार से, इस स्थिति से, काव्य-रूप बदल सकता है? क्या इस तरह कह डालने से ही यह प्रमाणित हो जायेगा कि प्रगतिशील प्रवृत्ति (वह जिसका नमूना इन समीक्षकों के मन में है) नष्ट हो गयी? क्या पहली बार हमारे भारत में काव्य-परम्परा और काव्य-रूप बदला है? और क्या वह जब-जब बदला है, समाज की अन्ध व्यस्त-स्वार्थवादी शक्तियों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण बदला है?

काव्य रूप में परिवर्तन की मूल कारक-शक्ति क्या है? उसका स्वरूप क्या है?

और क्या केवल काव्य रूप बदल जाने से कोई काव्य प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी हो जाता है?

प्रगतिवादियों ने कलाकार के दायित्व के प्रश्न को सामने उपस्थित करके लेखकों के अन्य प्रश्नों को, वस्तुतः, यदि प्रगतिवादी महत्त्व देना चाहें थे। किन्तु उन्होंने यह काम इतने भद्दे ढंग से किया कि उसका बहुत-कुछ अनिष्ट परिणाम हुआ। लेखक किस प्रकार भाव-ग्रहण करता है, उसका संवेदनात्मक उद्देश्य से क्या सम्बन्ध है, लेखक की कठिनाइयाँ क्या हैं, लेखक का किस प्रकार सामाजीकरण होना चाहिए, लेखक-व्यक्तित्व का सामाजीकरण किस प्रकार सम्भव है, उसके सामाजीकरण में सम्मिलित कौन-सी कठिनाइयाँ आती हैं—इत्यादि प्रश्नों पर ठीक ढंग से विचार उसी हालत में किया जा सकता है कि जब समीक्षक समग्र मानव-सत्ता को ध्यान में रखे, समग्र व्यक्ति-सत्ता और उसके महत्त्व को वह गौरव प्रदान करे, उस व्यक्ति-सत्ता के अनेक पक्षों और स्तरों के प्रति वह संवेदनात्मक सहानुभूति और सूक्ष्म दृष्टि रखे, तथा वास्तविक दर्शन-विज्ञानसम्मत आधार पर तथा व्याप्त प्रश्नों पर विचार करे, स्वयं अपनी हार्दिक बौद्धिक एकात्म मानवीय प्रतिभा के कोमल और सहजोन्मुख रूप प्रस्तुत करे।

जब तक जीवन-जगत् से लेखक के सम्बन्धों को (और उनके विभिन्न स्वरूपों को), जीवन-जगत् के वातावरण से भाव-ग्रहण करने की उसकी मानसिक प्रक्रियाओं को, जीवन-जगत् के प्रति—अपने परिस्थिति-परिवेश के प्रति—की जा रही उसकी तीव्र संवेदनात्मक क्रिया-प्रतिक्रियाओं को, उनके स्वरूप को, उन तीव्र संवेदनात्मक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के भावात्मक गुणों की स्थिति को, सर्जन-प्रक्रिया में इन भावात्मक गुणों के आविर्भाव को, तथा तत्सम्बन्धी अन्य समस्याओं को, कोई समीक्षक स्वयं आत्मसात् नहीं करता, उन पर सर्वांगीण विचारणा प्रस्तुत नहीं करता, तब तक वह लेखक की सहायता नहीं कर सकता, तब तक वह वास्तविक दिशादान नहीं कर सकता। हमारा प्रगतिवादी समीक्षक स्वयं जिन्दगी से कटा हुआ होने के कारण, यह इन प्रश्नों पर सुविचारित मन्तव्य प्रस्तुत नहीं कर सका। उसके पास इतनी संवेदन-क्षमता और सहानुभूति-सामर्थ्य ही नहीं था कि वह ऐसे प्रश्नों पर विचार कर सके। न उसमें इतनी नम्रता थी कि ठोकर खाकर उसी ठोकर से सीखने की कोशिश करे, कि वह स्वयं आत्म-शोधन करे, और सब तरफ़ से जीवन-तत्त्वों और ज्ञान-तत्त्वों को समेटते हुए, स्वयं को अधिकाधिक परिष्कृत और समृद्ध बनाता जाये।

उसकी ऐसी स्थिति में यदि विरोधी विचारक प्रगतिवादियों की स्थूलता से लेखक-वर्ग में उत्पन्न असन्तोष को अपने लिए अनुकूल बनाते जायें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है!

और ऐसी स्थिति में, अगर 'प्रतिक्रिया' की शक्ति हिन्दी में बहुत बढ़ गयी है तो क्या इसका एक कारण यह नहीं है कि ये समीक्षक नवीन जीवन-प्रक्रियाओं को नहीं समझ सके, और प्रयोगवादी कविता या नयी कविता के पूरे क्षेत्र को बदनाम करके उसे 'प्रतिक्रिया' के हाथों में खेलने के लिए छोड़ दिया, अपने हाथों जानबूझकर, उसके हवाले कर दिया? क्या प्रगतिवादियों की यह अप्रगतिशीलता नहीं है?

एक बात निश्चित है, और वह यह कि भारतीय जन-जीवन आज भी विकासशील है। यह भी सन्देह के परे है कि अमानवता-भाव के सारे प्रचार के बावजूद, मानव-आदर्शों के संस्कार, संस्कार-रूप से, आज भी वर्तमान स्थिति से

द्रोह कर उठते हैं। अतएव यह आशा साधार रूप से व्यक्त की जा सकती है कि हमारे कवि आगे चलकर अपने ढंग के नये प्रगतिशील समीक्षक भी लेते आयेंगे।

हाँ, प्रगतिशील समीक्षक। भारत फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमरीका नहीं है। और बड़े बड़े नगरों के साहित्य-केन्द्र भारत का प्रतिनिधित्व करते हों, यह भी आवश्यक नहीं है। भारत पृथ्वी के उस विशालतम क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है जो आज भी पिछड़ा हुआ है। इन मुक्तिकामी और प्रगतिकामी विशाल क्षेत्रों में चलती हुई भावोत्तेजनाएँ उसके अधिक निकट हैं—बनिस्बत कि कामू के, या यैस्पर्स के। भारत की भूमि उर्वर है। युग तीव्र गति से परिवर्तनशील है। नयी कविता के क्षेत्र में नव्यतम प्रतिभाएँ अपना काम कर रही हैं, भले ही वे आज प्रसिद्ध न हों।

किन्तु हमारे प्रगतिशील समीक्षकों ने यह नहीं देखा कि इस प्रयोगवादी नयी कविता के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की भाव-प्रवृत्तियाँ और विचार-प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। उन्होंने तो एक काव्य-प्रणाली ही को,—उसके अन्तर्गत किसी विशेष प्रवृत्ति को नहीं—पूर्णतः विकृत और प्रतिक्रियावादी घोषित किया।

इसलिए वर्षानुवर्ष निर्मित होनेवाले साहित्य की उन्होंने कोई कला-समीक्षा प्रस्तुत नहीं की—ऐसी कला-समीक्षा जो कलाकृतियों के सभी पक्षों पर समान रूप से प्रकाश डालती हो, ऐसी कला-समीक्षा जो साहित्य के आन्तरिक तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए, कलाकार के व्यक्तित्व और उस व्यक्तित्व के माध्यम से समाज और युग की प्रवृत्तियों को निरूपित करती हो, ऐसी विस्तृत और भाव-गम्भीर कला-समीक्षा, जिसमें लगे हाथों साहित्य तथा कलात्मक सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रश्नों पर सर्वाश्लेषी विचार किया गया हो। प्रगतिवादी समीक्षक ने साहित्यांकित जीवन और साहित्य-सृजन की मूलधार जीवन-भूमि में मूलग्राही मर्मज्ञता प्रकट नहीं की। इसीलिए लेखकों को उनके बारे में सन्देह होता है।

समीक्षक के सत्य-प्रवचन सत्यनारायण की कथा इसलिए भी मालूम होते हैं कि लेखक के मन में उत्पन्न होनेवाले अनेकानेक प्रश्नों के उत्तर समीक्षक ने इस ढंग से नहीं दिये, कि जिससे लेखक को मालूम हो सके कि उसकी (लेखक की) भाव-भूमि में समीक्षक की खास और निजी दिलचस्पी है, यह नहीं मालूम होता कि प्रगतिवादी समीक्षक साहित्य रचना की वास्तविक प्रक्रिया को समझ रहा हो, या वास्तविक रचना प्रक्रिया में उसका अनुराग हो, कि वह लेखक की कठिनाइयों को समझने की कोशिश कर रहा हो। यह नहीं मालूम होता कि समीक्षक, बनते हुए साहित्य से, स्वयं कुछ-न-कुछ ग्रहण कर रहा है—भले ही वह उसका विरोध क्यों न करे। कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध तथा अन्य क्षेत्रों में जो विविध प्रवृत्तियाँ और कलाकृतियाँ सामने आ रही हैं, उनसे तटस्थ होकर वह केवल नेतृत्व प्रदान करना चाहता है। इसलिए उसका प्रभाव नहीं हो पाता। संक्षेप में, वह उसी जीवन से परावृत्त और निवृत्त है जो काव्य साहित्य-रूप धारण करता है। समीक्षा की इस जीवन-विमुखता और जीवन निरपेक्षता के कारण उसके सत्यात्मक प्रवचन सत्यनारायण की कथा मालूम होते हैं।

हमारा प्रगतिवादी समीक्षक लेखक के वर्ग, परिवार, व्यक्तित्व, परिवेश, परिस्थिति और मनोरचना आदि के प्रति भी विमुख है। उसके खयाल में लेखक इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उसका सर्वांगीण अध्ययन हो। उसके जीवन, व्यक्तित्व

और साहित्य के क्रमिक विकास पर प्रकाश डालने का काम उसका नहीं। शायद समीक्षक लेखक से अधिक महत्त्वपूर्ण है। और उसके लेखे किसी भी लेखक (चाहे वे यशपाल ही क्या न हों!) या साहित्य-प्रवृत्ति का इतना व्यापक और सारग्राही अध्ययन भी क्यों हो!

लगता है कि समीक्षक सत्यरूपी वट-वृक्ष की छाया में बैठकर स्थापनाओं की व्याख्या कर रहा है। और उन स्थापनाओं की व्याख्याओं के प्रकाश में वह साहित्य-कृति को उन स्थापनाओं की पुष्टि के लिए, उदाहरण के रूप में—केवल उदाहरण के रूप में—उपयोजित कर रहा है। इसका परिणाम यह होता है कि समीक्षक और लेखक इन दोनों के प्रारम्भ बिन्दु केवल एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं, एक दूसरे के विपरीत दिखायी देते हैं। परिणामतः, ये दोनों—लेखक और समीक्षक—एक दूसरे से प्रभावित नहीं होते, अप्रभावित रह जाते हैं, और इस स्थिति में समानान्तर चलते हैं। ये पूर्णतः भिन्न-भिन्न संसारों में रहकर एक-दूसरे से अजनबी बने रहते हैं।

लेखक के साथ आप तब रह सकेंगे जब आप में इतनी मानव श्रद्धा हो कि लेखक वर्ग में हृदय-समृद्धि, प्रतिभा शक्ति और विकास तथा उन्नति की सम्भावनाएँ हैं यह मानकर चलें। इसका अर्थ यह नहीं है कि आप लेखक की विरोधी और युक्तियुक्त आलोचना न करें। इसका अर्थ यह है कि आप उस मनोवैज्ञानिक स्थिति-परिस्थिति को—उस सायकॉलाजिकल सिच्युएशन को—समझें कि जो लेखक के साहित्य-सृजन का प्रारम्भ-बिन्दु बनती है। यानी आप साहित्यांकित जीवन और साहित्य-सृजन की मूलाधार जीव-भूमि को हृदयंगम करें। समीक्षक का यह बुनियादी कर्तव्य है। उसको आत्मसात् किये बिना काम नहीं चलेगा। समीक्षक के अन्तःकरण की मर्मग्राही शक्ति की परीक्षा यहीं होती है। उसकी आत्म-निरपेक्ष सूक्ष्म दृष्टि की कसौटी भी यही है।

कलात्मक चिन्तन के बिना समीक्षा-कार्य नहीं चल सकता। उसी प्रकार वास्तविक जीवन ज्ञान और जीवन चिन्तन के बिना, उसका मानव विवेक और कलात्मक विवेक (ये दोनों, एक तरह से पृथक और दूसरी तरह से अभिन्न हैं) विकसित नहीं हो सकता। यह सही है कि प्रत्येक समीक्षक के अपने-अपने आग्रह होंगे अपने अपने अनुरोध होंगे। किन्तु इन आग्रहों और अनुरोधों की सार्थकता तभी प्राप्त होगी जब वह आग्रह वास्तविक कलात्मक मूल्यों और जीवन-मूल्यों पर—एक साथ दोनों पर—आधारित होगा। इन आग्रहों और अनुरोधों में सार्थकता तभी आयगी जब समीक्षक स्वयं भीगा हुआ हो, वृथा भावुक या वृथा-बौद्धिक न हो। भीगकर कही हुई जीवन विवेकपूर्ण जरा सी बात का मूल्य सैद्धान्तिक आवेश के प्रवाह से कहीं अधिक होता है। समीक्षक यदि स्वयं भीगा हुआ है, मानव हृदय और मानव प्रकृति में यदि वह मर्म-दृष्टि रखता है अनुभव-सम्पन्न भाव गम्भीर विश्लेषण कर सकता है ज्ञानात्मक संवेदनों से और संवेदनात्मक ज्ञान से परिपूर्ण है तभी वह घनिष्ठ और आत्मीय बनकर उपस्थित हो सकता है—पाठक और लेखक दोनों का आत्मीय। यदि साहित्य-सृजन एक संघर्ष है—अभिव्यक्ति के मार्ग का संघर्ष—तो समीक्षा एक प्रेम दर्शन है। ऐसा प्रेम-दर्शन जो आवश्यकता पड़ने पर अतिशय कठोर होता है, किन्तु सामान्यतः उदार और कोमल रहता है। ऐसी समीक्षा का विकास यदि समीक्षक करे, तो

यह निश्चित है कि वह 'नेतृत्व' कर सकता है।

समीक्षक को स्वयं जीवन द्वारा कला के नव-नवीन मान मिलते हैं, अथवा पुराने मानों में नव-नवीन तत्त्व आ मिलते हैं। कलात्मक, समाजशास्त्रीय तथा दार्शनिक मान भिन्न होते हुए भी परस्पर-निर्भर हैं। इसे यों कहा जायेगा कि कला का अपना स्वायत्त स्वतन्त्र राज्य है। किन्तु उसकी यह स्वायत्तता और स्वतन्त्रता सापेक्ष है। वह अपने अस्तित्व ही के लिए, अपने जीवन-तत्त्वों के लिए, प्राण वैभव के लिए कलाबाह्य यह जो अपार विस्तृत जीवन है उस पर निर्भर है। अतएव, समाजशास्त्रीय शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ उसके प्राण-वैभव को बनाती-बढ़ाती या काटती घटाती हैं। किन्तु ये शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ उसके वर्ग, परिवार, व्यवसाय, जीवनयापन-पद्धति आदि के माध्यमों से, उसके मनोजगत् को सँवारती-बिगाड़ती है। और इस प्रकार मनोजगत् बन जाने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि वह कलारूप धारण करे।

कला एक आत्मपरक प्रयास है, भले ही वह यथार्थवादी उपन्यास-रचना क्यों न हो। यहीं से कला का स्वायत्त तन्त्र स्थापित हो जाता है, और उसके स्वतन्त्र नियम कार्यशील होने लगते हैं।

प्रकृति में भी हमें यही दृश्य दिखायी देता है। फूल के विकास और ह्रास के अपने नियम और अपने कार्य हैं। किन्तु वह फूल अपने अस्तित्व के लिए सारे वृक्ष पर निर्भर है—मूल पर, स्कन्ध पर, शाखा पर, यहाँ तक कि पत्तियों पर भी, रश्मि-रासायनिक समन्वय-कार्य के लिए। पुष्प की अपनी (सापेक्ष) स्वतन्त्रता है। किन्तु उसका वह पृथक् अस्तित्व अन्य निर्भर और अन्य-सम्बद्ध है। यह निर्भरता तथा सम्बन्ध-स्थिति, उसके पृथक् अस्तित्व के निर्वाह के लिए ही, उसके प्राणपोषण के लिए ही, अविनाभाव से उपस्थित हैं।

उसी प्रकार कला का अपना स्वायत्त स्वतन्त्र क्षेत्र है। किन्तु उसकी यह स्वतन्त्रता जीवनसापेक्ष है, अपने प्राणपोषण और श्रीसम्पन्नता के विकास के लिए ही। वह लेखक की मनोदशा पर, और मनोदशा के द्वारा ज्ञान-संवेदनात्मक तथा संवेदन-ज्ञानात्मक मनोजगत् पर, अनुभवसम्पन्न मनोजगत् पर [निर्भर है।] ऐसा मनोजगत्, जिसमें बाह्य विश्व आभ्यन्तरीकृत हुआ है, और मनोजगत के माध्यम से जीवन-जगत् पर जिसने लेखक को विशेष भावभूमि प्रदान की, विशेष दृष्टिकोण प्रदान किया, जीवन-मूल्य, मूल्य-भावना, आदर्श-भावना तथा संस्कार के अतिरिक्त परिवेश प्रदान किया—ऐसा परिवेश जिसके प्रति [वह] अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ करता रहा है, ऐसा परिवेश जो राष्ट्र, समाज, वर्ग और परिवार के भीतर की विशेष स्थितियों से और वातावरण से बना हुआ है।

कलात्मक सौन्दर्य के मान, एक विशेष मर्यादा के अन्तर्गत, कलाकृति के भीतर ही हैं। किन्तु सौन्दर्य का यह अन्तरोद्भूत, अन्तर्जनित निकष, निश्चित, नियमित और नियन्त्रित होता है सौन्दर्य-मानों की उस सांस्कृतिक परम्परा से, जो पूर्वापर क्रम से निरन्तर संशोधित, संस्कार-निर्मल होती आयी है, और जो वर्तमान अवस्था में भी युगीन परिस्थितियों और आवश्यकताओं तथा इतरेतर प्रभावों से संशोधित-सम्पादित होती चलती है, सौन्दर्य-मानों की उस सांस्कृतिक परम्परा से, जो आज विश्व के विभिन्न देशों के सौन्दर्य-मानों और कलात्मक उपलब्धियों से पुन:-पुन: प्रभावित, संशोधित और सम्पादित हुई जा रही हैं;

सौन्दर्य-माना की उस सांस्कृतिक परम्परा से, जिसमें मानवादर्श, नैतिक मूल्य तथा अन्य जीवन-मूल्य, संस्कार, तथा मानवीय लक्ष्यों के प्रति उद्युक्त विभिन्न जीवन-गतियाँ प्रवाहित और समाहित होती हैं, उस सांस्कृतिक परम्परा से, जिसमें कलात्मक अभिरुचि, कलात्मक आदर्श कलासम्बन्धी चिंतन भी समाविष्ट होता है।

यह कलाकार जो अपने काव्य-वैभव को और भी विकसित करना चाहता है, वह वस्तुत, द्विमुखी संघर्ष करता है। उसका एक संघर्ष कलाकृति को उसके पूर्ण सौन्दर्य में उद्भासित करने से, कलाकृति के अन्तर्बाह्य नियमों के अनुसार आकृति-गठन प्रस्तुत करने में, उसमें पूर्ण भाव-वैभव लाने से, सम्बन्धित है, तो उसका दूसरा संघर्ष अपने वास्तविक जीवन में अधिकाधिक मानव-अनुभव तथा अधिकाधिक वैविध्य के दर्शन प्राप्त करने से है, अपने को अधिकाधिक संवेदनक्षम, जागरूक और विस्तृत करने में है, तथा ऐसा एक लक्ष्य प्राप्त करने से है, जो लक्ष्य उसके सम्पूर्ण जीवन और व्यक्तित्व को सार्थक कर दे।

जिये जानेवाले और भोगे जानेवाले वास्तविक जीवन द्वारा ही समीक्षक के मान-मूल्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि अनुप्राणित होनी चाहिए। जीवन ही के प्रकाश में, उसी से दिशा प्राप्त कर यदि सिद्धान्तों का प्रयोग हुआ, मान-मूल्यों का प्रयोग हुआ, (ऐसे मान-मूल्य जीवन ही से निर्देशित, प्रकाशित अनुप्राणित हैं), तो वैसी स्थिति में समीक्षा भटकेगी नहीं। समीक्षा में वास्तविक जीवन-सत्य झलमलाने लगेंगे, और स्वयं समीक्षा एक सृजनशील कार्य हो जायेगी।

साहित्यिक पत्रकारिता और समीक्षा में अन्तर न समझना भूल होगी। पत्रकारिता कलात्मक नहीं हो सकती, यह मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं यह कहना चाहता हूँ कि लेख में किसी विशेष पक्ष या किसी खास बात को जोरदार ढंग से खड़ा करने के लिए, (जिससे कि दूसरों का ध्यान उस ओर खिंच सके), हमें एकपक्षीय बल और एकांगी अतिरेक प्रस्तुत करना पड़ता है, वैसा करना कभी कभी आवश्यक हो जाता है। वैसा न करना गलत है। प्रतिमास प्रतिवर्ष बनते हुए साहित्य की गतिविधि को ठीक ठिकाने रखने के लिए यह आवश्यक भी है। किन्तु हमेशा यह ध्यान में रखना होगा कि उसमें एकपक्षीय अतिरेक और बल है। दूसरे शब्दों में, साहित्यिक पत्रकारिता समीक्षा का स्थान नहीं ले सकती। दोनों एक दूसरे में भिन्न हैं। हाँ, इन दोनों के बीच सहयोग हो सकता है, जो कि आवश्यक भी है। किन्तु साहित्यिक पत्रकारिता साहित्यिक पत्रकारिता है, और समीक्षा समीक्षा।

यदि समीक्षा को साहित्य में फिर से प्रभावशाली होना है तो केवल सत्यात्मक प्रवचनों से काम नहीं चलेगा वरन् वास्तविक साहित्य की सर्वांगीण समीक्षा करनी होगी। किन्तु, प्रतीत होता है कि समीक्षक वास्तविक साहित्य समीक्षा से बचना चाहता है, *क्योंकि वास्तविक साहित्य समीक्षा में समीक्षक की सूक्ष्म-दृष्टि की* परीक्षा हो जाती है। समीक्षक की हार्दिक और बौद्धिक अन्धताओं का उद्घाटन हो जाता है। इसलिए बहुत से समीक्षक, जिनमें प्रगतिवादी समीक्षक भी शामिल हैं, एक खास ढंग की कार्य प्रणाली अपनाते हैं। वह इस प्रकार है।

समीक्षक ने साहित्य में दिखायी देनेवाली कुछ प्रवृत्तियों के जो मानसिक प्रभाव ग्रहण किये हैं अथवा उसने उनके प्रति जो अनुकूल या विरोधी प्रतिक्रियाएँ की हैं, उन प्रभावों और प्रतिक्रियाओं को अपना आधार बनाकर, (उन प्रभावों

और प्रतिक्रियाओं की पुनर्परीक्षा न करते हुए), उन प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में सामान्य बातें करते हुए, वह समीक्षक सामान्य स्थापनाएँ करता है। उसकी चर्चा सामान्यीकरणों से शुरू होकर सामान्यीकरणों में समाप्त हो जाती है। इस कार्य-पद्धति के फलस्वरूप उसे बहुत सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। यह कार्य पद्धति उसके लिए बहुत सुविधाजनक है। किस प्रकार?

चूँकि वह सामान्यीकरणों द्वारा, सामान्य स्थापनाओं में, केवल अपनी दृष्टि की स्थापना कर रहा है, इसलिए उस उन स्थापनाओं के प्रमाण-रूप में अपने सम्बन्धित क्षेत्र से कुछेक उदाहरण मिल ही जाते हैं। उसी क्षेत्र के अन्य तथा भिन्न या प्रतिकूल उदाहरणों से उसे मतलब नहीं होता। इस प्रकार वह अपनी दृष्टि का वस्तुसगत औचित्य स्थापित कर जाता है।

किसी भी प्रवृत्ति-विशेष के स्वरूप का अध्ययन तब हो सकता है, जब उस साहित्य-प्रवृत्ति की आन्तरिक विशेषताओं के अध्ययन के साथ-ही साथ, उस प्रवृत्ति के भीतर झलकती हुई व्यक्ति-स्थिति, वर्ग स्थिति, समाज-स्थिति और उन सबके परस्पर अन्त सम्बन्ध हम आत्मगत करें, और उन सबके स्वरूप का वस्तुगत विश्लेषण करते हुए, हम उस प्रवृत्ति विशेष का प्रतिनिधित्व करनेवाली मुख्य-मुख्य और कुछ कुछ गौण कलाकृतियों का सर्वांगीण अध्ययन करें, व्यापक जीवन-दृष्टि से।

किन्तु समीक्षक एसा क्यों करे? विशेषकर तब कि जब वह स्वयं उस प्रवृत्ति-विशेष का ही नाश करने पर उतारू है। केवल अपनी मत स्थापना के लिए जो आवश्यक तर्क है और जो आवश्यक उदाहरण हो सकते हैं, उनको उपस्थित करके अपने लेख में वह यह प्रभाव उत्पन्न करता है कि उसने उस प्रवृत्ति विशेष का समग्र और मर्मग्राही अध्ययन और निरूपण कर लिया है, विश्लेषण-मूल्यांकन कर लिया है। और अब पाठक समीक्षक पर विश्वास करके तदनुसार अपनी दृष्टि और मत बना ले। किन्तु इस प्रकार की उसकी समीक्षा में जो अभाव रह जाते हैं, उनको पूरा करता है वह अपने लेख में उस प्रवृत्ति के विरुद्ध निन्दात्मक वातावरण तैयार करके। यदि इस प्रकार उसने कर लिया तो वह समझता है उसने अपने कर्तव्यों को उनकी सर्वोच्च सिद्धि तक पहुँचा दिया।

इसीलिए वह सामान्यत ऐसे उदाहरण चुनता है जो निकृष्ट हों—ऐसे उदाहरण जो उसकी पूर्वगृहीत मान्यताओं और बने बनाये सामान्यीकरणों (या कहिए सिद्धान्तों) के अनुकूल हों, और उन्हें प्रामाणिक सिद्ध करते हों। ऐसे ही उदाहरणों को लेकर वह अपने विजय मार्ग पर चल पड़ता है।

किन्तु इन उदाहरणों के अतिरिक्त, सम्बन्धित क्षेत्र के जो अन्य विशिष्ट उदाहरण हैं, जिससे उसके सामान्यीकरणों की पुष्टि नहीं होती, वे भिन्न क्यों हैं, उनकी भिन्नता का स्वरूप क्या है, क्या उनका ऐसा होना आकस्मिक है, अथवा क्या वे किसी अपज्ञात अथवा (समीक्षक की जल्दबाजी के सबब) अज्ञात अथवा अर्ध ज्ञात जीवन-स्रोतों से उत्पन्न हैं, कि जो जीवन स्रोत उसी साहित्य-प्रवृत्ति के निर्माण की कारण-शक्ति में से हैं—इन सारे प्रश्नों से उसे कोई मतलब नहीं। सामान्यीकरणों से आरम्भ होकर सामान्यीकरणों में समाप्त होनेवाली समीक्षा इस तरह फिसलती हुई चली जाती है कि उसे फिजूल अड़चन पैदा करनेवाले इन सवालों से बातचीत करने की फुरसत नहीं। ऐसी समीक्षा को मुक्तिगम्य गति का

यह जो लाभ प्राप्त है वह क्या कम है।

किन्तु ऐसी समीक्षा साहित्य-क्षेत्र में एक विशेष प्रतिकूल परिस्थिति पैदा कर देती है। ऐसी समीक्षा साहित्य सृजन के लिए अनुकूलता पैदा करने के स्थान पर प्रतिकूलता ही उत्पन्न करती है और इस कारण, समीक्षा स्वयं क्षयग्रस्त हो उठती है। वह स्वयं पिटी पिटायी जडीभूत लीक पर चलती है। (भले ही वह जडीभूत लीक किसी सचाई की लीक हो)। और यह दृश्य उपस्थित होते ही, बनते हुए साहित्य से एक लम्बा फासला कायम करके, समीक्षा अपने साहित्यिक स्वप्नों में डूब जाती है, अर्थात् उसमें आत्मग्रस्त सैद्धान्तिकता, एक यान्त्रिक भाव पद्धति, पैदा हो जाती है।

क्या साहित्य सृजन के लिए प्रतिकूल परिस्थिति केवल समीक्षकों द्वारा ही उत्पन्न की जाती है? निःसन्देह नहीं, नहीं ही। लेखक अपनी अर्थहीन रचनाओं द्वारा, और प्रकाशक अपनी अर्थ-लोलुप प्रवृत्ति द्वारा, तथा पाठक अपने पिछड़ेपन के द्वारा भी साहित्य-सृजन के लिए प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं।

किन्तु इस परिस्थिति के निर्माण में अन्धमति जीवनविमुख समीक्षकों का भी पर्याप्त योग होता है। समीक्षक का कर्तव्य अपनी कठोर आलोचक दृष्टि और कोमल सवेदनात्मक भावक दृष्टि, इन दोनों के योग द्वारा लेखक ही के मार्ग को सुगम और प्रशस्त करना होना चाहिए। समीक्षक में व्यापक मानव आस्था और प्रगाढ जीवन-सम्पर्क के बिना, गहन और वैविध्यपूर्ण जीवनानुभव के बिना यह सब सम्भव नहीं है। केवल आस्थावादी शब्दों के उच्चार और पुनरुच्चार से मानव आस्था का वातावरण उत्पन्न नहीं होगा, जब तक समीक्षक स्वयं अपनी कठोर और कोमल दृष्टि के द्वारा—अपने समीक्षात्मक आचरण और व्यवहार द्वारा—यह सिद्ध नहीं करता कि वह उग्र सिद्धान्तवादी अहकार से पीड़ित नहीं, वरन् लक्ष्योन्मुख उदार मानव प्रेरणाओं से उत्स्फूर्त है।

दूसरे शब्दों में, ईमानदार प्रखर वैज्ञानिकता सर्वोच्च मानव-धर्म है। उसमें एक साथ आत्म निरपेक्षता और ग्रहण आत्म सम्बन्ध, लक्ष्योन्मुखता और विस्तृत, अनेकपक्षीय तथ्य सवेदना, तथ्य ग्रहण क्षमता उपस्थित है। अपने अज्ञान का स्वीकार और ज्ञान का अग्र-वेग भी उसमें है। मानव विजय की यात्रा का वह द्योतक है। सम्पूर्ण मानव-सत्ता के अनेकपक्षीय सम्बन्धों और गतियों के प्रति उसका अनुराग है। वह एक ही साथ समर्पित दीन सेवक, बुजुर्ग साथी और नौजवानों में से एक तीव्र उत्साहपूर्ण चचल नवयुवक है।

ज्ञान के कण जहाँ भी मिलें, जहाँ भी प्राप्त हों, उन्हें तुरन्त अपने आकुल सवेदनों द्वारा उठाकर कृतज्ञ होना और मुग्ध भाव से उन्हें स्वीकार करना, क्या आवश्यक नहीं है? कोई भी मनुष्य, चाहे वह कितना ही प्रभावशाली क्यों न हो, सारे ज्ञान का, समग्र ज्ञान के भाण्डार का, वह अधिकारी नहीं है, क्योंकि ज्ञान के प्रकाश वृत्त के आस पास हमेशा अन्धकार घिरा रहता है।

सक्षेप में, समीक्षक स्वयं अपने विश्लेषणों और व्याख्याओं द्वारा, वास्तविक कला-समीक्षा द्वारा, बुरे को अच्छे से अलग करते हुए, अच्छे को बीनते और चुनते हुए, साहित्य क्षेत्र में मानव-आस्था का वातावरण निर्माण कर सकता है। मानव-आस्था अच्छे कार्यों से उत्पन्न होती है, और इस प्रकार के अनेक कार्य-केन्द्रों से वह सर्वत्र प्रसारित होती है। समीक्षक अपने कर्म द्वारा यदि इस प्रकार विश्वस-

नीय बनने का प्रयत्न करता है, तो यह उचित ही है। किन्तु वह विश्वसनीय और विश्वासपात्र तभी बनेगा, जब वह मानव-हृदय मे सूक्ष्म-दृष्टि रखकर, भीगकर, साहित्याकित जीवन और साहित्य-सृजन की मूलाधार जीवन-भूमि मे, उसकी मानव-भूमि, अपने ज्ञान और ज्ञान की मार्मिकता के साथ, अपने पूरे अनुभव और अनुभवो की तीव्र सवेदनाओ के साथ, अपने सारे विवेक और विवेक की समस्त पीडाओ के साथ—उस जीवन-भूमि मे, उस मानव-भूमि मे प्रवेश करेगा। तभी उस बात को जिसे वह बुरा असत् और गलत समझता है, उसकी सही-सही व्याख्या और सही सही विश्लेषण द्वारा उसके साथ सघर्ष और निर्णायक सघर्ष हो सकेगा। नही तो नही।

लेखक मे जो भी जहाँ भी अवाछनीय है, उसका निषेध और विरोध आवश्यक है। लेकिन समीक्षक उसे अवाछनीय क्यो समझता है? अवाछनीय क्या है, कहाँ है? उसका उद्गम स्रोत क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसका परिणाम क्या है? और वह अवाछनीय यदि सचमुच अवाछनीय है तो उस कुछ लोग वाछनीय क्यो समझते हैं? उनकी दृष्टि क्या है, उनकी दृष्टि के तत्त्व क्या है? वे कौन लोग है, उनके अपने मूलाधार उनके लिए क्यो प्रिय है? और क्या वे मूलाधार सही नही है? नही हैं तो क्यो नही है? और वे गलत है तो क्यो गलत हैं? क्या सहीपन मे गलती का मेल है? और अगर यह हालत है तो सहीपन की मात्रा क्या है, गलती की मात्रा क्या है? सहीपन और गलती का मेल किस जगह है?

और यदि किसी लेखक मे जो अवाछनीयता है, उसम उसके साथ वाछनीय क्या है, उसका स्वरूप क्या है, वह क्योकर है? और क्या उसमे वाछनीयता का सर्वथा अभाव है, और यदि ऐसा है तो क्योकर है? और यदि उसमे वाछनीय तत्त्व और वाछनीय विशेषताएँ है, तो अवाछनीय के अनुपात मे वह वाछनीय कितना है, वाछनीय का अवाछनीय से जो मिश्रण है वह क्यो हुआ? वह कहाँ-कहाँ कैसा-कैसा है? वाछनीय और अवाछनीय तत्त्वो से मिलकर जो कलाकृति प्रस्तुत हुई है, उसका मूल्य क्या है? और क्या उस लेखक या साहित्य-प्रवृत्ति की जीवन-भूमि पर इस तरह प्रकाश डाला जा सकता है, जिससे वाछनीय और अवाछनीय तत्त्वो पर नया प्रकाश पड सके, उनकी नयी व्याख्या हो सके? उस जीवन-भूमि का पारिवारिक, सामाजिक, वर्गीय और युगीन वातावरण से किस तरह का, क्या सम्बन्ध है?

क्या इन सारी बातों पर प्रकाश डाले बिना, उनकी पेचीदगियो और बारीकियो मे फँसे बगैर, क्या वास्तविक साहित्य-समीक्षा, वास्तविक कला-समीक्षा हो सकती है? वास्तविक कलात्मक और समीक्षात्मक विवेक सम्भव है?

साहित्य-क्षेत्र म जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं, वे सारत जीवन के प्रश्न हैं, वे जीवन-स्थितियो और जीवन-प्रवृत्तियो से सम्बन्धित हैं। अतएव, उनके सम्बन्ध मे, अधिक गम्भीरता और मर्मग्राही दृष्टि के अतिरिक्त आत्म-निरपेक्ष तथ्यानुसन्धान और उदार कोमलता आवश्यक है। ये सारे गुण सिद्धान्तनिष्ठता के विरोधी नही, वरन् उसके पूरक हैं। समीक्षक को भी चरित्र की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि लेखक को ईमानदारी की।

साराश यह कि समीक्षा—कोई भी समीक्षा-पद्धति—जब-जब जीवन-यथार्थ

के स्पन्दनों का अपमान करती हैं, उसके स्वरूप का तटस्थ, वैज्ञानिक और नम्र भाव-गम्भीर विश्लेषण नहीं करती है, जब-जब वह लदने और खुद को थोपने का प्रयत्न करती है, जब जब वह एकपक्षीय विचारणा के फलस्वरूप उत्पन्न असफलताओं के कारणों को दृष्टि से ओझल कर देती है, अपने प्रतिपक्षियों द्वारा उपस्थित विचार-प्रणाली में इधर-उधर बिखरे हुए सत्य के अणु परमाणुओं को बीनने से इनकार कर देती है, जब-जब वह आत्मालोचन करना अस्वीकार कर देती है, तब-तब वह सिद्धान्तों और तर्कों के आयवरी टॉवर में बैठकर अपनी अकाल मृत्यु के क्रमश: उपस्थित कारणों को स्वयं अपने हाथों मर्वधित और परिपुष्ट करती जाती है।

शीतयुद्ध के प्रचार और प्रभाव के परिणामस्वरूप हिन्दी में ऐसे समीक्षक-विचारक भी सामने आये, जिन्होंने न केवल प्रगतिवादी समीक्षकों की भूलों का फायदा उठाया, वरन् वे साहित्य में ऐसी विचारधारा का विकास करने लगे, जिसका उद्देश्य लेखक को उस वास्तविक जीवन-संघर्ष में प्राप्त जीवन-मूल्यों से हटाकर सम्पूर्ण व्यक्तिकेन्द्री बना देना था।

निःसन्देह मेरे इस वक्तव्य से बहुतों को आपत्ति होगी। जीवन-संघर्ष के दौरान में वास्तविक जीवन-मूल्य कैसे मिलते हैं?

किन्तु, यदि हम यह मान लें कि प्रत्येक के पास अपनी-अपनी संवेदनशील अन्तरात्मा है और मन है, तो यह सन्देह के परे है कि वास्तविक जीवन-संघर्ष—अस्तित्व-संघर्ष—के दौरान में उसके हृदय में एक मूल्य-भावना छटपटाती रहती है, और वह चाहने लगता है कि यह अमानवीय मानव-यथार्थ परिवर्तित हो, मानवोचित जीवन की स्थापना हर एक के लिए हो। पैसों की तंगी से परेशान घर की मालकिन जब सरकार और मुनाफाखोर व्यापारी को गाली देने लगती है, या गुटबाजी और भाई-भतीजावाद के अभिशाप से ग्रस्त बी ए पास ग़रीब क्लर्क जब आत्म-रक्षा का संघर्ष करने लगता है, या अपने काम पर से घर लौटते हुए फटेहाल बाप के परेशान चेहरे को देखकर जब जवान बेटे का दिल एक अजीब दर्द [illegible]

[illegible]

यता को देखकर जीवन के द्वन्द्व का अनुभव करने लगता है—तब उसके हृदय में एक मूल्य-भावना अवतरित होती है, ऐसी मूल्य-भावना जो वेदना में, जीवन-वेदना में, घुली-मिली है।

मूल्य-भावना भयानक निराशा और अगतिकता में भी व्यक्त होती है। भयानक निराशा के क्षणों में मानव-जीवन को मनुष्य अत्यन्त दुःखपूर्ण अवश्य मानता है, किन्तु दुःख के कारणों की ओर भी उसका ध्यान जाता है। यहाँ तक कि उसे प्रतीत होता है कि मानव-सत्ता ने उसके प्रति न्याय नहीं किया है। कभी वह आत्मालोचन करता है, और अपने को विविध अक्षमताओं का केन्द्र मान बैठता है और कभी वह जगत् का तीव्र प्रखर और विक्षोभमय आलोचन करने लगता है। अगतिकता की स्थिति में भी वह जीवन-मूल्यों से संवेदित होता है, इसीलिए वह मानव-जीवन की आलोचना करता है। यह आलोचन निःसन्देह वैज्ञानिक

बुद्धि से प्रेरित नही है। किन्तु उसके पीछे एक मूल्य-भावना है।

वर्तमान युग, मूलत, आलोचना का युग है। अपनी-अपनी चेतना के अनुसार, और चारित्रिक गुणो के अनुसार, यह आलोचना चलती है। मन-ही मन जीवन-व्याख्यान के सूत्र चलते रहते है—विशेषकर, दुःख, कष्ट, सन्ताप, भयानक निराशा और अगतिकता की स्थिति मे। और इस तथ्य को कौन नही जानता कि इस प्रकार की भयानक अवसादपूर्ण स्थितियाँ आज अनगिनत स्त्री-पुरुषो के अनुभव के अन्तर्गत बारम्बार आती रहती है।

हाँ, यह सही है कि ऐसे दुःखात्मक क्षणो के प्रदीर्घ क्रम मे विशुद्ध पवित्र आत्मा की पुकार भी हो, यह एक आवश्यक नियम नही है। किन्तु साधारणतया, वास्तविक दुःखात्मक क्षणो मे ही मनुष्य अधिक तीव्रता से देखता है, अधिक क्षेत्रो को देखता है। हाँ, यह भी सही है कि ऐसे क्षणो मे, ऐसी कालावधि मे, मन-ही-मन जीवन-व्याख्यान के जो सूत्र चलते रहते हैं, वे सुसगत, युक्तियुक्त, समुचित और आत्म निरपेक्ष आदर्श भावना मे अनुप्राणित हो, यह भी एक अनिवार्य नियम नही है। किन्तु जीवन की यह आलोचनात्मक व्याख्या मन-ही-मन चलती रहती है, वह मनोवैज्ञानिक स्तर पर मूल्य-भावना से सयुक्त होकर ही चल सकती है, अन्यथा नही। मूल्य भावना के बिना आलोचन क्रम असम्भव है।

इसी बात को प्रगतिवादियो ने नही समझा। मनुष्य को केवल उसके सामाजिक-राजनैतिक पक्ष मे समझने और उपस्थित करनेवाले इन लोगो ने, प्रयोगवादियो के प्रारम्भिक अभ्युदय के काल मे, उन दुःखपूर्ण और निराशापूर्ण, ग्लानिपूर्ण, अगतिकता की भावना प्रकट करनेवाले, काव्य के वास्तविक अन्त सन्दर्भो को और बाह्य सन्दर्भो को—जीवन-जगत्-सम्बन्धी सन्दर्भों को—समझने से इनकार कर दिया। नये प्रयोगवादी काव्य के प्रति उनका यह शत्रुत्व भाव चिरस्मरणीय रहेगा।

चिरस्मरणीय क्यो रहेगा? इसलिए कि उन्होंने मानव-दुःख की अवहेलना की, मानव-पीडा के यथार्थ पर अहकारपूर्ण पदाघात किया। उसको कुचलने की भरसक कोशिश की। उन्होंने ऐसे कवियों और लेखकों को अपने पास से उठाकर फेंक दिया, जो आधुनिक जीवन के अन्तर्विरोधो से त्रस्त होकर काव्य रचना करते थे।

किन्तु यह भी सच है कि अपने सैद्धान्तिक विश्वासो के कारण बहुत-से कवि उन्ही के साथ रहने का प्रयत्न करते थे, यद्यपि वे वहाँ मे बार-बार हटा दिये जाते थे।

यह सब लिखना यहाँ इसलिए प्रासगिक हो उठा कि समीक्षक का सबसे पहला कर्त्तव्य आज की स्थिति मे मानव दुःख के प्रति, दुःखात्मक अवस्थाओ के प्रति, सहज मानवीय कला-समीक्षात्मक सहानुभूति प्रकट करना है। उसके अभाव मे, [illegible] अभाव है।

[illegible] न के जो सूत्र

[illegible] मे नियन्त्रित होने [illegible], जीवन-व्याख्यान के उन सूत्रो मे सैद्धान्तिक दृष्टि सम्भवत प्रकट नही हो सकती। किन्तु यह अनिवार्यत कभी भी प्रकट नही होती, यह मानना भी असगत है।

साथ ही, इस बात को ध्यान मे रखना होगा कि लेखक जीवन को व्यक्त कर रहा है—कतिपय जीवन पक्षो को व्यक्त कर रहा है, जो सम्भवत अल्प-प्रकाशित और अल्प-ज्ञात और अल्प चिन्तित होने के कारण एकदम नवीन मालूम होते है। वास्तविकता यह है कि उनके काव्यात्मक सन्दर्भ नये है, अर्थात् वे नवीन जीवन-सन्दर्भों से युक्त नवीन काव्य-विषय उपस्थित कर रहे है।

लेखक की कुछ रचनाओ को देखकर नही, उसकी सब रचनाओ को देखकर उसके तथाकथित जीवन-दर्शन की बात की जा सकती है। उसकी कुछेक कविताओ को देखकर हम क्योकर यह मान चलें कि लेखक की जीवन-दृष्टि, उसका जीवन-दर्शन, निराशामूलक है? -

कविता की कला अन्य साहित्यिक कलाओ की तुलना मे अधिक अमूर्त और और अधिक सामान्यीकृत होती है—विशेषत आत्मपरक काव्य मे। ऐसी स्थिति मे, अन्य साहित्यिक कलाओ की अपेक्षा आत्मपरक कविता मे जो सन्दर्भ उपस्थित होते है, वे भावना के भीतर से दीपित और ज्योतित हो उठते है। उन सन्दर्भो को कल्पना-चित्रो द्वारा, प्रतीको द्वारा भी, सूचित-व्यंजित किया जाता है। अतएव, ये सन्दर्भ उस ढग से उपस्थित नही हो सकते, जैसे कि वे कथा-तत्त्व को धारण करनेवाले साहित्य-प्रकारो मे, या निबन्धो आदि मे, मूर्तिमान रूप मे उपस्थित किये जा सकते है। उनके सन्दर्भ उस भावना-विशेष मे निहित होते है।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि वर्तमान जीवन मे पुन-पुन प्राप्त दुखात्मक जीवन-स्थितियो मे आलोचना के जो सूत्र चलते है, जीवन व्याख्यान की जो [illegible] न-मूल्य होते [illegible] य-सवेदनाएँ [illegible] दु खात्मक मन स्थितियो मे प्राप्त मूल्य भावनाएँ या जीवन-व्याख्यान मे सन्निहित मूल्य-भावनाएँ, कही प्रगतिवाद के छोर स पूर्णत अपना गठबन्धन न कर लें।

इसलिए, आपसी फुसफुसाहटो म यह तर्क आविष्कृत किया गया कि जो कवि अपनी आकुल मूल्यात्मक सवेदनाओ द्वारा प्रगतिवाद के वट-वृक्ष की छाया मे पहुँचना चाहता है, वहाँ उस प्रगतिवादी सिद्धान्त-व्यवस्था द्वारा, अथवा प्रगतिवादी नेताओ के प्रभाव से, उसकी काव्यश्री फीकी पडकर समाप्त हो जाती है।

यह सही है कि प्रारम्भिक उत्थानकालीन प्रयोगवादी कविता मे, यदि हम उसे समग्ररूप मे देखें तो, हमे मार्क्सवाद की छाया मिल जायेगी, जीवन-आलोचन की दु खात्मक किन्तु तीव्र ध्वनि सुनायी देगी। उस कविता मे भाव-तत्त्वो का आन्तरिक गठन, उसकी आन्तरिक रचनाशैली, ऐसी थी कि जिसस यह ध्वन्यर्थ प्राप्त होता था कि वह इस ओर है या उस ओर।

यह मैं पहले ही से कह दूँ कि व्यक्तिश मुझे इन महोदया से हमेशा सदाशयता का भाव ही मिला। यह भी कह दूँ कि यह कोई व्यक्तिगत विरोध नहीं है। साथ ही मुझे व्यक्तिश (कविरूप मे नही) प्रगतिवादियो की सदाशयता प्राप्त होती रही। अतएव मुझे, व्यक्तिश, न इस पक्ष स असन्तोष है, न उस पक्ष से।

प्रगतिवादियो की तुलना मे नि सन्देह ये नये लोग अधिक कला-मर्मज्ञ थे।

किन्तु साहित्यिक प्रवृत्तियों को वे एक भिन्न प्रकार की दिशा देना चाहते थे। वे साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में, एक विशेष प्रेरणा से, अपने प्रभाव का विस्तार करना चाहते थे। और वह प्रेरणा अपना एक खास दर्शन, अपनी एक राजनीति, रखती थी।

विश्व में चलते हुए शीतयुद्ध से और शीतयुद्ध की भावनाओं से वे प्रेरित थे। प्रगतिवादी भाव-धारा का हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र से उन्मूलन करना उनका प्रधान उद्देश्य था। साथ ही, एक ऐसी भाव-धारा का प्रवर्तन करना उनका उद्देश्य था, जो प्रगतिवाद का स्थान ग्रहण करे।

अतएव, उन्होंने एक ही साथ, या एक के बाद एक, काव्य के विशिष्ट पैटर्न, काव्य-व्याख्या, कलाकार का धर्म, सौन्दर्यानुभूति का सिद्धान्त, आधुनिक भावबोध तथा उससे जुड़ी हुई काव्यशास्त्र-समीक्षा, लघु मानव सिद्धान्त, तथा क्षण—जो सम्भवतः मुझे इस समय याद न हों—इन सबको उपस्थित किया। साम्यवादी-प्रगतिवादी प्रभाव का मूलोच्छेद—इस प्रधान लक्ष्य से वे सारे सिद्धान्त अनुप्राणित रहे। और यह साफ-साफ दिखाई देने लगा कि लेखकों के मस्तिष्कों पर, उनके मन प्राणों पर, अधिकार जमाने के लिए लड़ाई लड़ी जा रही है, अर्थात् भिन्न प्रकार की जीवन-व्याख्या उनके हृदय में सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

ठीक यही कारण है कि बहुत-से ऐसे लेखक जो उनकी मूल जीवन-व्याख्याओं से और जीवन-दृष्टि से सहमत नहीं थे, वे उनसे कटकर अलग हो गये। उन्होंने इन महोदयों से कटकर अपना स्वतन्त्र किन्तु निःसंग और कष्टदायक जीवन-पथ अंगीकार करना ही उचित समझा। यह बात भूलने की नहीं है कि ये नये महोदय सब तरह से साधनसम्पन्न थे, और आज भी हैं।

सामान्य लेखक को भयानक-से-भयानक परिस्थितियों में भी मानव-ऊष्मा प्राप्त होती रहती है। मानव-ऊष्मा का यह गुणधर्म जो मनुष्य को असहायता के भाव से बचाता है या कम करता है, अपने-आपमें एक बहुत बड़ा मानव मूल्य है। किन्तु, इसका कलात्मक उपस्थापन तो तब हो सकता है जब कि वास्तविक जीवनगत मूल्य-भावना अपने कला-सम्बन्धी विचारों द्वारा तिरस्कृत अथवा उपेक्षित न हो। किन्तु वास्तविक जीवनगत मूल्य-भावना तथा कलात्मक मूल्य-भावना अर्थात् सौन्दर्यानुभूति—इन दोनों की समानान्तरता पर वे जोर देते थे। कला-प्रक्रिया के भीतर कला-बाह्य तत्त्वों का अनुशासन नहीं होना चाहिए, कलात्मक क्षण की विशिष्ट अनुभूतियों का ही सार्वभौम एकच्छत्र नियन्त्रण होना चाहिए, यह उनकी भूमिका थी।

इसको समझने के लिए हम इस छोटी-सी बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि कला-प्रक्रिया के भीतर रसमग्न क्षण बहुत थोड़े होते हैं। कहानी, उपन्यास, कथात्मक काव्य, नाटक, रेडियोरूपक तथा इतर प्रकार की रचना में मनुष्य पर्याप्त सजग होता है। आत्मपरक काव्य में भी, सम्भवतः, नियमतः इतनी आत्म-लीनता नहीं होती। अतएव कलाकार को कवि-कर्म करते समय अपने संवेदनात्मक उद्देश्यों से अनुप्राणित और अनुशासित होकर कार्य करना होगा, यह सन्देह के परे है—चाहे वह कोई भी साहित्य-प्रकार क्यों न हो। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मनुष्य अपनी आत्मलीन दशा के बाहर जाकर (और उसे,

सम्भवत जाना ही पड़ता है) जीवन तत्त्व जीवनानुभवों द्वारा प्रदत्त तत्त्व न समेटे। हा शर्त यह है कि य तत्त्व मवेदना मक उद्देश्यो के केवल अनुसार हो न हो वरन उनसे प्रेरित हो।

कला कर्म म अपन मन की धारा को न केवल तीव्र और गहन करना पड़ता है वरन यह भी कि उस धारा को अ यन्त सयमित नियन्त्रित और एक विशेष दिशा की ओर उ मुख करना पड़ता ह। जब कलाकार ऐसा करता ही है तो एसी स्थिति म —जब कि उसक हृदय क दो भाग (जो भीतर म निगूढ़ रूप स सम्बद्ध हैं क्योकि व एक ही लक्ष्य की पूर्ति क लिए दो हुए है मेरा मतलब भोक्ता और स्रष्टा मन स ह) हो ही गय है तो—स्रष्टा मन सवेदनात्मक उद्देश्यो क अनुसार ही नहीं वरन उसस अनुप्राणित होकर अधिकाधिक जीवन-तत्त्व अपने-आपम क्यो न समेटे ? सक्षप म वह किसी भी कलाकृति म अपना पूरा व्यक्तित्व—जीवनानुभवसम्पन्न नानानुभवसम्पन्न अपना पूरा आत्मैक्य—क्यो न क्रियाशील कर? और वह पूरे क्षण क भीतर स सारा वविध्यपूण वास्तविक जीवन-दशन क्या न कर ?

असल म य नय महोदय केवल क्षण की आकृति चाहते हैं अर्थात अनुभूति का एक उद्रक भर चाहत ह।

कवियो न एक एक कविता पर घण्टे नही महीनों काम किया ह। एक ही कविता की रचना म व बार बार भीतर डूबे और बार बार ऊपर आय और जब तक वह पूरी न हुइ व भिन्न रहे। यह स्थिति हम क्या सूचित करती है? सवदना मक उद्देश्या क अनुसार और उससे प्रेरित जीवन-तत्त्वो को उन्होन अपने म समेटा और उन्हे ग म्बद्ध किया। सच तो यह है कि कवि दृष्टि कवल एक सूक्ष्म दृष्टि बन जाती है जो अनुकूल सवेदन-तत्त्वो को भाव तत्त्वो को जीवन तत्त्वो को प्रभावोत्पादक रूप स एक बिम्ब-व्यवस्था म एक भाव-व्यवस्था म निबद्ध कर दती है। नि म देह व्यवस्था म गडबड नहीं होनी चाहिए और यह व्यवस्था एक मूलगत मवेदनसूत्र द्वारा यहाँ स वहाँ तक बधी होनी चाहिए।

कि तु उनका सौ दय सिद्धा त क्या कहता ह? यहा उनके सब सिद्धान्तो का [illegible] निब ध—या कहिए दूसरे य विषय एस है [illegible]वश्यक है। सच तो यह है कि य विषय अथाह हैं। पश्चिमी साहित्य मे स दय सम्बन्धी मतो और व्याख्याओ का एक दण्डकारण्य खड़ा हुआ है।

यहा मैं उनक मान्यवाद की रूपरेखा—जसी कि वह मुझ समझ म आयी है—प्रस्तुत करके छुट्टी चाहता हू।

वास्तविक जीवनानुभूति मो दयानुभूति मे भिन्न स्तर की और भि न श्रेणी की वस्तु है। सौ दयानुभूति जीवन क एक निगूढ़ क्षण म कल्पनोदभासपूर्ण मानसिक द्रवण है। जीवनानुभूति सौ न्दयानुभूति स पथक तो है ही वह समानान्तर भी है। इसका निष्कर्ष क्या निकला? निष्कर्ष यह कि लखक सौन्दयानुभूति क उस क्षण द्वारा उपस्थित अन्तर्तत्त्वो क क्षेत्र मे बाहर न जाये क्योकि उसस कला क स्वायत्त त त्र क अ तर्नियम भग होग। सक्षप म इन महोदयो का सारा जोर जीवनानुभूति तथा सौन्दर्यानुभूति की विलगता और परस्पर समानान्तरता पर

ही है। सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति इन दोनों के अन्तर्निहित परस्पर सघन सम्बन्धों पर, उनकी मूलगत एकता पर, ध्यान देने से उनका काम बिगड़ता था।

किन्तु वास्तविकता क्या है? मानसिक अथवा बाह्य उत्प्रेरक तत्त्वों द्वारा एकाएक हृदय में हलचल पैदा होने से, उसमें संचित जीवनानुभव तीव्र गति से मनस्पटल पर मूर्तिमान होकर बहने लगते हैं—संवेदनात्मक उद्देश्यों की दिशा में—इस तरह से बहने लगते हैं कि मनुष्य तन्मय होकर उन्हीं में डूब जाता है, और उनका रस लेने लगते हैं। ऐसी स्थिति में, मनुष्य की आत्मबद्ध दशा का परिहार हो जाता है (तभी तो वह तन्मय होता है, और उन प्रगतिमान कल्पना-चित्रों द्वारा ही), उसे नवीन संवेदनाएँ प्राप्त होने लगती हैं, आनन्दात्मक अनुभव होने लगता है, रसात्मक अनुभव प्राप्त होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सौन्दर्यानुभूति के दो लक्षण हैं। एक, आत्मबद्ध दशा का परिहार। दो, आनन्दात्मक अनुभव।

सौन्दर्यानुभूति उच्चतर स्तर पर, अधिक उदात्त स्तर पर, जीवनानुभूति का ही एक रूप है, जीवनानुभवों का ही वह एक कल्पनोद्भासित पुनःअनुभव है। उसमें जीवनानुभवों का पुनःसृजन होता है, संवेदनापूर्ण कल्पना द्वारा। इस तरह मनस्पटल पर पुनःसृजित जीवनानुभवों में, (जो नये संवेदनात्मक उद्देश्य समाहित हो गये हैं उनके कारण, उनके फलस्वरूप), जीवन-अर्थों की नयी व्याप्तियाँ आ जाती हैं।

किन्तु इस पूरे अनुभव में आत्मबद्ध दशा का परिहार होना अत्यन्त आवश्यक है।

मनस्पटल पर रूपायित इन जीवनानुभवों में यही तो एक विशेषता है कि वे मनुष्य को अपनी बाह्य-बद्ध और आत्म-बद्ध व्यक्ति सत्ता से ऊपर उठाकर अपने-आपमें बाँध लेते हैं, और उसे एक प्रकार का संवेदनात्मक रस प्रदान करने लगते हैं। किन्तु अपनी व्यक्ति सत्ता से ऊपर उठने की प्रवृत्ति केवल सौन्दर्य अनुभव क्षणों में, सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में, ही होती है? नहीं, ऐसा नहीं है।

अपने से परे उठने, अपने से परे जाने की प्रवृत्ति मनुष्य केवल सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में ही प्रदर्शित नहीं करता। वह अपनी व्यक्ति सत्ता से ऊपर उठने की प्रवृत्ति चिरकाल से रखता आया है। आत्म-बद्ध दशा का परिहार नीरस और शुष्क समझे जानेवाले कार्यों में भी होता है। किन्तु ऐसे कार्यों में उसे वह तल्लीन रसात्मक अनुभूति नहीं होती, जैसा कि उसे सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में होती है। यह प्रवृत्ति इतनी दुर्लभ भी नहीं है। दिन में कई बार मनुष्य अपनी आत्म-बद्ध दशा का परिहार, अर्थात् व्यक्ति सत्ता की सीमाओं का विलोपन, कर देता है। किसी-न-किसी रूप में हृदय का स्पर्श करनेवाले दूसरों के अनुभव जो हम सुनते हैं उनकी कल्पनात्मक समानुभूति की दशा में हम अपने-आपको भूल जाते हैं। बुद्धिप्रेरित कल्पनानुमानों की जो संगति बद्ध उड़ान होती है, उसमें भी मनुष्य अपनी व्यक्ति-सत्ता का विलोपन कर देता है। विज्ञान के क्षेत्र में तो यह हमेशा होता है। यह प्रवृत्ति दूसरों को समझने में भी सहायक होती है। सहानुभूतिपूर्ण उदारता रखनेवाले लोग अपने से परे जाकर ही दूसरों के बारे में सोचते हैं। व्यक्ति को मानव बनानेवाली एक प्रवृत्ति निःसन्देह यह है। यह प्रवृत्ति व्यक्ति को उसकी आत्म बद्ध दशा से खींचकर उसे एक पूरा विश्व बना देती है। वह प्रवृत्ति केवल कलाकारों

की ही निधि नहीं है, वरन् वह राह चलनेवाले मामूली आदमी के पास भी है, वह किसान के पास भी है, मजदूर के पास भी है।

वह केवल काव्य-रचना करते समय ही नहीं होती, वरन उसके भी पहले न मालूम कितनी ही बार क्रियाशील होती है।

अपने से परे उठने और परे जाने की यह जो प्रवृत्ति है, उसी की एक विशेष शाखा है सौन्दर्यानुभूति। यह सौन्दर्यानुभूति केवल कलाकार की विशेषता नहीं है, वरन् वह उन सबकी विशेषता है जिन्हें हम मनुष्य कहते है। वह मनुष्यत्व का एक लक्षण है। लोककथाओं में विभोर होकर, बीच-बीच में नृत्य कर उठने वाले आदि-वासी नर्तक में वह उत्पन्न होती है, किसी की जीवन-कथा को मनोनेत्रों के सामने उपस्थित कर उन कल्पनाचित्रों से प्रभावित और आप्लावित होनेवाले क्षण में मनुष्य के हृदय में भी उसका रसात्मक बोध होता है। वह राह चलते भी हो सकता है— वह कभी भी हो सकता है। (और यह भी आवश्यक नहीं होता कि सौन्दर्यानुभूति सीधे-सीधे कवि को उसकी अभिव्यक्ति तक पहुँचा दे)। ऐसे अनुभव मनुष्य के हृदय में संचित होते रहते हैं। घर में दिन-भर मेहनत करनेवाली माँ और पत्नी, मारा-मारा फिरनेवाला नवयुवक, अपने माँ-बाप का बोझ हलका करने के लिए नौकरी ढूँढनेवाली बेटी—इन सबको मानव-जीवन का यह रस प्राप्त होता रहता है। इसीलिए वे जीते हैं, अपने लिए और दूसरों के लिए। सौन्दर्यानुभूति केवल कलाकार की निधि नहीं है। वह वास्तविक जीवन में, वास्तविक भावना और कल्पना का उच्चतर स्तर पर ऐसा एकाएक उत्स्फूर्त और विकसित विस्तार है, जिसमें मनुष्य की व्यक्ति-सत्ता का विलोपन हो जाता है। किन्तु आत्म बद्ध दशा का यह परिहार वास्तविक जीवन में, वास्तविक जीवन ही का एक अंग है, जिसकी सहायता के बिना वास्तविक जीवन अधिक सुकर तथा सुगम नहीं होगा, जिसके बिना यथार्थ मानव सम्बन्ध अधिक स्निग्ध और सार्थक नहीं होंगे, जिसके बिना हम दूसरों में घुलमिल सकने के आनन्द को सघन नहीं करेंगे। संक्षेप में, सौन्दर्यानुभूति की अधिकतमता और बारम्बारता जिस व्यक्ति में अधिक होगी वह अधिक मनुष्य होगा। यह सौन्दर्यानुभूति मानव-सम्बन्धों पर प्रभाव डालती है, वास्तविक जीवन पर प्रभाव डालती है, उसे नयी सार्थकता प्रदान करती है। अतएव सौन्दर्यानुभूति वास्तविक जीवन की मनुष्यता है। अपने से परे उठने और परे जाने की मनुष्य-क्षमता से उसका पूरा और सीधा सम्बन्ध है।

वास्तविक कला-कर्म में, वास्तविक सृजन-प्रक्रिया में, हृदय का द्रवण और सौन्दर्यानुभूति अनिवार्यतः और निरन्तर रहती है, यह मान्यता निराधार है। इसका अर्थ यह नहीं कि सृजन-प्रक्रिया में सौन्दर्यानुभूति का अभाव होता है। किन्तु, उसका अर्थ यह अवश्य है कि उसकी निरन्तरता नहीं रहती, वह कम या अधिक हो सकती है, अथवा बीच बीच में वह टूट सकती है, उसका क्षण-मात्र के लिए ही क्यों न सही, अभाव हो सकता है।

अभिव्यक्ति के प्रयत्न—कला-कर्म—बहुत-कुछ अभ्यास में निहित हैं। लेखक को, अभिव्यक्ति-साधना में—काव्याभ्यास में—न केवल विशेष प्रकार की अभि-व्यक्ति का अभ्यास हो जाता है, वरन् विशेष प्रकार की भाव-संवेदनाओं का भी अभ्यास हो जाता है। क्रमशः, दोनों तरह के अभ्यास—भाव-संवेदनाओं की अभ्यासात्मकता और तत्सम्बन्धी अभिव्यक्ति की अभ्यासात्मकता—ये दोनों

मिलकर लेखक की जिस प्रकार क्षमता बन जाते हैं, उसी प्रकार वह उसकी कठोर सीमा भी बन जाते हैं। और यदि लेखक उनके विरुद्ध अनवरत संघर्ष नहीं करता, तो वह अन्य भाव-क्षेत्रों को प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसने उन भाव क्षेत्रों को पूर्णतः और सार्थक व्यक्त करनेवाले कलात्मक उपादानों का (कलात्मक भाषा का भी) विकास नहीं किया है।

इसका परिणाम यह होता है कि निविड से निविड, गहन-से-गहन, उसके जो अत्यन्त आत्मीय क्षण रहे हैं, उनको भी लेखक, (उपर्युक्त अर्थ में) सीमाबद्ध काव्याभ्यासात्मक जड़ता के कारण कलात्मक वाणी नहीं दे पाता।

और यदि वह वैसा करता भी है, तो वह असफल हो जाता है, समुचित अभिव्यक्ति, स्वानुकूल अभिव्यक्ति प्राप्त न कर सकने के कारण। आत्मीय अनुभूति के वे क्षण इस प्रकार के प्रयासों में पड़कर अपने-आपको नष्ट भी कर देते हैं।

किन्तु यदि लेखक चाहे तो इन सीमाओं की दीवारें तोड़ भी सकता है। उसके लिए अनवरत अभ्यास, श्रम, धैर्य और अपने सम्पूर्ण जीवनानुभवों के प्रति यथार्थोन्मुख ईमानदारी और सत्यपरायणता चाहिए। यह तो अत्यन्त आवश्यक है कि पाठकों को एक ही प्रकार की कविताएँ पढ़ने का अभ्यास होने के कारण, उस अभ्यास से उत्पन्न और विकसित उनकी अभिरुचियों ने उन्हें नये काव्य-प्रयत्नों के प्रति जो असहिष्णु बना दिया है, उस असहिष्णु निन्दा या शीत-उपेक्षा को कलाकार नम्रता और उदारतापूर्वक झेल ले, उनसे अप्रभावित रहे, और कभी असहिष्णु न बने और, अपनी बात उन्हें समझाता रहे। साथ ही, यदि उनकी बातों से मूल्यवान उपलब्धि होती है, तो वह उसे आत्मसात् करने से न चूके। सच्चा लेखक हमेशा नौसिखिया होता है। केवल उस नौसिखियापन को सार्थक बनाना आवश्यक है।

संक्षेप में, विशिष्ट विशिष्ट भाव संवेदनाभ्यास तथा एतद्सम्बन्धित अभिव्यक्ति का अभ्यास—इन दोनों के दो, किन्तु एकीभूत, अभ्यासक्रमों से उत्पन्न जो वास्तविक सीमाएँ जो वास्तविक जंजीरें, कवि अपने-आपके लिए पैदा कर लेता है, उन्हें तोड़कर, उन सीमाओं को लाँघकर, अपने वास्तविक जीवन के वास्तविक अनुभवों को वास्तविक जीवन-चित्रक को, जिन्दगी की पेचीदगियों और संघर्षानुभवों को, मूल्यानुभूतियों को, आदर्शानुभवों को, काव्य में कलात्मक रूप से प्रकट किया जा सकता है, उनमें वास्तविक सौन्दर्य लाया जा सकता है। उन्हें अत्यन्त हृदयवेधक और मर्मस्पर्शी रूप में उपस्थित किया जा सकता है—बशर्ते कि वैसी तैयारी हो, वैसा रियाज हो, वैसा स्वप्न हो।

सौन्दर्यानुभूति का क्षण-जीवन वास्तविक जीवन का एक अंग है, जो इसी वास्तविक जीवन को न केवल अधिक सम्पन्न बनाता है, वरन् उसे अधिक स्निग्ध, सुगम और सार्थक बनाता है। कला-कर्म के भीतर सौन्दर्यानुभूति अखण्ड और निरन्तर भाव से बनी रहती है, यह भी निराधार है। वास्तविकता यह है कि कला-कर्म के भीतर कलाकार की दृष्टि चतुर्मुखी होती है। भाषा, अन्तर्तत्त्व में—संवेदनात्मक अनुभव तथा कल्पना इत्यादि में—व्यस्त होकर विशेष गठनात्मक रचना-कार्य, तथा इन सबको जमाने के सिलसिले में जोड़-तोड़, यानी संशोधन-संकलन सम्पादन कार्य [करती है।] ऐसी स्थिति में, अन्तर्तत्त्वों की अनुभूति मनश्चक्षुओं के सामने कल्पना-रूप में, अथवा निवेदनात्मक भाव प्रवाह के रूप में, उत्स्फुरित और विलुप्त होती रहती है। उसका उद्दीपन और विलोपन बराबर

चलता रहता है।

कवि-कर्म इतना पेचीदा और सुन्दर कार्य है कि लेखक उसमे अपने-आपको खो देता है। किन्तु वह कई बार बहुत रूखा और श्रमसाध्य होता है—जिसका कारण है, अपने ही भीतर के भाव सत्यो को पूर्णत साक्षात्कृत न कर पाना। इस प्रकार साक्षात्कृत भाव-सत्य जब शब्द-रूप नही ले पाते, तो एक ओर यह लगता है कि वे बहुत मूल्यवान हैं, तो दूसरी ओर, यह भी लगता है कि वे हमारी जडता के कारण स्वानुकूल समुचित कलात्मक रूप नही ले पा रहे है। उन्हें शब्द-बद्ध करने के प्रयत्न म बहुत बार लेखक की साँस टूट जाती है, दम टूट जाता है, और वे आत्म-कष्ट शुरू होते हैं जो लेखक की सृजन-क्रिया के भयानक किन्तु अनिवार्य सकटापन्न अग हैं। अनिश्चय, आशका, आकर्षण, मोह, सत्य-प्रेरणा, आत्मविश्वास की आकस्मिक हानि—ऐसे दुर्धर भाव-प्रसगो म स गुजरता हुआ लेखक पाता है कि वह अग्नि-पीडा की एक दीर्घ वीथी मे झुलसता हुआ आगे बढ रहा है।

[illegible] —— —— —— ाणजीवी सौन्दर्या-
[illegible] रखना चाहता है,
प्राणधाराओ को
भूमिगत करके, केवल ऊपरी सतह पर उछाले गये बिन्दुओ मे अपने आपको तृप्त मान ले और शेष को भूल जाये, या उस शेष को महत्त्व न दे। सक्षेप मे वह एक प्रकार का क्षणवाद है। किन्तु उस क्षण को उत्पन्न और आविर्भूत करनेवाले, व्यक्त करनेवाले, गहन और व्यापक जीवन प्रवाह से उस अन्त सलिला से उन्हे कोई मतलब नही, जो अन्त सलिला वास्तविक जीवन ही का एक आत्म-रूप है।

समग्र मानव-सत्ता के प्रति इन नये महोदयो का कोई अनुराग नही। केवल क्षण को ही—उसके विशिष्ट अनुभव को ही—वे महत्त्व प्रदान करत है।

सौन्दर्यानुभूतियाँ मानव-अन्त करण मे वास्तविक जीवन के वास्तविक अनुभव-काल मे ही सचित होती रहती हैं। सौन्दर्यानुभूति, मनुष्य की अपन से परे जाने की, व्यक्ति-सत्ता का परिहार कर लेने की आत्म बद्ध दशा से मुक्त होने की, मूल प्रवृत्ति से सम्बद्ध है। और इसी मूल प्रवृत्ति का वह एक अनुभव-सवेदनात्मक कल्पनात्मक रूप है, इस वस्तु-तथ्य को यदि वे पहचान लेते तो वे सौन्दर्यानुभूति को वास्तविक जीवन का ही एक ज्ञान रसात्मक रूप मानने के लिए बाध्य होत, और लेखक के व्यक्तित्व की अनुभवात्मक समृद्धि के प्रश्न को वे गम्भीरतापूर्वक हाथ म लेते। यदि वे यह मान लेते कि वास्तविक जीवन म प्राप्त चेतना की मुक्तावस्थाओ की रसात्मक परिणतियो का वह पर्याय है तो फिर वे वास्तविक मानव-जीवन पर, वास्तविक मानव-सम्बन्धो पर, उन रसात्मक परिणतियो के प्रभाव का विश्लेषण करते।

और यदि वे ऐसा कर पात, तो कलाकार को उसके रचना-कार्य ही से परि-सीमित न कर, पूरे वास्तविक जीवन से उसके चित्त को व्याप्त-सम्बद्ध करके, उसके अन्त करण की समृद्धि के विकास की आवश्यकता और उसके महत्त्व को प्रस्थापित करते।

किन्तु, उन्होने कलाकार व्यक्तित्व को अनेक असम्पृक्त प्रकोष्ठो मे विभाजित कर दिया, मानो उन प्रकोष्ठो के बीच कोई द्वार मार्ग न हो, ऐसे द्वार-मार्ग जो

प्रकोष्ठों में परस्पर-सम्पर्क स्थापित न करते हों, और इस तरह एक प्रकोष्ठ का दूसरे प्रकोष्ठ पर सघन और स्थायी परस्पर-प्रभाव उपस्थित न करते हों।

इस प्रकार उन्होंने कलाकार-व्यक्तित्व का विभाजन कर डाला। व्यक्ति एक ही साथ पिता, पति, पुत्र, नौकर, सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हो सकता है। किन्तु यदि वह कलाकार है, तो जब तक कलाकार की हैसियत में वह है तब तक वह न पुत्र है, न पिता, न पति, न नौकर, न सार्वजनिक कार्यकर्त्ता।

कलाकार का कर्म है सुन्दर-सुन्दर भाव चित्र, सुन्दर-सुन्दर कलाकृतियाँ उपस्थित करना—यह उसका धर्म है।

जब तक कलाकार कला की सर्जनात्मक क्रिया में है, तब तक वह कलाकार है, विशुद्ध कलाकार, और कुछ नहीं।

अतएव उसकी कला के सम्बन्ध में, या कला-निर्माण के सम्बन्ध में, जो भी बाह्य अनुरोध है—सामाजिक अनुरोध, राजनैतिक अनुरोध, नैतिक अनुरोध—ये सब अनुरोध, कलाबाह्य आग्रह होने के कारण, उसकी वास्तविक सृजन-क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। अतएव इस प्रकार के आग्रह करना कलाकार को उसके धर्म से गिराना है, कलाकार की सृजन-प्रक्रिया पर विजातीय तत्त्वों को लादना है, कलाकार की सृजन-प्रक्रियात्मक मानसिक स्वतन्त्रता को नष्ट करना है, उसकी सृजन प्रक्रिया के भीतर सन्निविष्ट जीवन-विवेक की, उसकी स्वतन्त्र निर्णय शक्ति की, हत्या करना है, उसके आत्म स्वातन्त्र्य को भ्रष्ट करना है।

इस प्रकार, इन महोदयों ने सबसे पहले लेखक-व्यक्तित्व को परस्पर-असम्पृक्त, परस्पर-अप्रभावशील, लौह प्रकोष्ठों में विभाजित किया। और फिर, उसके एक प्रकोष्ठ को स्वयंपूर्ण-सम्पूर्ण मान-मूल्य और महत्त्व प्रदान करते हुए, उसको उन अनुरोधों से दूर रखने का प्रयत्न किया, कि जो अनुरोध वास्तविक जीवन-जगत् में उत्पन्न होते हैं। इन महोदयों का उद्देश्य लेखक के कलाकार रूप को सामाजिक और सार्वजनिक दायित्वों से बचाना था।

वस्तुतः, वे यह बिलकुल नहीं चाहते थे कि काव्य-कला के अन्तर्गत ऐसी सामाजिक-राजनैतिक भावनाएँ परिलक्षित हों जिनका सम्बन्ध मानव-साम्य तथा प्रगति के आदर्शों से है। उनकी मुख्य लड़ाई साम्यवाद-प्रगतिवाद से थी। साथ ही, वे लेखक को उसकी वास्तविक जीवन-भूमि में प्राप्त भाव-वैभवों से दूर रखना चाहते थे। इसी को दूसरे शब्दों में यों कहा जायेगा कि आन्तरिक भावनाओं में झलक झलक उठनेवाली जो प्रसंगात्मकता होती है, अर्थात् अन्तर्बाह्य सम्बन्धयुक्त जो जीवन-स्थिति होती है, उसका एक ओर पूर्णतः विलोपन करके, यहाँ तक कि उस जीवन-स्थिति को सूचित करनेवाले संकेतों तक को लुप्त करके, केवल उन भावनाओं के मानसिक वातावरण को, और उस वातावरण के भीतर उपस्थित घुमड़ुमाहटों को, वे चित्रित करना चाहते थे, ताकि वास्तविक जीवन से लेखक अधिकाधिक दूर रहे, और उस वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक किन्तु वस्तु सन्दर्भ युक्त व्याख्या को वह अपनी कलाकृति में स्थान (न) दे सके।

किन्तु ऐसा अनिवार्य रूप से होना कहाँ सम्भव था! वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक व्याख्या को टाला नहीं जा सकता था। अतएव यह आवश्यक था कि संवेदनात्मक व्याख्या यदि उपस्थित हो ही, तो वह उस दृष्टि बिन्दु से हो जिसमें

सामाजिक क्रान्ति पर विश्वास का कोई स्थान नहीं है।

अतएव आधुनिक भावबोध को प्रस्तुत करनेवाली भाव-धारा लेखकों के सामने रखी गयी।

इन प्रश्नों पर विचार करने के पहले हम कलाकार के दायित्व के प्रश्न पर लौट जायें। हमारे नये विद्वान मित्रों का इसकी बड़ी चिन्ता थी कि समाज में प्रचलित समाजवादी भावों और प्रगतिवादी झुकावों को लेखक कहीं मूलबद्ध रूप से स्वीकार न कर ले। अतएव उनका यह प्रधान आग्रह था कि लेखक, सौन्दर्यानुभूति का जो विशेष क्षण होता है उस क्षण सत्ता की परिधि के बाहर न जाय अर्थात् सौन्दर्यानुभूति के क्षण ने जो अन्तर्तत्व उपस्थित किये हैं, उनके क्षेत्र से बाहर न निकले। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि अगर वह ऐसा करता है तो, एक ओर, कला के स्वायत्त तन्त्र के अन्तर्नियम भंग होंगे, तो, दूसरी ओर, लेखक की सर्जना सब ईमानदारी टूट जायगी।

ऊपर ऊपर से देखने पर यह सिद्धान्त सही मालूम होता है, क्योंकि वस्तुत, इस निवेदन में सचाई है, किन्तु यह सचाई किन्हीं विशेष सीमाओं के भीतर ही है।

यह सही है कि सर्जनात्मक प्रक्रिया के ऊपर, बाहर से किसी भी तरह की ठूँसठाँस गलत है। लेकिन यह भी सही है कि सर्जनात्मक प्रक्रिया इतनी सौन्दर्यानुभूतिग्रस्त नहीं होती, नहीं ही होती, कि उस सौन्दर्यानुभूति के दायरे को हमेशा ध्यान में रखा जा सके। दूसरे यह कि कलात्मक सृजनशील क्रिया में सौन्दर्यानुभूति स्वयं एक स्थिति न होकर वह एक गति भी है और वह गति उस कलाकार के अन्तःकरण में अपनी विविध शाखा-प्रशाखाएँ फैलाती है, फैलाती जाती है। जो लेखक जितना ही अधिक उसमें डूबेगा, उसे उतनी ही शाखा प्रशाखाओं में जाना पड़ेगा।

किन्तु जैसा कि सर्वविदित है लेखक को उस समय अभिव्यक्ति पक्ष भी सँभालना पड़ता है। वह सौन्दर्यानुभूति के मूल संवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित होकर काव्य निर्वाह करता है अर्थात् उन क्षणों में अनवरत रूप से उद्दीपित *और विलोपित होनेवाले तत्त्वों का संकलन, संशोधन और सम्पादन करता है,* और, उन सबकी एक विशेष लक्ष्य की ओर प्रेरित जो गति है, उसको सँभालते हुए उन तत्त्वों का संवेदनात्मक सूत्रों के आधार पर संगठन करता है।

यदि इस पूरी प्रक्रिया को ध्यान में रखा जाय तो आप पायेंगे कि हमारे नये महोदय कलात्मक अभिव्यक्ति को सौन्दर्यानुभूति द्वारा प्रदत्त मूल भाव बीज तक ही परिसीमित रखना चाहते हैं। वे उस हृदय द्रवण के क्षणों में उद्बुद्ध और जाग्रत समस्त जीवन चेतना को उस चेतना के सारे अन्तर्तत्त्वों सहित प्रस्तुत करना नहीं चाहते। और इस प्रकार एक ओर, वे काव्य को उसके अपने ही अन्तर्तत्त्वों की (वैविध्यपूर्ण और ज्योतिमान) सम्पन्नता से वंचित कर देते हैं। दूसरी ओर, वे अपना सारा ध्यान आकार-संगति (आकृति की ज्यामिति) पर केन्द्रित करके उसे सुन्दर बनाने का यत्न करते हैं। हाँ, यह सही है कि इस तरह हर मामूली चीज़ करीने से रखकर उस पूरे को सजा दिया जाता है। लेकिन किस कीमत पर? यही कारण है कि हम काव्यकृति में मात्र भाव बीज का मूल संवेदन चित्र मिलता है उसके सारे अन्त सम्बन्धों यानी जीवन सम्बन्धों से कटा

हुआ। किन्तु यदि हम यह मान लें कि सौन्दर्यानुभूति एकदम उद्दीपित और तुरत विलोपित हो गयी, तो वैसी स्थिति में हमें स्वीकार करना होगा कि वह सौन्दर्यानुभूति बहुत ही छिछली है—इतनी कि हम उसे केवल एक संवेदनात्मक प्रतिक्रिया-पुंज ही कह सकते हैं।

किन्तु वास्तविक सौन्दर्यानुभूति व्यक्ति-सत्ता का परिहार करती हुई, गतिमान धारा बनकर, अपने विविध ज्योतिष्मान जीवन-तत्त्वों को अनवरत रूप से उद्घाटित करती जाती है। उस समय मनुष्य का सारा व्यक्तित्व विलयमय होकर उस गतिमान धारा ही का अंग बन जाता है। ऐसी स्थिति में—और यह स्थिति केवल कलाकार ही को प्राप्त नहीं होती—वह कलाकार जो उस गतिमान धारा द्वारा उद्बुद्ध समस्त चैतन्यमय जीवन-तत्त्वों को कलात्मक रूप नहीं देता, वह, मेरे लेखे असल में ईमानदार नहीं है।

अन्तस्तल में प्रवाहित इस गति-धारा की शाखाएँ अनेक वास्तविक जीवन-सम्बन्धों और जीवन-मूल्यों में युक्त होती हैं। उन मूर्तिमान जीवन-सम्बन्धों को, और आकुल जीवन मूल्यों को, उनकी वेदनामय स्थिति की रक्षा करते हुए उपस्थित करना लेखक का कर्त्तव्य है मुझे इसी में लेखक की ईमानदारी दिखायी देती है। उस सौन्दर्यानुभूति द्वारा प्रस्तुत मूल भाव बीज के दायरे तक ही अभिव्यक्ति को सीमित [न] रखना, यानी अन्तस्तल में प्रवाहित समस्त जीवन चैतन्य को उसके वैविध्यमय पूर्ण आकार और वेग में कलात्मक रूप से उपस्थित करना ही लेखक का धर्म है।

अन्तस्तल में प्रवाहित यह जो जीवन चैतन्य है, उसके विविध यथार्थ सम्बन्ध, अर्थात जीवन जगत् सम्बन्ध, हृदय में आलोकित रहते हैं। उन सबको काटकर फेंक देना, मेरी दृष्टि से, अपने स्वयं का अंग भंग करना है, जान बूझकर अपंग बनना है, और उस अपंगत्व को 'नयी कविता' का नाम देना है।

अमूर्त्तन ! काव्य, अन्य साहित्य-कलाओं की तुलना में, निःसन्देह अमूर्त्त है। उसमें जीवन-सम्बन्धी और यथार्थ सन्दर्भों की वैसी स्थापना नहीं हो सकती, जैसी कि वह निबन्धकला, उपन्यासकला, नाटयकला, कहानीकला, रेडियो रूपककला में सम्भव है।

यह एकदम सही है।

काव्य तुलनात्मक दृष्टि से, अमूर्त्त कला है। यह अमूर्त्तन कितने ही प्रकार से होता है: बिम्ब व्यवस्था द्वारा, रूपक द्वारा, मात्र एक प्रधान भाव द्वारा, और न मालूम कितने ही तरीकों से। किन्तु यह अमूर्त्तन, मेरे लेखे, सामान्यीकरण का अंग है।

महत्त्व की बात यह है कि अमूर्त्तन के नाम पर अन्तस्तल में उदबुद्ध चैतन्यमय तत्त्वों को काटकर नहीं फेंका जा सकता, उनकी बलि नहीं की जा सकती। उसके नाम पर आन्तरिक भाव सम्पन्नता को दफन नहीं किया जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि उस भाव-सम्पन्नता के ज्योतिष्मान तत्त्वों को, उनके सारे प्रकाश और सारे अर्थ की रक्षा करते हुए काव्य में प्रकट किया जाये, उनको अपने विविध और एकात्मक सम्पूर्ण सौन्दर्य में प्रस्तुत किया जाये।

लेखक की अपने साथ ईमानदारी यही है। किन्तु जो लोग, इस नाम पर या उस नाम पर, लेखक के सामने एक ऐसी आभ्यन्तर कर्म-विधि, एक ऐसी आभ्यन्तर

सशोधन-सम्पादन प्रक्रिया —ऐसे सेंसर्स और पी आर ओ — प्रस्थापित करते हैं, *कि जिसम लेखक स्वय अपने निगूढ अनुभवात्मक चैतन्यमय तत्त्वो की अभिव्यक्ति* से वचित रह जाता है, ऐसे लोग जिस ईमानदारी की बात करते है वह मुझे ज्यादा समझ म नही आती।

यदि लेखक प्रबुद्ध चैतन्यमय अन्ततत्त्वो का उनकी वैविध्यपूर्ण किन्तु एकात्मक समग्रता मे प्रतिबिम्बन करता है तो वह, वस्तुत, आभ्यन्तर जीवन ही का प्रति-बिम्बन कर रहा है — *वह आभ्यन्तर जीवन, जो बाह्य जीवन ही का एक अन्त-क्षेपित रूप है।* यह जीवन उसके आभ्यन्तर मे भले ही (किंचित् या अधिक) सशोधित हो जाये किन्तु इस प्रकार उसके सशोधित होने से वह अपनी स्वतन्त्र अन्तर्बाह्य व्यापकता नही खोता। लेखक की उससे प्राणपोषक सलग्नता के फलस्वरूप उसका कलाकार व्यक्तित्व और भी सघन और सम्पन्न हो जाता है।

यह एक सिद्ध बात है कि लेखक को अपनी कलाकृति पर पर्याप्त श्रम करना पडता है। ऐसी स्थिति मे, आत्मलीनता के बाहर जाकर भी, किन्तु सवेदनात्मक उद्देश्यो के अनुसार, और उनके अनुशासन मे रहकर, उस अनुशासन को जरा भी शिथिल न करते हुए, उस अनुशासन के विरुद्ध कोई भी स्वतन्त्रता न बरतते हुए, भाव सवेदनाओ द्वारा प्रदत्त सूक्ष्म दृष्टि की सहायता से, जितने जीवन तत्त्व समेटे *जा सकते हो, उन्हे अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए।* केवल एक ही बात का ध्यान रखना आवश्यक है और वह यह कि उन तत्त्वों की व्यवस्था सवेदनात्मक उद्देश्यो की पूर्ति की दिशा मे, भाव सवेदना के सूत्रो द्वारा ही उपस्थित होनी चाहिए।

सक्षेप म मैं सौन्दर्यानुभूति की भावार्द्र दशा मे प्राप्त सम्पूर्ण अनुभवात्मक अ तर्जगत् की तेजस्क्रिय सम्पन्नता की कलात्मक अभिव्यक्ति के पक्ष में हूँ। तभी आत्मपरक ईमानदारी और वस्तुपरक सत्यपरायणता (शब्द पुराना है, नये लोग क्षमा करेंगे) प्राप्त हो सकेगी।

आत्मपरक ईमानदारी और वस्तुपरक सत्यपरायणता का सवेदनात्मक योग अन्त करण में ही होता है। और यदि वह अन्त करण मे न हो तो ऐसी स्थिति में आत्मपरक या वस्तुपरक सत्यपरायणता दोनों एक दिखावा भर है। असल में इस प्रकार का अन्तर करना असगत है। ईमानदारी के भीतर ही दोनो का अर्थ व्याप्त होना चाहिए। किन्तु हिन्दी म अग्रेजी के 'सिनसियरिटी' का अर्थ 'ईमानदारी' शब्द द्योतित करता आ रहा है। मैं 'सिनसियरिटी' की कल्पना म 'ऑनेस्टी' की कल्पना का भी अन्तर्भाव करता हूँ क्योकि सत्य भाव के सन्दर्भ बाह्य और अन्तर, इन दोना लोकों मे एक साथ और अविभाज्य रूप मे स्थित है।

कलात्मक अनुभूति के क्षणो म सृजन प्रक्रिया म मग्न होकर, अपन चैतन्य को, जाग्रत सवेदन जगत को समग्रत उपस्थित करन से ही अपनी सारी अनुभव-सम्पन्नता और वेदनायित जीवन विवेक की अभिव्यक्ति हो सकेगी। लेखक की सच्ची ईमानदारी इसी मे है न कि खास (फैशनेबल या गैरफैशनेबल ढग के) पैटर्न मे अपने को फिट करने मे।

हमारे भाइयों ने ईमानदारी के वस्तुपरक रूप को कोई महत्त्व नही दिया, उसकी नितान्त उपेक्षा की। इसका कारण ही यह था कि उन्हे काव्य के क्षेत्र में जीवन के वस्तु सत्यो के कल्पनात्मक बिम्बो के प्रति कोई अनुराग न था, अथवा वस्तु-सत्यो के भाव-चित्रो के प्रति विशेष आकर्षण नही था। वे सब बातें ईमान-

दारी की उनकी विशेष परिभाषा के क्षेत्र के बाहर की बातें थीं।

इस पूरे वक्तव्य का अर्थ क्या? उसका निष्कर्ष क्या? इसका अर्थ यह कि कलाकार के कुछ आन्तरिक कार्य होते हैं। ये केवल आन्तरिक कार्य ही नहीं, वे आन्तरिक कर्त्तव्य हैं। आन्तरिक कार्य भावों को शब्दबद्ध करने से ही सम्बन्धित नहीं, वरन् ये आन्तरिक कार्य विश्व को संवेदन-रूप में स्थापित करने से, अर्थात् विश्व के ज्ञान-संवेदनात्मक और संवेदन-ज्ञानात्मक आभ्यन्तरीकरण से, सम्बन्धित हैं। ये आन्तरिक कार्य, वास्तविक जीवन में हम जो मानव-लक्ष्य और मानव मूल्य प्राप्त होते हैं, उन्हें न केवल हृदयंगम करने से सम्बन्धित हैं, वरन् उन्हें अपने संवेदनात्मक आत्म-जीवन में ऐसा गतिमान स्थान देने से सम्बन्ध रखते हैं, कि जिससे वे स्वयं जीवन की विभिन्न स्थिति-परिस्थितियों तथा गतियों का विश्लेषण और मूल्यांकन कर सकें। वे आन्तरिक कार्य कलाकार के वैविध्यपूर्ण अन्तर्वैभव को और-और सम्पन्न, और-और ज्योतिष्मान, बनाने से सम्बन्ध रखते हैं। संक्षेप में, *कलाकार को एक साथ आत्म-चेतस् और विश्व-चेतस्* बनने की क्रिया को अधिकाधिक सन्तुलित, अधिकाधिक बाह्यानुभवसम्पन्न, अधिकाधिक जीवनानुभव-सम्पन्न बनाना होगा।

मेरा अपना खयाल है, (*बहुत-से लोग इसे नहीं मानेंगे*), प्रत्येक आत्म-चेतस् व्यक्ति को अपनी मुक्ति की खोज होती है, और वह किसी व्यापकतर सत्ता में विलीन होने में ही अपनी सार्थकता समझता है। किन्तु आज की दुनिया में, यह व्यापकतर सत्ता विश्व मानवता तथा तत्सम्बन्धी मूर्तिमान समस्याएँ और प्रश्न ही हो सकते हैं। अतएव प्रत्येक लेखक, एक विशेष अर्थ में, इसी उच्चतर सत्ता में केवल विलीन ही नहीं होता, वरन् वहाँ विलीन होकर क्रियाशील हो उठता है—तत्स्थानीय तत्क्षेत्रीय सारे भूगोल इतिहास का आकलन करके। संक्षेप में, मुक्ति व्यापक तथा व्यापकतर क्रियाशीलता का दूसरा नाम है। और कलाकार को ऐसी मुक्ति तब तक नहीं मिल सकती, जब तक वह कला-कर्म से भिन्न, ये जो अपने आन्तरिक कार्य हैं, उनको सम्पन्न करने का निरन्तर प्रयत्न नहीं करता। मेरा अपना विचार यह है कि कलाकार के इन आन्तरिक कार्यों को यदि हम अपने ध्यान में रखें, तो हमें यही समझ में आयेगा कि लेखक की ईमानदारी के प्रश्न को केवल उस लेखक की निजगत भावाभिव्यक्ति की निजगत सचाई ही में सीमित करके नहीं देखा जा सकता, वरन अपने-आपको अधिकाधिक अन्त समृद्धिसम्पन्न, अधिकाधिक प्रसारशील, बनाने के उसके अपने जो यत्न हैं, उसमें सम्बद्ध करके देखा जाना चाहिए। अर्थात् वस्तुपरक सत्यपरायणता की संवेदनात्मक प्रवृत्तियों और उन्मुखताओं का समावेश भी ईमानदारी की कल्पना में आवश्यक है। आत्म-परक ईमानदारी तथा वस्तुपरक सत्यपरायणता, इन दोनों का अन्त करण में जो संवेदनात्मक योग होता है, वह जीवन विवेक का प्राण है। जीवन-विवेक के इन दोनों पक्षों में से किसी एक को भी नहीं छोड़ा जा सकता।

इन नये महोदयों ने यह विशेष रूप में प्रस्थापित किया कि कला का अपना स्वायत्त तन्त्र होता है, जिसमें उसी के अन्तर्नियम लागू होते हैं। मेरे खयाल में यह उनकी सबसे बड़ी देन है। किन्तु यहाँ भी उन्होंने उसकी स्वायत्त स्वतन्त्रता को निरपेक्ष और पूर्ण माना। वे यह भूल गये कि कला का अपना स्वायत्त तन्त्र जीवन-तत्त्वों द्वारा अनुशासित है—ऐसे जीवन-तत्त्व जिनका एक सूत्र यदि आभ्यन्तर है,

-तो दूसरा वास्तविक बाह्य जीवनगत है। वे इस बात पर जोर नहीं देना चाहते थे कि कला की आभ्यन्तर जीवन समृद्धि कलाकार के वास्तविक जीवन पर ही निर्भर है, और वह ऐसी स्थिति में ही सार्थक है। यह सही है कि सृजन क्रिया की आन्तरिक स्वाधीनता तथा उसके अन्तर्नियम ही कला की स्वायत्त स्वतन्त्र सत्ता के प्रधान लक्षण हैं, और उसमें किसी भी प्रकार के बाह्यानुरोधों का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

किन्तु सृजनात्मक प्रक्रिया के बाह्यानुरोधों का आदेश मानकर जब कलाकृति ऐसी या वैसी बनायी जायेगी, तब यही कहा जायेगा कि लेखक अपने प्रति ईमानदार नहीं रहा है।

किन्तु बाह्यानुरोध जब लेखक द्वारा आभ्यन्तरीकृत विश्व और उसके मानसिक जीवन का अंग बन जाते हैं, तब उन्हें हम क्या कहेंगे? तब वे आन्तरिक अनुरोध बन जाते हैं।

क्या इन आन्तरिक अनुरोधों का सृजन प्रक्रिया में कोई आकस्मिक हस्तक्षेप न हो? कोई हस्तक्षेप हो ही नहीं? ये आन्तरिक अनुरोध क्या हैं?

कलाकार ने जो कुछ आत्मवैभव—अनुभव, जीवन विवेक विचारधारा, दृष्टिकोण शास्त्रीय ज्ञान तथा अन्यान्य बहुत सी बातें—अपने वास्तविक जीवन में अर्जित किया है उसने अपने ढंग की एक मूल्य व्यवस्था भी कायम कर ली है, जाने अनजाने। सृजन प्रक्रिया के भीतर पड़कर जब कलाकार अपने आत्मजगत को जाग्रत और चैतन्यमय अनुभव करता है, उस समय आभ्यन्तर अनुरोधों का आग्रह भी अवश्य ही रहता है।

किन्तु कभी कभी विशेष विषय को लेकर उठ खड़ी हुई सृजन प्रक्रिया के दौरान में, ये आभ्यन्तर अनुरोध संवेदनात्मक उद्देश्यों के गर्भ में से न निकलकर, अन्तर्नेत्रों के सामने एकाएक उद्घाटित जीवन पक्ष में से सूचित होते हुए और इस प्रकार आकस्मिक रूप से प्रवेश करते हुए अभिव्यक्ति की उस प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने लगते हैं। असल में, आभ्यन्तर जगत् में से अकस्मात् उठ खड़ी हुई कुछ आँखें हैं वे जिन्हें मैंने आन्तरिक अनुरोध कहा है।

सम्भव है कि उनके अचानक हस्तक्षेप के कारण सृजन प्रक्रिया क्षण भर के लिए बाधित भी हो जाये, और अन्तःकरण के इस नवोदित दृष्टिक्षेप को ही देखने लगे। कुल मिलाकर ऐसा होना मूलतः प्रसंगबद्ध और सन्दर्भानुकूल होता है। इसीलिए आभ्यन्तर अनुरोधों को महत्त्व दिया जाना चाहिए।

सृजन प्रक्रिया क्षण भर के लिए बाधित भले ही हो जाय, और सम्भवतः लेखक की रचना बीच ही में भंग हो जाये, किन्तु यह सही है कि लेखक अपने अन्तःकरण में उस नवोदित दृष्टिक्षेप को महत्त्व देने लगता है, उसके अन्तर में समाये हुए जीवन सत्य और मूल्य भावना को हृदयंगम करता है।

दूसरे शब्दों में, रचना कार्य द्वारा और उसके दौरान में, लेखक अपने आपका भी निर्माण करता है भले ही उसकी रचनाएँ अधूरी रह जायें। वह जीवन को और-और जानने लगता है, उसका व्यक्तित्व और और समृद्ध होने लगता है।

यह सब मैंने क्यों कहा? इसलिए कि लेखक को वे बाहर के आग्रह, समाज के आग्रह, बुरे लगते हैं क्योंकि वे बाहर के आग्रह प्रतीत होते हैं। किन्तु वे ही आग्रह जब उसके व्यक्तित्व और वास्तविक जीवन का अंग बनकर, उसके आभ्यन्तर

जगत् के अनुरोध बनकर, उठ खड़े होते हैं, तब यह सभव है कि रचना-प्रक्रिया के दौरान मे उनके द्वारा—कभी-कभी, किन्तु हमेशा नही—हस्तक्षेप भी हो (वैसे तो उन्हे सवेदनात्मक उद्देश्यो मे घुले-मिले रहना चाहिए)। ऐसा हस्तक्षेप प्रसग-बद्ध और भाव बद्ध ही होता है। लेखक बाधित रचना-प्रक्रिया द्वारा भी अपना निर्माण करता है।

ये आन्तरिक अनुरोध वस्तुत मूल्य-भावना ही का विकसित रूप हैं। यही कारण है कि उनका हस्तक्षेप माननीय और वरणीय हो जाता है।

साहित्य-क्षेत्र के बाहर की या भीतर की हलचलें, आन्दोलन, विचार-प्रसार, आदि जब लेखक को बताती है कि वह या उसकी रचना इस प्रकार की होनी चाहिए या उस प्रकार की, तब असल मे उनका उद्देश्य लेखक के हृदय मे ये नये आन्तरिक अनुरोध स्थापित करना होता है।

किन्तु रचना-प्रक्रिया का विशेष अनुभव उन लोगो को न होने के कारण—और यह कहना कि हम तुम्हारे हृदय मे इस प्रकार के आन्तरिक अनुरोध स्थापित करना चाहते है, यह कहना बहुत कठोर और अनुचित होने से—वैसा नही कहा जाता, केवल विचार-प्रचार किया जाता है, चाहे वह सौन्दर्य-क्षेत्र से सम्बन्धित हो, या किसी अन्य साहित्यिक क्षेत्र से।

इसी बात को ध्यान मे रखकर मैंने कहा कि लेखक अपने अन्तर्वैभव का विकास करते हुए, वास्तविक जीवन-विवेक की पीडाओ मे से गुजरते हुए, सामाजिक अनुरोधो और आग्रहो का ऐसा आभ्यन्तरीकरण कर सकता है, कि जिनसे वे एकदम निजी और अनुभवजन्य हो उठें।

सक्षेप मे, लेखक-कलाकार के ये आन्तरिक कार्य उसकी नैतिकता है। केवल रचना-कार्य ही उसका आत्म-धर्म नही है, वरन अन्त समृद्धि का अधिकाधिक विकास करना—स्वय को अधिकाधिक चैतन्यमय, कोमल, उदार और सहानुभूतिशील बनाना, अधिकाधिक जीवनपरायण और सत्यपरायण होना—यह भी कलाकार का आत्म-धर्म है। कलाकार का यह आन्तरिक कार्य सतत चलना चाहिए। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, ये आन्तरिक कार्य विश्व के सवेदनात्मक आभ्यन्तरीकरण से, उससे अनुप्राणित होने से, सम्बन्ध रखते है। इसीलिए, कला के स्वायत्त क्षेत्र का स्वातन्त्र्य तभी सार्थक है जब कलाकार मे आन्तरिक सम्पन्नता हो—ऐसी आन्तरिक सम्पन्नता, जो वास्तविक जीवन-जगत् के सवेदनात्मक आभ्यन्तरीकरण से उत्पन्न हुई है। यदि यह आन्तरिक सघनता न हो, तो कलाकृति का क्या हाल होता है, वे कितनी खोखली और निरर्थक होती है, यह पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित कविताओ से तथा देश विदेश मे प्रकाशित अनेक 'कलाकृतियो' से जाना जा सकता है।

कलाकार के लिए इस आन्तरिक सम्पन्नता की प्राप्ति के महत्त्व पर विचार करते हुए, मेरा आग्रह यह रहा है कि कलाकार एक विश्व-चेतस् और आत्म-चेतस्, अर्थात् पूर्णत सवेदनशील जाग्रत, मनुष्य हो, और विश्व का प्रत्येक स्पन्दन उसके हृदय मे झनकार उत्पन्न करे, और वह जीवन-जगत् के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया करे। कलाकार सर्वत्र कलाकार है, बुनियादी तौर पर भले ही किसी स्थान पर उसका कोई रूप, और किसी अन्य स्थान पर कोई दूसरा रूप, सामने आये। किन्तु उसकी मूल प्रकृति कलाकार ही की मूल मानव-प्रकृति रहेगी।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य कला के लिए दर्शन के लिए, विज्ञान के लिए, अत्यधिक *आवश्यक और मूलभूत है। कोई भी सृजनशील प्रक्रिया उसके बिना गतिमान नहीं* हो सकती। यह एक बुनियादी तथ्य है। किन्तु जिस प्रकार कला अपने आभ्यन्तर नियमों के कठोर अनुशासन के बिना अपंग या विकृत होती है अथवा अभाव बनकर रहती है उसी प्रकार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य अपनी अन्तरात्मा के कठोर नियमों के अनुशासन के बिना निरर्थक और विकृत हो जाता है खोखला हो जाता है।

और जिस समाज में हर चीज़ खरीदी और बेची जाती है, जहाँ बुद्धि बिकती है, और बुद्धिजीवी वर्ग बुद्धि बेचता है अपने शारीरिक अस्तित्व के लिए, जहाँ उदारवादी की जगह उदरवादी हुआ जाता है जहाँ स्त्री बिकती है, श्रम बिकता है, वहाँ अन्तरात्मा भी बिकती है। वहाँ अन्तरात्मा का प्रश्न ही नहीं उठता, और खूब उठता है जहाँ सच्चा व्यक्ति स्वातन्त्र्य अगर किसी को है तो धनिक वर्ग को है *क्योंकि वह दूसरों की स्वतन्त्रता खरीदकर अपनी स्वतन्त्रता बढ़ाता है, और* अर्थव्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था शिक्षा व्यवस्था—सम्पूर्ण समाज व्यवस्था का पदाधीश बनकर, प्रत्यक्षतः और अप्रत्यक्षतः, स्वयं या विक्रीत आत्माओं द्वारा, अपने प्रभाव और जीवन को स्थायी बनाता है जहाँ व्यक्ति स्वातन्त्र्य सिमिटकर, केवल अपने घेरे में सिमिटकर अपनी स्वयं की मनालीन विचारणा बन जाता है, *जहाँ साहित्य के क्षेत्र में धन प्रभुत्व प्रकाशन के रूप में अवतरित होकर, उन प्रकाशकों से लाभान्वित और उनसे सम्बद्ध हुए लेखकों द्वारा उन्हीं की जैसी* विचारणा बनाते है और उस विचारणा के अनुसार साहित्य धाराओं को मोड़ने, उसे बनाने बिगाड़ने का कार्य करते है—वहाँ हम लोगों के लिए वास्तविक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य रक्षा का युद्ध अपनी अन्तरात्मा की रक्षा का युद्ध अपने भौतिक जैविक *अस्तित्व—अपने पारिवारिक अस्तित्व—की रक्षा के युद्ध में परिणत हो जाता* है। मेरे लेखे व्यक्ति स्वातन्त्र्य जैसा कि हमारे पूँजीवादी समाज में देखा जाता है, एक अच्छा खासा मुहावरा है।

अतएव व्यक्ति स्वातन्त्र्य मात्र एक आदर्श है। वह आदर्श महत्त्वपूर्ण है। वह मानव गौरव की आधारभूत शिला है। मेरे लेखे, व्यक्ति स्वातन्त्र्य का अर्थ है, प्रत्येक को मानवोचित जीवन का आत्म-विकास का, सामाजिक रूप से, समाज-रचनात्मक रूप से, स्थायी और शाश्वत प्रबन्ध, जिससे कि उसे अपने बाल बच्चों के जीवन यापन की चिन्ता न रहे तथा वह अपने को, अपने समय को किसी व्यक्ति-विशेष और धनिक विशेष या सरकार को बेच नहीं, वरन् अपने को तन-मन-धन से समाज सेवा के कार्य में लगा दे, और समाज उसकी पूरी जीवन व्यवस्था के आर्थिक पहलू के सवाल को अपने हाथ में लेकर उसका हल करे, समुचित प्रबन्ध करे और व्यक्ति को अपने जीवन यापन के खर्च के सवाल की चिन्ता में तरह तरह के समझौते न करने पड़ें।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य एक आदर्श है और फिर भी वह मानव-गौरव की आधारभूत शिला है। इसका अर्थ यह है कि अब तक विकसित हुई समाज रचनात्मक अवस्थाओं में मानव इतिहासकाल में व्यक्ति स्वातन्त्र्य वृद्धिगत हो गया है, पूर्वतर से अधिक होकर। और आज पूँजीवादी समाज में उसका वह रूप है जो हमें दिखायी देता है। किन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि इस स्वतन्त्रता के, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के, सिद्धान्त के लिए रक्तप्लावित संघर्ष हुए। शासक वर्गों ने उसे जनता

को पुरस्कार-रूप में भेंट नहीं किया, वरन् जनता ने अपने अनगिनत पुत्रों के बलिदान के द्वारा उसे प्राप्त [किया,] और अपनी अगली आनेवाली सन्तानों को विरासत के रूप में उसे दे दिया। अमरीका, फ्रांस और ब्रिटेन की जनता ने भारतीय जन मन को व्यक्ति स्वातन्त्र्य का यह भाव दिया। आज हमारे संविधान में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को जो अपने अन्तर्गत किया गया है, उस पर तथा जनता में फैले हुए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के भाव पर, विश्व की जनता के खून की मुहर लगी हुई है।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रश्न जनता के जीवन से, उसकी मानवोचित आकांक्षाओं से, सीधे-सीधे सम्बन्धित है।

अजीब हालत है कि आज अगर पुरुषार्थ करने जाइए तो मानव-विकृति की मारक शक्तियों के हाथ में खेलिए, बिक जाइए, और फिर किसी को अपना भगवान बनाकर बुराइयों से समझौता कीजिए। उस भगवान की गोद में बैठ जाइए। और फिर उसी के कन्धे पर चढ़कर दूसरे की गोद में बैठने की तैयारी में, प्रथमतः, उसका चरण स्पर्श कीजिए। यह हालत है तथाकथित पराक्रम और पुरुषार्थ की, जिसका हमारे परिवारों में बड़ा महत्त्व है, क्योंकि जिसका धन-अर्जन जितना अधिक होता है, वह उतना बड़ा समझा जाता है।

लेकिन मानव को मानवोचित जीवन प्रदान करना ही होगा। मानव का अर्थ कैलेटेक्स के मैनेजमेण्ट के आदमी नहीं है। मानव का अर्थ किंग्जवे में रहनेवाले, ऊँचे किस्म की लेटेस्ट मॉडेल की कार के प्रश्न पर बहस करनेवाले लोग नहीं है, यूनिवर्सिटियों में डेढ़-डेढ़ हज़ार की रकम मारनेवाले भारतीय संस्कृतिवादी अथवा पाश्चात्य संस्कृतिवादी पण्डित और पुरोहित नहीं है। मानव का अर्थ वह साधारण मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय जन हैं, जो अपने बालकों को उचित भोजन और उचित शिक्षा और उचित वस्त्र का भी ठीक ढंग से प्रबन्ध नहीं करता। आज भारतीय सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में इन वर्गों का कोई निर्णायक प्रभाव नहीं है। दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के अभिजात वर्गीय और उच्च-वर्गीय जन सदाशय हो सकते हैं, किन्तु भारतीय जन-मन की वर्तमान स्थिति का संवेदनात्मक बोध उनके पास नहीं। वे बेचारे यह नहीं जानते कि आज साधारण जन-मन में, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रश्न सबके लिए मानवोचित जीवन-रचना और समाज-रचना के प्रश्नों के साथ जुड़ा हुआ है। जन मन के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-भाव के पास एक लक्ष्य है।

स्पष्ट है कि मुनाफाखोरों और उत्पीड़कों के व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लक्ष्य और जनता के व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लक्ष्य में अन्तर है। जी नहीं, केवल अन्तर ही नहीं, विरोध-भाव है। केवल विरोध-भाव ही नहीं, विपरीत दिशाएँ भी हैं।

किन्तु, व्यावहारिक रूप में देखा जाये तो समाज में ऐसी आर्थिक स्थिति और सामाजिक परिस्थिति पैदा हो गयी है कि जिसके कारण व्यक्ति स्वातन्त्र्य केवल व्यक्ति-केन्द्रिता का दूसरा नाम बन गया है। यह विषय बहुत गहरा है, और उसके बहुत-से पहलू हैं। यहाँ उन सबमें जाया नहीं जा सकता।

केवल इतना ही कह दूँ कि भारत में जनतन्त्र है, और आपेक्षिक रूप से तथा विशेष स्तर पर यहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य अवश्य ही है। और उसकी रक्षा करना तथा उसे दृढ़ करते जाना हमारे लिए ज़रूरी है। लेकिन उपेक्षा द्वारा वह स्वातन्त्र्य छिन भी सकता है।

यह अन्तिम वाक्य कहने का मुझे अधिकार है। मध्यप्रदेश शासन द्वारा मेरी एक पुस्तक **भारत: इतिहास तथा संस्कृति** गैरकानूनी घोषित कर दी गयी, 19 दिसम्बर 1962 के दिन। मजेदार बात यह है कि उसी शासन के शिक्षा विभाग ने तथा पाठ्यपुस्तक समिति ने इसके पूर्व, लिखित तथा सार्वजनिक रूप से, उसे हाईस्कूलों के लिए स्वीकृत कर लिया था।

रहा साम्यवादी जगत् में रेजिमेण्टेशन का प्रश्न। वह साम्यवादी जगत् का ही प्रश्न नहीं हमारा भी प्रश्न है, एक विशेष अर्थ में। हम निःसन्देह, इस प्रश्न पर चर्चा करते हुए राज दर्शन और व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में पहुँच जायेंगे। हम इस प्रकार का रेजिमेण्टेशन कभी नहीं चाहेंगे। इसका विरोध अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पूँजीवाद के हम समर्थक होंगे। किसी विशेष देश की विशेष ऐतिहासिक अवस्थाओं में जो गलतियाँ हुईं, उनके दुहराये जाने के हम समर्थक नहीं। किन्तु यह भी सही है कि धन द्वारा किसी को खरीद लेने की आजादी का नाम व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त नहीं है। क्या यह सच नहीं है कि *'फ्री वर्ल्ड' के अन्तर्गत न मालूम कितनी ही तानाशाहियाँ हैं? 'फ्रीडम' (स्वतन्त्रता)*
[illegible] या उसके विरुद्ध है।

देते हैं। उत्पीडन, अरक्षा की स्थिति, और कष्ट सन्ताप तो बराबर बने हो हुए हैं। ऐसी स्थिति में, उच्च अथवा सुरक्षित पदों पर बैठा हुआ समीक्षकों का एक दल बराबर इस प्रयत्न में रहता है कि लेखकों को वास्तविक जीवन संघर्ष के माध्यम से, वास्तविक प्रयत्न के माध्यम से, प्राप्त होनेवाले उच्च जीवन-मूल्यों से हटाया जाये।

यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि मानवोचित जीवन प्राप्ति के संघर्ष में समाज के सारे अन्तर्विरोधों की एक साथ अनुभूति होती है। समाज का यथार्थ—जो अनेकमुखी है—अपनी पाप परम्पराओं और विकार परम्पराओं के अनेक रूपों में प्रकट होता है। वरन् यह भी कि मनुष्य में आत्मरक्षा के प्रयत्न में बुराइयों से समझौता करता हुआ गिरता जाता है। और फिर आज वैयक्तिक लाभ ही तो बुनियादी सिद्धान्त है, जो उसको और-और आकर्षित करता है। और इन सबके कारण समाज में एक वातावरण बन जाता है।

ऐसी स्थिति में, एक ओर, व्यक्ति की नैतिकता तो अरक्षित रहती ही है, वह, दूसरी ओर, अपनी इस शोचनीय स्थिति के परिणामस्वरूप अन्य के लिए दुःखों और पेचीदा हालतों का कारण बन जाती है। इस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे को दुःख देता चलता है, अथवा जाने-अनजाने उसके कष्ट का कारण बन जाता है। समाज का वातावरण बिगड़ता जाता है। ऐसे समय कवियों के हृदय में ग्लानि, विरक्ति, विक्षोभ तथा अन्य प्रकार के भाव उत्पन्न होते रहते हैं। कहीं ऐसा न हो कि ये भाव प्रगतिवादी जीवन दर्शन में बँधकर कवि हृदय में एक भिन्न आलोक में चमक उठें। अतएव यह आवश्यक समझा गया कि नये कवि उसके चक्कर में न पड़ें।

आधुनिक भाव बोध का सिद्धान्त इसीलिए बहुत जोर शोर के साथ प्रस्तुत किया गया। उसमें ग्लानि, विरक्ति, विक्षोभ, प्रेम, व्यंग्य भावना, आदि के लिए

स्थान हैं, किन्तु जनसाधारण के भयानक जीवन-सघर्ष, तज्जनित सन्ताप और विरोधक भावनाओ का स्थान नही है। यह भाव धारा कुछ इस प्रकार है। वर्तमान सभ्यता औद्योगिक सभ्यता है—चाहे वह साम्यवादी व्यवस्था क्यो न हो। उस व्यवस्था के अन्तर्गत, व्यक्तित्व का समुचित विकास नही होता, व्यक्तित्व का नाश होता है। अतएव व्यक्ति नाश प्राय अवश्यम्भावी है। अतएव जो कवि सामाजिक परिवेश के बारे मे, सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध मे, सोचते है, उन्हे यह जानना चाहिए कि वर्तमान समाज-रचना मे, वर्तमान जगत् मे, मानव दु ख अवश्यम्भावी है। यह औद्योगिक सभ्यता का दोष है। यह है उनकी भाव धारा।

ऐसी सभ्यता मे जो आधुनिक भाव बोध है, वह है अनाशा और दु ख-भावना का, ग्लानि और विरक्ति का, अगतिकता का। महान लोगो ने समाज मे, समाज के साथ, बडे-बडे प्रयोग किये, और असफल हो गये, इसलिए अगतिकता मनुष्य का मूलभूत भाग्य है—उसे बदला नही जा सकता। (इसलिए अपने विक्षोभ और असन्तोष को प्रगतिवादी नोक मत दो, क्योकि वह मूलत असगत है)। हाँ, सामाजिक दायित्व, सहानुभूति, नैतिक मान, इत्यादि द्वारा उसकी विभीषिका कम की जा सकती है।

यह है मनोभूमि आधुनिक भाव-बोध की। उसमे वास्तविक जीवन सघर्ष का —ऐसा जीवन-सघर्ष, जो सगठित होकर सगठित विरोधियो से, शोषक और उत्पीडितो से, टकराता है, उसका—कही भी स्थान नही है। अस्तित्व-सघर्ष मे प्राप्त मानव साम्य स्वप्नो का भी उसमे कही स्थान नही है। दार्शनिक धरातल पर, और कलात्मक धरातल पर, उस भाव धारा म अच्छाई के बुराई स सघर्ष की भी कोई भी भावना नही है। असल म, सघर्ष से और तत्सम्बन्धी शब्दावली ही से उसे घृणा है।

अब 'लघु मानव' के सिद्धान्त पर आइए। हम सब जनसाधारण नही, लघु मानव हैं। क्यो? इसलिए कि आदर्शों ने हमको दगा दिया है, छला है, प्रवचना की है। (कैसा बढिया तर्क है, किन्तु कितना शाब्दिक! दगा दिया है, उन तथा-कथित आदर्शवादियो ने, जिन्होने आदर्श के द्वारा लोगो को छला है—लेकिन गौतम बुद्ध ने नही, ईसा ने नही, गाँधी ने नही)। आदर्श एक छलावा है! लघु-मानव हम, अपने लघु प्रयत्नों द्वारा अपनी उन्नति और विकास करते हैं, और भारी भरकम शब्दावली मे हम नही फँसते। हम अपने लघु-जीवन मे, अपने दैनिक कार्यक्रमो मे, अपनी अपनी बुद्धि और विवेक क अनुसार लगे रहते हैं, और अपनी भावनाओ को काव्य मे व्यक्त करते हैं।

जनता? वह एक भीड है, भीड की कोई आत्मा नही होती। (इसीलिए, जनता ढोर है, जिधर हाँकी उधर हँकती है)। व्यक्ति, चेतन व्यक्ति—वह तो आत्मतन्त्रवादी है। इसलिए उसका कर्तव्य है कि वह भीड का हिस्सा न बने। भीड मे व्यक्तित्व का नाश होता है। (अब कोई इन महोदयो महाशयो से पूछे कि क्या भारत की स्वतन्त्रता केवल एक व्यक्ति, गाधी, ने दिलायी है? क्या उसम अन-गिनत लोगो न अपनी प्रबुद्ध चेतना द्वारा योग नही दिया? क्या उसका सारा श्रेय नेता को ही है? और नता कहाँ स पैदा होता है? आसमान से टपकता है? या राष्ट्र अथवा जनता के भीतर से पैदा होता है?)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवियो मे असगत और विचित्र सामाजिक-

राजनैतिक भाव प्रचारित किये गये, यद्यपि एक ओर यह कहा गया कि कलाकार को सामाजिक राजनैतिक प्रचार से बचना चाहिए।

मेरा अपना व्यक्तिगत विचार यह है कि इस सारी भाव-धारा का उद्देश्य, कि जो भाव-धारा सौन्दर्य सम्बन्धी प्रश्नों से लेकर जनता की परिकल्पना तक आ पहुँचती है, यह है कि लेखक को हर तरह से उन वात्याचक्रों से दूर रखा जाय, जो शहरों की गलियों और सड़कों में राजनैतिक और सामाजिक विक्षोभ बनकर प्रकट होते हैं। इसीलिए जरूरी समझा गया कि जनता के संगठित समूहों को 'भीड़' कहकर, और समूहों में आत्मा के अभाव की स्थिति घोषित कर, जनता को बदनाम करके, लेखक को जनता से अलग रखा जाये। क्योंकि जनता से लेखक के अलग असम्पृक्त और दूर रहने की स्थिति में ही उसे (लेखक को) पश्चिमी जगत् की मुँडेरों पर से बहती आनेवाली हवाओं में से अच्छा-अच्छा 'ऑक्सीजन' निकालकर *दिया जा सकता है!*

इसलिए आप एक बड़ी मजेदार चीज देखेंगे। लेख लिखनेवाले लोग (मेरा मतलब साहित्यिक पत्रकार से है) और सम्पादक अपने लेखों और स्तम्भों द्वारा अपनी सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि का प्रचार-प्रसार कर सकते हैं। किन्तु *कलाकार (कहानीकार, कवि, इत्यादि) वैसा नहीं कर सकता, नहीं करना चाहिए* क्योंकि वह शाश्वत सौन्दर्य का आराधक है। और, क्योंकि इस प्रकार के कलुष से उसकी *कला दूषित और आत्मा मलिन हो सकती है, इसलिए वह नहीं चाहता कि* दूसरे लेखक कलाकार इस चक्कर में पड़ें।

कलाकार को अपने से ईमानदार होना चाहिए, कलाकार हमेशा अकेला होता है, कलाकार कभी पक्षधर नहीं होता, कलाकार केवल सौन्दर्य का आराधक है—ये सारे तर्क इस स्थिति के व्यावहारिक प्रतिपादन के लिए हैं कि लेखक वास्तविक जिये जानेवाले जीवन के समाज दर्शनात्मक और राज्य-दर्शनात्मक अर्थ न निकाले, और सामाजिक-राजनैतिक वात्याचक्रों के प्रतिबिम्ब सामाजिक और राजनैतिक दृष्टिकोण से अपने साहित्य में उपस्थित न करे।

यह सच है कि आज जब कि अध्यात्म-दर्शन हमारे पास नहीं है, किसी न-किसी रूप में हमारे पास [ऐसा] व्यापक जीवन-दर्शन आवश्यक है, जिसमें अगर कुछ भी न हो तब भी वे बुनियादी बातें तो हों, जिन्हें जनसाधारण अपने हृदय में अनुभव करते हैं, जैसे, अन्याय का प्रतिकार, मानव साम्य की स्थापना के प्रयत्न, विकृत स्वार्थवाद और भ्रष्टाचार का विरोध, सामाजिक सम्बन्धों में प्रेम और त्याग की भावना, अहंकार की उग्रता का विरोध अपने घर में सोफा-सेट रखने के लिए बुद्धि को बेच देने तथा धन द्वारा बुद्धि के खरीदे जाने का विरोध, समझौत-परस्ती के खिलाफ लड़ाई और साधारण भारतीय जन-मत के प्रति भक्ति और अनुराग। क्या ये बातें किसी व्यापक जीवन दर्शन में नहीं आ सकतीं? क्या जीवन-दर्शन के लिए हम पश्चिमी सूक्ष्मताओं की पच्चीकारियों तक जाना होगा?

यह व्यापक जीवन दर्शन हमारे जीवन का अनुशासन करते हुए हमारे काव्य में आखिर *क्यों न प्रकट हो? हमारे हृदय और मन पर अधिराज्य करते हुए वह* अपने लिए क्यों न कलात्मक उपादान जुटाय? और नवीन संवेदनशील कोमल *काव्य-भाषा का विकास वह क्यों न करे?*

निःसन्देह, इसमें अड़चनें हैं। मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि यह काम

आसान नही। किन्तु स्थायी सौन्दर्य के चक्कर मे पडा हुआ लेखक इन भाव-सवेदनात्मक विषयो को नही उठाता, जब कि उसके वास्तविक जीवन मे किसी-न किसी अश म ये भाव सवेदन तडपते छटपटाते रहते हैं। वह उन्हे काव्य-स्तर पर इसलिए नही उठा पाता कि उन भाव सवेदनाओ के अनुकूल तदनुसारी कलात्मक उपादान और सवेदनशील कलात्मक भाषा का उसने विकास नही किया है। भाव सवेदनाओ के विशेष क्षेत्र की अभिव्यक्ति का उसने जो अभ्यास किया है, वह अभ्यास अब उसे दूसरे भाव-क्षेत्रो की ओर जाने से रोकता है। इसलिए रोकता है कि वह अभ्यास केवल शब्दाभिव्यक्ति का ही अभ्यास नही, वरन् उन (तत्सम्बन्धित) भाव-सवेदनाओ का भी अभ्यास है, और भाव-सवेदनाओ की अभिव्यक्ति को अनुशासित करनेवाली अभिरुचि का भी अभ्यास है। परिणामत, वह अभ्यास अब एक जडीभूत पाषाण बन गया, जो कलाकार की छाती पर बैठ गया। इसलिए, वह वास्तविक जीवन-क्षेत्र मे अनुभूत किये जानेवाले तडपते छटपटाते हुए भाव सवेदनो को भी प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति प्रदान करने के कार्य मे अडगे डालता है, और कलाकार को अपग बना देता है।

अभी तो बडी-बडी मजिलें तय होनी है। इसीलिए मैं नवीन पीढिया के प्रति आशावादी हूँ, जो हम लोगो की गलतियो स सीखकर आगे बढेंगी।

मैंने अब तक जो बाते कही हैं, वे व्यक्तिगत हैसियत मे ही। मैं पण्डित नही हूँ, प्रचारक नही हूँ, विद्वान् नही हूँ, केवल एक मामूली लेखक हूँ। और मैंने शायद सबकी आलोचना कर डाली है। इसलिए मुझस सब नाराज भी होगे। लेकिन मेरा खयाल है कि वे मुझे माफ भी कर देंगे, मेरी उपेक्षा करेंगे, क्योकि मैं उनके रास्ते के बीच मे कही भी नही आता।

[सम्भावित रचनाकाल 1963। नयी कविता का आत्मसंघर्ष मे सकलित]

साहित्य में पक्षधरता, विश्वबोध, और मानव-मूल्य[1]

साहित्य मे पक्षधरता का प्रश्न हमेशा से रहा है और रहेगा।

पक्षधरता का सम्बन्ध मनुष्य के विश्वबोध और सद्-असद्-विवेक बुद्धि अर्थात् अतरात्मा के विवेक मे है।

हिन्दी मे आत्मा की बात की जाती है, विभिन्न सन्दर्भों के अनुसार उसके विभिन्न अर्थ भी हैं। हिन्दी म आभ्यन्तर जगत, अन्तरतम, अन्तर, हृदय आदि का प्रयोग भी है। उन सबका सार रूप अर्थ है—मनुष्य का अन्तर्मन, या कहिए मनोजगत्, जिसम बुद्धि, कल्पना, सवेदना, भावना आदि की प्रक्रियाएँ चलती हैं।

1 सभवत ये किसी लेख क लिए तैयार किये गये नोट्स हैं।—स०

किन्तु, अन्तरात्मा एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसका अर्थ है—मनुष्य की कानशैन्स, अर्थात् वह भावनापूर्ण सद्सद्विवेक बुद्धि जो मनुष्य को बुरे कामों से रोकती है, और अच्छे कामों की ओर प्रवृत्त करती है।

मनुष्य चाहे या न चाहे, अपने जीवन में निर्णय तो लेना ही होता है, संकल्प की क्रिया भी बराबर चलती रहती है। नहीं तो आदमी जिन्दगी में रह नहीं सकता, क्योंकि उसे दूसरे आदमियों के बीच अपने को रखना और चलना पड़ता है।

मनुष्य को निर्णय करने होते हैं। परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालने के लिए उसे अपने हृदय को कुचलना होता है, समझौते करने पड़ते हैं। बहुत कम ऐसे लोग होते हैं, जिन्हें यह सुयोग प्राप्त हो कि वे सचमुच कुचलनेवाली परिस्थितियों से मुक्त हों।

अतएव, मनुष्य के हृदय में एक विश्वबोध तैयार होता रहता है। उसमें मानव-अस्तित्व का विश्लेषण और मानव मूल्यों की स्थापना और उस स्थापना के लिए आकुलता की गति चलती ही रहती है।

अतएव इन तीनों से मिलकर एक अन्तरात्मा तो अवश्य ही तैयार होती है, जो दिन में खटखट करती है। यह अन्तरात्मा—यह एक ढंग की पक्षधरता है। मनुष्य एक पक्षधर प्राणी है।

पक्षधरता आधुनिक शब्द है। नया नया शब्द है। उसके पीछे साम्यवादी छूत हैं। उसके राजनैतिक अर्थ होते हैं। भारतीय चेतना का राजनैतिकीकरण नहीं हुआ है। या अत्यन्त अल्प है। राजनैतिकीकरण से मेरा मतलब पार्टी-दर्शन के अनुसार चेतना का ढाला जाना नहीं है, मेरा मतलब उस विश्वबोध से है, जो विश्व को उच्चतर स्तर पर रूपान्तरित करना चाहता है। दूसरे शब्दों में, मानव-मूल्यों की सार्वत्रिक, सर्वस्तरीय नियन्त्रणशील स्थापना चाहता है। मानव मूल्यों द्वारा जगत्‌गति का नियन्त्रण चाहता है।

पक्षधरता हमेशा रही है, जाने अनजाने। वह सही ढंग की पक्षधरता है या गलत ढंग की, यह प्रश्न है। यह प्रश्न हमेशा रहेगा।

मैं मध्ययुगीन साहित्य की ओर दृष्टिपात करना चाहता हूँ। तुलसीदास जी का एक पद है—

'जिनके उर न राम पद नेहू
तजिय तिन्हें कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेहू।'

तुलसीदासजी कहना चाहते हैं कि जिनके हृदय में भक्ति की भावना का अभाव है उन्हें शत्रु समझकर त्याग दीजिए। तुलसीदासजी के लिए राम की भक्ति का अर्थ है समस्त मानव-मूल्यों की वह एकीभूत चरम उत्कर्ष स्थिति, जो मन वचन कर्म को अपने भावना-रंग से नियन्त्रित करती हुई राम पद की आश्रित होती है। अथवा राम के आश्रय से प्राप्त, (मानव मूल्यों की) वह चरम उत्कर्ष स्थिति जो मन-वचन-कर्म को नियन्त्रित करती है। मानव-मूल्यों की एकीभूत चरम उत्कर्ष स्थिति की भावना और विश्वबोध को हम अन्तरात्मा में शामिल कर लें।

हम दूसरा उदाहरण लेंगे मध्ययुग से। एक ही काल में दो प्रकार के कवि हुए—भूषण और कालिदास। एक ने शिवाजी की वीरता पर कविता की, दूसरे ने औरंगजेब की वीरता पर। दोनों की कविताओं की एक एक पंक्ति मैं नीचे दे रहा हूँ। [पाण्डुलिपि में ये पंक्तियाँ नहीं दी हुई है—सं]

संक्षेप मे, पक्षधरता के प्रश्न को अन्तरात्मा के प्रश्न से अलग करके देखा ही नही जा सकता। (हाँ, जिस प्रकार मिथ्या ज्ञान हो सकता है, उसी प्रकार गलत ढग की अन्तरात्मा या अन अन्तरात्मा भी हो सकती है।)

यदि पक्षधरता है, तो अन्तरात्मा का पक्ष होना चाहिए, अर्थात् मानव-मूल्यों की चरम उत्कर्ष स्थिति के रसात्मक बोध का पक्ष होना चाहिए।

किन्तु, मनुष्य अपने जीवन में, आत्मरक्षा के लिए, गलत ढग के समझौते कर रखता है। व्यक्ति के प्रति अपनी निष्ठा—स्वार्थ-बुद्धि के कारण—कभी-कभी सर्वोच्च स्थान पा लेती है, न कि न्याय-बुद्धि। फिर, इस प्रकार के गलत ढग के समझौतों का घेरा उसकी सहानुभूति-शक्ति, उसकी सवेदनात्मक ज्ञान शक्ति को धुधला कर देती है। परिणामत, उसकी (सत्यस्पर्शी) भावनाएँ वास्तविक मानव अस्तित्व पर प्रकाश न डालते हुए, उसकी अपनी व्यक्तिगत मनोवृत्ति, स्थिति के औचित्य के प्रतिपादन करने का एक सैद्धान्तिक प्रयास बन जाती है और उसकी अन्तरात्मा क्षीण बन जाती है।

सक्षेप मे, चेतना के स्तर का प्रश्न है। यह नैतिक, बौद्धिक और भावनात्मक स्थितियों के एकीभूत रूप का प्रश्न है। अन्तरात्मा के विकास का प्रश्न है। समाज के पिछड़ेपन मे, विभिन्न दिशाओं से प्रवहमान वायु-धाराओं के प्रभावों की उस स्थिति का प्रश्न है, जो व्यक्ति की उसकी अपनी सकुचित निजता की रक्षा करती है।

हिन्दी मे इस समय काव्य मे अन्तरात्मा अपने पूरे विश्वबोध और समग्रानुभूति को लेकर हलचल करती हुई सी, उपस्थित हुई-सी, दिखायी नही देती। यह युग डिस्सोसिएशन्स का युग है। मूलत, सृजन-प्रक्रिया मे, भाव कल्पना-बुद्धि का योग होता है। साथ ही वह मानव-यथार्थ के प्रति प्रतिक्रिया के रूप मे होता है। यह मानव-यथार्थ एक जीवन-तथ्य, एक ऐतिहासिक क्रम के क्षण के रूप मे कवि के सम्मुख प्रस्तुत होता है। प्रश्न के सारे व्यक्तित्व की प्रतिक्रिया उसके [illegible] या [illegible] र्पे [illegible] स्थिति की रसात्मकता का अभाव जिसका जितना कम है, विश्वबोध जिसका जितने प्रकार से विकृत है, अर्थात् एकपक्षीय है, और न्याय-बुद्धि प्रेरित नही है, उतनी ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ दृष्टियाँ हैं। इन सबका आक्रोश, इन सबका क्षोभ, इन सबका शोध, इस प्रकार के साहित्य मे, उसके प्रकार से साहित्य-दृष्टि से है, जो मानव अन्तरात्मा की उज्ज्वलता को प्रस्तुत करना चाहता है।

[सम्भावित रचनाकाल अगस्त-दिसम्बर, 1963। रचनावली के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित।]

साहित्य और जिज्ञासा

बाल्यकाल, नवयौवन और तारुण्य के विभिन्न उप कालो मे जिज्ञासा, हृदय छोर खीचती हुई, आकर्षण के सुदूर ध्रुव बिन्दुओ मे हमे जोड देती है।

बाल्यकाल की जिज्ञासा बडी ही खतरनाक होती है। उसकी साहसि दुर्निवारता न केवल रग बिरगी चीजो को तोडकर उनम क्या है यह देखने के लि प्रवृत्त होती है, वरन् साथ वे अँधेरे-भरे घट मे भी उँगली डालने के लि प्रवृत्त होती है। घर की छत पर चढकर चारो ओर देखना और मुँडेर पर धडाम से गिरकर माँ के हाथो पीटे जाना तो मामूली बात है। टाइमपीस तोडक उनके अन्दर के कल-पुर्जो का आकार-प्रकार और उसका हिलना-डुलना देखने लिए लालायित होना तो बहुत बडी वैज्ञानिक जिज्ञासा है। बच्चे सचमुच इत मूर्ख नही है जितने उनके माता-पिता, जो कभी यह देखने की कोशिश ही न करते कि टाइमपीस चलती कैसे है। आखिर बच्चा यही तो देखना चाहता है।

'देखने' की इच्छा, जानने की इच्छा, 'रहस्य' की उलझी हुई बातो सुलझाने की इच्छा, कितनी मनोहर कितनी दुर्निवार और अदम्य हो सकती है, य उसी से जाना जा सकता है जो जिज्ञासा का शिकार है। जिज्ञासा की सबसे ब विशेषता यह है कि यह वस्तु की तह मे जाना चाहती है, अपने इच्छित विश्वास को, अपनी इच्छित आशाओ को, उस पर लादना नही चाहती। वह किसी दुर्भावन से पीडित नही है, किसी आग्रह और दुराग्रह से ग्रस्त नही है, अनुमान और अन्दा भटककर रास्ता पा जाने के लिए तैयार हैं, किन्तु वे खोज के आधार नही है।

ज्यो-ज्यो मनुष्य उम्र मे बढता है, जिज्ञासा पर न केवल आग्रहो और दुर ग्रहो के पुज लदते चलते है, वरन् स्वय जिज्ञासा भी (शतधा) होती चलती है तब हमे एक प्रयासहीन थोथी जिज्ञासा के दर्शन होते हैं, इच्छित विश्वासग्रस्त दुर्भावनाग्रस्त जिज्ञासा एक वेश्या की भाँति मन के विभिन्न स्वार्थ-लक्ष्यो क वासना का आहार बन जाती है। उम्र मे बढकर, जब हम 'ओपीनियन' बनान क आदत पड जाती है, जब हम बुद्धिमान और बुद्धिवादी बन जाते हैं, तब हमा दिमाग की बाल कमानी यानी जिज्ञासा पुरानी और घटिया हो जाती है। तब हमे किसी बालक की जरूरत पडती है जो यह टाइमपीस तोडकर देखे कि उसकी भीतरी बनावट क्या है।

लेकिन पुराने बालको मे से ऐसे लोग भी निकलते है जो जिज्ञासा के मामले मे एक साथ बालक, युवक और वृद्ध होते है, जिनमे जिज्ञासा की तीव्र दृष्टि औ आग्रहहीनता के साथ उस ओर यौवनसुलभ श्रम करने की प्रवृत्ति और खोज के आधार पर वृद्धसुलभ अनुभवपूर्ण मत बनाने की शक्ति रहती है। साहित्य इस जिज्ञासा का ऋणी है।

मनुष्य क्या है, मनुष्य के लक्ष्य क्या हैं, मानवोचित जीवन क्या है, वह किन कोशिशो और किन रास्तो से प्राप्त किया जाय, इन कोशिशो और रास्ता पर चलने के लिए किन चारित्रिक शक्तियो और आध्यात्मिक गुणो की आवश्यकता है, और क्या इस सम्बन्ध म हमारे द्वारा प्राप्त निष्कर्ष, वस्तुत, लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग मे सहायक हैं या नही, कही वे जो कल के लिए उचित थे आज के लिए

अपर्याप्त और अनुचित तो नहीं हैं, आदि प्रश्न साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण रहे हैं। जिस साहित्य में इसका जीवन चित्रात्मक, चरित्र-विश्लेषणात्मक यथार्थवादी अंकन होता है, वह साहित्य महान् हो जाता है।

यूरोप के अन्यतम साहित्यकारों ने, जिनमें मुख्यतः निबन्धकार और उपन्यासकार तथा *अन्य कथा-लेखक भी सम्मिलित हैं,* इन प्रश्नों के विभिन्न पक्षों का चित्रण किया। प्रश्नों के जीवन-चित्रात्मक, मानव-चरित्रात्मक अंकन का महत्त्व उनके उत्तरों के (इस ढंग से) चित्रों से भी अधिक प्रधान रहा है। यथार्थवाद में—किसी भी यथार्थवाद में—जिज्ञासा बहुत रोल अदा करती है। जिज्ञासा निरीक्षण की ओर प्रवृत्त करती है, निरीक्षण के लिए हमें अपने आग्रहों और दुराग्रहों को छोड़ना पड़ता है। चरित्र-दर्शन तो हम तब तक ठीक ठीक नहीं हो सकता, जब तक हममें चरित्र-सम्बन्धी मूलभूत जिज्ञासा न हो। माना कि बहुत जगह अनुमान काम करता है (और हम अनुमान को ही सत्य का जामा पहना देते हैं) किन्तु अनुमान यदि जिज्ञासा का अंग बना रहता है, तो हम उसके विरोध में यदि कोई तथ्य प्राप्त कर लें तो तुरन्त ही उसे बदल देते हैं। किन्तु अनुमान यदि जिज्ञासा का अंग नहीं है, तो वह हमारे इच्छित विश्वासों की पूर्ति का एक उपादान बनकर रह जाता है। साहित्य में ऐसे अनुमानों के आधार पर खड़े किये गये चरित्र प्रभावशाली नहीं हो पाते।

जिज्ञासा केवल एक स्थिति, एक परिस्थिति, एक व्यक्ति, एक चरित्र, की सीमारेखा में नहीं बँधी रहती। *जब वह एक श्रेणी की अनेक स्थिति-परिस्थितियों,* व्यक्तियों और चरित्रों का अध्ययन कर लेती है, तब वह उस श्रेणी के सम्बन्ध में न केवल अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेती है, वरन् अनेक सत्य-सामान्यीकरणों को जन्म देती है।

इन सत्य-सामान्यीकरणों के आधार पर एक कॉम्पोज़िट टाइप का, एक प्रतिनिधि चरित्र का, जन्म होता है। निश्चय ही, इसके लिए मनोवैज्ञानिक जिज्ञासा के अन्तर्भूत तथ्य निरीक्षण और तथ्य विश्लेषण के साथ ही, तथ्यों के यथार्थ सामान्यीकरण की प्राप्ति, सहानुभूति, मर्मज्ञता और जीवन-अनुभव के मानवीय उपादानों के पैनेपन से ही हो सकती है। साहित्यिक प्रतिभा के अन्तर्गत ये सब तत्त्व आ जाते हैं। इनके बिना प्रश्नों को मानव चरित्रात्मक, जीवन चित्रात्मक रूप में उपस्थित ही नहीं किया जा सकता।

कहा जाता है कि साहित्य हृदय की भावनाओं में उत्पन्न होता है। इस वाक्य में यह जोड़ा जाना चाहिए कि भावना जिज्ञासा की पैठ के, उसके द्वारा की जानेवाली तटस्थ तथा तीव्र खोज के, बिना ऊँचा साहित्य उत्पन्न नहीं कर सकती। ध्यान में रखने की बात है कि भावना, जिसके प्रति वह है उसके प्रति आकर्षण या विरोध के [बिना], काम नहीं कर सकती। अर्थात्, वह पक्ष में या विपक्ष में ही काम कर सकती है। किन्तु जिज्ञासा के द्वारा की गयी यथार्थवादी खोज से प्राप्त ज्ञान के आधार पर, *और उसकी सहायता से, चलनेवाली भावना अलग होती है। वह एक* चरित्र या स्थिति के विश्लेषण के टुकड़ों को फिर से जोड़कर समन्वय और सामान्यीकरण करती है। किन्तु वह इतना करके ही चुप नहीं रहती, चरित्र के विकास के मूल कारणों की खोज करती है, *प्रश्नों के कारणों का अनुसन्धान* और उसका चित्रण करती है। और इस दृष्टि से, वह चित्रण और स्थिति दोनों के

प्रति अधिक न्याय करती है। आज जब साहित्य मनुष्य के आध्यात्मिक उत्थान और सामाजिक परिवर्तन के एक अस्त्र के रूप में स्वीकृत हो चुका है, तब इन कारणों का, इन प्रश्नों का, मानव-चरित्रात्मक, जीवन चित्रात्मक निरूपण और अंकन महत्त्वपूर्ण नहीं है?

जिज्ञासा ही के आधार पर किये गये बौद्धिक सामान्यीकरणों और अनुभवात्मक समझ के आधार पर किये गये सामान्यीकरणों में वृहद् अन्तर है। एक तो हिन्दी साहित्य में वैसे ही जिज्ञासा का उद्भास कम है, किन्तु जो है थोथे तरीके से बौद्धिक है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य साधारण जन का जीवन-ज्ञान ऊँचा नहीं कर पा रहा है।

[रचनाकाल अनिश्चित। नयी कविता का आत्मसंघर्ष में संकलित]

रचना-प्रक्रिया

सौन्दर्य-प्रतीति और सामाजिक दृष्टि

साहित्यकार सामाजिक दृष्टिकोण से जनता की सेवा के लिए साहित्य सर्जन करे, या अपने भीतर सौन्दर्य प्रतीति से अभिभूत होते हुए आत्म प्रकटीकरण के रूप में साहित्य लिखे ? यह वह प्रश्न है, जिस पर हाल ही में एक लेखक-सम्मेलन में हिन्दी के साहित्यकारों द्वारा चर्चा की गयी। जैसा कि स्वाभाविक था, एक दल ने एक पक्ष लिया, दूसरे ने अन्य। एकमत होने या उसकी कोशिश करने का सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि, वस्तुत, दोनों पक्ष केवल आत्म प्रकटीकरण ही कर रहे थे, न कि एक दूसरे को समझने का प्रयास।

यह प्रश्न जिस ढंग से उठाया गया है उससे वह बड़ा ही अद्भुत और चमत्कारपूर्ण मालूम होता है। अद्भुत और चमत्कारपूर्ण इसलिए कि जो बात प्राकृत व स्वाभाविक नहीं है उसे प्राकृत और स्वाभाविक करके बता देना बड़ी भारी कीमिया है। यह प्रश्न इस दिमागी कीमिया की उपज है।

जिस समाज में सौन्दर्य-प्रतीति और सामाजिक दृष्टि में परस्पर विरोध माना जाता है, अथवा, दूसरे शब्दों में, इन दो के भीतर किसी आन्तरिक गहरी एकता का अस्तित्व नहीं माना जाता, वह समाज भी खूब है! और वे दार्शनिक या विचारक भी खूब हैं जो इन मान्यताओं को लेकर चलते हैं! आजकल की कृत्रिम विभाजन-बुद्धि का ही यह सबूत है।

कवि, कहानी-लेखक, उपन्यासकार की सौन्दर्य प्रतीति में वह सामाजिक दृष्टि भी निहित है, जिसका उसने उन जीवन प्रसंगों के मार्मिक आकलन के समय उपयोग किया था। इस सामाजिक दृष्टि के बिना वह सौन्दर्य प्रतीति ही असम्भव थी। हो सकता है कि यह दृष्टि उसने परम्परा से, सामाजिक राजनैतिक वायु-मण्डल से, प्राचीन तथा नवीन के संस्कारों परिष्कारों से, प्राप्त की हो। किसी भी विषय के आत्मगत आकलन तथा संकलन करने के समय से, हमारे मन में उसकी विविध बातों का जो मूल्यांकन शुरू होता है, वह अन्त तक रहता है, जब तक कि वह सृजनशील प्रक्रिया समाप्त नहीं हो जाती। सृजनशील प्रेरणा या बुद्धि स्वयं एक आलोचनाशील मूल्यांकनकारी शक्ति है, जो इस मूल्यांकन के द्वारा ही अपने प्रसंग को उठाती है, और उसे कलात्मक रूप से प्रस्तुत करती है। बिना मूल्यांकन-शील शक्ति के कोई सृजन, कम-से-कम साहित्यिक सृजन, नहीं ही हो सकता, चाहे वह प्रातःकाल में गुलाब सूँघने का, प्रणयिनी के चुम्बन या कारखाने में हड़ताल का, प्रसंग हो। जब जब ये चित्र सृजनशील प्रक्रिया का एक अंग बनेंगे, उनमें उचित काट छाँट और संकलन होता रहेगा। इस पूरी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में हमारी मूल्यांकनकारी शक्ति बराबर उसी बात को लेगी जिसे हम मार्मिक समझते हैं। इस मूल्यांकनकारी शक्ति के बिना हम मार्मिक अंश का सम्पादन नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में, हमारी सृजन-प्रतिभा जीवन प्रसंग की उद्भावना से लेकर तो अन्तिम सम्पादन तक अपनी मूल्यांकनकारी शक्ति का उपयोग करती रहती है। अच्छे लेखक तब भी सन्तुष्ट नहीं होते, और सोचते हैं कि बहुत-कुछ कहना रह गया, और जो कुछ कहा गया वह या तो समुचित नहीं था या उसमें भी अच्छे ढंग से कहा जा सकता था। मतलब यह कि जीवन प्रसंग में तल्लीनता प्राप्त

कर हम उसमें इतने डूब नहीं जाते कि समाधि लग जाती हो, वरन् मूल्यांकन-कारी शक्ति के सचेत प्रयोग से हम उसके मार्मिक अंश उठाते हैं। अपनी ज्ञान-संवेदनाओं और संवेदना-ज्ञान के प्रयोग से, हम उनके उचित अंशों को प्रस्तुत करने के लिए अनवरत मूल्यांकन और सतत सम्पादन करते जाते हैं, चाहे वह चित्रकला ही क्या न हो।

इस मूल्यांकन के अन्तर्गत, जिन मूल्यों से प्रेरित होकर हम जिसे मर्म कहने-समझने लगते हैं, और उसके यथायोग्य हार्दिक संकलन, सम्पादन तथा प्रस्तुतीकरण का योगाभ्यास करते हैं, वे मूल्य और वह मर्म बिना हमारी सामाजिक दृष्टि के असम्भव है (चाहे वह रवीन्द्रनाथ की उर्वशी क्यों न हो)।

जिस समाज में हम रहते हैं, उसके द्वारा प्रदत्त अथवा उत्सर्जित भाव-परम्परा तथा मूल्यों से विच्छिन्न होकर, *सृजन प्रक्रिया के अंगभूत मूल्यों का अस्तित्व ही* नहीं है। सौन्दर्य प्रतीति की डुग्गी पीटनेवाले लोग सामाजिक दृष्टि को भले ही ऊपर से थोपी हुई समझें वह, वस्तुत, यदि दृष्टि है तो, कभी भी थोपी हुई नहीं रहती वरन् हमारे अन्तर का एक निज चेतस् आलोक बनकर सामने आती है। और जिस सामाजिक दृष्टि में यह निज-चेतस् आलोक नहीं है, वह दृष्टि नहीं है, और कुछ भले ही हो। हम जिस समाज, संस्कृति, परम्परा, युग और ऐतिहासिक आवर्त में रह रहे हैं, उन सबका प्रभाव हमारे हृदय का संस्कार करता है। हमारी आत्मा में जो कुछ है वह समाज प्रदत्त है—चाहे वह निष्कलुष अनिन्द्य सौन्दर्य का आदर्श ही क्या न हो। हमारा सामाजिक व्यक्तित्व हमारी आत्मा है। आत्मा का सारा सार-तत्त्व प्राकृत रूप से सामाजिक है। व्यक्ति और समाज का विरोध बौद्धिक विक्षेप है, इस विरोध का कोई अस्तित्व नहीं। जहाँ व्यक्ति समाज का विरोध करता-सा दिखायी देता है, वहाँ, वस्तुत, समाज के भीतर की ही एक सामाजिक प्रवृत्ति दूसरी सामाजिक प्रवृत्ति से टकराती है। वह समाज का अन्तर्विरोध है न कि व्यक्ति के विरुद्ध समाज का, या समाज के विरुद्ध व्यक्ति का। 'व्यक्ति विरुद्ध समाज' की इस विचार शैली ने ही हमारे सामने कृत्रिम प्रश्न खड़े किये हैं—जिसमें से एक है सौन्दर्य प्रतीति के विरुद्ध सामाजिक दृष्टि।

हाँ, यह सही है कि सृजन प्रक्रिया के भीतर जो मूल्यांकनकारी दृष्टि है, वह समाज के भीतर की एक प्रवृत्ति-परम्परा का ही एक रूप होने के कारण, उसके लिए यह स्वाभाविक है कि वह उसी समाज की दूसरी प्रवृत्तियों से तथा परम्परा से टकराय, और ऐसी स्थिति में हम लोग उस साहित्य को व्यक्तिवादी या छायावादी या प्रयोगवादी या प्रगतिवादी कहकर उसकी निन्दा करें। प्रश्न यह है कि अन्तर्विरोध-ग्रस्त समाज की किन प्रवृत्तियों से आप तदाकार हैं? यह आपकी

[illegible] वना से कहीं अधिक आपकी ऐतिहासिक

विकास की जो अवस्था विशेष होगी, उसी के अनुसार सांस्कृतिक श्रेणी के सामने विषयों के विकल्प प्रस्तुत होंगे। **उत्तररामचरित** के लेखक भवभूति के सामने वे विकल्प प्रस्तुत नहीं थे जो आज हमारे सामने हैं। शृंगार के ज़माने में उन्होंने नारी के भाग्य पर आँसू बहाकर करुणरस प्रधान साहित्य सिरजा। वह उसके आगे बढ़ ही नहीं सकते थे, क्योंकि समाज ने उनके आगे के और विकल्प प्रस्तुत ही नहीं किये थे। अपने अपने अनु-

मवो तथा सामाजिक परिवेश के अनुसार (जिससे आपका सारा व्यक्तित्व निर्मित हुआ है, जिससे आपका पूरा जीवन रँगा हुआ है), इन विकल्पों में से आपको अपने लिए एक अनुकूल चुनना पड़ेगा। विकल्प केवल विषय तक सीमित नहीं है, वरन् दृष्टिकोणों, विचारधाराओं, रुखों और रवैयों तथा आदर्शों के भी विकल्प हैं।

इसीलिए, आलोचना न केवल रूप की, की जाती है वरन् तत्त्व की भी। और इसलिए तत्त्व की आलोचना महत्त्वपूर्ण भी है।

और असल में, उस सम्मेलन में सौन्दर्य-प्रतीति के नाम पर जिस दृष्टि की वकालत की गयी, वह, वस्तुत, तत्त्व का भी समर्थन था। उस प्रतीति के नाम पर एक विशेष प्रकार तथा शैली के साहित्य में ही, यहाँ तक कि विशेष प्रकार के चित्रण-निवेदन में ही, सौन्दर्य देखा जाता है, अन्य में नहीं। उसी तरह, अन्य पक्ष के द्वारा यद्यपि 'सामाजिक दृष्टि'—इस व्यापक अर्थवाले शब्द का उपयोग किया गया, किन्तु उस दृष्टि का अर्थ उनके तईं समाज द्वारा पेश किये गये दूसरे विकल्प के पक्ष में था।

उनका आशय यह था कि सामाजिक प्रगति की दृष्टि से मानव-मुक्ति की प्रेरणा देनेवाले साहित्य का सृजन हो। निश्चय ही इसके विरुद्ध अन्य पक्ष को, इस ढंग के प्रस्तुत साहित्य में, व्यक्ति की अवहेलना और सौन्दर्य की उपेक्षा तथा कलाकार के व्यक्तित्व की हानि दिखायी दी। यद्यपि बहस केवल सामान्य स्तर की थी, किन्तु यह टकराहट दो विकल्पों के बीच दो विरोधी प्रवृत्तियों की थी।

हम साहित्यकार, जो पीड़ित मध्यवर्गीय श्रेणी से आये हैं, अपना विकल्प सामाजिक प्रगति और मानव-मुक्ति ही चुनते हैं, और इस पक्ष में हमें कलाकार के मानव-व्यक्तित्व का हनन, सौन्दर्य की उपेक्षा, तथा व्यक्ति की अवहेलना नहीं दिखायी देती, क्योंकि उसी राह पर हमें सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है। हाँ, यह

· ·
·

'व्यक्ति-विरुद्ध-समाज' की खामखयाली से सम्बन्धित है। यदि हम काल्पनिक विरोध करना छोड़ दें और, अपने आपकी सम्पूर्ण ज्ञान-संवेदनाओं और संवेदन-ज्ञान को ईमानदारी से बरतते हुए, अपने जीवन-पक्षों को प्रबुद्ध रूप से प्रकट करने लगें, तो हम वास्तविक जीवन को ही प्रकट करने लगेंगे। निर्द्वन्द्व और मुक्त भाव से यदि हम अपने आपको प्रकट करेंगे, तो हम गरीब मध्यवर्ग के साहित्यकार उन्हीं मन:स्थितियों, भाव-स्थितियों, आदर्शों और मूल्यों को प्रकट करेंगे, जिनसे हम जिस हद तक और जिस प्रकार तदाकार हैं। आवश्यकता है, वस्तुत, प्राकृत होने की, क्योंकि हमारे संघर्ष भी प्राकृत हैं, करुणा और क्षोभ भी, और हमारे लक्ष्य भी—वे लक्ष्य और वे क्षोभ, जो हमें समस्त पीड़ित मानवता से एकाकार होने की तरफ प्रवृत्त करते हैं और उसके उद्धार का रास्ता ढूँढ़ते हैं। लेकिन जहाँ हम प्राकृत नहीं हो पाते, तो वहाँ हमारे अपने लक्ष्य भी, उनके सही होने के बावजूद, ऊपर से थोपे हुए मालूम होते हैं, और हमारा साहित्य रिक्त या कृत्रिम मालूम होता है।

इसका मुख्य कारण ही यह है, कि जो हम हैं और जैसा, वस्तुत, हमारा जीवन

है, उससे प्रबुद्ध साक्षात्कार करना खेल नहीं। आज के जमाने मे प्राकृत होना ही सबसे ज्यादा मुश्किल है। किन्तु, जो इस वास्तविक सत्य और यथार्थ के अधिकाधिक समीप पहुँचेगा, जो उसका जितना मार्मिक आकलन और उद्घाटन करेगा, वही साहित्यकार समाज की और जनता की अधिकाधिक सेवा करेगा, और उसके लिए अनन्य सौन्दर्य की सृष्टि करेगा।

[सम्भावित रचनाकाल 1952-53। नयी कविता का आत्मसंघर्ष मे संकलित]

काव्य की रचना-प्रक्रिया

प्रस्तुत वक्तव्य म, सम्बन्धित बाते अधूरे ढग से उठाई गई हैं। उन्हे सम्पूर्ण रूप से प्रस्तुत करता तो एक अतिदीर्घ प्रबन्ध बन जाता। आशा है, इसके लिए आप क्षमा करेंगे।

(1) काव्य की रचना-प्रक्रिया के अन्तर्गत तत्त्व—बुद्धि भावना कल्पना इत्यादि—एक होते हुए भी, आन्तरिक प्रभाव सगठक उद्देश्यो की भिन्नता के साथ ही रचना प्रक्रिया भी वस्तुत बदल जाती है। उदाहरण के लिए गेय-काव्य (लिरिकल पोएट्री) की रचना प्रक्रिया उस कविता की रचना प्रक्रिया से बिलकुल भिन्न है जो मन की किसी प्रतिक्रिया मात्र का रेखाकन करती है।

(2) अपने भावानुसारी सवेदनानुगत शब्द क्रम-शैली की रचना करना कवि के लिए आसान काम नहीं है। इस बिम्बवती शब्दावली के विकास के दौरान म यथायोग्य अभिव्यक्ति शैली के विकास के दौरान म एक कवि अपने भाव-स्वभाव से घनिष्ठ रूप से परिचित होकर उचित चित्रो ध्वनियो तथा प्रतीको के द्वारा उन्हे प्रकट करने का प्रयत्न करता है। वह अपनी भाव प्रकृति को चुने हुए शब्द के अन्तर मे वास करनेवाले अर्थ-बिम्बो तथा अर्थ-ध्वनियो से कम्पेयर करने लगता है और इस तुलना के दौरान मे वह इस बात से सचेत हो जाता है कि वह किस प्रकार के चित्रो और ध्वनियो द्वारा कौन सा संवेदनात्मक प्रभाव, पाठक के मन पर छोडना चाहता है।

(3) सामान्यत, यह देखा गया है कि कवि-व्यक्तित्व अपनी प्रबल आन्तरिक आवश्यकताओ के अनुसार, कुछ विशेष भाव-श्रेणियो को ही प्रकट करता रहता है, मानो वे उसके जीवन के स्थायी भाव हो। उन्हे प्रभावोत्पादक रूप मे प्रकट करने के उसके अनवरत परिश्रम और अभ्यास के फलस्वरूप धीरे धीरे उसकी वे भाव-श्रेणियाँ और उनकी अभिव्यक्ति दोनो एक इकाई बनकर एक कडीशण्ड साहित्यिक रिफ्लैक्स का रूप धारण कर लेती हैं।

(4) ये रिफ्लैक्स दृढ होने पर यत्रवत् हो जाते हैं और उनकी अन्तर्निहित भाव धारा भी यत्रवत् हो जाती है। काव्य शब्दावली जडीभूत हो जाती है।

(5) कडीशण्ड साहित्यिक रिफ्लैक्स बनने का नियम प्राकृतिक है। इसलिए,

वह टाला नहीं जा सकता। यदि आत्म-निरीक्षण द्वारा बहुत पहले से उन्हें लचीला बनाया गया तो आगे चलकर उससे काव्य-सामर्थ्य बढ़ जाता है।

(6) कवि-व्यक्तित्व अनेकानेक विकास-स्तरों को पार करता हुआ आगे बढ़ता है। इन विभिन्न स्तरों पर अनुभूत भावनाओं की यथायोग्य अभिव्यक्ति के लिए, उसे अपने से जूझना पड़ता है, क्योंकि उसकी पुरानी अभिव्यक्ति न केवल नाकाफी होती है, वह गलत भी हो जाती है।

(7) जिस कवि में आत्म-निरीक्षण और आत्म-संघर्ष जितना तीव्र होगा, वह कड़ीशण्ड साहित्यिक रिफ्लैक्स से उतना ही जूझेगा। रचना-प्रक्रिया का एक बहुत बड़ा अंग आत्म-संघर्ष है। रचना-प्रक्रिया, वस्तुतः, एक खोज और एक ग्रहण की प्रक्रिया है।

(8) आत्म-संघर्ष के अभाव में, हमारी अनेकानेक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विविध भावनाएँ काव्य में प्रकट होने का अवसर नहीं पातीं। अनेकानेक कवियों के मन में क्रान्तिकारी करुणा और विद्रोह-वेदना होते हुए भी, कड़ीशण्ड साहित्यिक रिफ्लैक्स के कार्य-प्रभाव के अन्तर्गत वे उसकी अभिव्यक्ति के सबल उपादान और आयुध प्राप्त नहीं कर पाते।

(9) कड़ीशण्ड साहित्यिक रिफ्लैक्स के वशीभूत हमारी काव्य-रचना हमारे सच्चे व्यक्तित्व का सही प्रतिनिधित्व करती है या नहीं, इसमें शक है।

(10) कवि के चेतना-स्तर में जीवन-जगत् के प्रति उसका दृष्टिकोण शामिल है। यदि यह दृष्टिकोण आत्मा के संस्कार के रूप में विराजता है तो वह रचना प्रक्रिया के लिए महत्त्वपूर्ण है। ऐनकवादी दृष्टिकोण नकारात्मक होता है। कड़ीशण्ड साहित्यिक रिफ्लैक्स यदि ऐनकवादी दृष्टि भी रखता है तो छद्म भाव, छद्म अभिव्यक्ति का सृजन होता रहता है।

(11) आत्मा का संस्कार-रूप दृष्टिकोण आभ्यन्तर प्रवृत्तियों को विशेष शैली प्रदान करता है, मनोजगत् के तत्त्वों को एक विशेष व्यवस्था में गुम्फित करता है तथा उसमें से अनेकों को वह अभिव्यक्ति के लिए चुनता हुआ उन्हें महत्त्वपूर्ण बना देता है। दृष्टिकोण के अभ्यन्तर में वास करने वाली मूल्य-भावना अत्यंत सक्रिय रहती है। यदि वह ज्ञानाभास अज्ञान पर आधारित रहो तो सब चौपट हो जाता है।

(12) दृष्टि, तत्प्रसूत मूल्य भावना, विशिष्ट भाव-श्रेणी और इन सब की अभिव्यक्ति के अनवरत अभ्यास से धीरे-धीरे ये कड़ीशण्ड साहित्यिक रिफ्लैक्स पैदा हो जाते हैं। तब कविता यान्त्रिक रूप से होने लगती है।

(13) मनोवेगों में, स्वयं स्फूर्ति के अतिरिक्त, यान्त्रिकता भी होती है। यही यान्त्रिकता विवेक की शत्रु है। अपने से ऊपर उठकर सोचने-समझने की शक्ति तथा भोक्ता मन की संवेदना—ये दो छोर हैं, स्रष्टा मन के। स्रष्टा मन कड़ीशण्ड साहित्यिक रिफ्लैक्स से जूझ सकता है।

(14) जगत-जीवन के संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के भीतर समाई मार्मिक आलोचन-दृष्टि के बिना, कवि-कर्म अधूरा रह जाता है।

(15) विश्व संघर्ष की पार्श्वभूमि में व्यक्तित्व-संघर्ष और विश्व स्थिति की पार्श्वभूमि में व्यक्ति-स्थिति रखकर, अन्तर्बाह्य वास्तविकताओं से प्रेरित जो लक्ष्य-चित्र हृदय में आविर्भूत होते हैं वे भव्य प्रेरणाओं को उत्सर्जित करते हैं। मेरा

अनुभव मुझे यह बताता है कि नयी कविता मे नियो-क्लासीसिज्म के बीज पड चुके है। और अभी से विभिन्न कवियो मे उसकी आभाएँ प्रकट हो रही हैं।

(16) हिन्दी मे इन दिनों दो प्रकार के वर्ग काम कर रहे है। एक उच्च-मध्यवर्गीय जन, दूसरे निम्न-मध्यवर्गीय जन। इन दोनों श्रेणियो के भावन-विश्व बिलकुल अलग-अलग है। दोनो के सामने दुनिया दो अलग सवेदनात्मक रूपो म उपस्थित होती है। प्रगतिशील जीवन-मूल्य निम्न-मध्यवर्गीय श्रेणी मे से उत्सर्जित भावना-चित्रो मे अधिक पाये जाते हैं। इस वर्ग मे, जीवन-सघर्ष की अधिकता के फलस्वरूप अन्तर्मुखता और भाव-सम्पन्नता तो होती ही है, किन्तु उसके साथ, शिक्षा, स्वाध्याय और समय के अभाव के कारण, काव्य-सौन्दर्य के विकास के प्रति निश्चिन्त विमुखता भी दृष्टिगोचर होती है। इन दोनो के बीच लगातार खाई चौडी होती जा रही है। किन्तु सबसे अधिक चिन्तनीय यह है कि वे तथाकथित अभिजात उच्च-मध्यवर्गीय काव्य-सस्कृति से आच्छन्न होकर अपनी विशिष्टता को प्रखर रूप से प्रकट नही कर पाते।

(17) यह धारणा गलत है कि आत्मपरक काव्य व्यक्तिवादी काव्य है। भारतीय मस्कृति द्वारा विकसित की गई कई परम्पराओ मे से एक परम्परा आत्मपरक काव्य की है। आत्मपरक काव्य मे भी प्रगतिशील जीवन-मूल्य प्रकट होते हैं।

(18) सतत जागरूकता, सतत आत्म-सस्कार, सतत जिज्ञासा और अपने *लक्ष्यो के प्रति हार्दिक स्नेह के बिना, आत्म-निरीक्षण और आत्म-सघर्ष (जो कवि* को करना पडता है) व्यर्थ है। लक्ष्यो के प्रति दुर्दान्त स्नेह की आस्तिकता के बिना वास्तविक अस्मिता का विकास नही हो सकता और उन्ही के सन्दर्भ मे यह जाना जायगा कि कवि किस सतह से बोल रहा है। ध्यान रखना चाहिए कि रचना-प्रक्रिया मे कवि किस सतह से बोल रहा है, यह हमेशा महत्त्वपूर्ण होता है और वही उसके निवेदनो को द्योतित करता है।

[15-17 दिसम्बर 1957 मे साहित्यकार सम्मेलन, प्रयाग मे पठित। रचनावली के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित।]

कला की रचना-प्रक्रिया

रचना प्रक्रिया के दो पक्ष है—एक कलाकार की अन्तर्दृष्टि कि जिसके सम्मुख कला-तत्त्व उद्घाटित हो उठा है दूसरे वह कला-भाव कि जो कलाकार के मनो-जगत मे मूर्तिमान रूप मे प्रस्तुत है। कलाकार की अन्तर्दृष्टि उस मूर्तिमान कला-तत्त्व पर टिकती है और उसके एक एक-एक अग का आकलन करती है। यह अन्तर्दृष्टि चीटी की भाँति है। चीटी लघुकाय, तीव्रगामी और सूक्ष्म होती है। उसी प्रकार कलाकार की अन्तर्दृष्टि भी सूक्ष्म होती है तथा गहनातिगहन विवरो मे प्रवेश

करने की क्षमता रहती है।

अन्तर्दृष्टि कलाकार की कल्पना मे उद्‌घाटित वस्तु-सौन्दर्य पर टिकती है और उस सौन्दर्य के गहनातिगहन और सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागों मे प्रवेश करती है। ज्यो-ज्यों कलाकार की यह अन्तर्दृष्टि वस्तु-सौन्दर्य की गहराई मे प्रवेश करती जाती है त्योंत्यो उसके सम्मुख नये-नये उदघाटन होते जाते है, मानो कि अन्त-र्दृष्टि-रूपी चीटी फूलों के अस्पृश्य भागो मे प्रवेश कर चुकी हो और उसके द्वारा उनका आकलन कर लिया गया हो। साधारण चीटी तो अपनी बाबी मे अर्थात् बाल्मीक मे लौट जायेगी। लेकिन नव-नवीन उद्‌घाटनों को प्राप्त करने वाली, अन्तर्दृष्टि-रूपी चीटी तो उन नव-नवीन सौन्दर्य-उद्‌घाटन का आनन्द लेते हुए आगे चलती रहेगी। ज्यो-ज्यों कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि आभ्यन्तर वस्तु-सौन्दर्य मे अन्त प्रवेश करती जायेगी त्यो-त्यो उसके सम्मुख सुन्दर मे सुन्दरतर दृश्य प्रकट होते जायेगे। उसकी अन्तर्दृष्टि उन दृश्यों मे रममाण होगी, वह उस सौन्दर्य का सारा अर्थ, सारा भाव, सारा आशय ग्रहण करती जायेगी और एक वह क्षण आयेगा जबकि सम्पूर्ण आभ्यन्तर वस्तु-सौन्दर्य के अथाह गम्भीर तत्त्व मे वह अन्तर्दृष्टि पहुँच जायेगी और वहाँ रहकर उस सारे सौन्दर्य के चरम अर्थ और आशय को आत्मसात करके उसमे वह विलीन हो जायेगी।

यह स्थिति अन्तर्दृष्टि द्वारा सौन्दर्य के चरम उद्‌घाटन का क्षण होगा कि जो कला का अन्तिम रचनात्मक क्षण होता है। उस चरम क्षण मे उसे सम्पूर्ण सौन्दर्य अपने निखिल सत्य के रूप मे दिखाई देगा और उस सत्य को पीकर उस सत्य के रस में वह डूब जायेगा। यह चरम कला-क्षण है, जिसमें कलाकार को सौन्दर्य की पूर्णता, रसात्मक आनन्द प्राप्त होता है। उसे प्रतीत होता है कि उसे जो कहना या खोजना है, जो कुछ पाना और चित्रित करना है, वह सब कुछ हो चुका, और उस सौन्दर्य का पूर्ण अर्थ-बोध हो गया। उस सौन्दर्य का पूर्ण आशय आत्मसात होकर रस रूप मे विराजमान हो गया।

[सम्भावित रचनाकाल 1958 के बाद, राजनांदगाँव मे। पहली बार सापेक्ष-3-4, दुर्ग, मे 1985 में प्रकाशित]

काव्य : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया

यदि मैं अपने निवेदन मे नयी कविता ही को प्रमुखता दूँ तो आप मुझे क्षमा करें। यह नये कवियो का अपराध नही है कि छायावादी कवि आज क्रमश उच्च से उच्चतर स्तर प्राप्त नही कर पा रहे हैं। यह नयी कविता का अपराध नही है कि पुराने प्रगतिवादी कवि बहुत दिनो से चुप हैं।

आज की नयी कविता के भीतर जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया लक्षित होती है, वह निःसन्देह छायावादी या प्रगतिवादी अथवा उसके पूर्व की काव्य-प्रक्रिया से

बिलकुल भिन्न है। रोमैण्टिक कवियों की भाँति आवेशयुक्त होकर, आज का कवि भावों के अनायास, स्वच्छन्द अप्रतिहत प्रवाह में नहीं बहता। इसके विपरीत, वह किन्हीं अनुभूत मानसिक प्रतिक्रियाओं को ही व्यक्त करता है। कभी वह इन प्रतिक्रियाओं की मानसिक रूपरेखा प्रस्तुत करता है, कभी वह उस रूपरेखा में रंग भर देता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह व्याकुलता या आवेश का अनुभव नहीं करता। होता यह है कि वह अपने आवेश या व्याकुलता को बाँधकर, नियन्त्रित कर ऊपर उठाकर, उसे ज्ञानात्मक संवेदन के रूप में या संवेदनात्मक ज्ञान के रूप में प्रस्तुत कर देता है। यह सबके अनुभव का विषय है कि मानसिक प्रतिक्रिया हमारे अभ्यन्तर में गद्यभाषा को लेकर उतरती है, कृत्रिम ललित काव्य भाषा में नहीं। फलतः, नयी कविता का पूरा विन्यास गद्यभाषा के अधिक निकट है।

आज की नयी कविता में तनाव का वातावरण है। ऐसा बहुत थोड़ा काव्य है जिसमें ऐसा वातावरण न हो। प्रकृति के कोमल दृश्य, हल्की प्रेममयी व्यंजना तथा कहीं-कहीं वासना के चित्र भी देखने को मिलते हैं। किन्तु यदा-कदाचित्, वहाँ भी हमें तनाव ही दृष्टिगोचर होता है। हाँ, यह अवश्य है कि यह तनाव विविध रूपों में, अथवा गहरे या हल्के ढंग से, प्रकट होता है। आज हमारा जो व्यक्ति जीवन है—साधारण मध्यवर्गीय लोगों का व्यक्ति-जीवन—उसके अच्छे या बुरे, ऊँचे और नीचे, गहरे और उथले क्षणों की झाँकी हमें उसमें प्राप्त होती है। मुख्य बात यह है कि आज का कवि अपनी बाह्य स्थिति-परिस्थितियों और अपनी मनःस्थितियों से न केवल परिचित है, वरन् अपने भीतर वह उस तनाव का अनुभव करता है जो बाह्य पक्ष और आत्म-पक्ष के द्वन्द्व की उपज है। हाँ, सही है कि यह तनाव विभिन्न क्षेत्रों को—यथा, प्रणय जीवन को, अपूर्तिग्रस्त व्यक्ति-मानस को तो कभी-कभी सामाजिक पक्ष को—लेकर उत्पन्न होता है। कवि के आस-पास जो जीवन लहरायित और तरंगायित है, उसे अनुभव कर और उसके भीतर अपनी स्थिति को लेकर वह विशेष सुख अनुभव नहीं कर पाता। यह तनाव कभी-कभी आत्मालोचन के स्वर में फूट पड़ता है, तो कभी प्रकृति के रमणीय दृश्य में उदास भावों का आरोप करता सा प्रतीत होता है, कभी वह आत्मविश्वास से प्लुत होकर गरज उठता है, तो कभी वह मात्र नपुंसक अहंकार का विस्फोट बनकर प्रकट होता है, कभी वह आस्था और प्रेम की बात करने लगता है। यह भी होता है कि कवि अपने मन के भीतर के उस तनाव को सामाजिक प्रश्नों के साथ जोड़ देता है यहाँ तक कि वह सभ्यता के प्रश्न भी शान से उपस्थित करता है।

संक्षेप में, नयी कविता, वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्म चेतन व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है। चूँकि आज का वैविध्यमय जीवन विषम है, आज की सभ्यता ह्रासग्रस्त है इसलिए आज की कविता में तनाव होना स्वाभाविक ही है। किसी भी युग का काव्य अपने परिवेश से या तो द्वन्द्व रूप में स्थित होता है या सामंजस्य के रूप में। नयी कविता अधिकतर द्वन्द्व रूप में स्थित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि नयी कविता में हृदय का सहज रस या रमणीयता नहीं है। नयी कविता के निकृष्ट उदाहरणों को चुनकर उस पर दोषारोपण करना व्यर्थ है। उसके श्रेष्ठ उदाहरणों को लेकर ही उसके विषय में कुछ कहा जा सकता है। नयी

कविता ने नये विषय, नयी उपमाएँ, नयी प्रतीक-योजना, नयी भाव पद्धति प्रदान की है। लेकिन ये सब बातें मैं सिर्फ इसलिए कह रहा हूँ कि हम लोग उसकी उपलब्धियों को सबसे पहले पहचान लें। नयी कविता का स्वर एक नहीं है, विविध है। एक ओर, यदि उसमें सुकोमल तीव्र गीतात्मक स्वर है, तो दूसरी ओर, तीव्र आलोचना का स्वर भी। यह स्वर कभी आत्मालोचन का रूप धारण कर लेता है, तो कभी समाजोन्मुख आलोचना भी करता है। प्रकृति के कोमल रमणीय दृश्यों से लेकर तो हृदय की रसात्मक अनुभूतियों तक के मार्मिक चित्र नयी कविता में कम नहीं हैं। सच तो यह है कि नयी कविता के भीतर कई स्वर हैं, कई शैलियाँ हैं, कई शिल्प हैं, और कई भाव-पद्धतियाँ। नयी कविता एक काव्य-प्रकार का नाम है। उस काव्य प्रकार के भीतर अनेकानेक व्यक्तिगत शैलियाँ, शिल्प, रचना-विधान और जीवन दृष्टियाँ हैं। नयी कविता की प्रतिभा किस लेखक में कहाँ है और कहाँ तक है, यह विवाद का विषय है। आज काव्य-क्षेत्र में बहुत-से नये कवि हैं। इनमें से बहुतेरे अच्छी कविता करते हैं। इन सारी उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए, मैं अब अपनी कुछ विशेष बातों को आपके सामने रखना चाहता हूँ।

पहली बात तो यह है कि युग-परिवर्तन के साथ, भिन्न स्वभाव वाले कवि सामने आते हैं। उन कवियों के विषय भिन्न होते हैं और काव्य शिल्प भी भिन्न। छायावादी कवि और रीतिकालीन कवि के अपने अपने स्वभावों में बहुत भेद है। नयी कविता का स्वभाव भी पहले के कवि स्वभावों से भिन्न है। सबसे पहली बात तो यह है कि नया कवि बाह्य के प्रति संवेदनशील है। इस संवेदना को वह आत्मपरक रूप में प्रकट करता है। किन्तु छायावादियों और प्रगतिवादियों की भाँति कोई दार्शनिक विचारधारा उसके पास नहीं है। यह बात मैं नयी कविता के बारे में कह रहा हूँ। हाँ, यह अवश्य है कि कुछ विशिष्ट कवियों के पास अपने विशिष्ट दृष्टिकोण, सर्वांगीण विचारधाराएँ हो सकती हैं, किन्तु सबके साथ यह बात सच नहीं है। हाँ, कुछ न कुछ विशेष वैचारिक प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं, बाकी में बिलकुल नहीं। अधिक से अधिक, वे लोग मानवता में, मानवतावाद में, अपनी आस्था प्रकट करते हैं, किन्तु यदि उनके बौद्धिक विचारों की जाँच की जाय तो आप पायेंगे कि मानवता की उनकी कल्पना अमूर्त और वायवीय है। फिर भी, इनमें से बहुतेरे लोग व्यक्तिगत भावना के धरातल पर समाज के शोषकों और उत्पीड़कों के विरुद्ध हैं, विषम समाज के भीतर गरीब मध्यवर्गीय जनता की स्थिति से उनका लगाव है। मैं नयी कविता के अधिकांश कवियों की बात कर रहा हूँ। शेष ऐसे भी राजनैतिक रूप से सचेत कवि हैं, जो लेखकों को समाज के उत्पीड़कों के विरुद्ध (अपने काव्य द्वारा) आवाज उठाने नहीं देते अथवा उन्हें एेसे कार्य में हतोत्साह करते रहते हैं। किन्तु, दिवसानुदिवस, समाज और सभ्यता के प्रश्न विकट हो रहे हैं। नयी कविता उन प्रश्नों से बच नहीं सकती, न बच सकी ही है। नयी कविता के क्षेत्र में, असन्दिग्ध रूप से, प्रगतिशील परम्परा की एक लीक चली आयी है। प्रश्न इस परम्परा को आगे बढ़ाने का है। कविता बाह्य के प्रति सामंजस्य के रूप में उपस्थित होती है या द्वन्द्व के रूप में। क्या यह आवश्यक नहीं है कि कवि अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को उत्पन्न और उत्सर्जित करनेवाले मूलभूत द्वन्द्वों का ठीक ठीक आकलन करे, उन्हें समझे, और उनके कारणों का अध्ययन करे, उनका वैज्ञानिक विश्लेषण करे। यह तो कवि की जीवन-

दृष्टि और जीवन-ज्ञान पर निर्भर है कि वह किस भाँति (1) बाह्य-पक्ष, (2) आत्म-पक्ष और (3) उन दोनों के द्वन्द्व से उत्पन्न तनाव को जाने-समझे, और उनकी व्याख्या करे। यदि कवि का ज्ञान-पक्ष दुर्बल है, यदि उसका ज्ञान आत्म-पक्ष और बाह्य-पक्ष और तनाव के सम्बन्ध में अधूरा अथवा धुँधला है अथवा यदि वह तरह-तरह के कुसंस्कारों और पूर्वग्रहों तथा व्यक्तिबद्ध अनुरोधों से दूषित है, तो ऐसे ज्ञान की मूलभूत पीठिका पर विचरण करनेवाली भावना या संवेदना निःसन्देह विकारग्रस्त होगी। यही कारण है कि नयी कविता के क्षेत्र में हमें बहुतेरी ऐसी रचनाएँ मिलती हैं, जिन्हें हम स्पष्टतः लोकविरोधी कह सकते हैं। इसके साथ ही यह भी भूलने की बात नहीं है कि नयी कविता के क्षेत्र में ऐसी भी बहुतेरी रचनाएँ हैं, जिन्हें हम पूर्णतः लोकोन्मुख कह सकते हैं। मेरे खयाल से, आज की कविता का मूल प्रश्न जीवन जगत् के ज्ञान के अधूरेपन या पूरेपन, विकारग्रस्तता या शुद्धता, के प्रश्न के साथ अटूट रूप से जुड़ा हुआ है। आज के कवि को अर्थात् हमें, ज्ञान-पक्ष के विकास की जितनी अधिक आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं रही।

इसका कारण यह है कि आज का कवि एक असाधारण असामान्य युग में रह रहा है। वह एक ऐसे युग में है, जहाँ मानव-सभ्यता-सम्बन्धी प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठे हैं। समाज भयानक रूप से विषमताग्रस्त हो गया है। चारों ओर नैतिक ह्रास के दृश्य दिखायी दे रहे हैं। शोषण और उत्पीडन पहले से बहुत अधिक बढ़ गया है। नोंच-खसोट, अवसरवाद, भ्रष्टाचार का बाज़ार गर्म है। कल के मसीहा आज उत्पीडक हो उठे हैं। अध्यात्मवादी विचारक जनता से दूर जा बैठे हैं। अधिकांश समीक्षकों का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वे जीवन के कलात्मक-साहित्यिक बिम्बों की तो व्याख्या करेंगे, किन्तु जीवन से दूर रहेंगे। सर्वत्र क्षोभ, कष्ट, अन्याय और उत्पीडन के दृश्य दिखायी दे रहे हैं। समाज के भीतर के विभिन्न वर्गों की खाइयाँ और भी चौड़ी हो गयी हैं। यहाँ तक कि मध्यवर्ग में भी दो श्रेणियाँ पैदा होकर अपनी परस्पर दूरी खतरनाक तरीके से गहरी और चौड़ी कर रही हैं। जनपद स्कूल के शिक्षक और यूनिवर्सिटी प्रोफेसर के बीच, गरीब जनता और खादीधारी नेता के बीच, क्लर्क और अफसर के बीच, दूरियाँ और खाइयाँ मुँह फाड़े खड़ी हैं—किसान मज़दूर और पूँजीपति ज़मींदार के बीच की दूरियों का तो क्या कहना! मानव सम्बन्ध टूट-फूट गये हैं, उलझ गये हैं। समाज में शोषकों, उत्पीडकों और उनके साथियों का ज़ोर बढ़ गया है। नयी कविता के क्षेत्र में भी दो दल तैयार हो रहे हैं। एक दल वह है जो उच्च-मध्यवर्ग का अंग है, दूसरे वे हैं जो निचले गरीब मध्यवर्ग से सम्बन्धित हैं। उनकी वर्गीय प्रवृत्तियाँ न केवल उनके काव्य में, वरन् साहित्य-सम्बन्धी उनके सिद्धान्तों में, परिलक्षित होती हैं।

ध्यान में रखने की बात है कि नयी कविता के अभ्युदय और प्रभाव के विस्तार के साथ ही काव्य-सौन्दर्य के सम्बन्ध में प्रश्न उठाये गये। ऐसा हमेशा होता आया है कि *नयी काव्य-प्रवृत्ति के उदय के साथ ही, काव्यात्मक प्रभाव के सिद्धान्तों,* साहित्य-सिद्धान्तों, की पुनर्व्याख्या हो। किन्तु नयी कविताओं ने काव्य सौन्दर्य-सम्बन्धी जो व्याख्या की, वह भले ही चाहे जितनी लचीली बना ली जाये, उन सिद्धान्तों का प्रयोग करते समय ऐसी विशेष भावनाओं और उनकी अभिव्यक्ति

को असुन्दर समझा गया जिनका सम्बन्ध ह्रासग्रस्त सभ्यता के विरोध में है। सक्षेप में, एक विशेष प्रकार की काव्याभिरुचि की औचित्य स्थापना के लिए सिद्धान्त लाये गये अथवा सिद्धान्तों की पुनर्व्याख्या की गयी। दूसरे शब्दों में, अपनी नाप की कविता—अपने फ्रेम में फिट होनेवाली कविता—को तो कविता माना गया, चाहे वह महत्त्वहीन गद्य ही क्यों न हो, पर इसके विपरीत, राजनैतिक भावावेश से सम्पन्न काव्य विद्रूप करार दिया गया अथवा उसकी जान-बूझकर उपेक्षा की गयी। जहाँ भी ऐसा प्रतीत हुआ कि अन्य की जीवन-दृष्टि उत्पीडित जनता का पक्ष ले रही है, वहीं नाक-भौं सिकोड़े जाने के चिह्न दिखायी दिये। ये सौन्दर्यवादी लोग यह भूल गये कि बजर काले-स्याह पहाड़ में भी एक अजीब वीरान भव्यता होती है, *गली के अँधेरे म उगे छोटे-से जगली पौधे में भी एक* विचित्र सकेत होता है। विशाल व्यापक मानव जीवन में पाये जानेवाले भयानक सघर्ष के रौद्र रूप तो उनकी सौन्दर्याभिरुचि के फ्रेम के बाहर थे। आप मुझे क्षमा करेंगे यदि मैं यह कहूँ कि नयी कविता मे आवेश के पख काट दिये गये, कल्पना को अपने पिंजरे में पालकर रखा गया। उसे मानव-जीवन को मूर्त और साक्षात् करनेवाली रचनात्मक शक्ति के रूप में उपस्थित नहीं किया गया, क्योंकि वह एक विशेष प्रकार की भद्रजनोचित सौन्दर्याभिरुचि के फ्रेम के खिलाफ जाती थी। व्यक्ति-मन की बात करके आत्मा की महान्, दुर्दम, विप्लवकारिणी ज्ञानमूलक शक्ति को भुला दिया गया। 'लघु मानव' के सिद्धान्त का प्रचार किया गया। सक्षेप मे, विषम ह्रासग्रस्त सभ्यता को उलटनेवाली महान् भावनाओं को परित्यक्त करके, तथाकथित आधुनिक भाव बोध को उद्घोषित किया गया।

लेकिन, वस्तुत, आधुनिक भाव-बोध क्या है? मैं अपनी खुद की ज़िन्दगी और दोस्तों की जिन्दगी के तजुर्बे से बता सकता हूँ कि अन्याय के खिलाफ आवाज़ बुलन्द करना आधुनिक भाव बोध के अन्तर्गत है। आधुनिक भाव-बोध के अन्तर्गत यह भी है कि मानवता के भविष्य निर्माण के सघर्ष म हम और भी अधिक दत्त-चित्त हों, तथा हम वर्तमान परिस्थिति को सुधारें, नैतिक ह्रास को थामें, उत्पीडित मनुष्य के साथ एकात्म होकर उसकी मुक्ति की उपाय-योजना करें। क्या यह आधुनिक भाव-बोध के अन्तर्गत नहीं है कि मैं अपनी लेखनी द्वारा किसी विशेष लोकादर्श के लिए कविता लिखूँ? क्या जब बगाल में अकाल पडा तब महादेवी से लेकर बच्चन तक ने, मैथिलीशरण गुप्त से लेकर मेरे जैसे तुच्छ कवि ने, कविताएँ नहीं लिखी थीं? क्या यह बात किसी से छिपी है कि कैसी श्रेष्ठ कविताओं का सकलन निकला और उसके पैसे अकाल फण्ड म गये? क्या वह रेजिमेण्टेशन था? क्या वह आधुनिक भाव बोध के अन्तर्गत नहीं आयेगा?

इसी प्रकार हम आत्माभिव्यक्तिवाद को लें। हमारी आत्मा को जो अनुभूत होता है उसे हम लिखते हैं। ऊपर ऊपर से यह सिद्धान्त सही मालूम होता है। किन्तु हमारी आत्मा में बहुतेरा अनुभव सचित है। वह सब साहित्य में क्या नहीं आता? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि गहन अनुभूति के क्षण थोडे होते हैं, वे सौन्दर्यानुभव के क्षण होते हैं। जब हममें एस्थेटिक इमोशन जाग उठता है, तब हम कविता लिखते हैं। आत्मा की सब अनुभूतियाँ ऐस्थेटिक नहीं होतीं, इसलिए वे काव्य-रूप में व्यक्त नहीं होतीं। लेखक, तुम केवल अपने ऐस्थेटिक इमोशन को ही प्रकट करो, दूसरों के चक्कर में मत पडो। यदि तुम दूसरों के चक्कर म पड़े,

तो गये।

सन् '36 से तो मैं भी कविताएं लिख रहा हूं। कविता में कहाँ कितना फ्राड होता है, यह मैं जानता हूं। फ्राड को आप कौशल भी कह सकते हैं। नयी कविता का कवि बहुत सचेत है, वह काफी फ्रॉड करता है। दूसरे शब्दों में, यह आवश्यक नहीं है, अर्थात् यह अनिवार्य नहीं है, कि काव्य की वास्तविक रचना का क्षण, युगपत्-रूप से, हृदय के द्रवण का, चित्त की रसात्मकता का, भी क्षण हो। हृदय में संचित प्रतिक्रियाएं, अनुभव, आवेशमय अनुरोध, अतृप्त स्वप्न-राशियाँ—
[illegible] उद्देश्यो
[illegible] होकर
[illegible] इमोशन
[illegible] र चलते
हुए भी प्राप्त होते हैं। माँ स, मित्रो से, बातचीत करत समय, जुलूस मे जाते समय, किसी फल या पत्ते को देखकर, किसी सुन्दर मुख का दर्शन कर, किसी भव्य श्रद्धेय व्यक्ति का सम्पर्क पाकर, वे भाव हमें प्राप्त हो जाते है। ऐसे ऐस्थेटिक इमोशन केवल लेखक के ही नही होते, साधारण जन-हृदय मे भी आते-जाते हैं और खूब आते हैं। जनता स्वय ऐस्थेटिक इमोशन का भण्डार है। यह कोई राजनैतिक बात नही, नितान्त सत्य है। फिर हमी क्यो कवि हो जाते है, वे क्यो नही होते? यह इसलिए नहीं हो पाता कि यद्यपि वे भावो की व्यक्तिबद्ध दशा से हटकर, ऊपर उठकर, सामान्य और उच्चतर रस-दशा मे चले जाते हैं, फिर भी कभी-कभी वे उनका ऐब्स्ट्रैक्शन—विलगीकरण—नहीं कर पाते। किन्तु बहुत बार वे लोग बात-चीत के दौरान मे वैसा कर जाते है। तब उनकी बात का प्रभाव रसात्मक होता है, और वाणी द्वारा प्रस्फुटित उनकी अभिव्यक्ति की अपनी शैली होती है, जिसमें प्रभावोत्पादक शब्द-योजना रहती है। काव्य या साहित्य पर्याप्त अमूर्त (ऐब्स्ट्रैक्ट) कला है। उसकी मूर्तिमानता उसकी बुनियादी विलगीकरण-क्रिया पर आधारित है। विलगीकरण-क्रिया ही ऐब्स्ट्रैक्शन है। सामान्य जन मे बहुधा उचित शब्द-सम्पदा नही होती कि जिससे वह अपने सूक्ष्म भावो और आवेशो को ठीक-ठीक प्रस्तुत कर सके।

संक्षेप में, नये कवियो को यह बताया गया है कि वे तथाकथित ऐस्थेटिक इमोशन तक ही सीमित रहे। हृदय मे संचित वास्तविक जीवनानुभवो को—यदि वे ऐस्थेटिक इमोशन के क्षण मे बहकर नही आते—व्यक्त करना गलत होगा। यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसके पीछे न केवल विशेष सौन्दर्याभिरुचि है, वरन् विशेष प्रकार के विषय-संकलन का आग्रह भी है। किन्तु इस सिद्धान्त का मुख्य हेतु यह है कि व्यक्ति को व्यक्तिबद्ध बनाये जाये। यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि स अनुचित और व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी है। नयी कविता के आचार्यों की कविता मे कितना ऐस्थेटिक इमोशन है, यह हम जानते हैं।

माना कि नये कवि के पास कोई सर्वांगीण दार्शनिक विचारधारा नही है, किन्तु वह अपने जीवन की वास्तविकता के सम्पर्क मे तो है। मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूं कि उसका मन आज की विषम परिस्थितियो के बीच पाये जानेवाले करुण, बीभत्स और कठोर, सुन्दर और सुषमामय, दृश्यो से संवेदित तथा व्याकुल नही होता। ये कवि-गण निःसन्देह इन स्थितियो का संवेदनात्मक अनुभव करते

हैं। सवेदनशील मनुष्य होने के कारण, मानव के कष्टपूर्ण जीवन का उन पर अवश्य प्रभाव पडता है। आज की विषम सभ्यता के भयानक दृश्यो से उनका भी चित्त क्षुब्ध हो जाता है। फिर भी वे इन सब बातो के चित्रण की ओर ध्यान नही देते— भोक्ता और स्रष्टा मन के बीच का यह पार्टीशन बहुत खतरनाक है, अस्वास्थ्य-मूलक है। किन्तु वे ऐसा क्यो नही कर पाते ?

मेरे खयाल से इसके कई कारण है। पहला कारण तो यह है कि विषय-सकलन सम्बन्धी उनकी मूल्य-भावना, अर्थात् विवेक, क्षीण है। किन्तु वह क्षीण क्यो है ? इसलिए कि वे उच्च-मध्यवर्गीय, सम्पन्न, विलायती सस्कारो से युक्त सौन्दर्याभिरुचि के चक्कर मे हैं। व एक विशेष प्रकार की सौन्दर्याभिरुचि की तानाशाही के शिकार हैं। इस विशेष प्रकार की सौन्दर्याभिरुचि न विशेष प्रकार के भावो और शैलियो को ही उभारकर नयी कविता को, अदृश्य रूप से, एक ढर्रे मे ढाल दिया है। नयी कविता की भी अपनी एक लीक बन गयी है, उसमे भी एक फॉसिलाइजेशन— जडीभवन—परिलक्षित होता है, जो रेजिमेण्टेशन ही का दूसरा रूप है।

सौन्दर्याभिरुचि के अपने सेंसर्स होते हैं। इन भीतरी थानेदारो के हाथ मे पडकर, हृदय मे सचित महत्त्वपूर्ण वास्तविक अनुभव-सवेदनाएँ स्वतन्त्र नही रहती, दबा दी जाती है। कभी कभी वे अनुभव सवेदनाएँ जाग उठती हैं, लेखक उन्हे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। किन्तु सक्षम सुन्दर अभिव्यक्ति तो अविरत साधना और श्रम के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। उन भावो से सम्बन्धित अभिव्यक्ति की साधना तो उसने कभी की नही, इसलिए उसकी वह अभिव्यक्ति अधूरी और पगु दोना हो जाती है। दूसरे, अन्य प्रकार के व्यक्तिबद्ध भावो को प्रकट करते रहने के कारण, उसकी शब्द-सम्पदा और भाषा-शक्ति उन्ही भावो से बद्ध तथा उन्ही तक सीमित रहती है—वह उसके आगे नही बढ पाती। फलत , अपने ही वे विशेष स्व-दृष्टि और स्वानुभूत भाव-सवेदन पूर्णत अभिव्यक्त नही होते, उन भाव-समुदायो से सम्बन्धित अभिव्यक्ति की पगुता से चिढकर वह उस रास्ते को ही छोड देता है, और फिर अपनी पुरानी लीक पकड लेता है। साथ ही, उसमे इतना प्रबल आग्रह और अनुभव अथवा भावनात्मक आस्था नही है कि वह (लेखक) आगे बढ़े। उन भावो की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित उसके पास जो भी आत्मविश्वास है वह गडबडा जाता है।

सक्षेप मे, यदि लेखक आज ईमानदार है तो उसे अपने प्रति और अपने युग के प्रति अधिक उत्तरदायी होना होगा। उसे अपनी सौन्दर्याभिरुचि के सेंसर्स जरा ढीले करने होंगे, विषय सकलन को स्वानुभूत विवेक के विश्व-चेतस् हाथो मे सौंपना होगा, अभिव्यक्ति क्षमता बढाने के लिए अथक प्रयास करना होगा। अधिक साहस और ज्यादा हिम्मत से काम लेना जरूरी है। अपनी सौन्दर्याभिरुचि के सेंसर्स के वशीभूत होना ठीक नही है। अनुभव-वृद्धि के साथ-साथ, सौन्दर्याभिरुचि का विस्तार और पुन -पुन सस्कार होना आवश्यक है।

मैं यह नही कहता कि अपने अन्तर्जीवन के विविध पक्षो के चित्रण मे सौन्दर्य नही है, या आत्मपरकता गलत है। मैं यह कह रहा हूँ कि अपने अन्त करण में स्थित जीवनानुभवो को उनके सम्पूर्ण बाह्य सन्दर्भों के साथ उपस्थित करना आवश्यक है। हम अपने-आपको यदि काट देंगे, जैसे कि सौन्दर्याभिरुचि के नाम पर हम अपने-आपको काट रहे हैं, तो फिर कुछ नहीं बचेगा। इसलिए आवश्यक

है कि हम अपने-आपको सम्पूर्ण रूप में देखें। प्रगतिवाद ने मनुष्य-जीवन का केवल राजनैतिक पक्ष उठाया, उसने सम्पूर्ण मनुष्य को अपना काव्य-विषय नहीं बनाया। यदि इसी प्रकार नयी कविता (भिन्न प्रकार से) एकांगी हो जाती है, तो उसके लिए यह कल्याणकर सिद्ध नहीं होगा। संक्षेप में, चेतना के निरन्तर प्रसार और अभिव्यक्ति के विस्तार की अत्यन्त आवश्यकता है। नयी कविता को मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष में जोड़ना ज़रूरी है। मैं नयी कविता की उपलब्धियों को कम करके नहीं देखना चाहता। मैं उसके क्षेत्र का एक अंग हूँ।

फिर से कह दूँ कि काव्य-रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है। उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं समाज की या वर्ग की देन हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि नयी कविता वर्तमान ह्रास-ग्रस्त, अध:पतनशील सभ्यता की असलियत को जब तक पहचानती नहीं है, सभ्यता के मूलभूत प्रश्नों से अपने को जब तक जोड़ नहीं लेती है, मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष से जब तक वह स्वयं को संयोजित नहीं कर पाती, जब तक उसमें उत्पीड़ित और शोषित मुखों के बिम्ब दिखायी नहीं देते, उनके हृदयों का आलोक नहीं दिखायी देता, तब तक सचमुच हमारा कार्य अधूरा रहेगा। यह ठीक है कि शायद हम यह काम एक दिन में नहीं कर सकते। किन्तु विवेक-संवेदना, अनुभव-पीड़ा और अथक श्रम की सहायता से हम उस ओर बढ़ तो सकते ही हैं।

यहाँ मुझे एक इटैलियन कवि दोमेनिको कादोरेसी के एक वक्तव्य का स्मरण हो आता है। उसने एक जगह कहा है :

"हम व्यक्तिवाद के गहन दण्डकारण्य में से बाहर निकल पड़ें, जिन-जिन स्थानों पर मनुष्य अपनी अस्तित्व-रक्षा में लीन है, वहाँ-वहाँ हमारे हित लगे हुए हैं। हमारे काव्य का चरित-नायक आज स्वयं मुनिमान यथार्थ ही हो

"कला को अपने औज़ार उठा लेना चाहिए, शायद बारूद भी ज़रूरी है, जिससे कि चट्टानें तोड़ी जा सकें और युग के उन स्पन्दनशील सप्राण भाव निर्झरों को मुक्त किया जा सके, कि जो उन चट्टानों के नीचे दबे हुए हैं। मनुष्य को मनुष्य के साथ बातचीत शुरू करनी होगी, मनुष्य का समाज के साथ वार्तालाप आरम्भ करना होगा। अब समय आ गया है कि हम अतीत के रहस्यात्मक जादुई धुँधले सूत्र-मन्त्रों को त्याग दें। यदि विशुद्ध काव्य हमें जीवन ही से पूर्णतः पृथक् करता है, तो उस काव्य को विशुद्ध रखने की आवश्यकता ही क्या है? हम गोल चहार-दीवारी को तोड़कर निकल जायें और कूदकर खाइयाँ लाँघ लें। हम स्वगत-भाषण और एकालाप से हटकर वार्तालाप की ओर जायें। निःसंगता से हटकर संघर्ष में योग दें। अलग-अलग टुकड़ों-टुकड़ों में काम न कर अखण्ड पूर्ण रचना करें। लोगों की आँखों के सामने हम उन्हीं की गरीबी और दारिद्र्य की स्थिति स्पष्ट करें, और यदि हो सके तो हम उनकी मुक्ति के और सान्त्वना के शब्द खोज निकालें।"

संक्षेप में, आज का कवि तब तक अपनी चेतना का संस्कार नहीं कर सकता, तब तक वह वस्तुतः आत्म-चेतस् हो ही नहीं सकता, जब तक वह विश्व चेतस् न हो। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहेंगे कि कवि-हृदय आज के जगत् के मूल द्वन्द्वों का अध्ययन करे अर्थात् अपनी सम्पूर्ण चेतना द्वारा आज की वास्तविकता की तह में घुसे और ऐसी विश्व-दृष्टि का विकास करे, जिससे व्यापक

जीवन-जगत की व्याख्या हो सके, और अन्तरजगत् के महत्त्वपूर्ण आन्दोलनों का बोध हो। तभी उसका विषय-सकलन-सम्बन्धी विवेक भी अधिक पुष्ट होगा। तभी हम आस-पास फैली हुई मानव-वास्तविकता के मार्मिक पक्षों का उद्घाटन और चित्रण कर सकेंगे। यह उद्घाटन चित्रण मात्र विवेचनात्मक-बौद्धिक दृष्टि में ही सीमित रहकर नहीं होगा। उस बौद्धिक प्रतिभा के फलस्वरूप संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन अधिक पुष्ट होंगे, और अनुभूति को ज्ञान-प्रेरणा प्राप्त होती जायेगी। साथ ही उसे अपनी अभिव्यक्ति-शैली ज्यादा सजीली [बनानी] और शब्द-सम्पदा अधिकाधिक बढ़ानी होगी, जिससे कि वह, एक ओर, हृदय की अत्यन्त सूक्ष्म संवेदनाओं को मूर्तिमान कर सके, तो दूसरी ओर, वास्तव जीवन-जगत की लहर-लहर हृदयगम कर उसे समुचित वाणी दे सके।

आज के विकासमान कवि को तीन क्षेत्रों में एक साथ संघर्ष करना है—(1) तत्त्व के लिए संघर्ष, (2) अभिव्यक्ति सक्षम बनाने के लिए संघर्ष, और, (3) दृष्टि-विकास के लिए संघर्ष। तत्त्व के लिए संघर्ष का अर्थ अपने वास्तविक जीवनानुभव को सन्दर्भ-सहित व्यक्त करने के लिए उचित विषय-सकलन के विवेक से सम्बन्धित है। हम अपने ही युग के ऐसे सारभूत बिम्बों और मूल प्रवृत्तियों को उठाना और चित्रित करना होगा, जिससे कि हम अपना युग बन सकें और हम सच्चे अर्थों में समसामयिक हो पायें। विषय-सकलन का विवेक हमारी अपनी अनुभूतिजन्य मार्मिक ज्ञान-दृष्टि से उत्पन्न होगा। इसीलिए यह आवश्यक है कि हमारा ध्यान दृष्टि विकास की ओर जाये, और हम आज के तनाव-भरे जगत की मूल गति और दिशा को समझ सकें।

किन्तु विश्व दृष्टि का विकास तब तक नहीं होगा, जब तक हम मानवता के भविष्य-निर्माण के सघर्ष में आस्था न रखें, और आध्यात्मिक रूप से उसमें सम्बद्ध न हो जायें। सक्षेप में आज एक दूसरे ही प्रकार का कवि-चरित्र चाहिए। वह नहीं कि जो निरा कार्यकर्त्ता है, अथवा केवल चारण है, वह भी नहीं जो आराम-कुर्सी पसन्द बुद्धिजीवी हो, वह भी नहीं जो किसी सम्पन्न उच्च मध्यवर्गीय परिवार में उत्पन्न चित्रकार है जो चित्रकला के लिए दुनिया-भर में अपनी प्रदर्शनियाँ आयोजित करता रहता है। आज ऐसे कवि-चरित्र की आवश्यकता है, जो, मानवीय वास्तविकता का बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए सामान्य जनों के गुणों और उनके संघर्षों से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करे, उनके सचित जीवन-विवेक को स्वय ग्रहण करे तथा उस और अधिक निखारकर कलात्मक रूप में उन्हीं की चीज को उन्हें लौटा दे। सामान्य जनों की अपार आध्यात्मिक और बौद्धिक क्षमता में यदि हमारा विश्वास है, हमारी आस्था है, तो हम अपने ही पिता के सच्चे पुत्र होंगे। अपने युग की विवेक चेतना को मूर्तिमान करने का यह कार्य जितना गम्भीर और कठिन है उतना ही प्रेरणाप्रद है, क्योंकि उसमें तो हम अपने ही जीवन के मूल उत्सों के अमृत-रस का पान करेंगे, और अपनी सृजनशील अनुभूति और कल्पना द्वारा उस जीवन की साहित्यिक-कलात्मक पुनर्रचना करेंगे, कि जो जीवन अपने सारे आलोक में हम इतना प्रिय है। कवि-चरित्र के विकास का हमारा यह संघर्ष, युग की विवेक-चेतना बनने का हमारा यह मौन प्रयास, अपने-आपमें आध्यात्मिक महत्त्व रखता है, इससे कौन इनकार करेगा?

[कृति मई 1960 में प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसंघर्ष में सकलित]

आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि

साहित्य मे दार्शनिक तत्त्व दो प्रकार से पाये जाते है। एक वे, जो लेखक की विश्व-दृष्टि का अग बनकर भाव-दृष्टि का रूप धारण करते हुए, लेखक के आभ्यन्तर मनस्तत्त्वों का अपने अनुसार सघटन-विघटन करते हुए, उन्हे (उन अन्तर्तत्त्वो को) नयी व्यवस्था प्रदान करते है। ऐसी स्थिति मे साहित्य मे प्रकट भाव-दृष्टि उस ज्ञान-धारा या विचार-धारा से अनुप्राणित और अनुशासित होती है, कि जिस धारा को हम उस लेखक की विश्व-दृष्टि कह सकते है। हाँ, ऐसे भी लेखक होते है जो केवल वातावरण से प्रभाव या सस्कार ग्रहण करते है। फलत उनकी भाव-दृष्टि, उस विश्व-दृष्टि या ज्ञान-धारा मे किंचित् स्वाधीन होते हुए भी, अन्तत उसी विश्व-दृष्टि का अग बन जाती है। सक्षेप मे, लेखक की विश्व-दृष्टि (भले ही वह सगठित विचारात्मक व्यवस्था के रूप मे स्पष्ट, मूर्त्त और सुलक्षित न हो) और उसकी भाव-दृष्टि, दोनो मूलबद्ध एकता मे जहाँ पायी जाये, वहाँ हम यह कह सकते है [कि] लेखक के पास अपनी एक दार्शनिक धारा है।

साहित्य मे दार्शनिक तत्त्व प्रकट होने का एक अन्य रूप भी है। वह यह कि एक ओर, भाव-दृष्टि और विश्व-दृष्टि, इन दोनो के बीच या तो खब फासला होता है, या विश्व-दृष्टि का एकदम अभाव होता है। चूंकि लेखक एक जीवन्त, चेतना-सम्पन्न प्राणी है, सवेदनशील आत्मा है, इसलिए जीवन-जगत् के प्रति की गयी उसकी सवेदनात्मक और ज्ञानात्मक प्रतिक्रियाओ मे, बहुधा, किसी-न-किसी प्रकार के जीवन-मूल्य या तो परम्परा-प्राप्त होने से, अथवा नवीन परिस्थितिगत उपलब्धि के रूप मे, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे, स्पष्टार्थो अथवा गर्भितार्थों मे, प्रकट होते हैं। साथ ही, कभी-कभी वह अपने काव्य मे जीवन-आलोचना भी करता है। इस प्रकार के साहित्य मे प्राप्त भावनाओ मे प्रकट होनेवाले जीवन-मूल्यो और दृष्टियो का खीच-खाँचकर अर्थ ग्रहण करने से, उन सबको मिलाकर, सम्भवत, कोई दार्शनिक रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है।

हिन्दी-साहित्य म सुनिश्चित दार्शनिक आधार पर खडे हुए भाव-गम्भीर साहित्य की कभी कमी नही रही। भक्तिकाल मे वह आधार-भूमि सुस्पष्ट थी। आधुनिक युग के छायावादी काल मे वह काफी पीछे ढकेल दी गयी। छायावादी भावना मे आस्था की जगह व्यक्ति-मन ही प्रधान रहा। अत्याधुनिक नयी कविता मे सर्वमान्य दार्शनिक भूमि लगभग विलुप्त है। [illegible] एक सुस्पष्ट और सागोपाग विचारणा थी, प्रगतिवादियो के पास।

प्रगतिवादियो ने साहित्य की आध्यात्मिक [illegible] किया। बडा ही कठोर युद्ध रहा। उस काल के अनन्तर, [illegible] प्रभाव दुर्बल होता गया। आज वह विचार- [illegible] जाती है। नयी कविता के द्वितीय उत्[illegible] [illegible]वादी विचारधारा पर जोरदार ह[illegible] [illegible] के भारतीय व्याख्याता पर्याप्त [illegible] वाह्य कारणो मे प्रगतिवाद [illegible] के कुछ क्षेत्रों द्वारा किये गये [illegible] गया।

लेकिन इस पूरे इतिहास का परिणाम क्या हुआ ?

नयी कविता को उत्तराधिकार के रूप में न अध्यात्मवादी विचारधारा प्राप्त हुई, न भौतिकवादी। विश्व दृष्टि को—चाहे वह जो भी हो—विकसित करने का प्रयत्न भी नहीं हुआ। कुछ कलाकारों ने आपस में बैठकर भले ही अपने विश्वास एकत्रित कर लिये हों, किन्तु वे विश्वास उनके साहित्य की पार्श्वभूमि नहीं बन पाते। दूसरे शब्दों में, उनके पास ऐसी कोई केन्द्रीय दृष्टि नहीं है जो उनकी भाव दृष्टि का अनुशासन कर सके।

क्या यह वांछनीय है ? इस प्रश्न का उत्तर अलग ढंग से दिया जायेगा। मेरे अपने मतानुसार, यह अच्छा नहीं हुआ। यह अच्छा नहीं है, हानिप्रद है, देश के लिए भी, साहित्य के लिए भी, स्वयं कवियों के अपने अन्तर्जीवन के लिए भी।

आज बहुत-से कवियों के अन्तःकरण में जो बेचैनी, जो ग्लानि, जो अवसाद, जो विरक्ति है, उसका एक कारण (अन्य कई कारण हैं) उनमें एक ऐसी विश्व-दृष्टि का अभाव है, कि जो विश्व दृष्टि उन्हें आभ्यन्तर आत्मिक शक्ति प्रदान कर सके, उन्हें मनोबल दे सके, और उनकी पीडाग्रस्त अगतिकता को दूर कर सके। ऐसी विश्व-दृष्टि अपेक्षित है, जो भाव दृष्टि का, भावना का, भावात्मक जीवन का, अनुशासन कर सके।

मेरे उक्त निवेदन के उत्तर में यह कहा जायेगा कि विश्व दृष्टि का विकास बुद्धि का कार्य है। तो इसलिए क्या आप कवियों में यह अपेक्षा करते हैं कि वे अपना एक स्वतन्त्र दर्शन तैयार करें ? यह तो दार्शनिकों का काम है, हमारा नहीं। इस प्रकार का उत्तर दिया जायेगा। किन्तु यह एक मानी हुई बात है कि प्रत्येक युग में जीवन के कुछ ऐसे बुनियादी तथ्य होते हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यही नहीं, वे मूलभूत जीवन-तथ्य न केवल हमारी निजी जिन्दगी पर गहरा असर डालते हैं, वरन् देश के वर्तमान और भविष्य का भी निर्माण करते हैं। [पर] उन बुनियादी जीवन तथ्यों के जो तर्कसंगत निष्कर्ष और परिणाम निकलते हैं, हम उनकी तरफ भी नहीं जाते। यह नहीं कहा जा सकता कि वे हमारे जीवन-अनुभव के बाहर हैं, अथवा उनके संवेदनात्मक आघात हम पर नहीं हुए हैं, नहीं हो रहे हैं या नहीं होंगे। सच तो यह है कि वे मूलभूत जीवन तथ्य इतने विस्तृत होते हैं कि उनके चंगुल से, प्रभाव से, उनके संवेदनात्मक अनुभव से, बचा नहीं जा सकता। फिर भी हमारे पास शिक्षा तथा संस्कृति द्वारा प्राप्त जो संचित ज्ञान है, उसके प्रकाश में भी हम उन जीवन तथ्यों का विश्लेषण नहीं करते। आज की बहुत-सी कविताओं में दुःख, वैकल्य व पीडा तथा विरक्ति का स्वर है। उसके मूल में उसको घटित करनेवाले जो कारक तथ्य हैं, उनका विश्लेषण करके उनके तर्कसंगत निष्कर्षों तथा परिणामों के आधार पर, हम अपनी ज्ञानव्यवस्था, तथा उस ज्ञान-व्यवस्था के आधार पर अपनी भाव-व्यवस्था, विकसित नहीं करते। संक्षेप में, हम व्यक्तित्व के विकास की बात तो करते हैं, किन्तु व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाते।

व्यक्ति-स्वतन्त्रता की बात तो करते हैं, लेकिन वह स्वातन्त्र्य जिस मानवीय लक्ष्य-आदर्श के लिए होता है, या होना चाहिए, वह अपनी शून्य रिक्तता के धुएँ में खो जाता है। आज के जीवन के जो बुनियादी तथ्य हैं, उनके वास्तविक तर्क-संगत निष्कर्षों और परिणामों की ओर जाने में हमें डर मालूम होता है। कहीं

हमें कोई राजनैतिक न कह दे, कहीं कोई हमारी कविता को गद्यात्मक न कह दे। संक्षेप में, कवियों में कहीं सौन्दर्यवाद के नाम पर, तो कहीं अन्य किसी नाम पर, यह भय समाया रहता है कि अगर हम जीवन के बुनियादी तथ्य को ही गद्यात्मक संवेदना में प्रस्तुत करें, तो लोग हमारी कृति को कलाहीन कह देंगे, अथवा लोग हमें *कम्यूनिस्ट कह देंगे, अथवा वामपक्षी कह देंगे आध्यात्मिक कह देंगे।* तरह-तरह के इन आत्म-निषेधों के फलस्वरूप अनुभवात्मक ज्ञान व्यवस्था को हम विकसित नहीं कर पाते—ऐसी ज्ञान व्यवस्था को, जो स्वानुभूत जीवन-तथ्यों की मूल पीठिका पर खड़ी हुई हो।

इस साहसहीनता का मूल कारण है वह चरित्रहीनता, जिसे हम अवसरवाद कहते हैं। यह अवसरवाद अत्यन्त सूक्ष्म और तीव्र रूप धारण कर अन्त करण में पैदा हुआ है। वह हमें सच-सच और साफ-साफ नहीं कहने देता। 'साफ-साफ' का अर्थ कलाहीन होना या गद्यात्मक होना नहीं है।

इससे एक दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष भी निकलता है। वह यह कि बाह्य कारकों से जो संवेदनात्मक प्रतिक्रिया, अनुभव रूप में हमारे मन में होती भी है, वह हमारे व्यक्तित्व के उस गहरे स्तर का अंग नहीं हो पाती, कि जिस गहरे स्तर में संस्कार, शिक्षा दीक्षा आदि से संशोधित हमारी आत्म सम्पदा हमारी अनुभव-सम्पदा है। जीवनानुभवों को हम आत्मसात् करते नहीं जान पड़ते। इसलिए हम विकास नहीं कर पाते। जिन्दगी की मंजिलें पार करते हुए, सामान्य अनुभवों को आत्मसात करते हुए, हम अपने आपको परिणत, संशोधित और विकसित कर नहीं पाते। हमारा अन्तर्मन उन जीवनानुभवों का समन्वय करके, उनके आधार पर अनुभवात्मक ज्ञान-व्यवस्था स्थापित नहीं कर पाता। ऐसी ज्ञान-व्यवस्था, जो जीवनानुभवों और तर्कसंगत निष्कर्षों और परिणामों के आधार पर होती है, निःसन्देह संवेदनात्मक हो जाया करती है। वह सिर्फ किताबी नहीं होती। यह संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था ही समन्वयकारिणी शक्ति हुआ करती है। किन्तु उसके अभाव में जो भी संवेदनात्मक अनुभव हम होते हैं, वे उस शिशु के अनुभवों के समान हैं, कि जो शिशु उन अनुभवों को अभी अपनी संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था के रूप में ग्रथित और गुम्फित नहीं कर पाता। वह बाहरी कारक शक्तियों की प्रेरणा से तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया तो करता है, किन्तु उनके अनुभव उसके भीतर के निज से पूर्णतः समन्वित नहीं हो पाते।

यही कारण है कि कविता में संवेदनात्मक प्रतिक्रिया तो दिखायी देती है, किन्तु वह प्रतिक्रिया किसी अन्तर्निहित अनुभवप्रसूत ज्ञान व्यवस्था का अंग प्रतीत नहीं होती। वह प्रतिक्रिया, जो कविता में चित्रित हुई है, किसी अन्तर्निहित सागर की लहर नहीं है वरन् बाह्य से प्राप्त संवेदनात्मक आघात की ऐसी लघु बिम्ब-माला है, जिसने अन्तर्मन के केवल छिछले तल को छुआ है, जिसने अपने आघात के भीतर के सारे व्यक्तित्व को नहीं जगाया है, जिसने अन्तःसन्निहित भाव-सम्पदा में भूचाल पैदा नहीं किया है।

इस प्रकार के कवि का आत्म-प्रकटीकरण केवल आंशिक और विकृत होता है। केवल क्षण के द्रवीभवन में सारे व्यक्तित्व का योग न होने से, उस क्षण का चित्र उस व्यक्तित्व का वास्तविक चित्र नहीं हो सकता। व्यक्तित्व अथवा आत्म-सत्ता जिस संवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था का नाम है, उसकी आत्मसात्कारिणी

समन्वयकारिणी शक्ति के प्रति गहरे उपेक्षा-भाव के कारण, कवि क्षण की सवदना को चित्रित भले ही कर ले, वह सवेदना उसके अन्तर्जीवन की अनुभवात्मक ज्ञान-व्यवस्था का अग नही बन पाती। फलत (1) एक ओर, वास्तविक अन्तर्जीवन और निज का व्यक्तित्व तथा, दूसरी ओर, बाह्य से पुन-पुन प्राप्त सवेदनाएँ—इन दो के बीच फासला बढता जाता है, एक डबल पर्सनेलिटी-जैसा कुछ तैयार होता जाता है। (2) कवि-व्यक्तित्व और वास्तविक व्यक्तित्व के बीच इस फासले के सबब से, वह साहित्यिक चिन्तन-धारा पैदा होती है, जिसे हम सौन्दर्यानुभूति और वास्तविक जीवनानुभव की समानान्तर गति' का सिद्धान्त कह सकते हैं। और, (3) ऐसा काव्य-साहित्य निर्मित होता है कि जिसमे केवल कुछ मन स्थितियो का [illegible] िया जाता [illegible] ूल कारक [illegible] न-तथ्यो के [illegible] के कारण [illegible], अलजेब्रा और ज्यॉमेट्री, हमारी सवदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था के अग बन जायें तो क्या बात है! लेकिन, सच बात तो [यह] है कि उनके उस भूगोल और इतिहास, अलजेब्रा और ज्यॉमेट्री को आत्मसात् करने का काम सवेदनशील कवि का नही है, यह माना जाता है। उन मूल जीवन तथ्यो द्वारा पैदा होनेवाली मन स्थितियो और मनोदशाओ के भीतर जो फेन और धूम या धुन्ध उत्पन्न होती है, उनमे डूबकर, उनके पर्दे मे से, हम उन मन स्थितियो और मनोदशाओ को देखेंगे तथा उनके सकेतो की खिडकी मे से, सम्भव हुआ तो, हम मूल कारक शक्तिवाले उन जीवन-तथ्यो की सूचना प्राप्त करेंगे। किन्तु स्वतन्त्र रूप से हम उन मूल जीवन-तथ्यो का भूगोल और इतिहास, अलजेब्रा और ज्यॉमेट्री, नही पायेंगे, उन्हे अपनी निहित सवेदनात्मक ज्ञान-व्यवस्था का अग नही बनायेंगे। आधुनिक विज्ञान युग मे कवियो द्वारा जीवन ज्ञान का बॉयकॉट सचमुच दर्शनीय और शोचनीय है। वह उनके आत्मिक ह्रास और ह्रास की विद्रूपता का सूचक है।

यही कारण है कि कविता मे आज जो निज-समस्या अकित होती है, वह वास्तविक सन्दर्भों से हीन होने से मानव-समस्या का रूप धारण नही कर पाती। यह आध्यात्मिक ह्रास के फलस्वरूप उत्पन्न उस अन्धदृष्टि के कारण है, कि जो दृष्टि जीवन-जगत् के बदलते हुए कैनवास पर, उसकी पार्श्वभूमि मे, निज-समस्या को नहीं रख पाती, उस निज-समस्या को व्यापक महत्त्व और व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान नही कर पाती कि जिससे वह, वस्तुत, एक जीवन्त मानव-समस्या के रूप मे इस प्रकार प्रस्तुत हो, कि पाठको की दृष्टि, उस निज समस्या को मानव समस्या के रूप मे देखे, और उस मानव-समस्या की खिडकी मे से जीवन-जगत् का पर्यवलोकन करे। पाठको की दृष्टि केवल शैली मे, बिम्बमाला मे, या ऐसी ही किन्ही बातो मे अटककर रह जाती है। अभी इस आत्मिक ह्रास का एक नमूना यह भी है कि सरल गद्यात्मक शैली मे लिखी हुई ऐसी नयी कविताएँ बहुत थोडी हैं कि जिनमे चित्रित अनुभव, वस्तुत, पाठको मे सवदनाघात करते हो। बहुत-स कवियो ने अपनी-अपनी कविताओ के ऐसे पैटर्न और ऐसी शब्दावली विकसित की है कि जो पाठको की तो क्या, अन्य सहचर कवियो की भी समझ मे नहीं आती। सक्षेप

मे, निज-समस्या को विस्तृत परिप्रेक्ष्य म देखकर रखने के बजाय, उसे ऐसे ढग से घनीभूत किया जाता है कि मानो वह आज के युग क सामान्य मानव-अनुभव के परे की कोई चीज हो। निज-समस्या को व्यापक मानव-समस्या के रूप म न रख पाने की इस महान् असफलता के आधार पर, काव्य के क्षेत्र म जो भी नित्य-नवीन प्रयोग किये जायेंगे, वे मूलभूत जीवन तथ्यो क *सवेदनात्मक ज्ञान* की पूर्वपीठिका की अनवरत उपक्षा के फलस्वरूप, महत्त्वहीन ही रहगे।

आज के युग के मूलभूत जीवन तथ्यो के तर्कसगत तथा अनुभवसिद्ध निष्कर्षों और परिणामो की ओर न जा सकने के कारण, *आज का कवि वर्तमान मानव-समस्याओ* के प्रति भी उदासीन है। सम्भव है कि इस बात म अतिरजना हो। यह मैं जानता हूँ कि बहुत-से कवि, निर्मित कठघरो और घेरो को तोडना भी चाहते है। किन्तु, एक ओर, उनकी अ
तत्त्वो का पूर्णत और पूरे सौ
कठघरो और घेरो को तोड
कठघरे उस प्रेरणा क हल्के
निज-समस्या को वही व्यक्ति मानव-समस्या का रूप दे सकेगा, कि जिस व्यक्ति को वर्तमान युग म प्राप्त मानव-समस्याओ स दु ख होता है, करुणा उत्पन्न होती है, क्षोभ उत्पन्न होता है, क्रोध उत्पन्न होता है। किन्तु इतनी और ऐसी जीवनशक्ति शायद आज क कवियो क पास नही है। क्यो नही है? कारण यह है [कि] आज शिक्षित मध्यवर्ग म जो भयानक अवसरवाद छाया हुआ है आत्म-स्वातन्त्र्य के नाम पर जा स्व हित, स्वार्थ, स्व-कल्याण की जो भाग-दौड मची हुई है, 'मारो-खाओ, हाथ मत आओ' का जो सिद्धान्त सक्रिय हो उठा है उसके कारण कवियो का ध्यान कवल निज मन पर ही कन्द्रित हो जाता है। आज की कविता वस्तुत, पमनल सिच्युएशन की, स्व-स्थिति की, स्व-दशा की, कविता है। किन्तु अब जिन्दगी का यह तकाजा है कि वह अपनी इस निज समस्या का वर्तमान युग की मानव-समस्याओ के रूप म देखे और उन्हे वैसा चित्रित करे।

किन्तु यह तभी तक सम्भव है जब तक कवि आधुनिक युग के मूल जीवन-तथ्यो के तर्कसगत निष्कर्षों और अनुभवसिद्ध परिणामो को आत्मसात करते हुए, अपन अन्तर्मन के भीतर समायी सवदनात्मक ज्ञान व्यवस्था म उन्ह महत्त्वपूर्ण स्थान दे, और उनके आधार पर, बदलत हुए युग-जीवन के सन्दर्भ से, वास्तविक जीवन मूल्यो का विकास करे, और जीवन मूल्यो और आदर्शो की अग्नि म स्वय को गलाते हुए वह, वस्तुत, आचरण करे, आचरण के माग पर चले, चलता रहे। वास्तविक जीवन-साधना के बिना कलात्मक साधना असम्भव है। यद्यपि कलात्मक साधना की, आपेक्षिक रूप स, अपनी स्वतन्त्र क्रिया और गति हुआ करती है, किन्तु उसकी मूल प्ररणा, उसक तत्त्व, उस आत्म-सम्पदा का अग होत है, कि जो सम्पदा अपने वास्तविक जीवन म सवदनात्मक रूप से अर्जित की जाती है, और एक जीवन सवदनात्मक ज्ञान व्यवस्था के रूप म परिणत की जाती है। आज के कवि को, सम्भवत, व्यापक जीवन स डर लगता है, वह उसम फँसना नही चाहता, वह मूल जीवन-तथ्यो क भूगोल इतिहास, अलजब्रा ज्यॉमिट्री को आत्मसात् नही करना चाहता। वह उस व्यापक जीवन की मार्मिक प्रक्रियाओ और क्रियाओ म हिस्सा नही लेना चाहता। वह उन सबसे अलग रहना चाहता है। उसे इस फैली

हुई, बदलती हुई, चलती और मुडती हुई, जिन्दगी से डर लगता है। लेकिन जिन्दगी भी उसमें बदला लेती है, उसने जिन्दगी की उपेक्षा की, इसलिए जिन्दगी उसकी उपेक्षा करेगी। आज के कवि का वैफल्य इस कारण ही है। जिन्दगी का शासक बनना होगा, न कि एक घिसटता हुआ कुत्ता जो गाडी से बँधा लेटा हुआ घिसट रहा हो। जिन्दगी ने उसकी जो उपेक्षा की है, उसके कारण ही उसकी यह दुर्दशा है। किन्तु जिन्दगी ने उसमें यह बदला इसलिए लिया कि उसने स्वय जिन्दगी की उपेक्षा की थी। अतएव वास्तविक जीवन मे अपनी कायरता, साहस-हीनता, अकर्मण्यता त्यागकर समाज मे फैले अवसरवाद से मोर्चा लेते हुए, मानवीय समस्याओं मे दु खाभिभूत और करुणापन्न होकर, उसे वास्तविक मानवीय जीवन के मूल्यों और आदर्शों के मार्ग पर चलना ही होगा। हो सकता है कि इस स्थिति मे वह मर जाये और उसके नाम से रोनेवाला भी कोई न हो। लेकिन कुछ लोगों को इस तरह ज़मीन मे गडना होगा ही। इस तैयारी के साथ, इस दम के साथ, [कि] यदि हमारा नया कवि मूल्य-व्यवस्था विकसित करते हुए मानव-समस्या चित्रित करता है, तो निःसन्देह वह युग परिवर्तन करने का श्रेय-भागी होगा, भले ही उसे श्रेय मिले या न मिले।

स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त, भारत म अवसरवाद की बाढ आयी। शिक्षित मध्यवर्ग मे भी उसकी जोरदार लहरे पैदा हुई। साहित्यिक लोग भी उसके प्रवाह मे बहे और खूब ही बहे। इस भ्रष्टाचार, अवसरवाद, स्वार्थपरता की पार्श्वभूमि म, *नयी कविता के क्षेत्र म पुराने प्रगतिवाद पर जोरदार हमले किये गये*, और कुछ सिद्धान्तो की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। ये सिद्धान्त और उनके हमले, वस्तुत, उस शीत युद्ध के अग थे जिसकी प्रेरणा लन्दन और वाशिगटन से ली गयी थी। पश्चिम की परिपक्व मानववादी परम्परा मे साहित्यिक प्रेरणा ग्रहण न करके, उन नये व्याख्याताओं ने उसकी अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साहित्यिक विचार-धारा को अपनाया और फैलाया। नयी कविता के आस-पास लिपटे हुए बहुत-से साहित्यिक सिद्धान्तों म शीत युद्ध की छाप है।

ध्यान मे रखने की बात है कि एक कला-सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन-दृष्टि हुआ करती है, उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन-दर्शन होता है और उस जीवन-दर्शन के पीछे, आजकल के ज़माने मे, एक राजनैतिक दृष्टि भी रहती है। नयी कविता को तथाकथित सौन्दर्यवाद की भूमिका देते हुए, 'सौन्दर्यानुभूति और वास्तविक जीवनानुभवो की समानान्तर गति' वाला एक कला-सिद्धान्त लाया गया। कला की ऑटोनॉमी को, कला की स्वायत्त प्रकृति को, इतना निर्विकल्पक (ऐब्सोल्यूट) किया गया कि साक्षात् जीवन से उसके सम्बन्ध-सूत्र टूटने लगे—विशेषकर उस जीवन से और उसके ज्ञान से, कि जिसमे उपस्थित समस्याएँ मानव-समस्याएँ बनकर वह हालत पैदा कर देती है कि मनुष्य उस जीवन को बदल डालने की, उस समाज को कि जिसमे वह जीवन पाया जाता है, बदल डालने की, ओर प्रवृत्त होता हो। इस प्रकार की प्रवृत्ति से उन नये व्याख्याताओं को डर लगता था। उन्हें डर लगता था कि वे परिवर्तनकारिणी प्रवृत्तियाँ कहीं नयी कविता मे उभरने न लगें। इसलिए ऐसी प्रवृत्तियो की साहित्यिक अभिव्यक्तियों के और भी अधिक प्रभावशाली और सुन्दर ढग से बनने की अगली सम्भावनाओं के विरोध मे, उन्होंने वह सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमे कला की स्वायत्तता की निर्विकल्पकता की स्थापना की

गयी, और इस प्रकार नयी कविता को जीवन के मूल तथ्यों से अलग करने का प्रयत्न किया गया। बढ़ते हुए अवसरवाद और भ्रष्टाचार, छीन-झपट, भाग-दौड़, ठेलमठेलवाले शिक्षित मध्यवर्ग के तरुणों ने उक्त साहित्यिक सिद्धान्त से प्रभाव भी ग्रहण किया। आधुनिक भाव-बोध वाले सिद्धान्त में जनसाधारण के उत्पीडन-अनुभवों, उग्र विक्षोभों और मूल उद्वेगों का बॉयकाट किया गया। 'लघु मानव' वाला सिद्धान्त लाकर जनसाधारण की मार्मिक आध्यात्मिक शक्तियों और *भव्यताओं से आँखें फेर ली गयी। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का झगड़ा ऊँचा कर स्वातन्त्र्य* के उपयोग और दिशा की समस्या से पल्ला झाड़ लिया गया। पूँजीवादी समाज के नाश की कल्पना को साम्यवादी बहक कहकर मोटे सेठों से नाता जोड़ा गया। सरकार के अच्छे कामों की आलोचना करते हुए, पश्चिमी पूँजी से जुड़े भारतीय करोड़पतियों के दरबारों में पहुँचने की दृश्यावली प्रस्तुत की गयी। इस निबन्ध में यह सम्भव नहीं है कि उनके सिद्धान्तों का पूरा और समग्र खण्डन किया जाये। उसके लिए पृथक् उद्योग करना होगा। मुद्दे की बात यह है कि नयी कविता के डिफेंस के रूप में खड़े किये गये इन सिद्धान्तों से नयी कविता पर प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव सर्वथा और पूर्णतः अनुकूल हुआ है यह नहीं कहा जा सकता। जो भी हो *यह आवश्यक है कि सौन्दर्यानुभूति तथा जीवनानुभव के सम्बन्ध में कुछ मन्तव्य* प्रस्तुत करूँ, क्योंकि उसका सम्बन्ध कलाधर्मिता और काव्य-कर्म दोनों से है।

मुख्य बात यह है कि 'सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति और जीवनानुभव दोनों की दो विभिन्न कक्षाओं पर पृथक् समानान्तर गति नहीं होती है। सौन्दर्यानुभूति (ऐस्थेटिक एक्सपीरिएंस) जीवनानुभवों के गुणात्मक रीति में परिवर्तित [illegible] जगत् में प्राप्त वास्तविक

वास्तविक जीवनानु-

महान् भेद है। इन

दोनों के भेद और दोनों की एकात्मकता ध्यान में रखने की वस्तु है।

सौन्दर्यानुभव के तत्त्व जीवन द्वारा, जीवनानुभव द्वारा प्रदत्त होते है। किन्तु वे विधायक कल्पना के हाथों निराला रूप धारण कर उद्दीप्त हो उठते है। संवेदनात्मक उद्देश्य विधायक कल्पना की क्रिया को चालित करते हैं। इन संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, जीवनानुभवों के तत्त्व कल्पना के संघटन-विधानकारी हाथों से निराले और तरह-तरह के रूपों में प्रकट होते है। इस प्रकार, जीवनानुभवों के निराले तरह तरह के पैटर्न कल्पना तैयार करती है किन्तु उसकी क्रिया संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुशासन में रहती है।

इस पूरी प्रक्रिया में सौन्दर्यानुभव तब घटित होता है जब मनस्पटल पर बिम्बित कल्पना-रूपों में डूबकर मन साधारण जीवन की अपनी निज-बद्धता का परित्याग करता है। *वह उस निज-बद्धता से ऊपर उठकर उसके परे जाकर*, उससे सम्पूर्णतः मुक्त होकर, मनस्पटल पर उद्दीप्त उन बिम्बों में खो जाता है, उनमें तन्मय हो जाता है कि जो बिम्ब संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित कल्पना, तथा उन्हीं उद्देश्यों द्वारा परिचालित और संकलित जीवन अनुभव-तत्त्व के पूर्ण संयोग से बन हुए हैं। संक्षेप में, तन्मयता और तटस्थता, निज-बद्धता से मुक्ति और मनस्पटल पर अंकित बिम्बों में अपने स्वयं की व्यस्तता-मग्नता—इन दो द्वन्द्वों की एक मनोदशात्मक परिणति ही सौन्दर्यानुभव है। परिणति की इस क्रिया के

दौरान म सौन्दर्यानुभव आरम्भ हो जाता है।

सवेदनात्मक उद्देश्या स परिचालित विधायक कल्पना के मूर्तिमान (जीवनानुभवगर्भ) विधानो म डूबते हुए भी, हमारा मन एक तटस्थ द्रष्टा और, दूसरी ओर, निज बद्धताहीन भोक्ता, के एकीभूत परस्पर-सन्निविष्ट रूप म रहता है। इस एकीभूत द्वन्द्व के कारण ही आवेग म बहते हुए भी सचेत कवि-कर्म सम्भव होता है।

सवेदनात्मक उद्देश्या द्वारा परिचालित विधायक कल्पना और उन्ही के द्वारा परिचालित, तथा उनके अपन अनुसार सकलित, जीवनानुभव-तत्त्व— इन दोनो के योग से मनस्पटल पर उद्दीप्त बिम्बो मे यदि मन तन्मय होकर, अपनी निज-बद्ध स्थिति खो चले, तो वैसी दशा मे विश्व-रूपो मे उपस्थित वे जीवनानुभव, प्रातिनिधिक हो उठते है। अर्थात्, निज बद्धता के परिहार के अनन्तर, बिम्ब रूप म उपस्थित व जीवनानुभव, व्यक्तिगत जीवन-विशिष्ट अनुभव घटना के रूप का त्याग कर, तत्समान सारी अनुभव घटनाओ का सामान्यीकृत रूप बनकर, उपस्थित होते है। फलत, रूप, रग और दीप्ति की अपनी सुविशिष्टता रखते हुए भी, व बिम्ब सामान्यीकृत रूप म, अर्थात् प्रातिनिधिक रूप म, उपस्थित होकर अत्यन्त व्यापक अर्थ रखने लगते है। सक्षेप म, विशिष्ट और सामान्य के द्वन्द्वो की इस एकीभूत स्थिति के बिना सौन्दर्यानुभव असम्भव है। इसलिए, कवि मनस्पटल पर उपस्थित विशिष्ट का विशिष्ट चित्रण करते हुए, व्यापक सामान्य अर्थ उपस्थित करता है, और वह उस सामान्य म अपने जीवन का विशिष्ट देखता है। इसीलिए सौन्दर्यानुभव जीवन के सार-स्वरूप का प्रगाढ मार्मिक अनुभव है। किन्तु वह तभी प्राप्त होता है, जब मनुष्य के पास अपने स परे जाने अपने से ऊपर उठने, तटस्थ होन, निज बद्धता से मुक्त होने के साथ-साथ (और एक साथ) तन्मय होने का, विलीन हो जाने का, मानवीय गुण और उस गुण का सामर्थ्य प्राप्त हो। तभी वह विशिष्ट की सामान्य मे परिणति की मुक्त आत्मीयता का आनन्द ले सकगा। सौन्दर्यानुभव का यह स्वरूप है। वह आह्लादकारी दशा है। इन्ही सब बातो के कारण सौन्दर्यानुभव की अपनी स्वायत्तता है।

किन्तु सौन्दर्यानुभव के अन्तर्गत, सवेदनात्मक उद्देश्य तथा अनुभव तत्त्व वास्तविक जीवन द्वारा प्रदत्त होते है —उस जीवन द्वारा, जो स्व और पर के, अन्तर और बाह्य के, क्रिया-प्रतिक्रियात्मक गुम्फन, परस्पर विलयन और याग का ही दूसरा नाम है। यह आवश्यक नियम नही है कि ये सौन्दर्यानुभव साहित्यिक कर्म के काल के घेरे म सीमित हो। कागज कलम हाथ मे लेन से सौन्दर्यानुभव आप-ही-आप नही होते। मानसिक द्रवण का क्षण कागज कलम हाथ म लेन ही से उपस्थित नहीं होता। य सौन्दर्यानुभव रास्ते चलते भी हो सकते हैं, जीवन की विभिन्न स्थिति-परिस्थितियो म होते रहते हैं। प्रश्न यह है [कि] मनुष्य मे एक साथ तटस्थ और तदात्म होने, निज मुक्त और ऊर्ध्व बद्ध होने, का माद्दा कितना है, जीवन-तत्त्वो के पैटर्न गुम्फित करनेवाली कल्पना के मूल उत्स अर्थात् सवेदनात्मक उद्देश्य म उनका अपना कितना सामर्थ्य है, अपना निज का कितना जोर है, आभ्यन्तर मन कितना वैविध्यपूर्ण अनुभवो स सम्पन्न है। कलात्मक चेतना का विकास वास्तविक जीवन मे होता है। सार-स्वरूप मे जीवन का प्रगाढ अनुभव करने की, कलात्मक चेतना म शक्ति होती है। कलात्मक चेतना की पुष्टि और

तुष्टि उस भाव-संवेदना के आवेगों से होती है कि जो भाव-संवेदनाएँ उसे अपने से परे अपने में ऊपर, ले जाती हैं, और इस तरह उसे व्यापक जीवन में डुबोकर उदात्त बना देती हैं। यह कलात्मक चेतना मानवीय सामर्थ्य का एक उदाहरण है। सौन्दर्यानुभव पशुओं में नहीं होता। यह कलात्मक चेतना प्रत्येक व्यक्ति में होती है, सौन्दर्यानुभव हर एक को होते है, अपने-अपने अनुसार। समर्थ कलाकार के हृदय में विविध तथा व्यापक सौन्दर्यानुभवों की संचित राशियां पहले से ही तैयार होती हैं। कवि-कर्म करते समय वे सौन्दर्यानुभव, फिर से नयी नयी स्पाकृतियां प्राप्त करते हुए, अपने को भावानुवादित करने का प्रयत्न करते हैं। जिस कलाकार की कलात्मक चेतना ने जीवन-जगत् की मूल मानव-समस्याएँ अनुभूत कर गहन अनुभव-समस्याएँ अर्जित की है, तथा मानवता के उद्धार-लक्ष्यों से अपने को एकाकार किया है, उस कलाकार का सामर्थ्य भी उतना ही अधिक है। विभिन्न लेखकों में कलात्मक चेतना का स्तर, परिणाम तथा गुण भिन्न-भिन्न होते हैं। संक्षेप में, कलात्मक चेतना केवल ब्रश या कलम लेकर चित्रित करते समय, लिखते समय, ही नहीं, वरन् जिन्दगी में काम करते वक्त, मेहनत करते समय, भी प्राप्त होती रहती है। सम्भव है कि आदमी फौज में सिपाही हो, और उसी वातावरण में रहकर कलात्मक चेतना का विकास करे। हो सकता है कि आदमी अखबारनवीस हो, और अखबारनवीसी के माहौल में रहकर ही कलात्मक चेतना का विकास करे। यह आवश्यक नहीं है कि कलाकारों, चित्रकारों, साहित्यिकों के साथ बैठ-उठकर ही कलात्मक चेतना का विकास हो।

मैंने अपने अन्य निबन्धों में कला के तीन मूल क्षणों का विशदीकरण किया है। यहाँ केवल इतनी ही बात उल्लेखनीय है कि पुष्ट और सुदृढ़ कलात्मक चेतना के विकास की इस पार्श्वभूमि के बिना, सुविकसित कलात्मक चेतना की पार्श्वभूमि के बिना, कलाकृति की रचना सम्भव नहीं है। कलाकृति की रचना के काल के पूर्व वह चेतना विकसित और पुष्ट रहती है। रचना-कार्य के समय कलात्मक चेतना की जो कुछ अर्जित सम्पत्ति है वह जोर मारती है। रचना-कार्य अभिव्यक्ति का कार्य है। किन्तु अभिव्यक्ति के लिए छटपटानेवाले तत्त्व पहले ही से कलात्मक चेतना के अंग और अंश रहते हैं, भले ही उनकी अभिव्यक्ति हो या न हो। सच बात तो यह है कि कलात्मक चेतना वास्तविक अनुभवात्मक जीवन-यापन का ही एक भाग है।

कलात्मक चेतना के भीतर समाये संवेदनात्मक उद्देश्य, भोक्तृ-मन के उस स्व-चेतन आवेग से उत्पन्न होते हैं कि जो स्व-चेतन आवेग वांछित और वांछनीय को प्राप्त करने के लिए तड़पता हुआ, अपनी निज-बद्ध स्थिति से ऊपर उठकर, अन्तर तथा बाह्य वास्तव में मानवानुकूल परिवर्तन करना चाहता है। ये संवेदनात्मक उद्देश्य अन्त संस्कृति के अंग होते हैं, उस संस्कृति के जो बाह्य के आभ्यन्तरीकृत रूप में अवस्थित है। संवेदनात्मक उद्देश्य मनोमय होते हुए भी जगन्मय हैं, इसीलिए विद्युन्मय हैं।

किन्तु होता यह है कि बहुत से कलाकार वास्तविक अनुभवात्मक जीवन-यापन की अंगभूत कलात्मक चेतना को, वस्तुत, पुष्ट नहीं कर पाते। वे कला की रचना को रचना-काल की स्वप्निलता से उलझाकर, उसी स्वप्निलता को कलात्मक चेतना कहते हैं। यह गलत है। यह बिल्कुल सही है कि पुष्ट अभिव्यक्ति

ही मे कालकृति की सिद्धता है। किन्तु यह भी बिलकुल सही है कि कलात्मक चेतना, रचना-काल के दौरान की सीमा मे बँधी नही है, वह उसके पार और बाहर भी है। इसीलिए जो कलाकार वास्तविक जीवन में अपने मनोभावो का, व्यक्तित्व का, सस्कार करता जायेगा, अनुभवात्मक ज्ञान अर्जित करता जायेगा, निज-बद्ध स्थिति से ऊपर उठने की क्षमता प्राप्त कर व्यापक मानव-उद्देश्यो और लक्ष्यो से तन्मय होता जायेगा, वह एक ओर, अधिकाधिक जीवन-तत्त्व सचित करता रहेगा, तो दूसरी ओर, अपने गूढ सवेदनात्मक उद्देश्यो को तीव्रतर, उदात्ततर, अनिवारणीय बनाता जायेगा। कलाकृति की रचना का कार्य अभ्यास तथा प्रतिभा के द्वारा होता है। वह कला का तीसरा क्षण है। किन्तु रचना की आधारभूत जो कलात्मक चेतना है, उसका विस्तार और विकास, घनत्व और गहराई वास्तविक जीवन मे प्राप्त होती है। कलाकार हर जगह कलाकार है, चाहे वह खुरपी हाथ मे लेकर खेत मे काम ही क्यों न कर रहा हो।

सक्षेप में, कलाकार के लिए तीन प्रकार के सघर्ष करना आवश्यक है एक, सुन्दर कलाकृति की रचना के लिए अभिव्यक्ति का सघर्ष, दो, कलात्मक चेतना के अनुरूप सवेदनात्मक उद्देश्यो के अनुसार, जीवन जगत् मे भीगने, रमने, अपने को निज-बद्धता से अधिकाधिक दूर करने और अधिकाधिक मानवीय बनाने के लिए आत्म-सघर्ष, तीसरे, वास्तविक जीवन के बुनियादी तथ्यो के कारण बनने-वाली हलचलो का, जिन्दगी के अलग-अलग ढग के तानो बानो का, तजुर्बा हासिल करने के लिए मानव-समस्याओ को (गहराई से, ज्ञानात्मक और सवेदनात्मक रूप से) अनुभूत करके, मानवता के उद्धार-लक्ष्यो से एकाकार होकर, वास्तविक जीवन-अनुभवो की समृद्धि प्राप्त करने के हेतु, वह सघर्ष जिसे हम तत्त्व के लिए, तत्त्व-प्राप्ति के लिए, सघर्ष कह सकते हैं। सच्चे मनीषी कलाकार के जीवन मे ये तीनो सघर्ष एक साथ स्वाभाविक रूप से चलते रहते हैं। और इसलिए कलाकार का जीवन पीडा से ग्रस्त जीवन होता है केवल सृजन-पीडा से नही, अन्य पीडाओं से भी।

उक्त निवेदनो का उद्देश्य नयी कविता की उपलब्धियो को अस्वीकार करना कतई नही है। मैं स्वय नयी कविता के आन्दोलनो का एक अग हूँ। उक्त निवेदनो का उद्देश्य केवल यह है कि मेरे कवि-बन्धु अपने बने-बनाये उन पैटर्नों से हटे, अपनी अभिरुचि की उस तानाशाही से हटें, जो मेरे कवि-बन्धुओ को वास्तविक व्यक्तित्व उदात्तताओ और वास्तविक अनुभूत जीवन-क्षणो का चित्रण करने नही देते। निज बद्धता की स्थिति मे ऊपर उठने की क्षमता का विकास होना आवश्यक है। उनकी कलाकृतियाँ स्वय उनके व्यक्तित्व की उदारता और उदात्तता की तुलना मे बहुत नीचे ठहरती हैं। इसका मूल कारण वह पैटर्न और वह अभिरुचि है, जिसने अभ्यासवश शब्दो के ऐसे कठघरे, बिम्बो और उपमाओ की ऐसी प्राचीरें खडी कर दी हैं, कि जिसमे उन्ही कवियो द्वारा अनुभूत उदार क्षणो का चित्रण नही हो पाता, मानव-समस्याओ की सागोपाग स्थापना नही हो पाती, मानव-सघर्ष के मूल लक्ष्य स्थापित नही हो पाते। मैं उन कवियो की उपलब्धियो की अव-हेलना नहीं कर रहा हूँ, वरन् अधिक मानवीय साहित्य के दर्शन का आग्रही हूँ। यह मैं जानता हूँ कि यह कार्य सरल नही है, किन्तु उस दिशा मे प्रयत्न आवश्यक है।

[सम्भावित रचनाकाल 1959 के बाद। नयी कविता का आत्मसंघर्ष मे सकलित]

काव्य की रचना प्रक्रिया : एक

काव्य की रचना प्रक्रिया के अन्तर्गत तत्त्व—बुद्धि भावना कल्पना इत्यादि—एक होते हुए भी प्रभाव-सगटक आन्तरिक उद्देश्यों की भिन्नता के साथ ही रचना-प्रक्रिया भी वस्तुत बदल जाती है। गेय काव्य (लिरिकल पोएट्री) की रचना प्रक्रिया उस कविता की रचना प्रक्रिया से बिलकुल भिन्न है, जो मन की किसी प्रतिक्रिया मात्र का रेखाकन करती है।

भावानुरूप सवेदनानुसारी शब्द क्रम शैली की रचना कवि के लिए आसान काम नही है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यथोचित अभिव्यक्ति के विकास के दौरान म अर्थात ध्वनि बिम्बवती शब्द क्रम शैली के विकास के दौरान म कवि अपने भाव स्वभाव से घनिष्ठ रूप स परिचित होता जाता है। वह शब्दो म वास करनेवाले अर्थ बिम्बो और अर्थ ध्वनियो की तुलना अपने भाव दृश्यो स करने लगता है। और इस नम्रमयी तुलना के दौरान मे वह इस बात से अधिकाधिक सचेत होता जाता है कि वह किस प्रकार के चित्रो तथा ध्वनियो द्वारा कौन सा सवेदनात्मक प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। सवेदनानुसारी शब्द चेतना का विकास कवि के लिए महत्त्वपूर्ण है। शब्द चयन की भावानुसारिता को घटित करनेवाली आत्म चेतना अर्थात स्वय के भाव स्वभाव स घनिष्ठ परिचय के अभाव म व्यक्तिगत अभिव्यक्ति शैली का विकास नही हो सकता।

सामान्यत यह देखा गया है कि कवि व्यक्तित्व अपनी कुछ विशिष्ट और प्रबल आवश्यकताओ के अनुसार कुछ विशेष भाव श्रेणियो को ही प्रकट करता रहता है मानो वे उसके जीवन के स्थायी भाव हो। उन्हें प्रभावोत्पादक रूप स प्रकट करने के उसके अथक निरन्तर परिश्रम के तथा अभ्यास के फलस्वरूप धीरे धीरे एक अर्से बाद उसकी वे भाव श्रेणियाँ और उनकी अभिव्यक्ति एक सगठित इकाई बनकर साहित्यिक कण्डीशड रिफ्लेक्स का रूप धारण कर लेता है।

यहाँ हम रचना प्रक्रिया के आन्तरिक क्षेत्र म पहुच रहे हैं। होता यह है कि नये कवि को *अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति पाने के लिए यानी अपने आभ्यन्तरिक* वास्तव स साक्षात्कार के लिए अनेकानेक काव्य प्रयोग करते हुए एक लम्बा समय गुजार देना पडता है। इन विविध रूप बहुमार्गानुसारी प्रयोगो के अनवरत क्रम की *अन्तिम परिणति होती है अपनी मूलभूत आभ्यन्तर वास्तविकता के सवेदनात्मक* साक्षात्कार म। दूसरे शब्दों म कवि जीवन की प्रथमस्तरीय उपलब्धि उस अन्त प्रकृति स साक्षात्कार है जो अपना कुछ विशेष कहना चाहती है जिसके *पास कुछ विशेष कहने के लिए है। इस आत्म चेतना के प्रत्यक्ष सवेदनात्मक ज्ञान* के बिना कोई कवि मौलिक नही हो सकता।

प्रथमस्तरीय उपलब्धि के बाद अर्थात अपने आभ्यन्तर वास्तव के सवेद*नात्मक ज्ञान* के अनन्तर अथवा उसके साथ ही साथ कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण बातें होने लगती हैं। उनम से एक है आलोचन धर्म का विकास। इस आलोचन धर्म द्वारा परिचालित होकर आभ्यन्तर वास्तव अपने विशेष भावो की अभिव्यक्ति के लिए अनेको रूपो अर्थात कल्पना चित्रो तथा शब्द ध्वनि को अस्वीकार करते हुए अन्य

ध्वनियों तथा कल्पना-चित्रों को स्वीकार करता चलता है। विचित्र संस्कारों के वशीभूत होकर, आलोचन-धर्म कई प्रकार के 'सेंसर्स' अर्थात् निषेधों का प्रयोग करता है। यदि वे निषेध युक्तियुक्त और उचित न हुए तो कविता बहुत ही दुर्बोध हो उठती है। आलोचन-धर्म के साथ-ही-साथ, तथा उसके अतिरिक्त, एक बात और भी होती जाती है, जो महत्त्वपूर्ण है। वह है, भावों का आभ्यन्तर सम्पादन। रचना-प्रक्रिया से अभिभूत कवि जब भावों की प्रवहमान संगति सम्थापित करता चलता है, तब उस संगति की संस्थापना में उसे भावों का सम्पादन यानी एडीटिंग करना पड़ता है। यदि वह इस प्रकार भावों की काट-छाँट न करे, तो मूल प्रकृति उसे सम्पूर्ण रूप से अपनी बाढ़ में बहा देगी, और उसकी कृति विकृति में परिणत हो जायेगी। अनुभवी कवि आभ्यन्तर भाव-सम्पादन का महत्त्व जानता है।

भावों की प्रवहमान संगति की संस्थापना के हेतु, जब आभ्यन्तर भाव-सम्पादन होने लगता है तब एक और विलक्षण बात होती है। वह है सृजन। मूल प्रकृति के तल से आभ्यन्तर वास्तव के कुछ विशेष उद्वेगों या प्रतिक्रियाओं द्वारा परिचालित होकर, जब भाव सम्पादन पूर्ण हो जाता है, तब उसमें एक नया तत्त्व आ जाता है—एक ऐसा तत्त्व जो कदाचित् प्रारम्भ में कथ्य नहीं था, किन्तु जो, भावों की प्रवहमान संगति की संस्थापना पूर्ण होते ही, उसके भीतर उद्घाटित हो गया। असल में यह कहना कठिन है कि आभ्यन्तर भाव-सम्पादन की शैली-विशेष के कारण वह द्योतित हो उठा है, अथवा उस पूरी प्रक्रिया में से गुज़रने के कारण, लगे हाथों, कुछ उद्घाटन हो गये हैं, जिनमें से एक यह भी है। शायद ये दोनों ही बातें होती होंगी। किन्तु यह निश्चित है कि वह भाव-सम्पादन की लगभग अनिवार्य उपलब्धि है। इसीलिए, कविता पूरी होने पर कवि को यह प्रतीत होता है कि वह कविता में कुछ ऐसा विशेष कह गया है अथवा उद्घाटित कर गया है, जो प्रारम्भ में उसका कथ्य था ही नहीं।

द्वितीय स्तर पर पहुँचकर कवि अपने कुछ मूल स्थायी भावों अथवा कुछ भाव-श्रेणियों की समुचित अभिव्यक्ति कर चुकता है। उसका काव्य-रचनामूलक आलोचन धर्म तथा भाव सम्पादन इतना परिपक्व हो चुकता है कि उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए अब विशेष कष्ट नहीं हो पाता। तब तक वह अभिव्यक्ति के मानसिक रूपों—अर्थात्, बिम्बों, चित्रों, निवेदनात्मक भंगिमाओं तथा विभिन्न लयों—पर न केवल अधिकार प्राप्त कर चुकता है, वरन् उन चित्रों, बिम्बों तथा निवेदन-भंगिमाओं को वह अपने विशिष्ट भावों और भाव छायाओं में, अभिन्नत संयुक्त कर देता है। दूसरे शब्दों में, वह अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए एक रूप-रचना तैयार कर लेता है, कि जो रूप-रचना उसके लिए उन भावों से अविच्छिन्न रूप से संयुक्त रहती है, और उनसे कदापि पृथक् अथवा विच्छिन्न नहीं की जा सकती।

वस्तुत, भावों की प्रवहमान संगति की संस्थापना के दौरान में, आभ्यन्तर भाव-सम्पादन, सक्रिय आलोचन-धर्म की सहायता द्वारा, विभिन्न भावों का विभिन्न अभिव्यंजक रूपों में घनिष्ठ संयोजन स्थापित कर देता है। काव्य-रचना के अनवरत श्रम और अभ्यास के फलस्वरूप, यह संयोजन अभेद्य हो जाता है। यही स्थिति-स्थापना अर्थात्-'कण्डीशनिंग' है। यही स्थिति-स्थापना अत्यन्त दृढ़ और आगे चलकर विघ्नकारी हो जाती है।

यहाँ से कवि जीवन के अगले स्तर का आरम्भ हो जाता है, बशर्ते कि कवि अभी भी विकास-पथ पर हो। कवि को अब यह प्रतीत होने लगता है कि अब तक वह जिसे अपनी अन्त प्रकृति से साक्षात्कार कहता आया है, वह वस्तुत उसके विगत भाव-जीवन की कुछ विशेष मूलबद्ध भाव-श्रेणियों का बोध मात्र था। उसको अब इस स्तर पर आकर यह प्रतीत होने लगता है कि उसका वास्तविक भाव-जीवन कुछ ही, अर्थात् सीमित, भाव-श्रेणियों म बद्ध करके नहीं आंका जा सकता। यही नहीं, वरन् वे उसके पुराने स्थायी भाव और वे भाव-श्रेणियाँ, अपना पुराना तनाव बिलकुल खो चुकी हैं। लेकिन मुश्किल यह है कि पुरानी भावाभिव्यक्ति के पुराने उपादान, और पुराने उपादानों स समन्वित पुराने भाव—अर्थात् सोचने, प्रकट करने, विचार करने, अनुभव करने, की पुरानी आदतें—प्रबल रूप से विराजमान हैं। दूसर शब्दों मे, कवि न पहले से ही अपनी जो स्थिति-स्थापना करके रखी है, वह अब पग-पग पर उसके आड़े आ रही है। अगर वह आत्मानुभूत नये भावों को प्रकट करने की कोशिश भी करता है तो भी पुराने भावों स गर्भित उपमाएँ और पुराने भावों से संयुक्त प्रतीक नवीन अर्थ सत्ता को समाप्त कर देने पर तुले रहते है।

किन्तु, बहुतेरे कवि इन कठिनाइयों के बोध तक जीवन के इस घुमाव तक, आ ही नहीं पाते। वे आगे के विकास के बजाय अपन ही आस पास घूमते रहते हैं। फलत उनके पूर्व की स्थिति-स्थापना, यान्त्रिक रूप से, पुरानी गूँजें प्रकट कराती रहती है। उनके खुद के तैयार किय पुराने शिकंजे—यानी पुराने भाव और उनकी अभिव्यक्ति—उन्हे आगे बढने नहीं देते। कण्डीशण्ड साहित्यिक रिफ्लेक्सेज यन्त्रवत् कविताएँ तैयार करवाते हैं। मनोवेग यान्त्रिक हो जाते है, अभिव्यजक रूप जडीभूत हो जाते हैं। कवि अपने बनाये कटघरे म फँस जाता है। और एक समय आता है जब कवि कतई मर जाता है, किन्तु उसका शरीर शतायु रहता है।

भाव तथा उसकी अभिव्यक्ति की यह जडीभूत वृत्ति यदि हिला डुलाकर जबर्दस्ती लचीली न बनायी जाये तो अजीब दृश्य सामन आते हैं। उदाहरणत, तत्त्व तो होता है अत्यन्त आधुनिक, किन्तु उसकी रूप-योजना होती है बहुत पुरानी। कहा तो यह जाता है कि तत्त्व अपना स्वय का रूप विकसित करता है किन्तु उस अपना रूप विकसित करने की स्वतन्त्रता दी जाये तब न। वास्तविकता यह है कि स्वय के द्वारा विकसित किये गये व्यवधान, जो कण्डीशण्ड साहित्यिक रिफ्लेक्सज का ही एक अश होते है, उस आधुनिक तत्त्व की आधुनिक अर्थ सत्ता को समाप्त कर देने की राह देखते रहते हैं।

कण्डीशण्ड साहित्यिक रिफ्लेक्सज बनने का नियम प्राकृतिक है। किन्तु उसके साथ यह भी स्वाभाविक है कि कवि-मनुष्य के अन्तर्व्यक्तित्व म परिवर्तन होता जाय। इस परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली नयी भाव-श्रेणियाँ, पुराने रिफ्लेक्सों से टकरायेंगी ही। यदि मा—मपूर्वक कवि इस आत्मसघर्ष को तीव्र करता गया, और आत्म निरीक्षण द्वा[illegible] बनाता गया, तो यह आशा की जानी चाहिए कि वह नयी भूमि [illegible]।

किन्तु इस आत्मसघर्ष म ब[illegible] होते रहते है। [illegible]

नि[illegible] यह उत्पन्न होता है [illegible] क रिफ्ले

तैयार की गयी मूल्य भावना नयी मूल्य-भावना के पैर जमने ही नहीं देती। उदाहरणत, कवि ने कुछ साहसपूर्वक नया लिखा भी कि वही कवि, स्वयं, काव्य-श्रेष्ठता की अपनी पुरानी संवेदनाओं के अनुसार, नयी रचना को तौलने लगता है। जब उसे यह मालूम होता है कि काव्य-श्रेष्ठता की उसकी मूलबद्ध (पुरानी) संवेदना के अनुसार, वह नया कुछ मूल्य नहीं रखता तो वह कवि नयी दिशा में विशेष साहस नहीं कर पाता। दूसरे शब्दों में, कण्डीशण्ड साहित्यिक रिफ्लेक्सेज़ उसे खूब ही छकाते हैं।

आत्मसंघर्ष के दौरान में एक बड़ी बाधा यह उत्पन्न होती है कि कवि अपने को हमेशा शुरू की सीढ़ी पर, एक अल्प-बुद्धि 'बिगिनर', एक नौसिखिया उम्मीदवार, के रूप में ही पाता है। साथ ही, वह एक विचित्र प्रकार का अकेलापन महसूस करता है, क्योंकि जिस काम में वह व्यस्त है उसमें शायद ही कोई संलग्न हो। एक ओर, प्रकट होने के लिए बेचैन यथार्थ उसकी क्षमता को चुनौती देता है। यहाँ तक कि कभी-कभी उस चुनौती को ग्रहण करने के दौरान में, कण्डीशण्ड साहित्यिक रिफ्लेक्सेज़ बीच में आकर उसके हृदय में आत्मविश्वास की हानि की घटना घटित कर देते हैं। मेरी अनगिनत कविताएँ इस घटना से खण्डित होकर इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं।

आत्मसंघर्ष का अर्थ, कवि के हृदय में, केवल नये और पुराने के बीच झगड़ा ही नहीं है। कण्डीशण्ड साहित्यिक रिफ्लेक्स, कवि को उसके नये अनुरोधों और उद्वेगों से हटाकर, उसके अलग रूपों और चित्रों की तरफ उसे ले जाते हैं। किन्तु जिस कवि में आत्म निरीक्षण जितना तीव्र होगा, वह कण्डीशण्ड साहित्यिक रिफ्लेक्सेज़ से उतना ही जूझ सकेगा। निःसन्देह इस आत्म-निरीक्षण के अन्तर्गत अपने मूल कथ्य के महत्त्व की पहचान भी है। इस नयी भावना के प्रति जो कवि जितना ईमानदार और आग्रहशील रहेगा, वह धीरे-धीरे नयी अभिव्यक्ति का रास्ता खोज लेगा।

रचना प्रक्रिया, वस्तुतः, एक खोज और एक ग्रहण का नाम है। अभिव्यक्ति के कार्य के दौरान में कवि नयी खोज भी कर लेता है। इस तथ्य को मैं एक उपमा-चित्र द्वारा स्पष्ट करना चाहूँगा।

वीरान मैदान, अँधेरी रात, खोया हुआ रास्ता, हाथ में एक पीली मद्धिम लालटेन। यह लालटेन समूचे पथ को पहले से उद्घाटित करने में असमर्थ है। केवल थोड़ी सी जगह पर ही उसका प्रकाश है। ज्यों ज्यों वह पग बढ़ाता जायेगा, थोड़ा-थोड़ा उद्घाटन होता जायेगा। चलनेवाला पहले से नहीं जानता कि क्या उद्घाटित होगा। उसे अपनी पीली मद्धिम लालटेन ही का सहारा है। इस पथ पर चलने का अर्थ ही पथ का उद्घाटन होना है, और वह भी धीरे-धीरे, क्रमशः। वह यह भी नहीं बता सकता कि रास्ता किस ओर घूमेगा या उसे किन घटनाओं या वास्तविकताओं का सामना करना पड़ेगा। कवि के लिए, इस पथ पर आगे बढ़ते जाने का काम महत्त्वपूर्ण है। वह उसका साहस है। वह उसकी खोज है। बहुतेरे लोग, जिनमें कवि भी शामिल हैं, इस तथ्य को भूल जाते हैं, क्योंकि वे उस पर चलना नहीं चाहते, अथवा बीच में से ही भाग जाना चाहते हैं।

इस रास्ते पर बढ़ने के लिए, निःसन्देह आत्मसंघर्ष करना पड़ता है। केवल एक लालटेन है, जिसके सहारे उसे चलना है।

इस उपमा को देखकर बहुतेरे लोग यह आरोप लगायेंगे कि यहाँ किसी अव-चेतनवादी सिद्धान्त का निरूपण हो रहा है। किन्तु कोई भी रचनाकार यह जानता है कि रचना के बढ़ते जाने के मार्ग का नक्शा, रचना के पूर्व नहीं बनाया जा सकता, और यदि बनाया गया तो वह यथातथ्य नहीं हो सकता। रचना प्रक्रिया, वस्तुत, एक स्वायत्त प्रक्रिया है। और वह किन्हीं मूल उद्वेगों और अनुरोधों के सहारे चली चलती है। ये उद्वेग और अनुरोध ही वह लालटेन है, जिसको हाथ में लेकर उसे आगे चलना होता है।

और यह पथ क्या है? वस्तुत बाह्य संसार का आभ्यन्तरीकृत रूप है। बाल्यकाल से ही मनुष्य, बाह्य संसार का अनवरत आभ्यन्तरीकरण करता रहा है। और इस प्रकार वह उस आभ्यन्तरीकृत बाह्य को उन विशेषताओं से समन्वित और सम्पादित करता रहा है, जो उसके 'स्व' की विशेषताएँ हैं।

यह आभ्यन्तरीकृत बाह्य, या कहिए कवि की अपनी सम्पत्ति अथवा, दूसरे शब्दों में, कवि का मनोजगत्, किन्हीं उद्वेगों या अनुरोधों से विचलित होकर कल्पना-नेत्रों के सामने चंचल हो उठता है। उसे प्रतीत होता है कि उसकी चेतना अँधेरे मैदान में बहनेवाली सरिता है, जिसकी लहरें कुछ क्षणों के लिए चमक-चमक उठती हैं।

उसके चेतन बोध, यानी ध्यान के ओट के कारण ही वह इस आभ्यन्तर वास्तव को रहस्यमय ही समझेगा। यह उसके लिए स्वाभाविक ही है। किन्तु जब वह रचना कर चुकता है, तो उसकी रचना, वस्तुत, पुनर्रचित जीवन ही होती है—वह जीवन, *जो आत्म पक्ष और वस्तु-जगत् की क्रिया प्रक्रिया के उलझे रूप में बना* हुआ है।

चूँकि कवि का आभ्यन्तर वास्तव बाह्य का आभ्यन्तरीकृत रूप ही है, इसी-लिए कवि को अपने वास्तविक जीवन में रचना-ग्राह्य काव्यानुभव जीना पड़ता है। कवि केवल रचना प्रक्रिया में पड़कर ही कवि नहीं होता, वरन् उसे वास्तविक जीवन में अपनी आत्म समृद्धि को प्राप्त करना पड़ता है और *मनुष्यता के प्रधान* लक्ष्यों में एकाकार होने की क्षमता को विकसित करते रहना पड़ता है। यही कारण है कि काव्य केवल एक सीमित शिक्षा और संस्कार नहीं है, वरन् एक व्यापक भावनात्मक और बौद्धिक परिष्करण (कल्चर) है—वह कल्चर, वह परिष्कृति, जो वास्तविक जीवन में प्राप्त करनी पड़ती है।

बाह्य का आभ्यन्तरीकरण एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यदि यह आभ्यन्तरी-करण, बचकाने ढंग से दूषित दृष्टि से, अवैज्ञानिक रूप से और मनो विकृतियों से, ग्रस्त होकर किया गया हो, तो तुरन्त ही उसका साहित्य पर भी परिणाम होता है। इसीलिए कवि के लिए सतत आत्म संस्कार आवश्यक है जिससे बाह्य का आभ्यन्तरीकरण सही-सही हो।

ध्यान रहे कि मनोवेगों में स्वयं स्फूर्ति के अतिरिक्त यान्त्रिकता भी होती है। यही यान्त्रिकता विवेक की शत्रु है। अपने से ऊपर उठकर सोचने-समझने की *शक्ति तथा भावना मन की संवेदना—ये दो छोर हैं स्रष्टा मन के।*

जगत-जीवन के संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना में समायी हुई *मार्मिक आलोचन दृष्टि के बिना कवि कर्म अधूरा है।*

विश्व संघर्ष की पार्श्वभूमि में व्यक्ति संघर्ष और विश्व-स्थिति की पार्श्वभूमि

में व्यक्ति-स्थिति रखकर, अन्तर्बाह्य वास्तविकताओं से प्रेरित जो लक्ष्य-चित्र आविर्भूत होते हैं, वे भव्य प्रेरणाओं को उत्तर्जित करते है। मेरा अनुभव मुझे यह बताता है कि नयी कविता मे निओ क्लासिसिज्म के बीज पक चुके हैं। और अभी से विभिन्न कवियो मे उसकी आशाएँ प्रकट हो रही है।

हिन्दी मे इन दिनो दो प्रकार के वर्ग काम कर रहे हैं। एक, उच्च-मध्यवर्गीय जन, दूसरे, निम्न-मध्यवर्गीय जन। इन दोनों के बीच की खाई लगातार चौडी होती जा रही है। विश्व का जो आभ्यन्तरीकरण ये दो वर्ग करते जा रहे है, उसमे बडा भेद दृष्टिगत हो रहा है। इन दोनो श्रेणियो की प्रधान भावनाएँ एक-दूसरे से जुदा हो चुकी हैं। दोनो के सामने दुनिया दो अलग सवेदनात्मक रूपो मे प्रस्तुत हो रही है। प्रगतिशील जीवन मूल्य निम्न-मध्यवर्गीय श्रेणी के भावना-चित्रो मे अधिक पाये जाते हैं। इस श्रेणी म, जीवन सघर्ष की अधिकता के फलस्वरूप, अन्तर्मुखता और भाव-सघनता तो होती ही है, किन्तु उसके साथ, शिक्षा, स्वाध्याय और समय के अभाव के कारण, काव्य-सौन्दर्य के विकास के प्रति विमुखता भी दृष्टिगोचर होती है। किन्तु सबसे अधिक चिन्तनीय यह है कि वे तथाकथित अभिजात उच्च-मध्यवर्गीय काव्य-सस्कृति मे आच्छन्न होकर अपनी विशिष्टता को प्रखर रूप से प्रकट नही कर पाते।

यह धारणा गलत है कि आत्मपरक काव्य व्यक्तिवादी काव्य है। भारतीय सस्कृति द्वारा विकसित की गयी परम्पराओं मे से एक परम्परा आत्मपरक काव्य की है। आत्मपरक काव्य मे प्रगतिशील जीवन-मूल्य भी प्रकट होते हैं, होते रहते हैं।

अपने लक्ष्यो के प्रति हार्दिक स्नेह के बिना, जिज्ञासा, आत्म-सस्कार, आत्म-निरीक्षण तथा आत्म-सघर्ष, सब व्यर्थ है। लक्ष्यो के प्रति दुर्दान्त स्नेह की आत्मिकता के बिना वास्तविक अस्मिता का विकास नही हो सकता, और उन्ही के सन्दर्भ से हमेशा यह जाना जायेगा कि कवि किस सतह से बोल रहा है। ध्यान रखना चाहिए कि कवि किस सतह से बोल रहा है, यह हमेशा महत्त्वपूर्ण होता है और यही उसके निवेदनों या चित्रणो को द्योतित करता है।

[सम्भावित रचनाकाल 1959 के बाद। **नयी कविता का आत्मसंघर्ष** मे सकलित]

काव्य की रचना-प्रक्रिया : दो

रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे मतो की भिन्नता स्वाभाविक है। इसका एक कारण तो यह है कि रचना-प्रक्रियाएँ स्वय भिन्न-भिन्न होती हैं। वे कवि-स्वभाव, कवि-दृष्टि और विषय-वस्तु के अनुसार बनती-बदलती रहती हैं। रचना-प्रक्रिया का कोई निर्विशिष्ट सामान्य रूप नही है, यद्यपि यह सही है कि उस प्रक्रिया के मूल तत्त्व सर्व-सामान्य हैं।

इस बात को हम यों समझें। संवेदनात्मक उद्देश्य, कल्पना, भावना, बुद्धि-तत्त्व सर्व-सामान्य है। उनके कार्य के बिना रचना प्रक्रिया सम्भव नहीं है। किन्तु, इन तत्त्वों की विभिन्न मात्राओं, विभिन्न अनुपातों और विभिन्न प्रकार के योगों से विभिन्न विशिष्ट रूप प्राप्त होते हैं। ये योग विभिन्न संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार घटित होते हैं। ये संवेदनात्मक उद्देश्य रचनाशील मन की अपनी निधि हैं, और उस पूरे अन्तर्जगत् का अंग है, कि जो अन्तर्जगत् कवि ने पाया और विकसित किया है। यह अन्तर्जगत् बाह्य-जगत् का आत्मकृत मनोधित-सम्पादित अन्तःसंस्कृत रूप है, और उस क्रिया-प्रतिक्रिया की गतिमान परम्परा की उपज है, कि जो क्रिया-प्रतिक्रिया लेखक बाल्यकाल से बाह्य के प्रति करता आया है। संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया के भीतर न केवल भावना, कल्पना, बुद्धि और संवेदनात्मक उद्देश्य होते हैं, वरन् वह जीवनानुभव होता है जो लेखक के अन्तर्जगत् का अंग है, वह व्यक्तित्व होता है जो लेखक का अन्तर्व्यक्तित्व है, वह इतिहास होता है जो लेखक का अपना संवेदनात्मक इतिहास है। और केवल यही नहीं होता।

बाह्य से प्राप्त ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा लेखक के अन्तर्जगत् में स्थान पाकर, उसके (लेखक के) व्यक्तित्व की आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में, अपने विभिन्न रूप (उसके हृदय में) गठित करती हुई उसकी अपनी ज्ञान-निधि और भाव-परम्परा बन जाती है। बाह्य से प्राप्त ज्ञान और भाव लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व में ऐसे घुल-मिल जाते हैं कि वे उसके निजी हो जाते हैं। इसीलिए कोई भी लेखक अपने युग से केवल प्रभावित नहीं होता, वह अपने युग का अंग होता है।

काव्य-कला-सम्बन्धी जितनी भी समस्याएँ हैं वे इस पूरी-की-पूरी प्रक्रिया के किसी स्तर-विशेष से सम्बन्धित होती हैं। उदाहरण के लिए, ऐसी समस्याएँ लीजिए जिनको पुराने प्रगतिवाद ने उठाया। कहा गया कि लेखक को अपने युग का सही-सही प्रतिनिधित्व करना चाहिए, इस प्रकार से कि वह युग की ह्रासशील दशा के विरुद्ध प्रगतिशील प्रवृत्तियों को उभारे, समाज में जो शक्तियाँ, विषमता, अनाचार और उत्पीड़न को कायम रखना चाहती हैं, उनके विरुद्ध वह साम्य-मूलक समाज के आदर्श की स्थापना करे और पाठक को वैसी प्रेरणा प्रदान करे।

इस प्रकार के आग्रह के विरोध में जो कहा गया वह सबको विदित है—यह, कि लेखक स्वतन्त्र है, और नेताओं तथा शासकों के आदेश को मानने के लिए वह बाध्य नहीं है, कि इस प्रकार के आग्रहों से साहित्य में रेजिमेन्टेशन होता है।

ये सब विवाद हिन्दी-साहित्य के इतिहास की वस्तु हो गये हैं। किन्तु इस विवाद के मूल कारण-स्रोत भले ही आँखों से ओझल हो जायें, वे लुप्त और नष्ट नहीं हुए हैं। आज भी लेखक के दायित्व की बात की जाती है। यही क्यों? एक के देखा-देखी दूसरा भी एक ही प्रकार के भाव और शैली का प्रयोग करता है, एक ही प्रकार की परम्परा और प्रणाली को अपनाता है, और इस प्रकार एक विशेष प्रकार के काव्य की एक विशिष्ट धारा और रूढ़ि बन जाती है—भाव-रूढ़ि रूप-रूढ़ि, शैली-रूढ़ि। हाँ, यह सही है कि कवि-स्वभाव के अनुसार किंचित् भेद यत्र-तत्र दिखायी देता है। फिर भी वह काव्य-प्रवृत्ति प्रणाली और रूढ़ि का रूप तो धारण कर ही लेती है, भले ही विशिष्ट कवियों में हमें विशिष्ट भिन्नताएँ भी दिखायी दें, जैसे प्रसाद और महादेवी के काव्य में, या शमशेर तथा उसी शैली के किसी दूसरे कवि में। तो क्या युग स्वयं रेजिमेन्टेशन नहीं करता? रीतिकाल में

विशिष्ट शैली और विशिष्ट भाव प्रणाली की कविता ही क्यों हुई? क्या वह रेजिमेन्टेशन नहीं था? और हम अपने युग की शृंखलाओं को भी क्यों स्वीकार करें? यह सही है कि कोई भी लेखक अपने व्यक्तित्व से, अपने इतिहास से, अर्थात् अपने देश-काल से, स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु, जब वह सचमुच स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करता है तो इसका अर्थ यह है कि युग बदलने के लक्षण सामने आ रहे हैं, तो दूसरी ओर, यह भी, कि लेखक आदर्श-अनुगमन करने के लिए भीतर से बाध्य हो उठा है, क्योंकि (उपर्युक्त अर्थ में) स्वतन्त्रता, वस्तुतः, एक आदर्श है, वह वास्तविकता नहीं है। अपनी युग की सीमाओं के परे देखकर, परे जाकर, आगे के मार्ग को देखना महत्त्वपूर्ण घटना है। इस बात को हम कैसे भूल सकते हैं।

आज भी हमें (नये कवियों को) भारतीय संस्कृतिवादी पुरोहित पाठ पढ़ाते रहते हैं कि कवियों को यह करना चाहिए, वैसा होना चाहिए। और इस प्रकार के आग्रह और प्रश्न आगे भी उठते रहेंगे।

इन सारे प्रश्नों का सम्बन्ध कवि के अन्तर्जगत् से है। कवि से जब हम यह कहते हैं कि उसे ऐसा करना चाहिए और वैसा नहीं लिखना चाहिए, तो, वस्तुतः, हम उसके अन्तर्जगत् (और उसके अन्तर में स्थित जीवन-मूल्य-पद्धति) पर आक्षेप कर रहे हैं। इस प्रकार के आग्रह उसके अन्तर्जगत में संशोधित करने के आग्रह हैं।

ये आग्रह ग़लत हैं या सही हैं, यह मैं नहीं कह रहा हूँ। इस प्रकार के बाह्य से उद्गत आग्रह स्वयं लेखक मान सकता है। ठीक यहीं लेखक की सिनसियॉरिटी का प्रश्न उठता है। बाह्य से उद्गत आग्रहों को माननेवाले ऐसे बहुतेरे लेखक हो सकते हैं जो 'अवसरवादी प्रेरणाओं से' वैसा मानने के लिए तैयार हों, और बाह्य से उद्गत आग्रहों को स्वीकार कर लें। किन्तु कुछ लेखक निःसन्देह ऐसे भी हो सकते हैं जो स्वेच्छापूर्वक और आत्म-प्रेरणापूर्वक इन बाह्योद्गत आग्रहों को मानें और उन आग्रहों में प्रकट जीवन-दृष्टियों को आत्मसात् करके उन दृष्टियों को ही अपने अन्तर्जगत् का अंग बना लें। लेखक की सिनसियॉरिटी का प्रश्न, वस्तुतः उसके अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है। यदि वह अभिव्यक्ति कृत्रिम है तो निःसन्देह वहाँ सिनसियॉरिटी नहीं है। किन्तु कृत्रिमता केवल इनसिन-सियॉरिटी की ही उपज नहीं होती, वह अकवित्व की [भी] उपज होती है, अर्थात् अन्तर्जगत् की निर्जीवता और जड़ता का प्रमाण हो सकती है।

इसी प्रकार का प्रश्न कवि की निःसंगता का प्रश्न है। जब बाह्य से आग्रह बलवान होते हैं और कवि उनके दबाव को सह नहीं पाता, तो वह अपनी मूलभूत निःसंगता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए कहता है कि सृजन अकेले में होता है, साहित्य व्यक्ति की उपज है, जो व्यक्ति के लिए है। (बाह्य आग्रहों के दबाव और प्रभाव के निरोध के लिए, प्रतिरोध के लिए, उपर्युक्त तर्क प्रस्तुत किया जाता है।)

यह सही है कि सृजन अकेले में होता है। ऐसी बहुत-सी बातें होती हैं, जो बिलकुल अकेले में होती हैं। कहा जा सकता है कि वहाँ भी संग होता है। किन्तु, फिर भी, वह ऐकान्तिक संग समाज स्वीकृत या समाज निन्दित होता है। संक्षेप में, मनुष्य की ऐकान्तिक दशा भी समाज के लिए विचारणीय होती है, बशर्ते कि उसका कोई सामाजिक परिणाम हो या सामाजिक प्रभाव हो। ठीक इसी प्रकार,

सृजन की रचना-प्रक्रिया में भी सहचरत्व होना है, सग होता है। इस सग या सहचरत्व के बिना सृजन सम्भव नहीं है। इस सृजन का परिणाम अर्थात् कलाकृति पाठकों के हाथ में जाने पर समाज में प्रवेश करती है, और समाज में अपना प्रभाव उत्पन्न करती है। इसीलिए समाज उस पर सोचता-विचारता है, और जिस कलाकृति का श्रेष्ठतम प्रभाव उत्पन्न होता है, उसका रचयिता समाज द्वारा पूज्य होता है।

संक्षेप में, इस प्रकार के जितने भी प्रश्न हैं वे कलाकार द्वारा आभ्यन्तरीकृत जगत् से सम्बन्ध रखते हैं, अथवा आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखते हैं, या कलाकार की उस स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं कि जब कलाकार स्वत -मस्तृत आभ्यन्तरीकृत जगत् की अभिव्यक्ति करता है, अर्थात् सृजन करता है। इसीलिए कलाकृति में व्यक्त व्यक्तित्व की भी आलोचना की जाती है। इसीलिए कहा जाता है कि अमुक कवि की अति भावुकता अवांछनीय है। अथवा उसकी भाव-दृष्टि में दोष है, अथवा लेखक साम्प्रदायिक (धार्मिक अर्थ में नहीं) दृष्टि से जीवन-जगत की व्याख्या करता है अपनी कलाकृति में, इत्यादि-इत्यादि। दूसरे शब्दों में, कलाकृति में प्रकट अन्तर्जगत् और कवि के व्यक्तित्व की समीक्षा और उसका मूल्यांकन किया जाता है, कहा जाता है कि यह भाव कृत्रिम है, या इसमें लेखक की ईमानदारी है, या उसने जीवन को खूब देखा-परखा है।

आलोचना की दृष्टि से जो बात सबसे पहले सामने आती है कवि-कर्म और रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से वह सबसे अन्तिम है। रचना प्रक्रिया के प्रवाह में रह-कर लेखक अपने भावों की शब्दों से तुलना करता है। जो शब्द सर्वाधिक प्राति-निधिक हैं, उनकी योजना करता है। वह शब्द-साधना करता है। साथ ही सगति और निर्वाह को साधता चलता है, वह अपने ही भावों के उत्स को सयमित कर उनका सम्पादन-संशोधन करता है—सगति और निर्वाह के हेतु। जब उसकी शब्दाभिव्यक्ति उसी के लिए रमणीय हो जाती है, तब वह सन्तुष्ट हो जाता है, भले ही आगे चलकर वह उसमें, नवीन-प्राप्त सूक्ष्म-दृष्टि के अनुसार, फिर से संशोधन करे।

किन्तु, पाठक और आलोचक किसी कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंह-द्वार से सीधे अन्तर्जगत् में प्रवेश करते हैं — वह अन्तर्जगत् जो किसी कलाकृति में उद्घाटित हुआ है, वह अन्तर्जगत् जिसमें कलाकार का व्यक्तित्व, उसके जीवनानुभव, उसकी भाव-दृष्टि समायी हुई है। पाठक-आलोचक का मन उस अन्तर्जगत् में रमता है, उसका रस लेता है, उसमें विचरण करता है, और यदि उस अन्तर्जगत् में उसे कहीं (अपने लिए) बाधा दिखायी दी तो वह वहाँ ठहर जाता है और सोचने लगता है। उसे कलाकार का अन्तर्जगत्, उसमें समाया हुआ व्यक्तित्व और भाव-दृष्टि आकर्षित करती है। और वह यह ढूँढने लगता है और पा जाता है कि वह भाव-दृष्टि उसके लिए (और सभी के लिए) क्यों महत्त्वपूर्ण है, या नहीं है।

संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया का जो सर्वाधिक मूल-स्थित, सर्वाधिक प्रच्छन्न, किन्तु क्रमश प्रकट होनेवाला अंश है, वह पाठक और आलोचक के लिए सर्वप्रथम है। कलाकार रचना के समय, शब्दाभिव्यक्ति के संघर्ष में, सगति और निर्वाह के संघर्ष में, भावों के उत्स को प्रातिनिधिक रूप देने के यत्न में लीन होता है। यह उसका तात्कालिक संघर्ष है। पाठक-आलोचक का यह तात्कालिक यत्न नहीं है। कलात्मक अभिव्यक्ति उसके लिए कलाकृति का केवल सिंह-द्वार है, जिसमें से

गुज़रकर वह अन्तर्जगत् के क्षेत्र मे विचरण करता है। इसीलिए मैंने कहा कि पाठक-आलोचक के ध्यान का जो प्राथमिक केन्द्र है वह है अन्तर्जगत्, और रचयिता के *ध्यान का जो प्राथमिक केन्द्र है वह है अन्तर्जगत् की प्रातिनिधिक* शब्दाभिव्यक्ति और कलात्मक संगति और निर्वाह।

कलात्मक अभिव्यक्ति के सिंह-द्वार में से गुज़रकर, अन्तर्जगत् मे विचरण कर चुकने, रस ले चुकने, व्यक्तित्व और भाव-दृष्टि का प्रभाव ग्रहण कर चुकने के उपरान्त, पाठक-आलोचक अन्तर्जगत् के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही सहसा सोचने लगता है कि प्रभाव उत्पन्न करने के वे उपादान कौन-कौन-से है, जिन्होने सफल अभिव्यक्ति की तैयारी की, अथवा सफलता के मार्ग पर चलते-चलते लेखक ने कौन-सी बाधाएँ उत्पन्न कर दी। अब वह रूप और शिल्प के सम्बन्ध म सोचने लगता है। सक्षेप मे, किसी कलाकृति को लेकर पाठक-आलोचक की यात्रा भिन्न दिशा की ओर होती है, सृजन करते समय कलाकार की यात्रा उसके विपरीत दिशा की ओर होती है। इस तथ्य को हृदयगम करना आवश्यक है।

तब समझ मे आयेगा कि जीवन-जगत् के आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया कलाकार के लिए क्यों महत्त्वपूर्ण है। यह प्रक्रिया कलाकार के वास्तविक जीवन मे चलती रहती है। किन्तु क्या वह समुचित रूप से और प्रबुद्ध दृष्टि से युक्त होकर चलती रहती है? यदि कलाकार का जीवन, उसका बाह्य और मानसिक जीवन, तुच्छ है, अर्थात् नव-नवीन सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदनाओ मे हीन है यदि उसमे उदार सहानुभूतियो का विस्तार नही है, यदि उसमे नितान्त आत्म-बद्धता है, *तो फिर ऐसा अन्तर्जगत् कलाभिव्यक्ति के लिए महत्त्वहीन है। सक्षेप* मे, उस अन्तर्जगत् मे महत्त्व की सूचनाएँ चाहिए। (यहाँ महत्त्व का अर्थ है, जो महत्त्वपूर्ण है वह।)

यही कारण है कि आदिकाल से कवि को महान् माना गया है उसके अन्तर्जगत में महत्त्व की स्थापना को देखकर। मैं यह नही कह सकता हूँ कि कवि को अध्यात्मवादी, आदर्शवादी, अमुक-तमुक वादी होना चाहिए। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि कवि के अन्तर्जगत् की ओर आदिकाल से ध्यान गया है, और उसके *महत्त्व की स्थापना की गयी है।*

किन्तु आधुनिक युग मे, जबकि व्यक्ति पर तरह-तरह के दबाव हैं, उनमे से एक दबाव समाज का भी होता है। उसी प्रकार कलाकार पर भी समाज का दबाव होता है। समाज के दबाव के माध्यम भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। परम्परा का वहन समाज का दबाव नही तो क्या है? उसी प्रकार प्रचलित काव्य-प्रणाली से अपनी सगति एक अन्य प्रकार का सामाजिक दबाव ही है। हाँ, यह सही है कि ये दबाव प्रत्यक्ष नही, वरन अप्रत्यक्ष होते हैं। जिस प्रकार इनडायरेक्ट टैक्सेशन (*अप्रत्यक्ष कर-व्यवस्था*) उपभोक्ता *को नहीं खलता, उसी प्रकार समाज के* अप्रत्यक्ष दबाव भी सामने नही आते, किन्तु वे बराबर सक्रिय रहते है।

उसी प्रकार वैचारिक आन्दोलन के रूप मे भी कई सामाजिक दबाव होते हैं। ये विशेष आग्रहो अनुरोधो का रूप धारण करते हैं। इस प्रकार के विशेष आग्रह-अनुरोध कभी केवल कलात्मक शब्दावली का रूप भी धारण करते है। कला के एक विशेष पैटर्न के आग्रह, कला-सम्बन्धी एक विशेष भाव-दृष्टि के आग्रह, कोई वैचारिक दृष्टि अपनाने के आग्रह, लोकोपयोगी कला-सृजन करने के आग्रह—सब

वस्तुत सामाजिक दबाव ही है, किसी मे किसी भाव-दृष्टि का आग्रह है तो किसी मे किसी पैटर्न का आग्रह।

ये सब दबाव या आग्रह उचित होते है, यह कहना गलत है। उसी प्रकार ये सब अनुचित होते हैं, यह कहना भी उतना ही गलत है। उनमे से बहुत-से आग्रह न केवल सही, वरन् पूर्णत उचित हो सकते है।

किन्तु आग्रह-कर्त्ता जब एक वातावरण निर्मित करके कलाकार पर दबाव लाना चाहते हैं, तो वे यह नही देखते कि दबाव का, वस्तुत, क्या प्रभाव होगा। हाँ, यह सही है कि ऐसे बहुतेरे निकल आते हैं। जो अपनी अपरिपक्वावस्था के कारण, अथवा विशुद्ध अवसरवादी दृष्टि से प्रेरित होकर, दबाव ग्रहण करके उस दबाव के अनुसार कलाकृति प्रस्तुत करते हैं, चाहे घटिया ही क्यो न सही। शेष, जो दबाव स्वीकार करना नही चाहते, और चाहते हुए भी नही ही कर सकते, वे चुप बैठ जाते हैं, अलग हट जाते है और तिरोहित होने मे ही अपना कल्याण समझते हैं। मेरे खयाल से ये दोनो परस्पर-विपरीत प्रतिक्रियाएँ या परस्पर-वैपरीत्य सही भी हो सकता है, गलत भी। यह विशेष परिस्थिति पर निर्भर है कि कौन-सा गलत है, कौन-सा सही।

किन्तु इन आग्रहो की आधार भूमि, इन आग्रहो के मूल-स्रोत, यदि व्यापक मानवीय सहानुभूति और करुणा से समन्वित हैं, यदि किसी व्यापक मानवीय आदर्श से प्रेरित हैं, तो यह अनुमान करना गलत नही है कि उन्ही व्यापक महानु-

छ अश

आग्रह

कर्त्ता और लेखक दोनो एकत्र हो सकते हैं, बशर्ते कि (और यह बडी शर्त है) आग्रह-कर्त्ता महोदय रचना-प्रक्रिया मे भी सूक्ष्म-दृष्टि रखते हो, और उस रचना-प्रक्रिया का एक सिरे, अर्थात् लेखक के हृदय मे तडपते हुए जीवनानुभव, जीवनानुभवो के सामान्यीकरण (ज्ञान) और भाव-दृष्टि, को खूब समझते हो। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल छायावादी रचना प्रक्रिया को नही समझते थे, इसीलिए उसका विरोध करते रहे। अधिक-से-अधिक,छायावाद को उन्होने 'अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली' ही माना। डॉ रामविलास शर्मा को प्रयोगवादी या नयी कविता मे, 'असुन्दर' और 'विद्रूप' से अधिक कुछ नही दीखता। शिवदानसिंह चौहान को इस बात का खेद है कि आज की कहानी मे 'कथानक' तत्त्व का लोप हो रहा है। अतएव ऐसे आलोचको के आग्रह, रचना-प्रक्रिया मे सूक्ष्म दृष्टि के अभाव मे, लादे जा रहे-से और खोखले मालूम होते हैं। कारण यह है कि नयी प्रकृतियो और प्रवृत्तियो की रचना-प्रक्रिया मे सूक्ष्म-दृष्टि रखने के लिए आलोचक को सवेदनात्मक जीवन-ज्ञान आवश्यक है—ऐसे जीवन का ज्ञान जो नवीन प्रवृत्ति-रूप मे सामने आया हो। इसका अर्थ यह नही है कि उनके आग्रह, उनके अपने मान्यता-रूप मे, स्वभावत गलत हैं, नही, वे सही भी हो सकते है। किन्तु जब तक वे लादे जायँगे, रचना-प्रक्रिया मे सूक्ष्म दृष्टि के अभाव मे, वे खोखले और निरुपयोगी ही साबित होंगे, और, अपने-आपमे उनके सहीपन के बावजूद, उनका विरोध होता ही रहेगा।

दूसरी ओर, भले ही कोई लेखक वैचारिक दृष्टि से कोई बाह्य आग्रह स्वीकार कर ले, जब तक उस आग्रह के तत्त्वो का आभ्यन्तरीकरण नही होता, जब तक अन्तर्जगत् के तत्त्वो मे उसका रग नहीं चढ जाता, तब तक वह हृदय मे

तड़पते हुए जीवनानुभवों का एक भाग नहीं बन जाता, तब तक उस आग्रह के अनुरूप रचित साहित्य निष्प्राण और कृत्रिम ही रहेगा। लेखक के लिए मुख्य बात आभ्यन्तरीकरण की है। आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया केवल विचार तक सीमित नहीं है, वह उससे ज्यादा गहरी, व्यापक और मानसिक है। तब तक लेखक अपने स्वयं के जीवनानुभवों से प्राप्त दृष्टि के रूप में उन्हें नहीं पाता, जब तक आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई, यह समझना चाहिए। सच्चा आभ्यन्तरीकरण तो तब होता है, जबकि लेखक जिन्दगी में गहरा हिस्सा लेते हुए संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान प्राप्त करके, उसी भाव-दृष्टि तक स्वयं अपने-आप पहुँचता है, कि जो भाव-दृष्टि आग्रह-रूप में बाहर से उपस्थित की गयी है।

आग्रह कई प्रकार से उपस्थित होते हैं। कुछ कला के नाम पर, कला की शब्दावली में प्रस्तुत होकर, साहित्य-जगत् का शासन भी करने लगते हैं। कुछ समय तक उनका शासन चलता भी है, लेकिन समाज और राष्ट्र की भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न पीढ़ी कला की शब्दावली में छिपे आग्रहों की निन्दा करती है। उदाहरणत, सन् 1960 के सैटर्डे रिव्यु में टी एस ईलियट के विरुद्ध जबर्दस्त आक्रमण के रूप में लिखा हुआ कार्ल शैपिरो का लेख। महत्त्व की बात यह है कि जीवन-परिस्थिति में परिवर्तन के साथ साथ भाव-दृष्टि बदलने लगती है, और यथार्थ के नये नये पहलू सामने आते हैं, जिन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए उपयुक्त शब्द-सम्पदा और परम्परा नहीं होती। लेखक को नये सिरे से प्रयत्न करना पड़ता है। भले ही पुरानी पीढ़ी को नयी पीढ़ी के काव्य में कोई सौन्दर्य न दिखायी दे, किन्तु नयी पीढ़ी को उसमें ही अपना आत्म प्रकाश, अत सौन्दर्य, दिखायी देता है। पुराने लेखक आग्रह-रूपी शास्त्रों से नयों का वध करने का प्रयत्न करते ही रहते हैं। मजा यह है कि ये आग्रह कला और सौन्दर्य के नाम पर होते हैं, फिर भी नवीन प्रवृत्तिवालों को वे स्वीकरणीय नहीं हो पाते।

सक्षेप में, यथार्थ परिवर्तनशील होता है। अतएव आग्रह भी दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो कला या दृष्टि के नाम पर परिवर्तन क्रम की पिछली अर्थात् विगत कड़ी या सीढ़ी की ओर खींचते हैं, और वे जो परिवर्तन-क्रम की अगली कड़ी या सीढ़ी की ओर खींचते हैं। यह अगला या पिछलापन यथार्थ के परिवर्तन-क्रम को देखकर पहचाना जाना चाहिए न कि वैचारिक दृष्टि से उच्चतरता या निम्नतरता की दृष्टि से। ऐसा मैं क्यों कह रहा हूँ?

यह कहना इसलिए आवश्यक है कि जीवन-परिस्थिति में परिवर्तन से, और यथार्थ के नये-नये पहलुओं के खुलने से, उनके आभ्यन्तरीकरण के द्वारा लेखक का जो संवेदनात्मक वैयक्तिक इतिहास बनता है, वह इतिहास पूर्ववर्ती प्रवृत्ति के कवियों से सर्वथा भिन्न होता है। अतएव इस नवीन प्रवृत्तिवाले की रचना-प्रक्रिया भी बदल जाया करती है और तदनुसार अभिव्यक्ति-शैली भी। अमरीका में आज नवीन काव्य-शैली का जो प्रचलन है, उसके विरुद्ध पुराने कवियों का आक्रोश सर्वथा स्वाभाविक है। उसी प्रकार नवीन काव्य शैली वालों को अपने अस्तित्व के लिए पुरानों का प्रतिरोध करना पड़ता है। यह विरोध वैचारिक दृष्टि से उच्चतरता या निम्नतरता का परिणाम नहीं है, वरन् एक काव्य-प्रवृत्ति के विशेष पैटर्न को और उसके साथ उसके अन्तर्गत समय (विगत) जीवन-तत्त्वों को समेटे रखने और स्थायी बनाने का प्रयत्न है। इसके विरुद्ध नये का विद्रोह

होना स्वाभाविक ही है। दूसरों शब्दों में, पुरानी पीढ़ी के लोग, नयी पीढ़ी के लोगों द्वारा आभ्यन्तरीकृत जगत् और आभ्यन्तरीकरण-प्रक्रिया में विकसित भाव दृष्टि और उन दोनों से उत्पन्न अभिव्यक्ति-प्रक्रिया—इन सबको असुन्दर, निषिद्ध और बेकार ठहराने का प्रयत्न करते रहते हैं, कभी कला और सौन्दर्य के नाम पर, कभी आध्यात्मिक आदर्श के नाम पर, कभी सामाजिक प्रगति के नाम पर।

इसका अर्थ यह नहीं है कि लेखक, वैचारिक अथवा भावना की दृष्टि से, जन-विरोधी, लोक-विरोधी, प्रगति-विरोधी हो नहीं सकता। वह बराबर हो सकता है, और उसका वैसा होना दिखायी भी देता है। किन्तु किसी लेखक की विचार-धारा पर आक्रमण करना एक बात है, *आभ्यन्तरीकृत यथार्थ की कवि-कृत व्याख्या* पर आघात करना एक बात है, किन्तु उस पूरी काव्य-प्रणाली पर चोट करना एक अलग बात है, उस पूरी रचना-प्रक्रिया और अभिव्यक्ति-शैली पर आघात करना बात ही दूसरी है। जिस प्रकार आदर्श के शब्द-व्यापार में नितान्त अवसरवाद और बेईमानी दिखायी देती है, उसी प्रकार यथार्थ के उद्घाटन के नाम पर भी अयथार्थ और कृत्रिमता भी सामने आती है। यह तो विशिष्ट-विशिष्ट लेखक की विशिष्ट-विशिष्ट रचनाओं को सामने रखकर ही तय किया जा सकता है।

सक्षेप में, लेखक की रचना-प्रक्रिया के प्राथमिक और निगूढ़ स्तर—अर्थात् लेखक का अन्तर्जगत, लेखक के अन्तर्जगत् का सवेदनात्मक पुंज, लेखक का समग्र व्यक्तित्व—पाठक और आलोचक के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है, और उसके आकलन के माध्यम से रस-ग्रहण होता है। अतएव सबसे अधिक वाद विवाद, सबसे ज्यादा बहस, इसी को लेकर होती है।

क्यों होती है? इसलिए कि सवेदनात्मक अन्तर्जगत अर्थात् जीवनानुभव, रचना-प्रक्रिया के दौरान में, अपने विशेष सवेदनात्मक उद्देश्यों को लेकर अवतीर्ण होते हैं। ये सवेदनात्मक उद्देश्य, एक ओर, लेखक के *अन्तर्व्यक्तित्व* का एक भाग हैं, उसके अनुभवात्मक इतिहास से सम्बन्ध रखते हैं, उसने जो कुछ आत्मसात् किया है, जो कुछ पाया और खोया है उससे नाता रखते हैं, उसकी विद्यमान जीवन-स्थिति और मनोदशाओं से सम्बन्धित रहते हैं। इन सवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। रचनाओं में प्रकट इन सवेदनात्मक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही कवि के अन्तर्व्यक्तित्व का, उसके अनुभवात्मक जीवन का, उसकी भाव दृष्टि का हमें अनुमान होता है। इस प्रकार वे एक ओर अन्तर्व्यक्तित्व को, तो, दूसरी ओर रचना को एक-दूसरे से जोड़ देते हैं।

जीवन में जो कुछ अर्जित है, जो कुछ सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदना के रूप में प्राप्त है, अर्थात् जो कुछ विशिष्ट अनुभव है, और जीवन-जगत् सम्बन्धी जो कुछ आत्म-कृत सामान्यीकरण हैं, जो भी जीवन-मूल्य आत्मसात् किये हैं, और जिनके लिए सघर्ष किया है, जो सस्कार जो आदर्श जो यथार्थ हृदय का अनन्य अग बन गया है—वह सबका सब स्थिर रूप में व्यक्ति का अग होता है। दैनिक जीवन के दैनिक कार्यों में व्यस्त रहने से हम उस सौन्दर्य क्षण से दूर रहते हैं, जब मन द्रवित हो जाता है, कल्पना सक्रिय होकर चित्र उपस्थित करते हुए हमें जीवन के रंगों में डुबोने सी लगती है जब हम गहन होकर विस्तृत होने लगते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसे क्षण हमें अपने अकेले में किसी कमरे में किसी टेबिल के पास मिलें और लेखनी लेकर बैठने के लिए मजबूर करें। बिलकुल

नही। डूबकर फैलने के ये निजी क्षण रास्ते चलते, बात करते, या कभी-कभी बिल-कुल भीड मे या एकान्त मे भी, मिल सकते है। यह भी आवश्यक नही है कि ये क्षण हम अभिव्यक्ति के लिए मजबूर करें। फिर भी य अद्वितीय क्षण हैं, प्रतीति के क्षण हैं, क्योकि ये सौन्दर्य के क्षण हैं, रसात्मक क्षण है। ये क्षण केवल कलाकार को ही प्राप्त नही होते, वे सामान्य जन को भी प्राप्त होते रहते हैं। इन्ही क्षणो से समृद्ध पाठक, आत्माभिव्यक्ति से दूर रहकर भी, अन्य द्वारा रचित कलाकृति मे अपनी अभिव्यक्ति देखता है। ये क्षण मानवता के लक्षण है—उस मानवता के, जो व्यक्ति और देश से ऊपर रहते हुए भी प्रत्येक हृदय मे समायी हुई है।

'स्व' से ऊपर उठना, खुद की घेरेबन्दी तोडकर कल्पना-सज्जित सहानुभूति के द्वारा अन्य के मर्म मे प्रवेश करना, मनुष्यता का सबसे बडा लक्षण है। इस प्रकार की व्यापक और उदार सहानुभूति—कल्पनाशील सहानुभूति—मानवता के पिछले इतिहास ने, साहित्य और धर्म ने, कला और सस्कृति ने, सस्कार-रूप मे हमे प्रदान की है। यही नही, बुद्धि स्वय अनुभूत विशिष्टो का सामान्यीकरण करती हुई हमे जो ज्ञान प्रस्तुत करती है, उस ज्ञान मे निबद्ध 'स्व' से ऊपर उठने, अपने से तटस्थ रहने, जो है उसे अनुमान के आधार पर और भी विस्तृत करने की प्रवृत्ति होती है। भाषा स्वय सामान्यीकरणो से उत्पन्न है। इस प्रकार, एक ओर तटस्थ रहकर, तो दूसरी ओर अपने से ऊपर उठकर, अपने से परे जाकर, विस्तार करने की प्रवृत्ति हममे पहले ही से विराजमान रहती है। भावना हमे डुबो देती है और परिचालित करती है, सचलित करती है। सवेदनात्मक ज्ञान के आधार पर और ज्ञानात्मक सवेदनाओ के आधार पर, हम एक साथ तटस्थ और तन्मय, अपने से परे और अपने मे निमग्न, अपने से बाहर और अपने अन्दर, एक साथ रहते हैं। सहानुभूतिशील कल्पना और कल्पनाशील सहानुभूति हमे आत्म-विस्तार के लिए उद्यत कर देती है। सक्षेप मे, बाह्य और अन्तर का भेद उस समय लुप्त-सा हो जाता है।

ऐसे क्षणो पर केवल कलाकार का अधिकार नही होता, वे सामान्य जनो को भी निरन्तर प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि साहित्य रचा और समझा जाता है। जिस प्रकार बुद्धि विशिष्टो का सामान्यीकरण करती है, उसी प्रकार कल्पना भी विशिष्ट का इस प्रकार मनश्चित्र बनाती है, कि वह मनश्चित्र सारे तत्समान विशिष्टो का प्रतिनिधि हो जाता है। ऐसे मनश्चित्र की प्रातिनिधिकता एक प्रकार का सामान्यीकरण नही तो क्या है?

किन्तु ये सारी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हमारे सामान्य जीवन मे ही चलती रहती हैं। उन्ही से हमारी भाव-सम्पदा बनती है। हृदय मे जीवन-मूल्यो की सवेदनात्मक स्थिति उन्ही के कारण है। सक्षेप मे, निमग्नता और तटस्थता के योग से उत्पन्न आत्म-विस्तार, हमारे न देखे-जाने-पहचाने सामान्य जीवन का ही अग है।

यह सही है कि व्यक्तियों के आत्म वैभव की कोटियाँ होती हैं। कोई आदमी बहुत पढ़ा-लिखा होकर भी जड हो सकता है, और कोई डिग्रीधारी न होकर अत्यन्त परिष्कृत हो सकता है, कोई विख्यात पण्डित काव्य और कला के प्रति नि मग्न और जड हो सकता है, लेकिन कोई बहुत मामूली पढ़ा-लिखा उसके प्रति सहज सवेदनशील हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि 'महान्' आलोचक

संवेदनशील हो। यूनिवर्सिटियों के डाक्टरों की जड़ता दर्शनीय और प्रदर्शनीय है। ज्ञान के अहंकार में अज्ञान के अन्धकार का कुछ ऐसा शुभ्र रूप हमें उनमें मिलता है कि लगता है कला और साहित्य की छाती पर बैठे हुए ये टीले हैं।

ऐसे सौन्दर्य क्षणों, ऐसे मनोवैज्ञानिक क्षणों, से वंचित अथवा अल्प-समृद्ध, दरिद्र जो आलोचक है, वह अपने को चाहे जितना बड़ा समझे—साहित्य-क्षेत्र का अनुशासक समझे—वह, वस्तुतः, साहित्य-विश्लेषण के अयोग्य है, कला-प्रक्रिया के कार्य में अक्षम है, भले ही वह साहित्य का 'शिखर' बनने का स्वाँग रचे, मसीहा बने।

आलोचक के लिए सर्व-प्रथम आवश्यक है अनुभवात्मक जीवन-ज्ञान, जो निरन्तर आत्म-विस्तार में अर्जित होता है। खुद की घेरेबन्दी में रहनेवाले कुर्सी-तोड़ मसीहाओं के बूते की वह बात नहीं। मतलब यह कि कला की बहुत-सी समस्याएँ केवल अज्ञान के कारण पैदा की जाती है, जबकि असल में वे होतीं नहीं, हो नहीं सकतीं।

ऐसे लोगों के जो भी विश्लेषण और निर्णय होते हैं, वे कलाकार की रचना-प्रक्रिया को बिना देखे-समझे होते हैं। वह आलोचना, जो रचना-प्रक्रिया को देखे बिना की जाती है आलोचक के अहंकार से निष्पन्न होती है, भले ही वह अहंकार आध्यात्मिक शब्दावली में प्रकट हो, चाहे कलावादी शब्दावली में, चाहे प्रगतिवादी शब्दावली में।

उपर्युक्त जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया बतायी गयी, वह सामान्य जीवन में ही होती है। वह हमारे अन्तर्जीवन को समृद्ध करती है, और उसी समृद्धि का एक भाग बन जाती है। कलाकार के अन्तर्जीवन का भी वह एक भाग होती है।

संवेदनात्मक उद्देश्य इसी भाव-समृद्धि के अंग हैं और उसी से उद्गत होते हैं। लेखक के पूरे व्यक्तित्व से समुद्गत ये संवेदनात्मक उद्देश्य, उसके अनुभवों का विशेष रूप में संकलन करते हुए उन्हें अपनी पूर्ति की दिशा में प्रवाहित कर देते हैं। यह पूर्ति (लेखक-कलाकार के लिए) अभिव्यक्ति में होती है। साधारण जन की आत्म-पूर्ति की दिशा भिन्न होती है। उसके लिए वह सूक्ष्म दृष्टि या मर्म-दृष्टि के रूप में अवतरित होती है, और वह उसके संवेदनात्मक जीवन-ज्ञान या जीवनानुभूति का अंग बन जाती है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा परिचालित, और आत्म-पूर्ति की विशेष दिशा में प्रवाहित, यह अनुभव-पुंज कल्पना द्वारा विस्तृत और मूर्तिमान हो उठता है, किन्तु साथ ही प्रवाहशील भी। अनुभव-प्रवाह चित्र-प्रवाह में परिणत हो जाता है। संवेदनात्मक उद्देश्यों की प्रक्रिया, संवेदना और ज्ञान के योग से, कल्पना-चित्रों को विभिन्न विधान करती हुई एक ओर बहा देती है। अथवा यों कहिए कि कल्पना का अपना लॉजिक तैयार हो जाता है। मन कल्पना की इस स्वाभाविक गति में घुलता हुआ और उसमें तन्मय होता हुआ उसके संवेदनात्मक रस का पान करने लगता है। निःसन्देह यह सौन्दर्य-क्षण है, रस-क्षण है, जिसे कलाकार और सामान्य-जन दोनों प्राप्त करते हैं। जीवनानुभवों के ये सौन्दर्य-क्षण हैं जिनमें कल्पना-चित्र स्वयं प्रातिनिधिक हो उठते हैं। इसे हम कलात्मक सूक्ष्म-दृष्टि का क्षण भी कह सकते हैं, अथवा जीवन के सारभूत यथार्थ का क्षण भी कह सकते हैं।

संवेदनात्मक उद्देश्यों का उत्पत्ति-स्थल, उनका उद्गम स्रोत, आत्मचरित्रा-

त्मक है। उनके सम्बन्ध-सूत्र कलाकार की मनोरचना से लेकर उसके व्यक्तिगत इतिहास तक में समाये रहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्य, मूलतः और सारतः, आत्मचरित्रात्मक है, भले ही बाहर-बाहर में वह चाहे जितना वस्तुवादी क्यों न दिखायी दे। उसकी यह आत्मचरित्रात्मकता मुख्यतः, अभिव्यक्ति के लिए लाये जानेवाले अनुभवों के संवेदनात्मक महत्त्व-बोध में है। यदि लेखक के पास संवेदनात्मक महत्त्व-बोध नहीं है, या क्षीण है, तो उन विशिष्ट अनुभवों की अभिव्यक्ति क्षीण होगी।

संवेदनात्मक उद्देश्यों को देख-परखकर ही यह पहचाना जा सकता है कि लेखक किस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है। एक ओर, यदि हम उन्हें देख लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अनुमान कर सकते हैं, तो दूसरी ओर, कलात्मक प्रभाव का विश्लेषण भी संवेदनात्मक उद्देश्यों के सन्दर्भ के बिना नहीं हो सकता।

लेखक, जो कि अपनी संवेदनात्मक क्षमता से साहित्य सृजन करता है, वह संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार परिचालित होता है। वह अपनी अभिव्यक्ति का पैटर्न भी संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार बनाता है। दूसरे शब्दों में, संवेदनात्मक उद्देश्य, एक ओर, आत्मचरित्रात्मक होते हैं, तो दूसरी ओर, वे एक विशेष प्रकार का *कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अभिव्यक्ति का विशेष पैटर्न गूँथते हैं,* तो तीसरी ओर, ये संवेदनात्मक उद्देश्य अपने धक्के से हृदय में स्थित जीवन-अनुभवों अर्थात् ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान को जाग्रत और संकलित करके उन्हें अपनी दिशा में प्रवाहित करते हैं। जाग्रत अन्तश्चेतना में अर्थात् इस प्रक्रिया में, कल्पना उत्तेजित होकर संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार अनुभवों के साकार चित्र प्रस्तुत करती जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संवेदनात्मक उद्देश्यों का कार्य, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक, अन्तर्व्यक्तित्व की विशेषताओं और उसकी हलचलों से लेकर अभिव्यक्ति के अन्तिम पैटर्न तक, होता है। यह संवेदनात्मक उद्देश्य, अन्तर्व्यक्तित्व और आभ्यन्तरीकृत जगत् का प्रतिनिधित्व करते हुए जाग्रत और संकलित अनुभवों को मनस्पटल पर एक के बाद एक मूर्तिमान करते हुए आगे बढ़ चलता है।

संवेदनात्मक उद्देश्यों को देखकर लेखक के अन्तर्व्यक्तित्व की रचना के अन्तर्गत जीवन-तत्त्वों को और उनकी अभिव्यक्ति को देखा जा सकता है। प्रयोगवादी कविता के संवेदनात्मक उद्देश्यों को न समझने के कारण ही उसके सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्तियाँ फैलायी गयीं। उसे या तो राजनैतिक रूप से प्रतिक्रियावाद कहा गया, या भारतीय संस्कृति के सन्देश [और] उसकी आत्मा के प्रतिकूल। होना तो यह चाहिए था कि संवेदनात्मक उद्देश्यों को समझकर, उन संवेदनात्मक उद्देश्यों को जाग्रत करनेवाली जीवन-भूमि का विश्लेषण करते हुए, उन संवेदनात्मक उद्देश्यों की सहज मानवीयता—उन रचनाओं की सहज मानवीयता—को हृदयंगम किया जाता। लेकिन इस प्रकार की कविताओं को एकदम असुन्दर, प्रतिक्रियावादी विद्रूप या निषेधात्मक कहकर टरका दिया गया। आलोचकों का उद्देश्य इस काव्य प्रवृत्ति को समझना नहीं था, बल्कि उसमें संघर्ष करके उसे नष्ट कर देना था।

लगभग ऐसे ही उद्देश्य से परिचालित होकर पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने छाया-

वाद का विरोध किया। उन्होंने जब छायावाद से समझौता भी किया तो उसे 'अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली' कहकर छुट्टी पायी। लेकिन यह नहीं देखा कि आखिर लेखक इस प्रकार की प्रणाली को क्यों अपनाना चाहता है, या यों कहिए कि इस प्रकार की अभिव्यक्ति-प्रणाली आखिर कवियों के लिए क्यों स्वाभाविक हो उठी।

कहने का तात्पर्य यह कि अभिव्यक्ति की प्रणाली बदलते ही आलोचकों की नाड़ी छूटने लगती है। मुझे इस बात का गहरा सन्देह है कि इसका कारण यान्त्रिक बुद्धि है। अपनी-अपनी थियेरीज़ और सिद्धान्तों के कटघरे में किसी नयी प्रवृत्ति को न फँसते देखकर उस नयी प्रवृत्ति को ही निन्दित किया गया, न कि उन सिद्धान्तों को बदला [गया,] अथवा उन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अब तक उनकी अपनी जो समझ थी उसमें परिवर्तन किया [गया]। उन्हें अपने-अपने बौद्धिक मानसिक ढाँचों की ज़्यादा फ़िक्र थी, किसी नयी प्रवृत्ति के जीवन्त तथ्यों की नहीं।

संवेदनात्मक उद्देश्य विद्युत की वह धारा है जो अन्तर्व्यक्तित्व में प्रसूत होकर जीवन-विधान करती है, कला-विधान करती है, अभिव्यक्ति-विधान करती है। आत्मचरित्रात्मक और सृजनशील ये संवेदनात्मक उद्देश्य, हृदय में स्थित जीवन्त अनुभवों को संकलित कर उन्हें, कल्पना के सहयोग से उद्दीप्त और मूर्तिमान करते हुए, एक ओर प्रवाहित कर देते हैं। यह कला का प्रथम क्षण है, या, कहिए, सौन्दर्य-प्रतीति का क्षण है। यह क्षण सामान्य-जन को भी प्राप्त होता रहता है।

किन्तु कला का द्वितीय क्षण तब उपस्थित होता है जब लेखक में शब्द-संवेदनाएँ जाग्रत होकर, वह विषय-तत्त्वों को व्यक्त करने लगता है। यह क्षण दो कारणों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो इसलिए कि अब शब्द-संवेदनाएँ और भाव-संवेदनाएँ दोनों एक-दूसरे में संतुलित होने लगती हैं दूसरे, इसलिए भी कि लेखक का मन दर्शक और भोक्ता, इन दो के बीच में केवल विभाजित ही नहीं होता। अब दर्शक केवल निष्क्रिय नहीं रहता, बल्कि सक्रिय हो जाता है, और साथ ही वह विषय-तत्त्व के मनोरूपों को व्यक्त करने का प्रयास करने लगता है। संक्षेप में अब यह दर्शक एक क्रियावान शक्ति बन जाता है। *किन्तु उसकी क्रिया मनोरूपों* के सम्बन्ध में होने से एक विशेष परिस्थिति निर्मित हो जाती है। वह परिस्थिति इस प्रकार है।

न केवल अन्तर का द्विधा विभाजन होता है, वरन् यह कि इस दर्शक-मन को शब्दाभिव्यक्ति में देर लगती है। फलतः उसे संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार प्रवाहित होनेवाले मनोरूपों की गति को थाम लेना या मन्द करना पड़ता है, उसे संयमित करना पड़ता है। इस बीच शब्द संवेदनाएँ जाग्रत होकर अपना कार्य मनोनुकूल पूरा कर चुकती हैं। इस बीच कभी-कभी, सम्भवतः, संवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित मनोरूपों की गति ही लुप्त हो जाती है, और रचित शब्दावली का भावार्थ भी पूरा नहीं हो पाता।

मेरा मतलब तटस्थता और तन्मयता से है। यदि दर्शक मनोरूपों की गतियों से इतना निर्लिप्त है कि वह शब्द-संवेदनाओं में खो जाता है और मनोरूपों की गति जड़ हो जाती है, तो ऐसी निर्लिप्तता भी उसके काम की नहीं होती। और यदि वह उन मनोरूपों की गतियों में पूर्णतः विलीन हो जाता है, तो शब्द-संवे-

दनाओ के लिए अवकाश की हीनता के फलस्वरूप अभिव्यक्ति निर्बल अथवा दुरूह हो जाती है। अतएव उसे मनोरूपो की गतियो को प्रवाहित करनेवाले सवेदनात्मक उद्देश्यो से एकाकार होकर, साथ ही उन मनोरूपो का मजा लेते हुए, उनकी गतियो को आत्मसात करते हुए, चलना पडता है। दूसरे शब्दो मे, उसे अनवरत रूप से एकीभूत स्थिति और द्विधा-रूप स्थिति कायम रखनी पडती है।

किन्तु केवल इतना ही नहीं होता। शब्द-सवेदनाओ और भाव-सवेदनाओ की परस्पर तुलना से अगीकृत अभिव्यक्ति के फलस्वरूप, रचना का जो अश तैयार हो जाता है वह स्वय एक फोर्स, एक शक्ति, बन जाता है, और यदि अनुभवात्मक सवेदनाएँ (विषयभूत मनोधाराए) क्षणमात्र लुप्त भी हुईं, तब भी वह शब्दात्मक रचना खण्ड स्वय उसे अगला मार्ग सुझा देता है।

शब्द सवेदनाओ को प्राप्त करते हुए लेखक जाने अनजाने अपनी मूल भाव-सम्पत्ति और मनोधारा मे भी परिवर्तन करता रहता है। शब्द-सवेदनाएँ नवीन एसोसिएशन्स को जाग्रत कर देती हैं। फलत, वह मूल मनोधारा यदि इस प्रकार से इन ऐसोसिएसन्स को प्राप्त करके समृद्ध हो जाती है, तो दूसरी ओर उसका—उस मनोधारा का स्वय का—मूल रूप स्वरूप बहुत-कुछ बदलता जाता है। यह महत्त्व की बात है। प्रारम्भिक स्फूर्ति ने जो तत्त्व विधान और रूप-विन्यास किया था, वह परिवर्तित होता रहता है।

बुद्धि का कार्य यही उपस्थित होता है। उसे काव्य निर्वाह करना पडता है। मूल मनोधारा ने अपने आवेग मे रूपमय तत्त्वो को लाकर खडा कर दिया, कल्पना को उद्दीप्त कर दिया, और सवेदनात्मक उद्देश्यो की पूर्ति की दिशा मे उसे प्रवाहित कर दिया। किन्तु शब्द साधना के समय नवीन भावात्मक अनुषग, नवीन अनुभव उपस्थित होते हैं। वे मूल्यवान होने पर भी उन्हे जाने-अनजाने आत्मसात्
[illegible] रहती हैं। उनकी चाट
अर्थात् सशोधन होता

अमल मे, शब्दाभिव्यक्ति के समय लेखक मनोधारा के अन्तर मे और भी अधिक प्रवेश करता है। उसके लिए वह अधिकाधिक तत्त्व-साक्षात्कार का और आत्म साक्षात्कार का काल है। एक प्रकार मे वह उसके आत्म-निर्माण का भी काल है। शब्दाभिव्यक्ति तो केवल उसका एक माध्यम है। सवेदनात्मक उद्देश्यो की तीव्रता पर यह निर्भर करता है कि कहाँ तक वह आगे बढेगा। सवेदनात्मक उद्देश्यो की तीव्रता के अभाव मे—अर्थात प्रेरणा के अभाव म—उसकी रचना बहुत आगे बढ नहीं पाती। वह खण्डित हो जाती है, अथवा उसे जैसे-तैसे करके वह निवटा देता है उसका तत्त्व-साक्षात्कार, आत्म साक्षात्कार छिछला और पतला, विरल और तुच्छ होता है।

किन्तु लेखक के पास यदि उतनी प्राण-शक्ति है, तो नि सन्देह [वह] अब तक निर्मित शब्दात्मक रचना की सहायता से अपना अगला कदम भी देख लेता है। जीवन अनुभवो म डूबी हुई उसकी बुद्धि, रचना के सवेदनात्मक उद्देश्य से एकाकार होकर, आगे का पथ प्रशस्त करती है। फलत काव्य निर्वाह होता चलता है। यह बुद्धि, सवेदनात्मक उद्देश्य के अनुसार, शब्द-योजना और अभिव्यक्ति निर्माण मे एक सम्पादक का, सशोधक का, कार्य करती है। दूसरी ओर,

वह संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाओं को लक्ष्य में रखकर, उनसे अनुप्राणित होकर, आगे बढ़ती है। यह बुद्धि जीवन-तत्त्व में, जीवन-यथार्थ में, प्रवेश करनेवाली बुद्धि है। वह एक साथ कई कार्य करती है। भाव-यात्रा में वह ठीक दिशा को सूचित करती रहती है, संवेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण। जीवन-अनुभवों में सूक्ष्म दृष्टिफल को वह सामान्यीकरणों का रूप देती चलती है। तीसरी ओर, अभिव्यक्ति-निर्माण में वह सम्पादक-संशोधक का काम भी करती है, अतएव वह रूप-रचना में भी सहायक होती रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विधा-विभाजित मन की प्रक्रिया में तटस्थता नामक जो एक आत्म-स्थिति पैदा हो जाती है, वह तटस्थता नामक आत्म-स्थिति एक क्रियावान शक्ति है, और क्रिया में गतिमान होने के लिए ही उपस्थित रहती है।

[सम्भवत अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1959 के बाद। नये साहित्य का सौन्दर्य-शास्त्र में संकलित]

कलात्मक अनुभव

बाल्यकाल से ही हमारा मनोमय जीवन आरम्भ हो जाता है। कल्पना कीजिए ऐसे बालक की, जो आस-पास के जगत् की संवेदनाएँ ग्रहण कर, फिर उस जगत् के बिम्बों को अपने मन में घुमाता-फिराता हो। अपनी माँ से मिलने आनेवालियों के वह चेहरे देखता रहता है। उनके वस्त्र, उनके मुख की आभा-रेखाएँ, उनके व्यवहार की विशेषताएँ देख-देखकर, वह बालक उनके सम्बन्ध में, उनके जीवन के सम्बन्ध में, तरह-तरह की कल्पनाएँ करके आत्मलीन होता रहता है। वे कल्पना-चित्र कभी उसे रुला दें, या उदास कर दें, या कभी हँसा दें, अथवा एक अपरिसीम कुतूहल उद्दीप्त कर दें। मुख्य बात यह है कि संवेदनाएँ, भावनाएँ, बोध-शक्ति, परस्पर सहकार करके उसे निराले जगत् में ले जाती हैं। वह निराला जगत् कल्पना का लोक है, फिर भी वह वास्तविक जगत की प्रतिमाओं ही से बना हुआ है। उस जगत् में वास्तविक के स्वप्न के रंग हैं। बालक का मन उसमें डूब जाता है।

कभी पड़ोसी के यहाँ कोई दुर्घटना हो जाती है। बालक उस दुर्घटना के मनोमय चित्र बनाता रहता है। उसे पता चलता है कि वहाँ एक नन्हा मर गया। मरने के पहले (माँ ने बताया था) जोर की साँस लगी थी। भयानक साँस! बालक उस साँस की कल्पना करता है! उस नन्हे को कौन-सी वेदनाएँ होती होंगी? कौन-सी तकलीफ होती होगी? उसकी माँ का जी किस तरह रोता होगा? उसके जी पर क्या बीती होगी? बालक का हृदय इन काल्पनिक चित्रों में भीगता रहता है।

फटा फटा टाट है, हमारे यहाँ आरामकुर्सियाँ हैं। लच्छू के यहाँ कैसी भन्नाती हुई गहरी उदासी है, हमारे यहाँ चहल-पहल! लेकिन जब अपने घर कृष्णा काका मुझे गोद में ले लेते हैं, तो लच्छू खड़ा-खड़ा ताकता रहता है। उसकी माँ मुझे दूर-दूर भले ही रखे, जी होने पर वह मुझे शक्कर फाँकने को भी देती है। लेकिन लच्छू! न जाने उसके दिल में क्या है! मेरा क्या गुनाह कि मैं बड़े आदमी का लड़का हूँ! मैंने कौन-सा पाप किया! कहो तो यह निक्कर, यह साफ शर्ट उतार-कर फेंक दूँ! लेकिन क्या करूँ, माँ बहुत डाँटती है। तो क्या! लच्छू भले ही अकड़े, मैं जान बूझकर उसे हँसाऊँगा, उससे खेलूँगा, उसकी उदासी नाड़ दूँगा। लच्छू आखिर कृष्णा काका का लड़का है। आज लच्छू उदास है, बहुत उदास! आज मैं उससे जरूर खेलूँगा। उसके आगे नाचूँगा! अगर वह जी-भर भी मुसकरा उठे, मजा आ जायेगा? कृष्णा काका खूब खुश होंगे। लेकिन, ऐसा क्यों होता है! कृष्णा काका की नौकरी क्यों छूट जाती है? वे तो बड़े शान्त स्वभाव के हैं!

वे प्राइवेट नौकरी क्यों करते हैं? नाना कह रहे थे, सरकार उन्हें नौकर नहीं रखती। कहते हैं बरसों पहले, जब मेरा जन्म भी नहीं हुआ था, उनके घर से बम मिले थे, बन्दूकें भी, तमंचे भी। तबसे उनका भाग्य फिरा। सजा काटकर आये। क्या होती है सजा? बड़ी बड़ी दीवारें, काल-कोठरी। हाथ-पाँव में जंजीरें! चक्की पीसनी पड़ती है, चक्की।" घर उजड़ गया। सब मुनीमी करते हैं। कोई उन्हें पूछता नहीं। घरवाले, हमारे नाना, पिताजी, सब—सब उन्हें बेवकूफ कहते हैं। कहते हैं उन्होंने बीच में एक अखबार भी निकाला, और चौपट हो गये। अब तो सरकारी नौकरी मिल ही नहीं सकती। लोग भी उन्हें बेवकूफ कहते हैं।

लेकिन कृष्णाराव कैसे हैं! बेवकूफी करते रहते हैं। आखिर उन्होंने यह क्यों नहीं सोचा कि सबसे पहले बेवकूफी की छानबीन की जाय और अपना नतीजा कागज में लिखकर, उस कागज को सबके चेहरे पर दे मारें! कृष्णाराव कृष्ण नहीं, शंकर महाराज हैं। महेश हैं, जिनके हाथ में किसी जमाने में बम था। वह बम मुझे अभी भी दीख रहा है। कोई भी रखने को तैयार नहीं, इसलिए कि वे बेवकूफ हैं। मुझे भी लोग बेवकूफ कहते हैं। मैं अटकता हूँ, सवाल का जवाब देते नहीं बनता। इसीलिए मेरी पिटाई होती है। कई बार तो चाँदनी की मुँडेर पर बैठा कि नीचे कूदकर कूच कर जाऊँ। लेकिन तभी खयाल आता है कि मैं सड़क पर मरा पड़ा हूँ, मेरे सिर के पास धाड़ मारकर माँ रो रही है, पिताजी पैर उठा रहे हैं। नहीं-नहीं, मैं अपने माँ-बाप को दुःख नहीं दूँगा! मरूँगा नहीं, जिन्दा रहूँगा। बेवकूफी नहीं करूँगा नहीं ही।

लेकिन मैं भी कितना टुच्चा हूँ! उनसे एक दिन रास्ते में इकन्नी माँग बैठा! उन्होंने बराबर एक इकन्नी निकालकर दे दी। पिताजी बड़े नाराज हुए। उनसे इकन्नी क्यों ली! कृष्णाराव के लिए उनके मन में दया-भाव है। मुझे वह पसन्द नहीं। कृष्णा काका एक इकन्नी तो क्या, मुझे सब कुछ दे सकते हैं, सिवाय मार के।

लेकिन टुच्चा तो मैं हूँ ही। नाना ने कल रामायण सुनायी। उनकी नीली चादर मुझे पसन्द है, और उसके भीतर दुबका बैठा उनका गोरा अंग। कहानी

कहते-कहते मुझसे ज्यादा हँसते हैं। उन्होंने कहा कि जीव हत्या पाप है। लेकिन, रोज खुद खटमल मारते हैं, मारते बैठते हैं। जो हो, जीव-हत्या पाप जरूर है। मरते वक्त कितनी तकलीफ होती होगी जीव को! कल बारिश हुई। गली पानी से भर गयी। पानी मे लगातार छेद पडते जा रहे थे। बडा मजा आ रहा था। एक जीव फँस गया। शायद झींगुर था। मैंने पानी मे से उसे अलग करना चाहा। लेकिन मेरी कोशिशें बेकार हुईं। वह दूर था। मैं डण्डे से उसे पास खींच रहा था। वह तड़प रहा था। भयानक थी उसकी छटपटाहट। पता नहीं, मुझ पर क्या भूत सवार हुआ। उसकी तडपन से मेरे दिन मे कुछ ऐसी तडपन हुई कि मैंने निशाना लगाकर उसे डण्डा दे मारा। वह खत्म हो गया। मेरे हाथ से पाप हुआ। वह छूट गया, मुझे छोड गया, सिर्फ तडपने के लिए, अपने दुख मे, पराये दुख मे। बार-बार सपना आया है उस तडपते झींगुर का, जो पानी मे औंधा पडा था और हाथ-पैर मार रहा था।

मैं भी झींगुर हूँ, जो इस पानी मे औंधा पडा हूँ—एक अजीब गन्दे पानी मे। रास्ते चलते दुख दे जाता हूँ और फिर बुरा लगता है, मन खुद को काटने दौडता है। अपने पर काबू नही कर पाता। यही कारण है, गणित मे मन लगाने की कोशिश करता हूँ, लेकिन जमकर काम नहीं होता। मन भागता है, भागता रहता है। इसीलिए तो मुझे माँ, फूफी, पिताजी बेवकूफ कहते हैं। सिर्फ नाना वैसा नहीं कहते! बेवकूफ तो हूँ भी। लेकिन इसके लिए लाचार हूँ।

कल्पना कीजिए कि इसी तरह की बात सोचते-सोचते बालक की आँख लग जाती है। मन थक जाने से वह सो जाता है।

यह उसका मनोमय जीवन है। किन्तु इस मनोमय जीवन मे बाह्य की सामग्री है, बाह्य के तत्त्व हैं! तो क्या अन्तर के तत्त्व हैं ही नही? अवश्य हैं। लेकिन, वस्तुत, वे उसकी आभ्यन्तर शक्तियाँ हैं "संवेदना, बोध शक्ति, कल्पना, और इच्छाएँ। ये उसकी अन्तर की चेतना के अगभूत है। इन सभी शक्तियो या प्रवृत्तियो का बाहर से जब सम्मिलन होता है, तब वह प्रक्रिया शुरू होती है जिसे मैं बाह्य का आभ्यन्तरीकरण कहता हूँ। वह [बालक] शुरू ही से जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण करता आया है। इस आभ्यन्तरीकरण के दौरान मे ही वह बाह्य से शिक्षा तथा सस्कार भी प्राप्त करता है, साथ ही वह अपनी प्रवृत्ति के अनुसार, जीवन-जगत् से प्राप्त मानवीय मूल्यो द्वारा, उसी जीवन-जगत की आलोचना भी करता है। आत्मालोचन भी करता है। यदि उसके सस्कार बुरे हैं, तो निश्चय ही उसकी मूल्य-दृष्टि भी विकृत होगी।

बालक स्वभावत सवेदनशील होता है, उसमे कल्पनाशीलता भी तीव्र होती है, उसका जीवन-निरीक्षण भी, उसकी अपनी सीमा मे, तीव्र होता है।

मुख्य बात यह है कि वह अपनी सवेदनाओ के आग्रहो से, अपने अनुभवो के आधार पर, कल्पना द्वारा, जीवन की पुनर्रचना करता है, अपने अनुसार। कल्पना के रगो मे डूबी इस जीवन-पुनर्रचना के रग निस्सन्देह भावुक हैं। इन कल्पनायित चित्रो के रग मे डूबकर, वह उन्ही चित्रो मे प्राप्त सवेदनाओ मे भावुक होकर रम जाता है। अपने मनोमय जीवन के इन क्षणो मे जब वह उन चित्रो मे, तन्मय होकर, उनमें प्रस्तुत हुए जीवन की सवेदनाएँ और अनुभूतियाँ ग्रहण करने लगता है, उस समय वास्तविक बाह्य से क्रिया-प्रतिक्रिया करने मे व्यस्त और ग्रस्त

रहनेवाले मन को—जो वैयक्तिक सुख-दु ख से मण्डित रहता है—बहुत पीछे छोड देता है, उसके ऊपर उठ जाता है, उसके परे हो जाता है। सक्षेप मे, एक ओर उसकी मुक्ति हो जाती है, तो दूसरी ओर, उसी के साथ एकबद्धता आ जाती है। तटस्थता और तन्मयता, दूरी और सामीप्य का द्वन्द्व, उच्चतर स्तर पर, एकीभूत हो जाता है। सवेदना के आग्रह—अर्थात् सवेदनात्मक उद्देश्य, जिसमे इच्छित विश्वास के तत्त्व भी मिले रहते हैं, इच्छा के तत्त्व भी मिले रहते हैं—उनके बल से, *उनके ज़ोर से, वास्तविक अनुभवो के आधार पर, उसकी विधायक कल्पना उन्ही* अनुभव-तत्त्वो को मिलाकर जीवन की एक पुनर्रचना कर बैठती है। सवेदनात्मक उद्देश्य अपनी पूर्ति के लिए एक विशेष दिशा मे उन कल्पना-चित्रो को वेगायित कर देते है। ऐसे कल्पना-चित्रो मे डूबकर उसी जीवन का प्रगाढ अनुभव होता है, कि जो जीवन अपना सार-सार प्रतीत होता है।

बाह्य जीवन-जगत् के रूप-स्वरूप और गति-प्रगति के जो अपने नियम हैं, वे इस पुनर्रचित जीवन के नहीं। पुनर्रचित जीवन किसी सवेदना की पूर्ति के लिए *ही होता है। उसकी चित्रमाला उन्ही सवेदनात्मक उद्देश्यो की पूर्ति की दिशा मे* दौडती है। दूसरे शब्दो मे, पुनर्रचित जीवन-लोक की अपनी ऑटोनॉमी है, उसका अपना एक स्वायत्त-तन्त्र है। किन्तु उसकी यह ऑटोनॉमी, यह स्वायत्त-तन्त्र, सापेक्ष है, क्योकि वह वास्तविक जीवनानुभवो के ठोस आधार पर खडा हुआ है, और उनके बिना वह असम्भव है। इस मूलाधार के कोष मे से ही, सवेदनात्मक उद्देश्यो को और कल्पना को वे तत्त्व मिलते है, कि जिन तत्त्वो के विभिन्न पैटर्न्स इस प्रकार गढना या बनाना, कि जिनसे उन सवेदनात्मक उद्देश्यो की पूर्ति हो, *विधायक कल्पना का मूल कार्य है।*

विधायक कल्पना द्वारा पुनर्रचित जीवन, किसी एक विशिष्ट अनुभव, यानी एक खास तजुर्बे, की तसवीर नहीं, वरन् तत्समान सारे अनुभवो का वह वस्तुत एक सामान्यीकरण है। इसलिए उन मानस-प्रत्यक्षो मे विशेष प्रातिनिधिकता आ जाती है। व्यवस्थित रूप से शब्द-बद्ध होने पर वे ही चित्र, अपनी इस प्रातिनिधिकता के फलस्वरूप, पाठक या श्रोता के अन्त करण मे तत्समान सवेदनाओ द्वारा तत्समान चित्रो को जाग्रत कर देते हैं। अनुभूति-क्षण की विशिष्टता के रूप मे वे विशिष्ट है और अपनी प्रातिनिधिकता के कारण वे सामान्य भी। इस प्रकार विशिष्ट और सामान्य के द्वन्द्व की उच्चतर एकीभूत स्थिति के रूप मे ही कल्पना *द्वारा जीवन की पुनर्रचना* होती है। *इस पुनर्रचना मे से ही जीवन का प्रगाढ* अनुभव होता है। ध्यान मे रखने की बात केवल इतनी है कि इस पुनर्रचना का अपना एक स्वायत्त-तन्त्र होने के बावजूद, उसके मूल तत्त्व वास्तविक जीवन के अनुभूत तथ्यो में मे ही अर्थात् हृदय मे सचित जीवन-अनुभवो मे से, इस प्रकार उद्गत होते है मानो वे *अपने जिये जानेवाले जीवन* की सारभूत विशेषताएँ हैं। वास्तविक अनुभूत बाह्य जीवन की सारभूत विशेषताएँ जीवन की पुनर्रचना मे, तथ्यात्मक प्रतीत होने के कारण ही, उन पुनर्रचित जीवन-चित्रो मे हमें जीवन *ही का, जगत ही का, तथा अपना खुद का*, प्रगाढतम अनुभव होता है।

इस प्रकार का मनोमय जीवन और उसका अनुभव, वस्तुत, कलात्मक है। *उसी से हमे उस आह्लाद की प्राप्ति होती है, जिसमे एक ओर ज्ञान का प्रकाश है* तो दूसरी ओर जीवन का आनन्द।

इस प्रकार के अनुभव बालकों से लेकर वृद्धों तक को होते हैं, कवियों से लेकर अकवियों तक को होते हैं, मजदूर से लेकर सम्पन्न तक को होते हैं, लेखकों से लेकर श्रोताओं तक को होते हैं। इन्हीं अनुभवों को हम कलात्मक अनुभव या सौन्दर्यानुभव कहते हैं। केवल मनुष्य ही सौन्दर्यानुभव प्राप्त कर सकते हैं, पशु नहीं।

सारा मनोमय जीवन कलात्मक नहीं होता। जिन क्षणों में मन निज-बद्ध स्थिति में रहता है वह कल्पना द्वारा पुनर्रचित जीवन में तन्मय और तदाकार होकर अपनी निज-बद्धता नहीं खो सकता अर्थात् जब वह मुक्ति और बद्धता, तटस्थता और तन्मयता, सामीप्य और दूरी, विशिष्टता और सामान्यता, के मूल द्वन्द्वों की, उच्चतर स्तर पर, एकीभूत स्थिति में नहीं पहुँच सकता, तब वैसी हालत में उसका मनोमय जीवन कलात्मक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के अकलात्मक मनोमय जीवन में मन को उसके व्यक्तिगत सुख-दुख और राग-द्वेष ही घेरे रहते हैं। फलतः, मन को अपने से मुक्ति नहीं, छुटकारा नहीं। दूसरे शब्दों में, मनोमय जीवन के कलात्मक क्षणों में अपने-आपसे छुटकारा होकर जीवन का प्रगाढ़ और व्यापक अनुभव होता है।

उसी मनोमय जीवन के कुछ क्षण ऐसे भी होते हैं जब मन एक ओर अपने से तो परे हो जाता है, अपने से तो ऊपर उठकर सोचता है, किन्तु दूसरी ओर, संवेदनात्मक उद्देश्यों की प्रबलता इतनी नहीं होती कि कल्पना उद्दीप्त होकर जीवन का पुनर्विधान करे। मनुष्य यदि एक ओर अपने विशिष्ट सुख-दुख का भोक्ता है, तो, दूसरी ओर, वह उनका द्रष्टा भी है। अपने से परे जाने, दूसरों में अपने को मिलाने, ज्ञान तथा बोध द्वारा विशिष्टों का सामान्यीकरण करने, और सार-सार पहचानने और ग्रहण करने की उसमें अद्भुत शक्ति है। कलात्मक अनुभव की घटना के पूर्व, और निज-बद्धता की स्थिति से उबरने के क्षण के पश्चात् जो एक बीच की हालत पैदा होती है, उस हालत में संवेदनात्मक उद्देश्यों की सापेक्षिक मन्दता के कारण, विधायक कल्पना के विचलन और प्रस्फुरण के अभाव में, अर्थात मात्र तटस्थता, मात्र द्रष्टा-स्थिति के रूप में रहने पर, हमारे मन में जो धाराएँ बहती रहती हैं, उन्हें हम एक प्रकार का मनन ही कह सकते हैं। मनोमय जीवन में ऐसा जीवन-मनन चलता रहता है।

इसी स्तर के जीवन-मनन या जीवन चिन्तन में ही हमारी बोधक-शक्ति और ज्ञान-शक्ति प्रबल होती है। भीतर ही-भीतर सोच-विचार जारी रहता है। हृदय के भीतर समाये अनुभव बोध और ज्ञान की सक्रियता के फलस्वरूप, अधिकाधिक प्रांजल और अधिकाधिक उज्ज्वल होते जाते हैं। वे उज्ज्वलतर और प्रांजलतर अनुभव हृदय में संचित होते रहते हैं। दूसरी ओर, बाह्य का अनवरत आभ्यन्तरीकरण होते रहने से, नव प्राप्त तत्वों का, नये अनुभवों का, मार्जन और उनका संचयन भी आवश्यक ही है। वह भी अपने-आप ही होता जाता है। मनोमय जीवन के इस रूप को, इस स्तर को, हम कलात्मक चेतना का सिंह-द्वार कहेंगे। ऐसा क्यों, यह आगे चलकर स्पष्ट होगा। ध्यान में रखने की बात है कि इस रूप या इस स्तर पर प्रांजलीकृत अनुभवों या दारिद्र्य जिस कलाकार में होगा, जो कलाकार इस स्तर के महत्त्व को ही न समझता होगा, अथवा जिसके अनुभव बोध और ज्ञान द्वारा प्रांजल न बनेंगे, वह एक ओर अनुभवों की अपरिमार्जित विकृत स्थिति प्राप्त करेगा, तो दूसरी ओर, अनुभवों के दारिद्र्य का भी वह

अधिकारी होगा।

यह तो सही है कि बोध और ज्ञान-शक्ति द्वारा ही ये अनुभव परिमार्जित होते हैं, यानी पूर्व-प्राप्त ज्ञान द्वारा मूल्यांकित और विश्लेषित होकर, प्राजल होकर, अन्तःकरण में व्याख्यात होकर, व्यवस्था-बद्ध होते जाते हैं। किन्तु स्वयं अनुभवों में भी संवेदना की चिनगारी हुआ करती है। अतएव बोध और ज्ञान का कार्य भी संवेदना से विरहित नहीं है, किन्तु उसके योग में है, भले ही उस समय संवेदन अधिक तीव्र दशा में न हो।

मनोमय जगत में यही वह स्तर है जिसे हम अपनी मूल व्यक्ति-ग्रस्त प्रवृत्तियों के परिमार्जन की आरम्भिक स्थिति भी कह सकते हैं। अपने से परे जाने, अपने से ऊपर उठने, दूसरों से अपने को मिलाने, विशिष्ट से सामान्य पर पहुँचने, की यह जो ज्ञानात्मक संवेदनों की दशा है, ज्ञानात्मक अनुभवों की दशा है, वह सबमें होती है। वह मनुष्य की मूल उदात्तता का लक्षण है। किन्तु किसी [illegible] और बहुत अधिक।

[illegible] वांछनीय गुणों, अभिलाष-[illegible]ने का, उनकी सहायता में अपना परिमार्जन करने का, अपने को एक दिशा देने का, प्रयत्न करते हैं। और इस प्रकार व्यापकतर और उदात्ततर जीवन-प्रणाली या जीवन विकसित करने का प्रयत्न करते हैं। सक्षेप में, यह वह स्थान है जहाँ [हम] ज्ञानार्जन करने, व्यापकतर अनुभव अर्जन करने, अपने-आपको अनुभव-दारिद्र्य में न रहने देने, की इच्छा से सचलित होते हैं। यहाँ अपने बहिरन्तर जीवन की व्याप्ति और क्षेत्र को और भी विस्तृत करने की इच्छा हो जाती है। यही वह स्तर है जहाँ हमारी शिक्षा-दीक्षा, संस्कार आदि, दृष्टिकोण, तथा मूल्य-भावना का कार्य होता है। केवल सुविधा के लिए मैं इसे मनोमय जीवन का दूसरा स्तर कहूँगा। पहला स्तर निज-बद्धता का स्तर है। इस दूसरे स्तर पर विकासशील मनुष्य की वास्तविक आत्म-चेतना सक्रिय रहती है। यह सक्रिय आत्म-चेतना हमारे अनुभवों को अधिकाधिक व्याख्यात और व्यवस्था-बद्ध करके, उज्ज्वल और प्राजल करती हुई, अपने-आपको परिपूर्त करती रहती है। प्राजल और उज्ज्वल हुए ये अनुभव हमारे हृदय में संचित होते जाते हैं। उनके स्तर-पर-स्तर बनते और बढ़ते जाते हैं। ज्ञानात्मक वृत्तियों के कारण वे अनुभव विशृखल राशि-रूप नहीं, वरन् व्यवस्था-रूप में हृदय में स्थित होते हैं।

ध्यान में रखने की बात है कि वास्तविक सौन्दर्यानुभवों के, अर्थात् कलात्मक अनुभवों के, क्षण में, अर्थात् मनोमय जीवन के तीसरे स्तर पर जब संवेदनात्मक उद्देश्यों से प्रेरित कल्पना जीवन-विधान करती है, तब उस जीवन-विधान के अनुभव तत्त्व, (इसी दूसरे स्तर में गड़ी हुई) इसी संचित अनुभव-व्यवस्था से प्रस्फुटित होते हुए उस तीसरे अर्थात् कलात्मक क्षण को उपलब्ध होते हैं। सक्षेप में, विधायक कल्पना संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा विचलित किये गये जिन अनुभवों के पैटर्न्स बनाती है, वे अनुभव इसी दूसरे स्तर में समाहित रहते हैं। मनोमय जीवन के इस दूसरे स्तर पर पाये जानेवाले अनुभव यदि अल्प हैं, अथवा उनमें वैभिन्न्य नहीं है, या लेखक द्वारा उनका उचित मूल्यांकन नहीं हो पा रहा है, सिर्फ उन्हें अटाले में डाल दिया गया है, तो वैसी स्थिति में इस दूसरे स्तर के सापेक्षिक

दारिद्र्य के कारण लेखक की कला भी छिछली, सतही, निरी व्यक्तिबद्ध होगी। साथ ही, उसका दृष्टिकोण भी सीमित, सतही और अस्वच्छ होता है। इसी स्तर के विकास की पुष्टता पर उसकी कला की पुष्टता निर्भर है।

इसी बात को ध्यान में रखते मुझे यह प्रतीत होता है कि अपने से परे जाने, अपने से ऊपर उठने, अपने को दूसरों से मिलाने और उनमें डूब जाने का यह कार्य अधिक सावधानी से, ज्यादा गहराई से, और अधिक बार होना चाहिए। कलाकार की जागरूकता का अर्थ ही यह है। अपने में परे जाना, अपने से ऊपर उठना, वृथा भावुकता नहीं है, वरन्, इसके विपरीत, वस्तु-दर्शन या तत्त्व-दर्शन का वह अनिवार्य अंग है। ज्ञान का जो मनोवैज्ञानिक गुण है, वही इसका गुण भी है। जीवन के बिना कि जिस जीवन में वह अपने से परे जाकर, अपने से ऊपर उठकर हृदय का विस्तार करता रहता है, वे सर्वोच्च कलात्मक क्षण, सौन्दर्यानुभूतियों के वे क्षण, जहाँ विधायक कल्पना द्वारा जीवन पुनर्रचित हो जाता है, वस्तुतः सम्भव ही नहीं हैं। यदि हम कलात्मक क्षण को तीसरा स्तर मानें, तो अपने से परे जाकर हृदय का विस्तार करनेवाले इस साधारण स्तर को हम दूसरा स्तर ही कहेंगे।

यह कहना गलत है कि दूसरे स्तर के, या उस तीसरे स्तर के, मनोमय जीवन का अनुभव कलाकार के अतिरिक्त किसी अन्य को होता नहीं। अपने से परे जाना, अपने से ऊपर उठकर जीवन-जगत् में भीगना, उसमें रमना, और इस प्रकार उदात्त प्रेरणाएँ ग्रहण करना, वस्तुतः एक गहन मानवीय प्रक्रिया है। यदि यह प्रक्रिया अपूर्ण है, अधूरी है, अत्यन्त सीमित है, तो वैसी स्थिति में उस लेखक की कला भी छिछली और सतही रहेगी। किन्तु जो लेखक मनीषी है, मानव जीवन में जिसकी दिलचस्पी गहरी है वह कुछेक भावनाओं की या मन स्थितियों की 'सुन्दर आकृतियाँ' उपस्थित करके सन्तोष नहीं पायेगा। वह अपने सम्पूर्ण अनुभूत जीवन को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करेगा, भले ही उसकी वह अभिव्यक्ति कलावादियों की दृष्टि से असुन्दर ही क्यों न हो। निःसन्देह, कबीर की बहुत-सी वानियों में ऊबड़खाबड़पन है, फिर भी वे सुन्दर होती हैं। क्यों हैं? इसलिए कि सौन्दर्यात्मक प्रभाव, रचना के भाव-संवेदन और कल्पना-रेखाओं से शुरू होकर बाहरी अभिव्यक्ति-रूपों की संगति तक चला चलता है। यही कारण है कि हम लोग नज़ीर की शायरी का आनन्द उठा लेते हैं, भले ही उसमें स्थान-स्थान पर बाह्य रूपात्मक तोड़-मरोड़ हो। सुन्दर आकृति का बहाना करनेवाले लोग, वस्तुतः, कलात्मक अभिव्यक्ति को किन्हीं विषयों तक ही सीमित रखना चाहते हैं। यही नहीं, वरन् उन्हें किन्हीं अभिव्यक्ति-पैटर्नों में ही सौन्दर्य दिखायी देता है।

यह आवश्यक नहीं है कि सौन्दर्यानुभूति का क्षण, कलात्मक अनुभव का क्षण, उस अनुभूति या अनुभव की कलात्मक अभिव्यक्ति का भी क्षण हो। उसी तरह यह भी जरूरी नहीं है कि कलात्मक अभिव्यक्ति के कार्य के दौरान में सौन्दर्यानुभूति का एकछत्र साम्राज्य हो। कवि-कर्म न केवल प्रतिभा का प्रकटीकरण है, वह अभ्यास की भी अभिव्यक्ति है। प्रतिभा और अभ्यास के योग से कवि-कर्म निष्पन्न होता है। किन्तु आप इस प्रतिभा की क्या परिभाषा करेंगे? व्यक्तित्व के विशेष विकास से प्राप्त जो आभ्यन्तर गुण है, और गुण-धर्म हैं, वही प्रतिभा है। कवि-कर्म श्रम-साध्य है। उसके लिए रियाज की जरूरत होती है। अभिव्यक्ति-सम्पदा

बढ़ाने की जरूरत होती है। यह अनिवार्य नियम नहीं है कि कवि-कर्म या कला-कृति की रचना का क्षण कलात्मक अनुभूति या सौन्दर्यानुभूति का उच्चतम क्षण हो। अभिव्यक्ति-प्रयत्न एक-दूसरे प्रकार का, एक अन्य स्तर का क्षण है, कि जिस स्तर में शब्द, मुहावरे, बिम्ब, स्वर आदि के स्वरूप की तुलना हृदय में उठते हुए भावों के स्वरूप से करते हुए, प्रतिकूल शब्दों, बिम्बों आदि को निकालकर अनुकूल को रखा जाता है। एक ओर, लेखक अपने भावों के प्रति उद्बुद्ध, तो, दूसरी ओर, वह शब्दों के प्रति जागरूक रहता है। वह क्षण, कवि-कर्म की विशेष दृष्टि से, आलोचना का क्षण भी होता है, क्योंकि कवि हृदय में उमड़ते भावों में संगति उपस्थित करना चाहता है। अनेकानेक ऐसे भाव भी उत्पन्न होते हैं जो, मूल भाव से सम्बद्ध होते हुए भी, अत्यन्त सौन्दर्य-सम्पन्न होते हुए भी, की गयी रचना के भीतर जो संगति स्थापित हो चुकी है, उसमें जम नहीं पाते और अवान्तर प्रतीत होते हैं। किन्तु यदि उन्हें महत्त्वपूर्ण जानकर ठूँस-ठाँस दी जाये, तो दूसरे प्रकार की संगति के लिए प्रयत्न करना होगा, क्योंकि ठूँस-ठाँस से पहले प्रकार की संगति तो टूट-फूट चुकी है। संक्षेप में संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा, उनकी अपनी दिशा में, परिचालित होनेवाली विधायक कल्पना द्वारा, जीवन की जो पुनर्रचना हुई है, उसमें डूबकर आह्लाद ग्रहण करनेवाली, ज्ञान प्राप्त करनेवाली जो अनुभूति है—वह जो कलात्मक अनुभूति या सौन्दर्यानुभूति है—उसके कुछ अंशों के अतिरिक्त, कवि-कर्म का आनन्द भी उन्हीं क्षणों होता रहता है।

मनुष्य-मन उदास होकर ज़िन्दगी में गहरी दिलचस्पी लेने लगता है। मानव-जीवन उसका मूल विषय हो जाता है और उस जीवन की प्रेरणाएँ उसे बेचैन करती है। वह कार्य की ओर भी प्रवृत्त होता है। इसलिए हेमिंग्वे और कॉडवेल स्पेन के युद्ध में गये थे। अपनी इन भीतरी कलात्मक प्रेरणाओं के कारण ही वे उस ओर उन्मुख हुए। अनेकानेक रूसी लेखकों ने अक्टूबर क्रान्ति में और दूसरे विश्व-युद्ध में अपने देश की ओर से भाग लिया। यही कारण है कि सार्त्र आज भी अपने देश की राजनीति और सामाजिक समस्याओं में और देशवासी जनता के जीवन में दिलचस्पी रखता है।

यह कहना बिल्कुल ग़लत है कि कलाकार के लिए राजनैतिक प्रेरणा कलात्मक प्रेरणा नहीं है, अथवा विशुद्ध दार्शनिक अनुभूति कलात्मक अनुभूति नहीं है—बशर्ते कि वह सच्ची वास्तविक अनुभूति हो, छद्मजाल न हो। यह बिल्कुल सही है कि कलाकार की प्रकृति राजनीतिज्ञ या दार्शनिक प्रकृति नहीं है। वह राजनीतिक क्षेत्र में भी जिन आदर्शों को लेकर जाता है, वे आदर्श हृदय के अपरिसीम विस्तार के आवेश से सम्बद्ध होने के कारण उस कलाकार के लिए तो कलात्मक ही है। वह राजनीतिक कौशल प्राप्त करने के लिए राजनीति में नहीं जाता, पद प्राप्ति के लिए या कीर्ति के लिए भी वह वहाँ नहीं जाता, वरन् मानव-जीवन के एक क्षेत्र में भीगने, रस लेने, ज्ञान-दीप्ति प्राप्त करने, और उसे उत्तमतर बनाने और उचित दिशा में परिवर्तित करने, के लिए वहाँ जाता है। इस विशेष अर्थ में, उसके लिए राजनीतिक आदर्श कलात्मक ही है। यदि वह दर्शन के क्षेत्र में भी जाता है, तो इसलि

वरन्

सके।

दे, लेकिन वह तो अनायास ही होता है। सच तो यह है कि उसकी दार्शनिक वृत्ति जीवन की अधिकाधिक उच्चतर परिणति के लिए होती है। हाँ, यह बात अलग है कि वह जिसे उच्चतर कहता हो, वह वस्तुतः उच्चतर न हो। संक्षेप में, कलाकार के दार्शनिक प्रयत्न, वस्तुतः, कलात्मक प्रयत्न ही है।

हमारे यहाँ कुछ ऐसे महामनीषी भी हैं, जो लेखक को हृदय के द्रवण से संलग्न कल्पना की दीप्ति के क्षण से बाँध रखना चाहते हैं। वे उस केवल उस क्षण में ही कलाकार समझते है। वे यह नहीं समझते कि कलाकार का व्यक्तित्व धीरे-धीरे बढ़ता है, कि कलाकार के व्यक्तित्व-निर्माण की भी समस्याएँ होती है। और वे समस्याएँ और कलात्मक चेतना इसी जीवन में विकसित होती हैं। वे यह नहीं समझना चाहते कि वास्तविक कलाकार की हालत यह है कि उसके कलाकार की हैसियत उससे कहीं भी नहीं छूटती—कार्यालय में भी नहीं, चूल्हा फूँकते वक्त भी नहीं, लकड़ी चीरते वक्त भी नहीं, अस्पताल से दवाई लाते वक्त भी नहीं, पिताजी के पैर दाबते समय भी नहीं, कर्ज देनेवाले पठान के सामने भी नहीं, बालक के जन्म के समय भी नहीं, श्मशान-यात्रा में भी नहीं, प्रेताग्नि में लकड़ी डालते वक्त भी नहीं। कलाकार की वह छाया, वह व्यक्तित्व, वह हैसियत, उसके साथ-साथ लगी हुई है, वह हर जगह हर मौके पर है। हाँ, यह हो सकता है कि कहीं वह अधिक तीव्र और उद्दीप्त होगी, कहीं अल्प और मन्द। पाँच बजकर एक मिनट पर कम तेज और पाँच बजकर दस मिनट पर ज्यादा तेज। संक्षेप में, कलाकार का एक सच्चा वास्तविक मनोमय जीवन होता है, जो उसके साथ-साथ चलता रहता है चाहे वह जहाँ जाये, जहाँ रहे। मुश्किल यह है कि बहुत-से लेखक ऐसे होते हैं जिनका यह मनोमय जीवन बहुत छिछला, सतही, क्षणभंगुर और संक्षिप्त होता है। हाँ, यह सम्भव है कि छन्द, भाव और भाषा पर उनका अधिकार होने के कारण ऐसे कलाकार, जिनके पास जीवन की सामग्री वस्तुतः अल्प है, सुन्दर-सुन्दर चित्राकृतियाँ प्रस्तुत करके और उनकी पब्लिसिटी करके अमरता के अधिकारी हो जायें। इस प्रकार की घटना साहित्यिकों तथा प्रकाशकों के समाज की वस्तुस्थिति पर निर्भर रहती है, युग की विशेषताओं पर निर्भर रहती है। चूँकि वह हमारा मूल विषय नहीं है, इसलिए उसके सम्बन्ध में हम चुप रहेंगे। हम तो सिर्फ यह कहना चाहते हैं कि मनोमय जीवन का यह जो दूसरा स्तर है वह कलाकार के लिए न केवल महत्त्वपूर्ण है, वरन् सच्चे कलाकारों के लिए वह अत्यन्त स्वाभाविक ही होता है। इसी दूसरे स्तर के मनोमय जीवन के अन्तर्गत न मालूम कितने ही प्रकार की समस्याएँ उसके हृदय को स्पर्श करती रहती हैं, न जाने कितने ही उच्च जीवन-चित्र उसे भीतर से प्रेरित करते हैं। साथ ही, नये-नये जीवन-क्षेत्रों के अनुभव प्राप्त करने की, प्राप्त करते रहने की, उसे इच्छा होती है।

साधारणतः, यह देखा गया है कि हमारा लेखक प्रारम्भिक प्रयत्नों के अनन्तर, प्राप्त हुई आपेक्षिक ख्याति के उपरान्त, आर्थिक सुसज्जता, ऊपरी पॉलिश और अच्छी ज़िन्दगी बसर करने की ओर प्रवृत्त होकर, ऊँचे प्रकाशकों, ऊपरी अधिकारियों, श्रेष्ठ सम्पर्कों और शक्तिशाली तत्त्वों से गाढ़ सम्पर्कों को प्राप्त करने के लिए छटपटाता रहता है। यही वह आधार-भूमि है जहाँ वह वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का प्रयोग करता है। इस प्रकार के जीवन में उसे अनेक प्रकार की सफलताएँ

और असफलताएँ होती हैं। यही नहीं, जो ससर्ग और सम्पर्क प्राप्त होते हैं, वे इतने प्रगाढ और आत्मीय नही हो पाते कि मन की तृप्ति हो। मन को न केवल प्रेम चाहिए, उसे एक ऐसी दिशा भी चाहिए कि जिस ओर वह जिन्दगी मोड सके। बस, यही नही हो पाता, वह दिशा नही मिल पाती। फलत, उन ससर्गों और सम्पर्कों को बनाये रखने के लिए, श्रेष्ठो और उत्तमो की बैठक म आने-जाने के लिए, उनमे से एक बनने के लिए, वह चाहे जो करता है। हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र मे, एक लम्बे अर्से से दो विशेष वर्ग काम करते आ रहे है। एक को हम कहेगे सुसम्पन्न उच्च-मध्यवर्ग, और दूसरे को हम कहेगे गरीब निम्न-मध्यवर्ग। इस *सुसम्पन्न मध्यवर्ग ने हिन्दी साहित्य मे बहुत-कुछ काम किया है। पन्त, प्रसाद* आदि इसी सुसम्पन्न मध्यवर्ग की प्रगाढ छाया-माया के एक अग थे। किन्तु प्रेमचन्द नही। प्रेमचन्द और नन्ददुलारे वाजपेयी के बीच जो विवाद चल पडा था, वस्तुत वह दो विपरीत प्रवृत्तिया, दो विपरीत रुखो, दो विपरीत रवैयो, दो प्रतिकूल दृष्टिकोणो, की आपसी लडाई थी। नन्ददुलारे वाजपेयी और प्रेमचन्द की मुठभेड विचारधारागत थी। प्रेमचन्द की जनतान्त्रिक मनोधारा भारतीय सस्कृति के सौन्दर्यलोक मे पलनेवाले आध्यात्मिक माया स्वप्नो म अनुस्यूत कलावाद से टकरा जाती थी। वाजपेयी और प्रेमचन्द का झगडा आकस्मिक नही था। वह प्राकृतिक और अनिवार्य था।

किन्तु आज के हमारे *निम्न-मध्यवर्गीय लेखक लोग, अपने ही दरिद्र बन्धु-*बान्धवो को तलाक देकर, उनके अपने वर्ग का त्याग करन के लिए उत्सुक रहन हैं। वे शीघ्रातिशीघ्र एरिस्टोक्रेटिक पश्चिमीकृत सस्करण बनाना चाहते है। यह हाल, खास तौर से, बडे शहरो के निम्न-मध्यवर्गीयों का है। वे अपनी आधार-भूमि को छोडकर पराई आधार भूमि पर स्थित होना चाहते है। उच्च-मध्यवर्गीयो की जीवन-प्रणाली के प्रति उनके अन्त करण मे लोभ-लालसा जगती रहती है। आश्चर्य की बात है कि बहुतेरे ख्यातिप्राप्त प्रगतिशील, लेकिन एक जमाने के निम्न मध्यवर्गीय, लेखको ने भी वही एरिस्टोक्रेटिक जिन्दगी अपना ली है। उन्होने अपने वर्ग का त्याग कर दिया है। इस अभिशाप से कोई बचा नही है। *ऐसी हालत मे, उनकी प्रगतिशील भाव धारा, केवल देव पूजा की भाँति, आध्या-त्मिक* और कृत्रिम हो जाती है—भले ही वे अपनी शब्द-क्रीडाओ म प्रगतिशील भावना का दीपक जगायें। उन्होने अपने ही वर्ग की जनता का त्याग कर दिया है। यही कारण है कि उनकी प्रगतिशील भाव धारा यान्त्रिक है, कृत्रिम है, देव-पूजा के मन्त्रो के समान है। उनके अपने साहित्य मे निम्न मध्यवर्ग का चित्रण होते हुए भी उसमे जान नही है।

ऐसी स्थिति मे यदि निम्न मध्यवर्ग के *अन्य लेखक*, ऊँचे ऐरिस्टोक्रेटिक जीवन के माया-जाल में फँसकर, लोभ लालसा, ईर्ष्या और द्वेष के आवेग मे जलकर, उसी उच्च मध्यवर्गीय साहित्याभिरुचि, मनोवृत्ति, भाव धारा आदि को अपना-कर, *अन्त करण के नाम पर, हृदय के नाम पर, कला के नाम पर, अन्त करण* हृदय और कला ही को काँट छाँटकर फेंक दें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है!

[सम्भावित रचनाकाल 1959 64। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र मे सकलित]

साहित्य में जीवन की पुनर्रचना

साहित्यिक कलाकार, अपनी विधायक कल्पना द्वारा, जीवन की पुनर्रचना करता है। जीवन की यह पुनर्रचना कलाकृति बनती है। कला मे जीवन की जो पुनर्रचना होती है, वह सारत उस जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, कि जो जीवन इस जगत् में वस्तुत जिया या भोगा जाता है— लेखक द्वारा तथा अन्यो द्वारा। जिया या भोगा जानेवाला यह जो व्यापक जीवन है, वह जितना आन्तरिक है, उतना ही बाह्य। बाह्य और आन्तरिक के बीच स्पष्ट रेखा खीचना मुश्किल है, यद्यपि हमे बौद्धिक आकलन की सुविधा की दृष्टि से भेद तो करना ही पडता है। किन्तु आन्तरिक और बाह्य का यह भेद प्रकार भेद नही। उसस तो केवल यह सूचित होता है कि प्रकाश क्षेपक यन्त्र किस स्थान पर और किस कोण मे रखा हुआ है। एक कोण से देखने पर जो आन्तरिक है, वह दूसरे कोण स दखने पर बाह्य प्रतीत हागा।

यह जीवन जब कल्पना द्वारा पुनर्रचित होता है, तब उस पुनर्रचित जीवन मे, तथा जगत्-क्षेत्र म जिये और भोगे जानेवाले जीवन मे, गुणात्मक अन्तर उत्पन्न हो जाता है। पुनर्रचित जीवन जिये और भोगे जानेवाले जीवन से सारत एक होते हुए भी स्वरूपत भिन्न होता है। यदि पुनर्रचित जीवन वास्तविक जीवन से नि सारत एक हो, तो वह पुनर्रचित जीवन निष्फल है। पुनर्रचित जीवन और वास्तविक जीवन के बीच जो अलगाव होता है, जो पृथक् स्थिति होती है, उस अलगाव और पृथक् स्थिति के कारण ही कला मे एक अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण उत्पन्न होता है। यह कैसे ? मैं अपने खयाल को और साफ करना चाहता हूँ।

यह अमूर्तीकरण इसलिए उत्पन्न होता है कि जीवन की पुनर्रचना जिये और भोगे जानेवाले जीवन से सारत एक होते हुए भी उससे कुछ अधिक होती है। यह बात महत्त्व की है कि जीवन की यह पुनर्रचना जिस वास्तविक जीवन से सारत एक है, और जिसका वह प्रतिनिधित्व करती है, वह पुनर्रचना सचमुच जिये और भोगे जानेवाले या जिये या भोगे गये जीवन की वास्तविकताओ के साथ ही, तत्समान सारी वास्तविकताओ, तत्सदृश सब सम्भावनाओ, का भी प्रतिनिधित्व करती है। जिया और भोगा जानेवाला जीवन विशिष्ट वस्तु है। इस विशिष्ट से (जीवन की पुनर्रचना म) सामान्य की ओर जाया जाता है। इसका फल यह होना है कि कला का प्रभाव सार्वकालिक सार्वजनिक हो जाता है, कि न केवल एक देश की कलाकृति दूसरे देश मे लोकप्रिय हो जाती है, वरन् यह भी कि दूसरे देश के अतीत काल की कलाकृति एक देश के वर्तमान काल मे भी लोकप्रिय हो जाती है। इस प्रकार, देशकालातीत स्थिति प्राप्त कर कलाकृति शाश्वत साहित्य का अग बन जाती है।

आइए, जीवन की पुनर्रचना की प्रक्रिया को फिर से दुहरायें (1) वास्तविक जिये और भोग जानेवाले जीवन से जीवन की पुनर्रचना का सारत एक होकर भी उससे अलग होना और अलग होकर भी सारत एक होना, (2) कलाकृति जिस जीवन का बिम्बात्मक या भावात्मक प्रतिनिधित्व कर रही है, उस जीवन के समान सारी वास्तविकताओ और तत्सदृश सब सम्भावनाओ का भी

प्रतिनिधित्व करना, दूसरे शब्दों में, सामान्यीकरण होना।

विलगीकृत होकर सार-रूप रहने की स्थिति ऐब्स्ट्रैक्शन है। विशिष्ट से सामान्य रूप धारण करने की स्थिति जेनेरेलाइज़ेशन है। इस ऐब्स्ट्रैक्शन और जेनेरेलाइज़ेशन की स्थिति के फलस्वरूप कला की अपनी स्वतन्त्र सत्ता, स्वतन्त्र इयत्ता, स्वतन्त्र गति-नियम स्थापित हो जाते हैं। स्वभाव तथा स्वगति के नियमों में बँधे यथार्थ-बिम्ब यथार्थवादी शिल्प के अनुसार होते हैं। यथार्थवादी शिल्पवाली जीवन की पुनर्रचना फैण्टेसी द्वारा की गयी जीवन-पुनर्रचना से भिन्न होती है। स्टीफ़ान त्स्वाइग के उपन्यास, एक विशेष देश-काल-परिस्थिति में प्राप्त वास्तविक जीवन का, पुनर्रचित रूप हैं, किन्तु यह पुनर्रचित रूप प्रतिनिधिक हो उठा है तत्समान सारी वास्तविकताओं और तत्सदृश सारी सम्भावनाओं का। इसलिए, यह कहा जायेगा कि स्टीफ़ान त्स्वाइग के उपन्यास तत्समान सारी वास्तविकताओं और तत्सदृश सारी सम्भावनाओं का सामान्यीकरण है—यानी कि स्टीफ़ान त्स्वाइग की कल्पना द्वारा पुनर्रचित जीवन, अपने मूल वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व तो करता ही है, साथ ही वह तत्समान सारी सम्भावनाओं और तत्सदृश सारी वास्तविकताओं का भी प्रतिनिधित्व करता है—भले ही वास्तविकताओं और सम्भावनाओं की हमें अपने मन में कल्पना ही क्यों न करना पड़े।

जिया और भोगा जानेवाला जीवन एक विशिष्ट वस्तु है। जीवन की पुनर्रचना की प्रक्रिया के दौरान में इस विशिष्ट को सामान्य में रूपान्तरित किया जाता है। किन्तु, यह सामान्य उपस्थित कैसे होता है? जिये और भोगे जानेवाले जीवन में पुनर्रचित जीवन की जो सारभूत एकात्मकता है, उस सारभूत एकात्मकता के आधार पर ही, और उसके कारण ही और उसके द्वारा ही, विशिष्ट में सामान्य का तेज प्रोद्भासित होता है, अन्यथा नहीं। पुनर्रचित जीवन से वास्तविक जीवन का जो अलगाव है, उस अलगाव द्वारा सामान्य स्थापित नहीं होता, नहीं ही हो सकता। इसके विपरीत, वास्तविक जीवन से पुनर्रचित जीवन का जो सारभूत अभेद है, जो सारभूत एकात्मकता है, उसमें सामान्य प्रस्तुत होता है।

विलगीकरण की क्रिया, वस्तुतः, कला के आत्म-रूप स्थापन की क्रिया है। सारभूत एकात्मकता, स्थापित होने, स्थापित होते रहने के बीच आप-ही-आप पैदा होती रहती है। सारभूत एकात्मकता विलगीकरण की क्रिया के बिना असम्भव है। किन्तु सारभूत एकात्मकता स्थापित की जाती है, जीवन-पुनर्रचना की विधायक-शक्ति, कल्पना-वृत्ति के सूत्र-संचालन करनेवाले संवेदनात्मक उद्देश्य द्वारा, कि जो उद्देश्य कलाकृति के प्रसार में शुरू से आखीर तक समाया रहता है। विलगीकरण तो कला के आत्म-रूप स्थापन से उत्पन्न होता है।

वास्तविक जीवन-जगत् में, जिसकी कि कलाकृति बिम्ब रूप है, डूबते रहने से ही उस अनुभवात्मक ज्ञान दृष्टि का विकास होता रहता है, कि जो अनुभवात्मक ज्ञान दृष्टि, संवेदनात्मक उद्देश्य की अंगभूत होकर उन संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा होनेवाले कल्पना परिचालन के कार्य में सहायता करती है। ज्ञान दृष्टि *तथा अनुभवात्मक जीवन-ज्ञान के वास्तविक चबूतरे पर खड़े होकर ही, संवेदनात्मक* उद्देश्य अपनी-अपनी विविध प्रतिक्रियाएँ अथवा प्रक्रियाएँ प्रस्तुत करते हैं। ज्ञान की भूमि का जो प्रसार है, उस प्रसार का क्षेत्र ही संवेदनात्मक उद्देश्यों का कार्य-क्षेत्र है। उस ज्ञान-क्षेत्र के प्रसार के परे और उससे अतीत संवेदनात्मक

उद्देश्य हैं ही नहीं। सवेदनात्मक उद्देश्य अन्तःस्थित इच्छा-शक्ति की तृप्ति के और बाह्य से सामंजस्य स्थापना की प्रवृत्ति के विविध कार्यों के एकीभूत और उदात्तीकृत रूप से युक्त रहते हैं। ये सवेदनात्मक उद्देश्य या तो बाह्य में काँट-छाँट उपस्थित करके अपनी तृप्ति करते हैं, अथवा उससे अपनी अनुकूलता स्थापित करते हैं। ये सवेदनात्मक उद्देश्य मानव व्यवहार में, वाक्-सरणि में तथा कलाकृतियों में, तरह-तरह से, स्पष्टतः अथवा प्रतीकात्मक रूप से, प्रकट होते रहते हैं।

दूसरे शब्दों में, सवेदनात्मक उद्देश्य अभ्यन्तर तथा बाह्य की क्रिया-प्रति-के प्रवाह में, बाह्य से सामंजस्य-स्थापन की प्रक्रिया में, या तो बाह्य की काट-छाँट करते हैं, या अभ्यन्तर की, अथवा दोनों की साथ साथ। इच्छा-तृप्ति तथा बाह्य से सामंजस्य-विधान की परस्पर-विरोधी द्विविध क्रियाओं की उदात्तीकृत एका-त्मकता को धारण करनेवाले ये सवेदनात्मक उद्देश्य, अपनी पूर्ति की दिशा में सक्रिय रहते हुए, मनुष्य के बाल्यकाल से ही उस जीवन-ज्ञान का विकास करते हैं, कि जिस जीवन ज्ञान के बिना उन सवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति ही नहीं हो सकती। ये सवेदनात्मक उद्देश्य, इच्छा तृप्ति के विकास के, तथा बाह्य से साम-जस्य-स्थापन के, कार्य की परस्पर-भिन्न तथा बहुधा परस्पर विरोधी प्रक्रिया को एकात्मक उदात्तीकृत बनाते हुए, इच्छा-पूर्ति और सामंजस्य-विधान के द्विविध कार्यों का जो कौशल प्राप्त करते हैं, उस कौशल का दूसरा नाम बुद्धि है। यह बुद्धि की प्रारम्भिक अवस्था है।

जिस प्रकार समाज में कार्य-विभाजन होता है, उसी तरह बुद्धि का अपना कार्य अलग होते हुए भी [वह] जीवन-रक्षा के उस सर्व-सामान्य उद्देश्य में अपना योग देती है, कि जिस सामान्य उद्देश्य की पूर्ति में कल्पना तथा भावना का भी योग होता है। अतएव, उस जीवन-रक्षा के सर्व सामान्य उद्देश्य की भूमि पर ये सभी वृत्तियाँ, परस्पर-सन्निविष्ट, परस्पर-सहायक तथा परस्पर-शिक्षक और परस्पर-संस्कारक होते हुए, उस जीवन-ज्ञान का विकास करती हैं, कि जिस ज्ञान-राशि की सहायता से मनुष्य, अपने सवेदनात्मक उद्देश्यों से परिचालित होते हुए, अपने व्यक्तित्व-चरित्र को, बाह्य परिस्थिति को, तथा जीवन-रक्षा के उपादान जिस वर्ग में उसे प्राप्त होते हैं उस वर्ग के हितों की ओर अग्रसर करनेवाले मूल्यों को, विशेष रूपाकार प्रदान करता है, या प्रदान करना चाहता है, प्रदान करने का प्रयत्न करता रहता है।

संक्षेप में, सवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा (अत्यन्त व्यापक अर्थ में, जीवन-रक्षा के लिए, जीवन विकास के लिए) बुद्धि का जन्म होता है। सवेदनात्मक उद्देश्य वास्तविक जगत् [में], जो कि व्यक्ति के लिए मुख्यतः अपना वर्ग-जगत् होता है, अपनी पूर्ति के पथ का निर्माण करने के लिए जीवन-कौशल का विकास करते हैं।

इस जीवन-कौशल का दूसरा नाम है बुद्धि। संक्षेप में, बुद्धि का पितृत्व यदि सवेदनात्मक उद्देश्यों के पास है, तो उसका मातृत्व कार्यानुभवों के पास है। विलगीकरण (ऐब्स्ट्रैक्शन), सामान्यीकरण और संश्लेषण, अर्थात् सामान्यी-करणों के सामान्यीकरण, द्वारा बुद्धि अपना कार्य करती है। और बुद्धि के इस कार्य में, बुद्धि द्वारा सहायता-प्राप्त कल्पना और भावना, उसी बुद्धि से सहयोग करती है। इस प्रकार बुद्धि की पृथक् सत्ता और पृथक् पथ का विकास होते हुए भी, उसके

पथ के विकास मे सम्पूर्ण अन्त वृत्तियाँ (भावना, कल्पना) योग देती है। ध्यान मे रखने की बात है कि बुद्धि के कुछ विशुद्ध क्षेत्रो – जैसे, गणितशास्त्र, भौतिक शास्त्र, ज्योतिर्विद्या आदि— मे भी बुद्धि की छलांग कल्पना के सहयोग से होती है। किन्तु यह कल्पना बुद्धि द्वारा सुसस्कृत और सुशिक्षित होकर ही वैसा कर सकती है। हां, शास्त्रीय क्षेत्रो मे भावना की वृत्ति प्रच्छन्न होती है। सक्षेप मे, जीवन-ज्ञान की उपलब्धि मे तीनो वृत्तियो का सहयोग होता है, और ये तीनो वृत्तियाँ एक-दूसरे म प्रभावित, परिष्कृत और शिक्षित होती हैं। सवेदनात्मक उद्देश्यो तथा कार्यानुभवो द्वारा उत्पन्न यह जो बुद्धि है, वह क्षेत्र-भेदानुसार अलग अलग रूप ले लेती है।

हम इस बात को और स्पष्ट करना चाहते हैं। अपराध व्यवसाय से जीनेवाला व्यक्ति, अपने सवेदनात्मक उद्देश्यो तथा कार्यानुभवो द्वारा, बुद्धि का एक विशेष ढग से विकास करता है। ऐसे व्यक्ति भी मानव-मनोविज्ञान का अध्ययन करते हैं, मानव-व्यवहार का अध्ययन करते हैं। मानव की विश्वास-वृत्ति का लाभ उठाते हुए, तथा उसकी दूसरी कमजोरियो से फायदा उठाते हुए, वे अपने कार्य मे अग्रसर होते हैं। उनके अपने सवेदनात्मक उद्देश्यो तथा कार्यानुभवों के अनुसार, उनके पास भी जीवन ज्ञान की एक विकसित और उन्नत व्यवस्था कायम हो जाती है। इस जीवन-ज्ञान का वे समुचित उपयोग करते हैं—यहाँ तक कि वे दण्ड से भी बच जाते है। सक्षेप मे, उनके अपने सवेदनात्मक उद्देश्यो और कार्यानुभवो द्वारा, उनके पास भी जीवन-ज्ञान की एक उन्नत व्यवस्था है। यदि यह व्यवस्था अधूरी या कमजोर हुई, अथवा उसका अनुशासन ठीक-ठीक न हुआ, तो उन्हे धोखा खाना पडता है। दो अपराध व्यवसाय कर्ताओ के जीवन ज्ञान की अपनी-अपनी व्यवस्थाओं म, अपने-अपने कार्यानुभवो तथा सवेदनात्मक उद्देश्यो के अनुसार, भेद हो जाता है, यद्यपि उन दो जीवन-ज्ञान व्यवस्थाओ मे बहुत कुछ समानता भी रहती है।

सक्षेप मे, जीवन ज्ञान की प्राप्ति मे तीनो वृत्तियो का सजग सहयोग होता है। सवेदनात्मक उद्देश्यो तथा कार्य अनुभवो द्वारा ही बुद्धि का विकास होकर, यह बुद्धि कल्पना तथा भावना का शिक्षित करके, सुसस्कृत तथा परिष्कृत करके, आगे बढाती है। इसी प्रकार सुशिक्षित कल्पना तथा सुशिक्षित भावना, विकसित तथा परिपुष्ट जीवन-ज्ञान के आधार पर, कार्य करती जाती है। तीनो अन्तर्वृत्तियो की क्रियाशीलता के फलस्वरूप जो जीवन-ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वय एक क्रियाशील शक्ति बन जाता है। यह जीवन-ज्ञान, एक विकसित तथा परिपुष्ट व्यवस्था मे परिणत होकर, सारे व्यक्तित्व के कार्य की आधारशिला बन जाता है। तीनो अन्त वृत्तियो की सक्रियता से उत्पन्न जीवन ज्ञान व्यवस्था के आधार पर खडे होकर, बुद्धि, भावना और कल्पना, एक-दूसरे से सहयोग करती हुई अपना-अपना कार्य करती है।

कल्पना का कार्य है मूर्त-विधान करना। अन्तर्निहित सवेदनात्मक उद्देश्यो द्वारा परिचालित होकर ही कल्पना अपना कार्य करती है। ये सवेदनात्मक उद्देश्य जिस जीवन-ज्ञान-व्यवस्था के मूर्त स्तर पर खडे होकर कार्य कर रहे हैं, उस व्यवस्था के तत्वो का यथायोग्य उपयोग करते हुए कल्पना अपना मूर्त्त-विधान उपस्थित करती है। न केवल यह, सवेदनात्मक उद्देश्य स्वय अपनी पूर्ति के लिए बुद्धि का सहारा लेते हैं, जीवन-ज्ञान-व्यवस्था का भरपूर उपयोग करते है, तथा

बुद्धि कल्पना और भावना, तीनों का सहयोग लिये हुए कार्य करते हैं। अतएव, इस पूरी प्रक्रिया में कल्पना-शक्ति स्वयं जीवन-ज्ञान-व्यवस्था के प्रतिकूल न जाकर वरन् उसकी सहायता प्राप्त करती हुई उससे समस्कृत और परिष्कृत [होती] हुई, साथ ही बुद्धि की सहायता लेती हुई, उससे शिक्षित और प्रशिक्षित होती हुई, इसके अतिरिक्त भावना के रंग में डूबकर आगे बढ़ती हुई, वह अपना मूर्त्त विधान करती है।

संक्षेप में, कल्पना के मूर्त्त-विधान के या बिम्ब-माला के दो प्रमुख कार्य होते हैं : (1) व्याख्यात्मक, (2) प्रातिनिधिक। मूर्त्त-विधान एक ओर, जीवन की [illegible] ओर, वह उस जीवन [illegible] प्रातिनिधिकता एक [illegible] समाया रहता है। उससे विरहित होकर दोनों के अस्तित्व की सम्भावना सदिग्ध है।

जीवन की पुनर्रचना कल्पना द्वारा होती है। कल्पना वह माध्यम है जिसके द्वारा संवेदनात्मक उद्देश्य जीवन की पुनर्रचना करते हैं। इसलिए, वास्तविक जीवन से पुनर्रचित जीवन की पृथक्ता तथा स्वरूप-भेद तो हो ही जाता है। संक्षेप में, कल्पना पुनर्रचित जीवन का स्वरूप स्थापन करती है, और उसे वास्तविक जीवन [illegible] वास्तविक जिये [illegible] वास्तविक [illegible] री वास्त- [illegible] है। इस प्रकार, उसमें सामान्य का आविर्भाव होता है। किन्तु यह सामान्यीकरण है काहे का ? जिये और भोगे गये वास्तविक जीवन के अतिरिक्त, और उसको शामिल करके, तत्समान सारी वास्तविकताओं और सारी सम्भावनाओं का—चाहे वे किसी भी देश-काल की क्यों न हों, अथवा पीछे गये या आनेवाले मनुष्यों के हृदय में ही वे क्यों न कल्पित हुई हों। किन्तु, सामान्य का यह धरातल तब प्राप्त होता है, जब पुनर्रचित जीवन जिये और भोगे गये जीवन से सारभूत एकता रखे। अर्थात्, कलाकार का कर्त्तव्य है कि वह अपने संवेदनात्मक उद्देश्य के अनुसार, स्वयं के विशिष्ट में डूबे, जिये और भोगे गये जीवन के वास्तविक विशिष्ट से एकात्म हो, कि जिस विशिष्ट को वह अपने संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार प्रस्तुत करना चाहता है। कलाकार जीवन की पुनर्रचना द्वारा विशिष्ट ही उपस्थित करना चाहता है। किन्तु, कला के अन्तर्नियमों में बँधकर उस विशिष्ट में, विशिष्ट का स्वरूप विकसित होकर, परिणत होकर, सामान्य के रूप में प्रोद्भासित होता है। किन्तु यह सामान्य विशिष्ट का ही सीमा-विरहित रूप है। अतएव कलाकार का धर्म है कि वह अपने विशिष्ट की गहराइयों को पहचाने और उसे प्रस्तुत करे।

जीवन की पुनर्रचना में, वास्तविक जिये और भोगे गये जीवन से जो सारभूत एकता स्थापित होती है, उस सारभूत एकता को हम और स्पष्ट करना चाहते हैं। हम यह बता चुके हैं कि बुद्धि, ज्ञान, भावना के परस्पर सहयोग से जीवन ज्ञान विकसित होता है। संवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा परिचालित होकर ही कल्पना मूर्त्त-विधान करती है। और ये संवेदनात्मक उद्देश्य जीवन ज्ञान-व्यवस्था की सुदृढ़ पीठिका पर उपस्थित होकर ही कार्य करते हैं। साथ ही, वे जीवन ज्ञान-

व्यवस्था की इस पीठिका द्वारा नियन्त्रित भी होते हैं।

बुद्धि-कल्पना-भावना के परस्पर सहयोग से, तथा सहयोग के कारण, और अपने परस्पर-प्रभाव के फलस्वरूप, उनमे से प्रत्येक म जो परिणति हुई है उससे, और इन तीनो वृत्तियो के कार्यों द्वारा, जीवन-ज्ञान-व्यवस्था बनती है। किन्तु इन तीनो वृत्तियो के कार्य-व्यवहार के तथा जीवन-ज्ञान-विकास के मूल उत्स, सवेदनात्मक उद्देश्यो और वास्तविक जगत् मे उनकी पूर्ति के प्रयत्नो, और उस प्रयत्न के दौरान मे प्राप्त होनेवाले अनुभव और ज्ञान मे, समाहित हैं। दूसरे शब्दो मे, इच्छा तृप्ति और बाह्य से सामजस्य-विधान के द्विविध (कभी-कभी परस्पर-विरोधी) कार्यों की एकता के निर्वाह से जीवन ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु उस जीवन ज्ञान की प्राप्ति सवदनात्मक उद्देश्यो के अनुसार होती है।

सक्षेप मे, जिये और भोगे गये वास्तविक जीवन के सारभूत सूत्र, उसकी सारभूत विशेषताएँ और सारभूत बिम्ब, इच्छा तृप्ति और बाह्य से सामजस्य विधान के द्विविध (तथा कभी कभी परस्पर-विरोधी) कार्यों की एकता के निर्वाह के प्रयत्नो के दौरान मे सकलित, सम्पादित और सशोधित होते है।

[illegible] फैला हुआ है। सर्वत्र उसके दृश्य [illegible] कि जो हमारी इच्छा- [illegible] अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव डालते हो, अथवा हमारे उद्देश्यो को अग्रसर या पश्चसर करते हो। दूसरे शब्दो मे, हम उनका सकलन करते हैं, हमसे वह सकलन हो जाता है। इस सकलन से ही हमारा जीवन क्षेत्र बनता है। किन्तु, इस जीवन-क्षेत्र म अनेको मानव-सम्बन्ध, मानव-मूल्य, अनेको कार्य-व्यवहार, अनेको घटनाएँ, जिनके सूत्र केवल हमारे जीवन-क्षेत्र मे ही नही उसके बाहर तक फैले रहते है—उनकी क्रिया पर एक हद तक ही हमारा प्रभाव होता है। यह जीवन-क्षेत्र वास्तविक जीवन-जगत् का अग है। उस वर्ग-जगत् का अग है कि जो विशेष काल-परिस्थिति मे विशेष रूप धारण करता है। अतएव हमे अपने जीवन क्षेत्र के अनुभवो से, तथा व्यापक जीवन-जगत् के ज्ञान से, उस ज्ञान दृष्टि का विकास करना पडता है, कि जिससे हमे इच्छा तृप्ति के और बाह्य मे सामजस्य विधान के कार्य म सहायता प्राप्त हो। फलत , हमे अपने जीवन-क्षेत्र से बाहर निकलकर जीवन-जगत मे फैलना पडता है। और व्यापक जीवन-जगत् का ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवन क्षेत्र मे लौट आना पडता है। और फिर पुन , जीवन-ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ, अपने जीवन-क्षेत्र को अपने सामर्थ्य के अनुसार व्यापक से व्यापकतर करना पडता है।

यही नही, बाह्य से सामजस्य-विधान की प्रवृत्ति तथा इच्छा तृप्ति के प्रयत्न, इन दोनो ने मनुष्य को अपने से ऊपर उठने, अपने से परे जाने की वृत्ति का इतना बलवान बना दिया है, कि हम अपने तात्कालिक हितो की बलि देकर दूरतर लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, और व्यक्तिगत स्वार्थ से परे उठकर सामान्य मानवीय आदर्शों की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। किन्तु, ये सामान्य आदर्श उस जीवन जगत् से उठे होते हैं, कि जो हमारा जीवन-जगत है, जो हमारा परिवेश है, जो हमारा वर्ग है। किन्तु, सामान्य मानवीय आदर्शों को उन विशेष मानव-सम्बन्धो के हितों की पूर्ति करनी पडती है, कि जिन मानव-सम्बन्धो को क्षेत्र मे हम पैदा हुए हैं, और जिनमे और जिनके बीच मे रहकर हमने अपना जीवन-ज्ञान और

दृष्टि का विकास किया है। दूसरे शब्दों में, मानव-सम्बन्धों के हित प्रधान हैं और आदर्श गौण। अतएव, आदर्शों को इस प्रकार ढाला और रचा जाता है कि जिससे कि मानव-सम्बन्ध, वस्तुत, एक समाज के भीतर के विभिन्न वर्गों के आपसी सम्बन्ध, तथा वर्ग के भीतर के परस्पर मानव-सम्बन्ध, बने रहें और उन्नत हों। जो भी भावात्मक विश्व-चित्र उपस्थित किया जाता है, और उसकी जो फिलॉसफी बनायी जाती है—अर्थात् यह समष्टि-चित्र और उसके भीतर समायी हुई दृष्टि की व्यापकता—वस्तुत अपने तथा वर्ग के एकीभूत दृष्टिकोण से देखे जाने की स्थिति से उत्पन्न है। यह बात भूलने की नहीं है।

यह पहले ही बता चुके हैं कि कला जीवन की पुनर्रचना है, किन्तु कवि के सवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार वह पुनर्रचना की जाती है। ये सवेदनात्मक उद्देश्य उस दृष्टि से सम्पन्न हैं, कि जो दृष्टि कवि ने अपने अनुभवात्मक ज्ञान द्वारा तथा परम्परा द्वारा प्राप्त की है। उसके सवेदनात्मक उद्देश्यों के पास जो जीवन ज्ञान है—चाहे वह अनुभवात्मक हो अथवा परम्परायित हो—उस जीवन-ज्ञान के तत्त्वों का उपयोग करते हुए कल्पना अपने चित्र प्रस्तुत करती है। सवेदनात्मक उद्देश्यों द्वारा सचालित होकर कल्पना जीवन की पुनर्रचना करती है, अतएव, इस पुनर्रचना के कार्य के दौरान में वास्तविक जीवन की व्याख्या तो आप ही-आप हो जाती है। जीवन दृष्टि-सम्पन्न सवेदनात्मक उद्देश्यों के पास यदि दृष्टि-दोष है, तो वह दोष भी कल्पना-विधान में प्रस्तुत होगा। सक्षेप में, जीवन-दृष्टि और सवेदनात्मक उद्देश्यों की सारी क्षमताएँ और निर्बलताएँ जीवन-ज्ञान के अधूरे-सधूरेपन, अच्छे-बुरेपन और सही-गलतपन के सारे रंग सवेदनात्मक उद्देश्यों में से बहते हुए, कल्पना विधान में फैल जायेंगे। उसी प्रकार, यह भी ध्यान में रखने की बात है कि कल्पना के महल की ईंटें वास्तविक जीवन में जिये गये तत्त्व ही हैं। अनुभव, जीवन-दृष्टि, ज्ञान-व्यवस्था, आदि-आदि बातों में से कल्पना अपने तत्त्व ग्रहण करती है, और उनकी जोड तोड करके अपने आकार बनाती है। सक्षेप में, जीवन की पुनर्रचना कवि के सवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, उसकी जीवन-दृष्टि और जीवन-ज्ञान के अनुसार, बनती है।

[अपूर्ण। रचनाकाल अनिश्चित। सम्भवत 1959 के बाद]

प्रश्न यह है कि आखिर रचना क्यों ?

प्रश्न यह है कि आखिर रचना-प्रक्रिया में इतनी दिलचस्पी क्यों ? मेरे खयाल से इसका एक उत्तर तो यह है कि उसके अन्तर्तत्त्वों के विश्लेषण में सौन्दर्य-सम्बन्धी किसी सामान्य सिद्धान्त पर आया जा सकता है। दूसरे भी उत्तर हो सकते हैं। उदाहरणत, जीवन के विस्तृत क्षेत्र को साहित्य में लाने के लिए, अर्थात् उसके प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत करने के लिए, हम प्रभावोत्पादकता के रहस्य को

समझें। इसके अतिरिक्त और भी उत्तर हो सकते हैं। जैसे, अपनी विशेष काव्य-प्रवृत्ति का औचित्य सिद्ध करने के लिए रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण किया जाये।

कोई भी देश, व्यक्ति या प्रवृत्ति अपने-अपने इतिहास से जुदा नहीं हो सकती। हिन्दी में रचना प्रक्रिया का जो विश्लेषण शुरू हुआ, वह मुख्यत, नयी कविता को (या कहिए नयी काव्य-प्रवृत्ति को) ध्यान में रखकर ही। कभी आधुनिकता के नाम पर, तो कभी सौन्दर्य के नाम पर यह काम हाथ में लिया गया। किन्तु रचना-प्रक्रिया का कोई तत्परक (ऑब्जेक्टिव) विश्लेषण सामने नहीं आया। विश्लेषक का संवेदनात्मक उद्देश्य रचना-प्रक्रिया का कोई तत्परक अन्वय-समन्वय करना, विश्लेषण करना, नहीं था, वरन् एक विशेष प्रवृत्ति की स्थापना करना रहा आया। परिणाम यह हुआ कि ऐसे प्रयत्नों से, सम्भवत, काव्य-क्षेत्र को, कला-क्षेत्र को विशेष लाभ नहीं हुआ। दूसरे शब्दों में, जीवन के सुविस्तृत वैविध्य और मूलभूत एकता के कोई विशिष्ट और संवेदनात्मक चित्रण का मार्ग ऐसे विश्लेषण ने प्रस्तुत नहीं किया। रचनात्मक प्रक्रिया के विश्लेषण से यदि सृजनशील साहित्य का मार्ग अधिकाधिक प्रशस्त हो तो कहना ही क्या है।

रचना-प्रक्रिया का तत्परक विश्लेषण, मेरे खयाल से, अत्यन्त कठिन है, दुष्कर है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह है कि रचना प्रक्रिया एक नहीं, अनेक हैं, विविध हैं, और उसकी विभिन्नता अत्यधिक है। रचना-प्रक्रिया सृजन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, कवि-स्वभाव, कवि-दृष्टि, और विषय-वस्तु (या कहिए कथ्य) के अनुसार, वह बनती-बदलती है।

प्रगतिशील काव्य की दृष्टि के विरोध में, अथवा उसकी प्रतिकूल स्थिति में, नयी काव्य-प्रवृत्ति में प्रकट 'स्व' के महत्त्व को स्थापित करने के लिए, रचना-प्रक्रिया की स्वात्मकता को उठावदार-उभारदार बनाने के लिए, जिससे कि अन्य जनों का ध्यान उसकी स्वात्मकता पर खिंचे, रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण की ओर प्रवृत्ति हुई। किन्तु आगे चलकर ज्यों ही प्रगतिशील पैटर्न और प्रवृत्ति क्षीण होकर तिरोहित होने लगी, रचना-प्रक्रिया के वास्तविक विश्लेषण से विमुखता होने लगी। यह विमुखता लाभकर नहीं, हानिकर है।

इसका कारण है। रचना-प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ते ही हमारे सामने कई समस्याएँ और कर्तव्य खड़े हो जाते हैं। कोई भी कवि अच्छा या बुरा नहीं होता, वह कवि या अकवि ही हो सकता है, अर्थात् उसमें चेतना या जड़ता हो सकती है। एक विशेष रूप-स्वरूप और प्रवृत्ति में पूर्ण जो चेतना है वह कवि की चेतना है।

इस बात को हम यों कहेंगे। कवि की मनोवैज्ञानिक स्थिति और स्तर, जो उसके काव्य में प्रकट होता है, कैसा है? किस प्रकार का है? प्रभावशील काव्य के सतहीपन पर या यों कहिए कि सतही प्रगतिशील काव्य पर, विचार करते समय उसके मनोवैज्ञानिक स्तर और स्थिति को देखा गया। आज भी रचना-प्रक्रिया पर विचार करते समय हमें नयी कविता के सतहीपन पर, या यों कहिए कि सतही नयी कविता पर, प्रकाश डालकर इस बात पर सोचना होगा कि क्या किया जाय कि जिसमें नयी कविता, जीवन के सुविस्तृत क्षेत्र के विविध रंगों से दीपित होकर, एक ओर वैविध्यपूर्ण जीवन क्षेत्र का प्रतिनिधित्व कर सके, तो दूसरी ओर स्वात्मकता के खरे और भरे रंग उसमें खिल सकें।

दूसरे शब्दों में, प्रश्न यह है कि 'जो है' उसको अन्तिम मानकर उसको 'आधुनिक' कहकर, 'जो चाहिए' उसकी भावना को तिरस्कृत करें, उसे सन्दर्भ-हीन मान टाल दें या क्या ?

इस बात को हम दूसरे शब्दों में कहेंगे। क्या हम कहें कि नयी कविता केवल मानसिक किन्तु तीव्र सवेदनात्मक प्रतिक्रिया है, क्षण-विक्षण प्रतिक्रिया—और उसे वैसा होना ही चाहिए, नहीं तो वह नयी कविता नहीं है ? अथवा वह ऐसी काव्य-प्रवृत्ति है जिसमे टोटल पर्सनैलिटी इनवॉल्ड है (सम्पूर्ण व्यक्तित्व सन्निहित है) ? और फिर वह सम्पूर्ण व्यक्तित्व किस प्रकार से सन्निहित है, अथवा किस प्रकार से उसे सन्निहित होना चाहिए ?

यही बात इस तरह भी कही जा सकती है कि क्या लेखक इस तरह लिखे कि अपनी कृति का हलका-सा प्रभाव छोड़कर छुट्टी पा ले ? अथवा वह इस तरह लिखे कि कथ्य, अपने पूरे तत्त्वों को मूर्तिमान करते हुए, पाठक के हृदय में अपने प्रभाव के प्रभाव को घनीभूत कर दे, अर्थात् उसके हृदय में भावना उत्पन्न कर दे ? निःसन्देह, कृति की आलोचना अथवा कृति का प्रभाव-ग्रहण कवि के व्यक्तित्व का भी प्रभाव-ग्रहण है।

इसी बात को हम दूसरे शब्दों में कहेंगे। क्या हम यह कहें कि नयी कविता केवल गद्य भाषान्वित, मानसिक, किन्तु तीव्र सवेदनात्मक प्रतिक्रिया है, या उसमें 'सम्पूर्ण व्यक्तित्व' (टोटल पर्सनैलिटी) लिपटी हुई (इनवॉल्ड) होनी चाहिए ? यह सही है कि 'टोटल पर्सनैलिटी' जैसे शब्दों की व्याख्या के लिए फिर प्रश्न पूछे जायेंगे, लेकिन मतलब साफ है।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1959-64। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में सकलित]

अन्तरात्मा और पक्षधरता

पक्षधरता का प्रश्न हमारी आत्मा का, हमारी अन्तरात्मा का प्रश्न है। मैं उस आत्मा का, उस अन्तरात्मा का पक्षधर हूँ और, चूँकि मेरी अन्तरात्मा की हलचल और बेचैनी आपकी अन्तरात्मा की हलचल और बेचैनी से मिलती-जुलती है, इसलिए जहाँ तक अन्तरात्मा का प्रश्न है, मैं आपका भी पक्षधर हूँ, और आप मेरे भी पक्षधर हैं। और, चूँकि हम-आप-जैसे अन्तरात्मावाले बहुत-से लोग इस संसार में हैं, इसलिए हम सब उन सबके और वे सब हम सबके पक्षधर हैं, चाहे वे हिन्दी क्षेत्र के हों, या अन्य भाषा क्षेत्र के, भारत-भूमि के हों, या उसके बाहर के। संक्षेप में, हम सब एक प्रवृत्ति हैं, एक धारा है—भाव-धारा, विचार-धारा, जीवन धारा—और हम सब उसी धारा के अंग हैं। और हम इस धारा के पक्षधर

हैं। और हम बिना इस पक्षधरता के अपने-आपको अपूर्ण, मूल्यहीन और निरर्थक पाते हैं।

क्या हमारी यह पक्षधरता गलत है? पक्षधर होने की हमारी यह खुली प्रवृत्ति गलत है? अपनी अन्तरात्मा का, और अपनी-जैसी अनगिनत अन्तरात्माओं का, पक्षधर होना गलत है? जवाब साफ है। नहीं, बिल्कुल नहीं। हम अपनी अन्तरात्मा की और अपनी-जैसी अन्य अन्तरात्माओं की पक्षधरता और मज़बूत बनायेंगे। इस धारा को दृढ़ करेंगे, विस्तृत करेंगे। और अगर विपक्षी हमारी इस धारा पर हँसते हैं, धिक्कारते हैं, चिढ़चिढ़ाते हैं, तो उन्हें हँसने दो या खीझने दो, क्योंकि वे वे हैं, हम हम हैं।

एकदम यह सही है कि हमारी अन्तरात्मा जो कुछ हमें कहती है, उसके अनुसार हम चल नहीं पाते, कर नहीं पाते, वैसा साहित्य-सृजन नहीं कर पाते। और इसीलिए तो अन्तरात्मा है जो यह कहती है कि बेवकूफ, तुम यहाँ चूक गये।

हाँ, यह सही है कि अन्तरात्मा जिन भाव-समुदायों को, जिस भाव-धारा को, जिस विचार-धारा को लेकर चल रही है, उसमें ज्ञान के प्रकाश के साथ ही-साथ अज्ञान और पूर्वाग्रहों का अनजाना अन्धकार भी हो सकता है। हाँ, यह सही है कि अज्ञान और अर्ध-ज्ञान के, पूर्वाग्रहों के, दुराग्रहों के, अन्धकार की ओर न देखते हुए, मैं अपने प्रतिपक्षी के उन सशक्त तर्कों और प्रचण्ड युक्तियों, उसके अपने सत्यांश, को उपेक्षाभरी दृष्टि से देखता होऊँ। हाँ, यह सही है कि मैं अपने आवेग में, सत्य के नाम पर आत्म-बद्ध दृष्टि ही को यथार्थ दर्शन समझते हुए, जूझ जाता हूँगा। यह सब सही हो सकता है। यह सब सही है।

किन्तु केवल इतना ही सही नहीं है। यह भी सही है कि मेरी अन्तरात्मा ने जीवन-यात्रा में जिन लक्ष्यों और भाव-दृष्टियों को प्राप्त किया है, जिस भाव-धारा का विकास किया है, उसमें महत्त्वपूर्ण सचाइयाँ भी हैं। उस अन्तरात्मा ने जिन विशेष आग्रहों का विकास किया है, वे उसके लक्ष्यों से प्रसूत आग्रह हैं। वे प्रयोजन हैं। वे अन्तरात्मा के संवेदनात्मक उद्देश्य हैं, वे कर्म-प्रक्रिया के लक्ष्य हैं—चाहे वह कर्म-प्रक्रिया कलाकार का कर्म ही क्यों न हो। उन उद्देश्यों और प्रयोजनों, उनसे प्रसूत आग्रहों और अनुरोधों से, मैं तटस्थ नहीं हूँ। मैं अपनी अन्तरात्मा का पक्षधर हूँ, और अपने-जैसे अन्यों की अन्तरात्माओं का भी पक्षधर हूँ। इसलिए, आप-ही-आप, मेरे अनजाने मेरा अपना एक शिविर बन जाता है, चाहे मैं उसे शिविर कहूँ या न कहूँ, भले ही मैं उस शिविर के सदस्यों के भौतिक अस्तित्व से अपरिचित रहूँ। इसलिए मैं यह लेकर चलता हूँ कि मेरे-जैसे न मालूम कितने ही लोग हैं, जो मित्र हैं, सम्भाव्य मित्र हैं। मैं उन्हें नहीं जानता—शायद उन सबको जानना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार, मैं यह भी जानता हूँ कि जिस प्रकार मैं अपने अनजाने शिविर बन जाता हूँ, या एक शिविर का सदस्य अपने जाने-अनजाने हो जाता हूँ, उसी प्रकार दूसरे लोग भी अपने जाने-अनजाने अन्य शिविरों के सदस्य बन जाते हैं, और मुझे मुक्तिबोध के नाम से न पहचानकर उस शिविर के एक सदस्य के नाम से पहचानते हैं। और इस प्रकार, मैं अपने जाने-अनजाने स्वयं कुछ न करते हुए भी, उनके विरुद्ध कुछ भी न करते हुए भी, उनके प्रतिकूल भाव का, उनकी कोप-दृष्टि का, उनके विरोध-कार्य का, शिकार बन जाता हूँ। मेरे जाने-अनजाने ही वे मेरे विरोधी और शत्रु

बन जाते हैं।

यह द्वन्द्व एक वास्तविकता है। उससे छुटकारा नहीं। हाँ, यह सही है कि द्वन्द्व का क्षेत्र और धरातल का जानना एकदम जरूरी है, क्योंकि उसका रूप, उसकी प्रक्रिया, विभिन्न स्थिति-दशाओं में विभिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न होते हुए भी, उसकी मूल सामान्य विशेषताएँ क्षेत्र और धरातल के अनुसार ही बनती हैं।

और इस द्वन्द्व-स्थिति में पड़कर ही (पड़ना ही पड़ता है) हमें मालूम हो जाता है कि हमारे प्रतिपक्षी ने बहुत-बहुत सही बातें कही हैं, तो उसका प्रयोजन क्या है, उन सही सही बातों का उसने जो उपयोग किया है तो कौन सी स्थिति की स्थापना के लिए ?

और अगर मैं पहचान जाऊँ कि उसने ये सही-सही, ये सच्ची सच्ची बातें कही हैं, तो मैं उन्हें उठा लूँगा। जिस प्रकार यथार्थ का एक अंश मेरे सम्मुख खुला हुआ है, उसी प्रकार यथार्थ का एक अंश उसके सम्मुख भी खुला हुआ है।

सही है कि हमारे प्रयोजन और उद्देश्य-लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए वह अपने प्रयोजन के अनुसार एक विशेष कोण की ओर ही दृष्टिक्षेप करता है, जिस पर मैंने अगर दृष्टिक्षेप किया भी था तो ध्यान नहीं दिया था, उस कोण-दृश्य को महत्त्व नहीं दिया था। इसलिए यथार्थ के कुछ अंश, जो उसके सामने खुले, मेरे सामने नहीं खुले थे। मैं अवश्य ही उसके सत्यांशों को स्वीकार कर लूँगा और अपने में मिला लूँगा। अपनी विचार धारा, भाव-धारा, अपनी भाव दृष्टि में जो कमजोरियाँ, जो खाइयाँ और जो कँटीले अहाते हैं, उन्हें भरसक कम करने की कोशिश करता जाऊँगा।

कोई भी द्वन्द्व हो—परिस्थिति ही से द्वन्द्व क्यों न हो—उसमें पड़ने से (उसमें पड़ना ही पड़ता है) मनुष्य की यथार्थ चेतना बढ़ती ही है, यथार्थ का अधिकाधिक ज्ञान उसे होता जाता है।

किन्तु मैं इस बात की पूरी कोशिश करूँगा कि ये द्वन्द्व झूठे द्वन्द्व न हों। अपनी अहंबद्ध भेद-बुद्धि के कारण हम झूठे द्वन्द्वों का सृजन कर लेते हैं। जो हमसे भिन्न है, वह केवल अन्य ही नहीं, वह विरोधी भी है, विपक्षी भी—यह मानकर चलने के लिए मैं तैयार नहीं।

अहंकार अपना एक इन्द्रजाल खड़ा करता है। तर्क और युक्ति, सही और आधी सही, बातों का एक अस्त्रागार उसके पास है। लेखक अपनी लेखनी से भी अपने अहंकार की तुष्टि करता है। वह खुद ही अपनी आँखों के सामने कैसा-कैसा अभिनय करता है, तन्मय होकर।

मैं इससे बचना चाहता हूँ, और पराजित हो जाने में ही अपना कल्याण समझता हूँ, क्योंकि पराजित हो जाने से ही तो कोई विजित हो नहीं सकता।

मनुष्य की बुद्धि इतनी कम है, यथार्थ का प्रसार इतना विस्तृत और उलझाव भरा है, कि केवल मेरी ज्ञान प्रक्रिया ही से—केवल मेरी ही अपनी ज्ञान-प्रक्रिया में सीमित रहने से—मैं उसका सर्वांगीण आकलन नहीं कर सकता। इसीलिए मैं चाहता हूँ ज्ञान-परम्परा, भाव परम्परा और उसको धारण करनेवाला यह जो जगत् है, वह। मैं उसे चाहने लगता हूँ।

मैं इन्तजार करता हूँ। और इन्तजार करने में विश्वास रखता हूँ। यह

इन्तजार आलमियों का या भाग्यवादियो का इन्तज़ार नहो है। प्रतीक्षा के इस काल मे मनन चलता है, अपनी ही जीवनात्मक भावुक तथा बौद्धिक स्थितियो का यह मनन विभिन्न आत्म-सशोधनो को ले आता है।

किन्तु यह प्रतीक्षा है काहे की ? इस बात की प्रतीक्षा है यह कि, सम्भव है, किसी देश मे, अथवा अनेक देशो मे, अथवा इस भारत-भूमि मे ही, ऐसे लोग हैं जिनके सामने ठीक वे ही प्रश्न हैं जो मेरे सामने हैं। उनकी भी प्रवृत्ति ठीक वही है जो मेरी है। और उन्होने अवश्य ही इन प्रश्नो पर सोचा होगा। शायद, मुझसे ज्यादा सोचा होगा। अधिक व्यापक होगा उनका सोच-विचार। सम्भव है, हाँ सम्भव है! इसलिए आज नही तो कल, जो दृष्टि सामान्यत गृहीत है, उसमे सशोधन होगे। सशोधन अवश्यम्भावी हैं। वे एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के अग हैं। इसलिए मैं ऐतिहासिक प्रक्रिया की, ज्ञान के क्षेत्र मे भी, दृष्टि विकास के क्षेत्र मे, अनवरत क्रिया पर विश्वास रखता हूँ।

सक्षेप मे, मेरी-जैसी अन्तरात्मावालो की, मेरी-जैसी प्रवृत्तिवालो की, एक परम्परा है। वह परम्परा-प्रक्रिया मेरे प्यारे देश मे ही नही, अनगिनत देशो मे है। मैं उस परम्परा-क्रिया का अग हूँ और अपनी परम्परा को ढूँढता भी फिरता हूँ। दु ख इसी बात का है कि मैं अग्रेज़ी को छोड दूसरी विदेशी भाषा नही जानता, और हिन्दी और मराठी को छोड अन्य कोई भारतीय भाषा नही जानता। अकिंचन इतना हूँ कि हिन्दी की किताबें भी नही खरीद सकता। और लिखने के कागज जब ज्यादा खर्च हो जाते हैं, तब सोचता हूँ कि मैं कितना फिजूलखर्च हूँ। ऐसी स्थिति मे, मैं क्या अपनी परम्परा ढूँढूँगा!

किन्तु हर समस्या का एक न-एक समाधान है—चाहे अधूरा ही क्यो न सही। इसलिए, मैं अपने आस-पास के लोगो, अपने मित्रो, आत्म-सम्बन्धियो और अपने सहयोगियो तथा परिचितो मे उसे ढूँढने लगता हूँ।

और उनसे बहस छिड जाती है, या चर्चा हो जाती है, और बहुत बार धरित्री अपने रत्न उगल देती है। और मैं अपने प्रभाव मे भी अत्यन्त सम्पन्न अनुभव करने लगता हूँ।

किन्तु देश-विदेश मे हो रहे प्रयत्नो की सम्भावना की उपेक्षा मैं नही कर पाता। और इस तरह मेरी छाया पृथ्वी पर भटकती रहती है, भटकती रहती है।

'अन्त करण का आयतन सक्षिप्त है' नामक मेरी एक कविता मे (वह कृति मासिक पत्र मे प्रकाशित हुई थी) मेरी इसी प्रवृत्ति का चित्रण है। मेरे अपने लेखे, उसमे एक लिरिसिज़्म है, एक यथार्थप्रवण रूमानी किस्म की कल्पनाशीलता है, एक आवेश है, और अन्त मे आत्मालोचन है।

इस प्रकार मैं द्वन्द्व-स्थिति मे पडकर मैत्री ही प्राप्त करता हूँ।

हाँ, यह सही है कि मेरी जैसी अन्तरात्मावाले लोग मुझे धिक्कार भी सकते हैं। मेरे ही शिविर मे मेरी ही हत्या हो सकती है, वास्तविक तिरस्कार हो सकता है, हुआ है, होता रहा है, होता रहेगा—सम्भवत।

क्या इतिहास मे हम ऐसे प्रसग नही मिलते हैं ? खूब मिलते है। औरगज़ेब ने पहले दारा, मुराद और शुजा को खत्म किया, और घर को निष्कण्टक करके बाहर चढ दौडा।

दारा और औरगज़ेब की यह जोडी आपको हर जगह मिलेगी। अमरीका मे

भी, रूस में भी, साम्यवादी जगत् में भी, पूंजीवादी-साम्राज्यवादी दुनिया में भी। भारत में भी मिलती है।

दारा की हत्या की सम्भावना हमेशा रही है। हमेशा रहेगी। द्वन्द्वात्मक स्थिति की गत्यात्मकता व्यक्ति-रक्षा नहीं करती, प्रवृत्ति-रक्षा सम्पन्न करती है। इसीलिए दारा का जन्म बार-बार होगा, और वह अपना प्रभाव फैलाने के बाद बार-बार मारा जायेगा।

दारा प्रभावशील विद्वान् और भीगा हुआ राजकुमार था। मैं वह नहीं हूँ, बहुत-बहुत छोटा हूँ, जनसाधारण हूँ, अत्यन्त अल्प हूँ। इसलिए मैं बार-बार नहीं मरूँगा, एक बार मर जाऊँगा हमेशा के लिए, किसी के किये से नहीं, अपने किये।

फिर भी एक प्रश्न है, और वह यह कि मेरी अन्तरात्मा कहाँ तक विकसित है! स्वयं के अनन्यीकरण, इतरीकरण के साथ, मैं कहाँ तक जगत् के साथ, अनन्यीकरण और उसका स्वकीयीकरण कर सका हूँ? दूसरे शब्दों में, अपनी अन्तरात्मा के प्रयोजन को मैं कहाँ तक दृढ़ कर सका हूँ?

आत्मालोचन निःसन्देह आवश्यक है। जब तक हमारे कार्य तथा अनुभव-प्राप्त ज्ञान से सम्पादित आत्म संशोधन अन्तरात्मा के प्रयोजनों को ही दृढ़ और बलवान करते हैं, तभी तक उनकी सार्थकता है। जब तक वे उन प्रयोजनों से प्रसूत हमारी भाव-परम्परा को विकसित और सम्पन्न करते हैं, तभी तक उनका उपयोग है। यह कहना महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि मनुष्य कभी-कभी अपने ही बनाये जाल में फंस जाता है, और अपनी अन्तरात्मा के प्रयोजनों के मार्ग से वह हट जाता है। ऐसे व्यक्ति का सारा अनुभवात्मक ज्ञान और दृष्टि, प्रयोजनहीन होने के कारण, केवल व्यर्थ का भार ही नहीं बन जाती, वरन् उसे तरह तरह के समझौतों के मार्ग पर आगे बढ़ाती है। और ये समझौते, क्रमशः, उसके व्यक्तित्व को नपुंसक, और गुप्त तथा प्रकट रूप से निराशावादी या भाग्यवादी, बना देते हैं। वह अपने खुद के रास्ते से हट जाता है।

निःसन्देह, यह प्रश्न उठता है कि मेरी अन्तरात्मा कहाँ तक विकसित है!

इस प्रश्न का उत्तर मैं इस तरह देता हूँ। मेरे जीवन ने इस जगत् में अब तक जो यात्रा की है, वह प्रयोजनहीन नहीं की है। मैंने अपने अनुसार कुछ हद तक परिस्थिति को बनाया और बिगाड़ा है। इस जीवन-यात्रा में अभ्यन्तर की एक पुकार रही है। नवयौवनावस्था के पूर्व से ही, मेरे प्रयोजन प्राप्त और विकसित होते गये, और उन्हीं के अनुसार मैंने अपनी भाव-धारा विकसित की। यह भाव-धारा अन्तर्निहित है।

ये प्रयोजन मेरे निजत्व के मूल चक्र हैं। वे प्रयोजन क्या हैं?

घर में, परिवार में, समाज में, मनुष्य को मानवोचित जीवन प्राप्त हो। आर्थिक तुला के आधार पर, घर में, परिवार में, समाज में, मनुष्य के मूल्य को न आंका जाये। मनुष्य अपनी और अपने परिवार की अस्तित्व-रक्षा के आर्थिक-भौतिक संघर्ष और तत्सम्बन्धी चिन्ताओं से छूटकर, निर्माण और सृजन के कार्य में लगकर समाज की उन्नति और प्रगति में योग दे, तथा उसको अपने निजत्व के विकास के अवसर प्राप्त हों—सबको समान रूप से। आर्थिक उत्पीड़न और शोषणमूलक यह जो भयानक पूंजीवादी समाज-व्यवस्था है, वह हमेशा के लिए

-समाप्त हो। और उत्पादन तथा श्रम के समस्त माध्यमों तथा साधनों पर पूरे समाज का अधिकार हो। किसी को भी किसी का व्यक्ति स्वातन्त्र्य खरीदने का अधिकार नहीं हो, न बेचने का। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को रहन न रखा जाय, न कोई किसी को रहन रखने दे। किन्तु जो व्यक्ति स्वातन्त्र्य समाजवाद और जनतन्त्र के समन्वय में बाधक हो, या इन दोनों में से किसी एक का भी उत्सर्ग करने के लिए उत्सुक हो, उस व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को पूरा समाज सार्वजनिक रूप से निन्दित और तिरस्कृत करे। समाजवाद जनता की, जनसाधारण की, मुक्ति का राजपथ है। और इसीलिए उसकी मूल आत्मा जनतान्त्रिक है। कैसे जनसाधारण ? वे कि जिन्होंने शोषण और उत्पीडन की जंजीरों को अपने संगठित कार्यों द्वारा तोड दिया है। समाज उनकी आर्थिक और पारिवारिक स्थिति की सुरक्षा की गारण्टी लेता है, उनके बाल-बच्चों की शिक्षा तथा चिकित्सा और जीविका-कार्य की गारण्टी लेकर, उनके शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक गुणों के उत्कर्ष के कार्य का सिद्ध करता है। और बढते हुए सामूहिक उत्पादन की प्रणाली के आधार पर उनके जीवन-स्तर को क्रमशः विकसित करता जाता है। मेरे जैसे कोटिश अकिंचनों और अरक्षित जीवनवालों की मुक्ति का रास्ता है। समाजवाद की मूल आत्मा जनतान्त्रिक है। जनतान्त्रिक संस्थाओं और जनतान्त्रिक विधि नियमों से उसे निबद्ध किया जा चुका है, किया जा सकता है। पोलैण्ड और यूगोस्लाविया तथा अन्यान्य देश इस जनतन्त्र के उदाहरण हैं।

जी हाँ, वहाँ समाजवादी समाज-रचना को पलटकर फिर से पूँजीवादी समाज व्यवस्था का लानेवाली शक्तियों को स्वातन्त्र्य नहीं है।

मनुष्य में एक बहुत बडी शक्ति है—विकृत करने की शक्ति। व्यापक सामाजिक प्रभाव रखनेवाले मार्गों और उनके प्रवर्तकों के विचारों को विकृत रूप में रखकर, उस विकृत रूप को सचाई के नाम पर प्रचार किया गया है—चाहे वह बौद्ध धर्म हो या ईसाई मत। या वह कोई अन्य भारतीय और अभारतीय धर्म हो। एक विशेष अनुकूल परिस्थिति पाकर, विकारकर्त्ता अपनी एतत्सम्बन्धी विकृतियों को फैलाते हैं।

इन विकृतियों को जन चेतना द्वारा ही दूर किया जा सकता है। शिक्षित, सुसंस्कृत, आत्मगौरवपूर्ण मानव (व्यक्ति नहीं), मनुष्य ऐसा मनुष्य जो समाज में तद्वत् हो गया हो, जिसने समाज का स्वकीयीकरण कर लिया हो, उसका परकीयीकरण—इतरीकरण—न किया हो—ऐसा मनुष्य ही अपने सामाजिक प्रभाव और सामूहिक कार्यों से उन विकृतियों को रोक सकता है। समाजवाद का विकृतीकरण हो सकता है हुआ है। और भविष्य में भी सम्भव है

ऐसा क्यों ? इसलिए कि वहाँ भी द्वन्द्व स्थिति है। इस द्वन्द्व-स्थिति से छुटकारा नहीं। अन्तर केवल यह है कि मनुष्य ने मानव परिस्थिति पर अब तक जो-जो और जितनी-जितनी विजय पायी है उसके उच्चतम स्तर पर चल रही वह द्वन्द्व-स्थिति है। आदिम कबीलेवाली सभ्यता के द्वन्द्व से, दास-सभ्यतावाले द्वन्द्व से, सामन्ती सभ्यता में चल रहे द्वन्द्व से, पूँजीवादी-औद्योगिक स्थिति में चल रहा द्वन्द्व जिस सभ्यता-स्तर का द्वन्द्व है, वह सभ्यता-स्तर पूर्वतर सभ्यता-स्तरों से अधिक विकसित इस अर्थ में है कि मनुष्य ने अपनी परिस्थितियों पर पूर्वतर सभ्यतावाले स्तर के मनुष्य की अपेक्षा अधिक विजय पायी है।

द्वन्द्व-स्थिति म होता यह है कि किसी एक विशेष पक्ष (पहलू) पर, या उसके किसी एक विशेष कोण पर ही अधिक दृष्टिक्षेप होता है, और शेष पक्षो पर या शेष कोणो पर केवल एक सामान्य दृष्टि, सरसरी नजर, ही डाली जाती है। इस का कारण यह है [कि] यह द्वन्द्व स्थिति मानव-जगत् की द्वन्द्व-स्थिति होने मे, द्वन्द्व करनेवाले विशिष्ट प्रयोजनो से उन दृष्टियो का सम्बन्ध होता है। ज्ञान प्रयोजनो से सीमित और परिसीमित होता है। परिणामत, द्वन्द्व-स्थिति बदलते ही हमे अपने बौद्धिक उपादानो अर्थात् सिद्धान्तो मे आवश्यक सशोधन करना पडता है। यथार्थ के निकटतम पहुँचने के लिए, प्रयोजन के अनुसार उसमे उचित और आवश्यक दिशा म परिवर्तन करने के लिए, हमे अपनी चेतना मे भी यथार्थानुगत सशोधन करना पडता है। इसीलिए अनवरत अध्ययन, अनुसन्धान, और प्रयोग की आवश्यकता होती है।

हा, यह सही है कि प्रयोगो मे गलती हो सकती है। भूलें हो सकती हैं। किन्तु उसके बिना चारा नही है। यह भी सही है कि कुछ लोग अपने प्रयोगो से इतने मोहबद्ध होते हैं कि वे उसमे हुई भूलो से इनकार करके उन्ही भूलो को जारी रखना चाहते हैं। वे अपनी भूलो स सीखना नही चाहते। अत वे जडवादी हो जाते हैं।

जडवाद कई तरह से प्रकट होता है। वह अध्यात्म का जामा पहनकर आता है, और भौतिकवाद का भी। व्यक्तित्व और ज्ञान नया कुछ सीखने स इनकार कर देता है। परिणामत, उसमे ह्रास के लक्षण अधिकाधिक होते जाते हैं। महापुरुषो और दिग्गजो का, काव्य प्रवृत्तियो का, विचारधाराओ का, क्रमश ह्रास हम इसी तरह से दखने म आता है। उनकी जमीन खिसकने लगती है। वे इतने ऊँचे हो जाते है कि जमीन खिसकते-खिसकते वे सिर्फ आसमान मे लटक जाते हैं। विगतकाल मे कमायी हुई अपनी पूँजी का वे केवल यश और प्रभाव-रूपी ब्याज खाते रहते हैं। ऐसे न मालूम कितने ही मृत ज्वालामुखी हमे जीवन-क्षेत्र मे दिखायी देते हैं, जो अभी भी बडे ऊँचे और प्रभावशाली बनकर क्षितिज सीमान्तो पर तने हुए है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रयोग और अनुसन्धान के नाम पर अब तक मानव-जाति को प्राप्त हुए ज्ञान का, अर्थात् सिद्धान्त व्यवस्था का अस्वीकार किया जाये। इसका अर्थ यह नही है कि प्रयोग के नाम पर यथार्थ-सगत कल्पनाओ और धारणाओ को, सिद्धान्तो को, समाप्त कर दिया जाये। इसका अर्थ यह है कि बदली हुई परिस्थिति मे परिवर्तित यथार्थ के नये रूपो का, उनके पूरे अन्त सम्बन्धो के साथ, अनुशीलन किया जाये, उनको हृदयगम किया जाय। चेतना को अधिकाधिक यथार्थ-सगत बनाने के लिए अतिशय सवेदनशील, जिज्ञासु तथा आत्म निरपेक्ष मन की आवश्यकता होती है।

चूँकि यथार्थ गतिशील है, इसलिए उसके गति-नियमो का अनुशीलन करना आवश्यक है। नव-नवीन उन्मेषो मे व्यक्त यथार्थ से विमुख रहकर, या उसकी उपेक्षा करते हुए, अथवा उसका निरादर करते हुए, पुराने सिद्धान्तो की व्याख्या तथा पुनर्व्याख्या द्वारा उसे निन्दित करना मुझे अवैज्ञानिक और अनुचित मालूम होता है।

ये सिद्धान्त, निस्सन्देह किसी काल मे किसी यथार्थ के किन्ही विगत रूपो स,

सघर्ष कराती है, सृजन कराती है। यह आवश्यक नहीं है कि यह सृजन कला के क्षेत्र मे ही हो। वह वास्तविक कर्म-जीवन मे भी सृजनशील होती है।

कला के अन्तर्गत आस्था या आदर्श-भावना अनुभवात्मक रूप से प्रकट होती है। वह सवेदनात्मक आत्म-चिन्तन या विश्व चिन्तन के रूप मे व्यक्त होती है। वह मनुष्य के मनोमय जीवन का अंग है। वह प्रयोगवादी तथा नयी कविता के क्षेत्र म भी अनेक स्थानो पर देखी जा सकती है।

किन्तु प्रश्न यह है कि लेखक क्या प्रकट करने के लिए आतुर है? आस्था के जीवन-मार्ग पर चलते हुए भी, लेखक स्थान स्थान पर, समय-समय पर, दु ख, उद्विग्नता, तीव्र आक्षेपपूर्ण आलोचन-भावना, निराशा, वैकल्य, आत्मालोचन और मुमुक्षु भाव प्रकट करता है। यह आवश्यक नही है कि लेखक स्वय, आस्था के मार्ग पर चलते हुए, अपनी आस्थाओ का रूप-स्वरूप और उसकी रूपरेखा या रूपचित्र प्रस्तुत करे। हाँ, यह सही है कि उसकी भावनाओ म से वह आस्था किसी-न किसी रूप से झलक मलक उठती है।

अतएव जब हम किसी कलाकार मे आत्मगत भावो की कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रधानता, तथा उसकी आस्थाओ की रूपरेखा या रूपचित्र की अप्रधानता या अभाव देखत हैं तो जल्दबाजी मे यह निर्णय ले लेते है कि लेखक ने अपने आदर्श-लक्ष्य या आस्था को, मूल्य-भावना को केवल बौद्धिक रूप से ग्रहण किया है। मेरा अपना खयाल है कि इस प्रकार के निर्णय सही नही हैं।

यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि काव्याभिव्यक्ति अभ्यास सिद्ध होती है। एक विशेष प्रकार की भाव-दशाओ की बारम्बारता इतनी प्रबल हो जाती है कि वह अपनी काव्यात्मक शब्दावली विकसित करती है, अपनी अभिव्यक्ति पद्धति विकसित करती है। लेखक जब इस या ऐसे ही आधार पर अपनी अभिव्यक्ति-पद्धति विकसित कर लेता है, तब वह अभिव्यक्ति पद्धति स्वय ही दृढ और जड हो जाती है। वह फिर अपनी उस अभिव्यक्ति पद्धति की पकड से छूट नही सकता, जब तक कि वह अनवरत रूप से अभ्यास न करे। उसके चगुल से छूटने का परिणाम यह होता है कि उसम दूसरे प्रकार के भाव — जिसम आदर्श-भावना या आस्था भी शामिल है—प्रभावशील रूप से व्यक्त नहीं हो पाते।

किन्तु कलाकार की यह एक अवस्था विशेष ही है। वह उसको पार करके आगे बढ सकता है अर्थात सवेदनमय जीवनानुभव-सम्पन्न आस्था-चित्र अथवा मूल्यात्मक जीवन विवेचन, जीवन समीक्षा प्रस्तुत कर सकता है, करता भी है। किन्तु ये सब बातें लेखक की वास्तविक जीवन-यात्रा म हो रहे उसके वैयक्तिक विकास की दशाओ और दिशाओ पर निर्भर हैं।

दिशा और उस ओर जाता हुआ पथ, दोनो सही है। दिशा हमेशा आगे ही रहेगी, साथ-साथ नही चलेगी। हाँ, उसकी सवेदनाएँ साथ साथ चलेंगी। किन्तु क्षितिज हमेशा आगे ही रहेगा। उसी प्रकार अन्तरात्मा के आग्रह और अनुरोध हमेशा आगे आगे ही रहेगे, और लेखक उनका अनुगमन करेगा, और उनका अनुगमन करते हुए भी यह सोचता रहेगा कि उसने अपने आग्रह लक्ष्यो को उपलब्ध नही किया। वह इस चिन्तन से दुखी भी होगा, दु ख प्रकट भी करता रहेगा। इस प्रकार लक्ष्य और उपलब्धि के बीच जो फासला है, यह आतुर मन के लिए बराबर बना रहता है, क्योकि लक्ष्य स्वय गतिमान है, मनुष्य की अपनी गति ही

के कारण । निष्कर्ष यह कि इन तथ्यो को देखे बिना समीक्षक लेखक की भाव-सरणि पर जो आक्षेप करते हैं, वे मुझे उचित प्रतीत नही होते ।

[रचनाकाल अनिश्चित। नयी कविता का आत्मसघर्ष मे सकलित]

सौन्दर्यानुभूति और जीवन-अनुभव

जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मानसिक द्रवण के उत्कर्ष के क्षण को सौंदर्यानुभूति का क्षण कहा गया है। कलाकार का मुख्य धर्म यह है कि वह इस क्षण का चित्रण करे तथा उसकी सुन्दर आकृतियो को उपस्थित करे। उस क्षण पर कोई बाहरी दबाव न हो। जीवनानुभूतियाँ सौन्दर्यानुभूतियो से पृथक् और स्वतन्त्र होती हैं। उन दोनो के अपने-अपने स्तर हैं, उनकी कोटियाँ भिन्न-भिन्न हैं। अतएव, कलाकार से यह अनुरोध करना कि तेरी कविता मे अमुक प्रकार की जीवनानुभूति या जीवन दृष्टि नही है, या तेरे काव्य म यह होना चाहिए या वह —इस प्रकार के अनुरोध कलाकार के स्वातन्त्र्य मे विघ्न डालते हैं। इस प्रकार के अनुरोध अगर साम्यवादी मनोवृत्ति के सूचक हो तो रेजिमेंटेशन की सम्भावना होती है। यदि कलाकार जीवन-जगत् के अन्य क्षेत्रो मे काम करना चाहता है या करता है, अथवा उन क्षेत्रो सम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है या करता है, तो वह एक ज्ञान पिपासु मानव अथवा एक उत्तरदायी नागरिक की हैसियत से, न कि एक कलाकार की हैसियत से। कलाकार की उसकी स्थिति तभी उपस्थित होती है जब वह सौन्दर्यानुभूति के क्षणो मे रमता है और कलात्मक कृतियाँ उपस्थित करता है।

प्राय उपर्युक्त प्रकार की मनोभूमि और तत्सम्बन्धित सौन्दर्यवादी सिद्धान्त नयी कविता के क्षेत्र से किये गये शीत-युद्ध की उपज हैं। और चूँकि वे एक विशेष प्रकार की मनोवृत्तिवाले कवियो के कुछ आन्तरिक आग्रहो को सन्तुष्ट करते थे, इसलिए उनका प्रचार भी काफी हुआ और अभी भी उनका पर्याप्त प्रभाव है। इसलिए आवश्यक यह है कि हम उनकी गहराई से जाँच करें।

पहली बात तो यह है कि कला का प्रसव सौंदर्यानुभूतियो के क्षण मे ही होना है, यह एक अनिवार्य नियम नही है। यदि सचमुच वैसा होता तो महाकाव्य और खण्डकाव्य न लिखे जाते। तुलसीदासजी रामायण न लिख पाते। एजरा पाउण्ड अपने लम्बे काण्ड न लिख पाता। आधुनिक प्रदीर्घ काव्य केवल मानसिक द्रवण के क्षण के उत्कर्ष-रूप नही लिखे गये हैं। आधुनिक अमरीकी कवियों ने भी बहुत लम्बी कविताएँ लिखी हैं वे क्षण की अनुभूति के घेरे मे नही बाँधी जा सकती। सच बात तो यह है कि टी एस ईलियट जिस दान्ते को महान मानता है, उसका काव्य भी क्षण का काव्य नही है। क्यो नहीं है ? इसलिए कि क्षण इतने दीर्घ, विस्तृत, मनन और क्रमागत नही होते। यह अनिवार्य नियम नही है कि कागज-कलम हाथ मे लेते ही वे क्षण उपस्थित हो, अथवा वे क्षण उपस्थित होते ही कला-

कृति का प्रादुर्भाव हो और वह बनती चली जाय, और जब तक वह न बने तब तक मानसिक द्रवणकारी सौन्दर्यानुभूतियों के क्षणों का ताँता बना रहे। संक्षेप में, कलाकृति के रचना-कार्य में, सौन्दर्यानुभूतियों की इतनी गतिमानता या वारम्वारता या दीर्घकालिकता नहीं रहती जितनी कि बतायी जाती है।

वास्तविक स्थिति कुछ और ही है। सच तो यह है कि सौन्दर्यानुभूति के क्षण रास्ते चलते भी हो सकते हैं, और कागज-कलम हाथ में लेते ही लुप्त भी हो सकते हैं। संक्षेप में, *कलाकार को अपनी कलाकृतियों की रचना के लिए सौन्दर्यानु*भूतियों के क्षण की प्रतीक्षा करने की, उस पर सर्वथा निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं होती है। उसका एक अर्थ यह भी है [कि] मानसिक द्रवण के क्षण का वास्तविक चित्रण अंशतः ही होना है, क्योंकि अभिव्यक्ति के दौरान में मूल सौंदर्यानुभूति के तत्त्व बदलते जाते हैं और उसमें नये तत्त्व समाते जाते हैं।

प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि कलात्मक चेतना का विस्तार रचना-काल तक सीमित नहीं, वरन्, मुख्यतः, उस काल के बाहर होता है। रचना-काल और सौन्दर्यानुभूति एक-दूसरे का पर्याय हो भी सकते हैं, नहीं भी हो सकते हैं। मुख्य बात यह है कि सौन्दर्यानुभूतियों का काल, मुख्यतः, रचना-काल के बाहर ही होना है। दूसरे शब्दों में, कलात्मक चेतना का विस्तार जीवन-जगत् में विचरण करते हुए, संवेदनात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए, होता है। एक कलाकार, चाहे वह युद्ध के किसी मोर्चे पर काम कर रहा हो, या बाल-बच्चों के लिए रोटी पका रहा हो, चूल्हा फूँक रहा हो, मंच पर भाषण दे रहा हो, या मुहल्ले-मुहल्ले में जाकर जन-संगठन कर रहा हो, वह श्मशान भूमि में हो या

उन्हीं क्षेत्रों के अन्तर्गत, न केवल एक उत्तरदायी व्यक्ति बन सकता है, वरन् एक

मानव चरित्र में, गहरी मानवीय अनुरक्ति रखने से बनी हुई होती है। मनुष्य चाहे समुन्दर पर तैर रहा हो, या खदानों में काम करता हो या और कुछ, उसकी कलात्मक चेतना स्वयं सक्रिय रह सकती है, अपने कलात्मक ज्ञान की वृद्धि कर सकती है। कलात्मक चेतना मनुष्य के हृदय की वह मूल बद्ध दृष्टि है, जो उसके अन्तर्बाह्य जीवन के क्षेत्र में पाये हुए अनुभवों और अनुरोधों को कल्पना द्वारा मूर्त्त और उद्दीप्त करती हुई, उसकी आत्मा में जीवन-रस का संचार करती है। यह कलात्मक चेतना दस साल के बालक से लेकर सत्तर-अस्सी साल के वृद्ध तक में हो सकती है।

निःसन्देह, सौन्दर्यानुभूति और वास्तविक जीवन अनुभूति में गुणात्मक अन्तर होता है। किन्तु यह सौन्दर्यानुभूति कलाकृति के रचना काल में ही सतत रूप से होती रहे, यह आवश्यक नहीं है। सौन्दर्यानुभूति यदि रचना काल के बाहर वास्तविक जीवन में गहरे अन्तरानुभवों के रूप में न हो, या न होती रहे, तो रचना के

तत्त्व पुष्ट नही होंगे, रचना-काल भी खिन्न-सा रहेगा । जिस कलाकार के जीवन-क्षेत्र में सौन्दर्यानुभूतियों की बारम्बारता अल्प है, क्षीण है, उस कलाकार की रचना भी बहुत-कुछ उथली और थोथी रहेगी, भले ही उसकी रचनाओ की आकृति और रूप जितना सुन्दर रहे । कलाकृति की रचना मे सारा व्यक्तित्व लगा होना चाहिए, न कि केवल मन का एक अश । यह व्यक्तित्व यदि सौन्दर्यानुभूतियो से सम्पन्न हो तो वह कला समृद्धि प्राप्त करेगी ।

किन्तु कलाकार के व्यक्तित्व की समृद्धि वास्तविक जीवन-जगत् मे होती है । यह व्यक्तित्व बाल्यकाल ही से अन्तर के आग्रहो द्वारा विभिन्न सौन्दर्यानुभवो से सम्पन्न होता जाता है । सक्षेप मे, कलाकार का अपना एक विशेष स्वभाव होता है। इस स्वभाव से उसका छुटकारा नही। यह स्वभाव, यह प्रकृति, जीवन-जगत् मे कार्य करती हुई अपने सस्कारो, मनोवृत्तियो, जीवन-लक्ष्यों, आदि-आदि के अनुसार जीवन जगत् का आभ्यन्तरीकरण करती जाती है ।

इसी स्थल पर आकर कलाकार के स्वभाव ही का नही, वरन् कलाकार की परिस्थिति और उसके चरित्र का प्रश्न उठता है। बहुतेरे ऐसे कलाकार होते हैं, जो अपने आभ्यन्तरीकृत (सवेदना-रूप-स्थित) जगत् का त्याग करके उन भाव-चित्रको की पाँत मे खडे हो जाते हैं जिन्होने साहित्यिक वातावरण बनाया है, और एक विशेष प्रकार की साहित्यिक कृतियो का चलन पैदा कर दिया है। फलत , यश-प्राप्ति के लिए, या, कहिए कि, मान्यता-प्राप्ति के लिए, अथवा, यो कहिए कि किसी-न किसी प्रकार साहित्यिक वातावरण के साथ अपना सयोजन करने के लिए, वे ऐसे साहित्यिक पैटर्न को अपनाते हैं, जिसमे उनके आभ्यन्तरीकृत जीवन-जगत् के सवेदना रूपो का वास्तविक अकन भले ही न हो, किन्तु चूँकि वे पैटर्न चलते हैं, चालू हैं, इसीलिए वे उन्हे अपनायेंगे । सक्षेप मे, वे उस समस्या को जन्म देते है जिसे हम 'दुहरा जीवन' कहेंगे। एक वह, जो उनके काव्य-साहित्य मे मन स्थिति रूप मे प्रकट होता है, दूसरा वह, जो उनके भीतर ही-भीतर चलता रहता है । जिन्दगी दुहरी हो जाती है । हर बात दुहरी हो जाती है। दृष्टिकोण दुहरा, आत्माभिव्यक्ति दुहरी । एक वह, जो दिखाने के लिए है, दूसरी वह, जो छिपाने के लिए और भीतर-ही-भीतर भोगने के लिए है। अपने ही आभ्यन्तरीकृत जीवन-जगत् के सवेदना-रूपो और आभ्यन्तरीकृत यथार्थ के बिम्बो को प्रकट करने का यदि उसने साहस भी किया, तो भी उसके छक्के छूट जाते हैं, क्योकि जिस पैटर्न को अभ्यासवश, उसने प्राप्त किया है, उस पैटर्न मे वे समा नही सकते । यदि उन्हें सचमुच प्रकट करना हो, तो अपने भीतर ही एक क्रान्ति लानी होगी, जीवन-दृष्टि मे, कलाभिरुचि मे, कला-सिद्धान्त मे और मुख्यत अभिव्यक्ति-गठन और पैटर्न मे । इसके लिए हमारा लेखक तैयार नही है, क्योकि उसके लिए वह सुकर नही है । अभिव्यक्ति की निपुणता या कला-कौशल का उसने बहुत सकुचित अर्थ ग्रहण किया है।

साहित्यिक शिल्प का औचित्य वह तब मानता है जबकि वह सूक्ष्म रसाभि-व्यजक महक या उत्तेजक धूम को प्रकट करने मे सहायक हो । यदि ऐसा नहीं है तो वह उसके किसी काम का नही । पैटर्न का सशोधन न करना, न करते रहना, कला शिल्प का अत्यन्त सकुचित अर्थ ग्रहण करना, कलाकार के चरित्र के ह्रास का एक लक्षण है ।

कलाकार के चरित्र के ह्रास का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्षण भी है। वह है, आभ्यन्तरीकृत जीवन-जगत् के प्रति उदासीन होते हुए, उस बाह्य वास्तविक जीवन-जगत् में विचरण करते हुए भी, *उसकी विशेषताओं, समस्याओं, प्रभावों* और उसकी प्रेरणाओं आदि से मुँह मोड लेना, अभिव्यक्ति के क्षेत्र से उन्हें दूर रखना, और साथ ही यह कहना कि वे सौन्दर्यानुभूति के क्षेत्र से बाहर होते हैं। किन्तु क्या सचमुच सौन्दर्यानुभूतियाँ बाह्य जीवन-जगत् के क्षेत्र से विच्छिन्न और दूर होती हैं? क्या उसने कभी भी अपनी वास्तविक सौन्दर्यानुभूतियों को समझने का प्रयत्न किया है?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्यानुभूति क्या है? नि सन्देह, कलात्मक साहित्यिक दृष्टि से, गुलाब के सौन्दर्य का आस्वादन करना सौन्दर्यानुभूति नहीं है, अथवा स्नेहालिंगन में बँधकर काम-सवेदना प्राप्त करना सौन्दर्यानुभूति नहीं है। सौन्दर्यानुभूति वास्तविक जीवन के भोग का पर्याय नहीं है। दूसरे शब्दों में, जीवनानुभूति सौन्दर्यानुभूति नहीं। प्रेमालिंगन भी सौन्दर्यानुभव नहीं है। न प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन ही सौन्दर्यानुभव है। सौन्दर्यानुभव अर्थात कलात्मक अनुभव के लिए, मनुष्य को क्षण-भर के लिए ही क्यों न सही, अपनी दृष्टि बदलनी पड़ती है। आत्म-बद्ध दशा के भीतर रहकर जो हमारी दृष्टि होती है, वह बद्धता से मुक्ति की दशा में प्राप्त दृष्टि से भिन्न है। सक्षेप मे, क्षण भर के लिए ही क्यों न सही, आत्म-बद्ध दशा से बाहर जाने, अर्थात् अपने पार जाने, या इस जिन्दगी से जरा हटकर दृष्टि का कोण बदलने के उपरान्त बाह्य-प्रत्यक्ष अथवा मानस-प्रत्यक्ष में भीगने और रमने से ही आत्म-बद्धता से रहित वह मुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है, जब हमारे मन का स्वतन्त्र सचरण होता है और सवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, *उद्दीप्त कल्पना-शक्ति जीवनानुभवों को विशेष पैटर्न्स में उपस्थित करती* हुई उन्हें सवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति की ओर ले जाती है। यह सौन्दर्यानुभूति रास्ते चलते भी हो सकती है। किसी करुण दृश्य को देखकर, हमारे हृदय में जो आन्दोलन होता है, वहाँ यदि मन का स्वतन्त्र सचरण होने लगे, और कल्पना उद्दीप्त होकर उसमें, क्षण-मात्र के लिए ही क्यों न सही, हम डूब जायें, तो नि सन्देह वहाँ हमें सौन्दर्यानुभव प्राप्त होगा।

[अपूर्ण। रचनाकाल अनिश्चित]

आत्म-वक्तव्य

कलाकार के चरित्र के ह्रास का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्षण भी है। वह है, आभ्यन्तरीकृत जीवन-जगत् के प्रति उदासीन होते हुए, उस बाह्य वास्तविक जीवन-जगत् में विचरण करते हुए भी, उसकी विशेषताओं, समस्याओं, प्रभावों और उसकी प्रेरणाओं आदि से मुँह मोड़ लेना, अभिव्यक्ति के क्षेत्र से उन्हें दूर रखना, और साथ ही यह कहना कि वे सौन्दर्यानुभूति के क्षेत्र से बाहर होते हैं। किन्तु क्या सचमुच सौन्दर्यानुभूतियाँ बाह्य जीवन-जगत् के क्षेत्र से विच्छिन्न और दूर होती हैं? क्या उसने कभी भी अपनी वास्तविक सौन्दर्यानुभूतियों को समझने का प्रयत्न किया है?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्यानुभूति क्या है? निःसन्देह, कलात्मक साहित्यिक दृष्टि से, गुलाब के सौन्दर्य का आस्वादन करना सौन्दर्यानुभूति नहीं है, अथवा स्नेहालिंगन में बँधकर काम-संवेदना प्राप्त करना सौन्दर्यानुभूति नहीं है। सौन्दर्यानुभूति वास्तविक जीवन के भोग का पर्याय नहीं है। दूसरे शब्दों में, जीवनानुभूति सौन्दर्यानुभूति नहीं। प्रेमालिंगन भी सौन्दर्यानुभव नहीं है। न प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन ही सौन्दर्यानुभव है। सौन्दर्यानुभव अर्थात् कलात्मक अनुभव के लिए, मनुष्य को क्षण-भर के लिए ही क्यों न सही, अपनी दृष्टि बदलनी पड़ती है। आत्म-बद्ध दशा के भीतर रहकर जो हमारी दृष्टि होती है, वह बद्धता से मुक्ति की दशा में प्राप्त दृष्टि से भिन्न है। संक्षेप में, क्षण भर के लिए ही क्यों न सही, आत्म-बद्ध दशा से बाहर जाने, अर्थात् अपने पार जाने, या इस जिन्दगी से ज़रा हटकर दृष्टि का कोण बदलने के उपरान्त बाह्य-प्रत्यक्ष अथवा मानस-प्रत्यक्ष में भीगने और रमने से ही आत्म-बद्धता से रहित वह मुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है, जब हमारे मन का स्वतन्त्र संचरण होता है और संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार, उद्दीप्त कल्पना-शक्ति जीवनानुभवों को विशेष पैटर्न्स में उपस्थित करती हुई उन्हें संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति की ओर ले जाती है। यह सौन्दर्यानुभूति रास्ते चलते भी हो सकती है। किसी करुण दृश्य को देखकर, हमारे हृदय में जो आन्दोलन होता है, वहाँ यदि मन का स्वतन्त्र संचरण होने लगे, और कल्पना उद्दीप्त होकर उसमें, क्षण-मात्र के लिए ही क्यों न सही, हम डूब जायें, तो निःसन्देह वहाँ हमें सौन्दर्यानुभव प्राप्त होगा।

[अपूर्ण। रचनाकाल अनिश्चित]

आत्म-वक्तव्य

आत्म-वक्तव्य : एक

मालवे के विस्तीर्ण मनोहर मैदानों में से घूमती हुई क्षिप्रा की रक्त भव्य सांझें और विविध-रूप वृक्षों की छायाएँ मेरे किशोर कवि की आद्य सौन्दर्य प्रेरणाएँ थीं। उज्जैन नगर के बाहर का यह विस्तीर्ण निसर्ग-लोक उस व्यक्ति के लिए जिसकी मनोरचना में रंगीन आवेग ही प्राथमिक हैं, अत्यन्त आत्मीय था।

उसके बाद इन्दौर में प्रथमतः ही मुझे अनुभव हुआ कि यह सौन्दर्य ही मेरे काव्य का विषय हो सकता है। इसके पहले उज्जैन में स्वर्गीय रमाशंकर शुक्ल के स्कूल की कविताएँ—जो माखनलाल स्कूल की निकली हुई शाखा थी—मुझे प्रभावित करती रहीं, जिनकी विशेषता थी बात को सीधा न रखकर उसे केवल सूचित करना। तर्क यह था कि उसमें वह अधिक प्रबल होकर आती है। परिणाम यह था कि अभिव्यंजना उलझी हुई प्रतीत होती थी। काव्य का विषय भी मूलतः विरह-जन्य करुणा और जीवन दर्शन ही था। मित्र कहते हैं, कि उनका प्रभाव मुझ पर से अब तक नहीं गया है। इन्दौर में मित्रों के सहयोग और सहायता से मैं अपने आन्तरिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ और पुरानी उलझन-भरी अभिव्यक्ति और अमूर्त करुणा छोड़कर नवीन सौन्दर्य-क्षेत्र के प्रति जागरूक हुआ। यह मेरी प्रथम आत्म चेतना थी।

उन दिनों भी एक मानसिक संघर्ष था। एक ओर, हिन्दी का यह नवीन सौन्दर्य काव्य था, तो दूसरी ओर मेरे बाल-मन पर मराठी साहित्य के अधिक मानवतामय उपन्यास-लोक का भी सुकुमार परन्तु तीव्र प्रभाव था। तॉल्सतॉय के मानवीय समस्या सम्बन्धी उपन्यास या महादेवी वर्मा? समय का प्रभाव कहिए या वय की माँग, या दोनों, मैंने हिन्दी के सौन्दर्य लोक को ही अपना क्षेत्र चुना, और मन की दूसरी माँग वैसे ही पीछे रह गयी जैसे अपने आत्मीय राह में पीछे रहकर भी साथ चले चलते हैं।

मेरे बाल मन की पहली भूख सौन्दर्य, और दूसरी विश्व मानव का सुख-दुःख—इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी। इसका स्पष्ट वैज्ञानिक समाधान मुझे किसी से न मिला। परिणाम था कि इन अनेक आन्तरिक द्वन्द्वों के कारण एक ही काव्य विषय नहीं रह सका। जीवन के एक ही बाजू को लेकर मैं कोई सर्वाश्लेष दर्शन की मीनार खड़ी न कर सका।

साथ ही जिज्ञासा के विस्तार के कारण कथा की ओर मेरी प्रवृत्ति बढ़ गयी। इसका द्वन्द्व मन में पहले ही से था। कहानी-लेखन आरम्भ करते ही मुझे अनुभव हुआ कि कथा-तत्त्व मेरे उतना ही समीप है जितना काव्य। परन्तु कहानियाँ मैं बहुत ही थोड़ी लिखता था, अब भी कम लिखता हूँ। परिणामतः, काव्य को मैं उतना ही समीप रखने लगा जितना कि स्पन्दन। इसीलिए काव्य को व्यापक करने की, अपनी जीवन सीमा से उसकी सीमा को मिला देने की, चाह दुर्निवार

होने लगी। और मेरे काव्य का प्रवाह बदला।

दूसरी ओर, दार्शनिक प्रवृत्ति—जीवन और जगत् के द्वन्द्व—जीवन के आन्तरिक द्वन्द्व—इन सबको सुलझाने की, और एक अनुभव-सिद्ध व्यवस्थित तत्त्व-प्रणाली अथवा जीवन-दर्शन आत्मसात् कर लेने की, दुर्दम प्यास मन में हमेशा रहा करती। आगे चलकर मेरी काव्य की गति को निश्चित करनेवाला सशक्त कारण यही प्रवृत्ति थी। सन् 1935 मे काव्य आरम्भ किया था, सन् 1936 से 1938 तक काव्य के पीछे कहानी चलती रही। 1938 से 1942 तक के पाँच साल मानसिक संघर्ष और बर्गसोनीय व्यक्तिवाद के वर्ष थे। आन्तरिक विनष्ट शान्ति के और शारीरिक ध्वंस के इस समय में मेरा व्यक्तिवाद कवच की भाँति काम करता था। बर्गसों की स्वतन्त्र नियमाण 'जीवन-शक्ति' (elan vital) के प्रति मेरी आस्था बढ़ गयी थी। परिणामत, काव्य और कहानी नये रूप प्राप्त करते हुए भी अपने ही आस-पास घूमते थे, उनकी गति ऊर्ध्वमुखी न थी।

सन् 1942 के प्रथम और अन्तिम चरण मे मैं एक ऐसी विरोधी शक्ति के सम्मुख आया, जिसकी प्रतिकूल आलोचना से मुझे बहुत-कुछ सीखना था। शुजालपुर की अर्द्ध-नागरिक रम्य एकरसता के वातावरण में मेरा वातावरण भी—जो मेरी आन्तरिक चीज है—पनपता था। यहाँ लगभग एक साल मे मैंने पाँच साल का पुराना जड़त्व निकालने की सफल-असफल कोशिश की। इस उद्योग के लिए प्रेरणा, विवेक और शान्ति मैंने एक ऐसी जगह में पायी, जिसे पहले मैं विरोधी शक्ति मानता था।

क्रमश मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ। शुजालपुर मे पहले-पहले मैंने कथातत्त्व के सम्बन्ध में आत्मविश्वास पाया। दूसरे, अपने काव्य की अस्पष्टता पर मेरी दृष्टि गयी। तीसरे, नये विकास-पथ की तलाश हुई।

यहाँ यह स्वीकार करने में मुझे संकोच नही कि मेरी हर विकास-स्थिति में मुझे घोर असन्तोष रहा, और है। मानसिक द्वन्द्व मेरे व्यक्तित्व मे बद्धमूल है। यह मैं निकटता से अनुभव करता आ रहा हूँ कि जिस भी क्षेत्र मे मैं हूँ वह स्वयं अपूर्ण है, और उसका ठीक-ठीक प्रकटीकरण भी नहीं हो रहा है। फलत, गुप्त अशान्ति मन के अन्दर घर किये रहती है।

लेखन के विषय मे

मैं कलाकार की 'स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति' (माइग्रेशन इन्सटिंक्ट) पर बहुत जोर देता हूँ। आज के वैविध्यमय, उलझन से भरे, रंग-बिरंगे जीवन को यदि देखना है, तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एक बार तो उड़कर बाहर जाना ही होगा। बिना उसके, इस विशाल जीवन समुद्र की परिसीमा, उसके तट-प्रदेशों के भूखण्ड, आँखों से ओट ही रह जायेंगे। कला का केन्द्र व्यक्ति है, पर उसी केन्द्र को अब दिशा-व्यापी करने की आवश्यकता है। फिर युग-सन्धि काल में कार्यकर्त्ता उत्पन्न होते हैं, कलाकार नही, इस धारणा को वास्तविकता के द्वारा गलत साबित करना ही पड़ेगा।

मेरी कविताओं के प्रान्त-परिवर्तन का कारण है यही आन्तरिक जिज्ञासा। परन्तु इस जिज्ञासु-वृत्ति का वास्तव (ऑब्जेक्टिव) रूप अभी तक कला में नहीं

पा सका हूँ। अनुभव कर रहा हूँ कि वह उपन्यास द्वारा ही प्राप्त हो सकेगा। वैसे काव्य मे जीवन के चित्र की — यथा वैज्ञानिक 'टाइप' की—उद्भावन की, अथवा तीव्र विचार की, अथवा शुद्ध शब्द-निर्माणक, कविता हो सकती है। इन्हीं के प्रयोग मैं करना चाहता हूँ। पुरानी परम्परा बिलकुल छूटती नहीं है, पर वह परम्परा है मेरी ही और उसका प्रसार अवश्य होना चाहिए।

जीवन के इस वैविध्यमय विकास-स्रोत को देखने के लिए इन भिन्न-भिन्न काव्य-रूपों को, यहाँ तक कि नाट्य-तत्त्व को, कविता मे स्थान देने की आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि इसी दिशा मे मेरे प्रयोग हों।

मेरी ये कविताएँ अपना पथ ढूँढनेवाले बेचैन मन की ही अभिव्यक्ति हैं। उनका सत्य और मूल्य उसी जीवन-स्थिति मे छिपा है।

[तारसप्तक (1944) मे प्रकाशित]

आत्म-वक्तव्य : दो

अपनी जिन्दगी के पिछले वर्षों की ओर मुड़कर देखना सम्मोहक भले ही हो, वह काफी मुश्किल काम है। मुश्किल इसलिए कि हम आगत मे प्राप्त भावनाओं की दृष्टि से विगत की ओर देखने लगते हैं, जिससे होता यह है कि हम विगत की प्रकृति, उसके अन्त स्वभाव के प्रति अन्याय करने की ओर प्रवृत्त भी हो सकते हैं। यह सम्भावना, नि सन्देह, एक ऐसा खतरा है जिस पर ध्यान जाना और जिससे सँभलकर रहना जरूरी है। जीवन नित्य विकासमान है। किन्तु, विकास की वर्तमान अवस्था से आच्छन्न होकर, विगत की प्रयासशील प्रगति के··· [यहाँ पाण्डुलिपि मे दो पृष्ठ अप्राप्य हैं। स] संघर्षशील और परिवर्तनशील विश्व की चेतना थी, किन्तु साथ ही, उनका प्रथम और अन्तिम आश्रय, अधिकतर, उनका अपना 'व्यक्ति' था, और इस प्रथम और अन्तिम के बीच जगत् पसरा हुआ था।

उनका अपना एक आदर्शवाद था। उस आदर्श के तत्त्व विभिन्न कवियों के लिए भले ही भिन्न-भिन्न रहे हों, उनमे से कइयों ने अपने-अपने आदर्शों की प्रेरणा से अपने स्वार्थों के पैरों पर कुल्हाड़ी मार ली थी। दूसरे शब्दों मे, वे उसी जमाने मे तथाकथित सासारिक सफलता प्राप्त कर सकते थे। किन्तु उनकी जीवन-जगत्-सम्बन्धी सवेदना उन्हें अपने-अपने वर्ग से और समाज से सामजस्य स्थापित नहीं करने देती थी। 'शिक्षा विवाह-नौकरी-सफलता-यश' के क्रमश विकसित होते हुए दरवाज रास्ते पर वे नहीं चले। फलत, वे बेतनाव और अनबने के एक लम्बे-दौर मे से गुजरे। उन्होंने अपनी जिन्दगी मे अजीबोगरीब खतरे उठाये। उन्हें असाधारण परिस्थितियों और मन स्थितियों का सामना करना पड़ा। वे 'काव्य मे प्रयोग' के पूर्व, वस्तुत, अपने-आप पर ही प्रयोग कर रहे थे, अपनी जिन्दगी पर ही प्रयोग कर रहे थे। जब वे अपने जीवन को ही सस्थापित न कर सके तो वे साहित्यिक क्षेत्र में अपने को कैसे प्रस्थापित करते ! शायद उन्हें उसका मोह भी न था। असल मे, उनमे से अधिकतर अपने पितृ-गृह को त्याग चुके थे। वे दो

पीढियो के मघर्ष के एक ध्रुव थे। और उस सघर्ष की धारा मे सामाजिक, राज-नैतिक और व्यक्तिगत सघर्ष आ मिले थे। जीवन अपनी सचेत सर्व-साधारणता मे असाधारण हो उठा था, उसकी अनवस्था मे एक व्यवस्था उत्पन्न हो रही थी। जिज्ञासा, सम्मोह, साहस, कौतूहल, निष्ठा और तत्परता जिन्दगी को नये नये क्षेत्रों मे ले जाती। कभी यह जिन्दगी शिखर पर चढ जाती और मजा आ जाता। कभी वह निचले अँधेरे खड्डे मे जा गिरती, और नैराश्यमूलक उत्तेजना सर पर सवार हो जाती। अपने-अपने व्यक्तित्व-चरित्र और स्वभाव के अनुसार, तार-सप्तक के कवि अपना-अपना सघर्ष कर रहे थे।

तारसप्तक का वह जमाना था। तब उस वेदना के पास कोई लाउडस्पीकर न था, कोई मच न था, कोई प्रवक्ता भी न था, पब्लिसिटी के कोई साधन भी न थे। तारसप्तक के कवि, एक-दूसरे से अलग-अलग, पृथक-पृथक्, एक-दूसरे से दूर और स्वतन्त्र रूप से, अपनी-अपनी मौलिक शैलियो को ढाल रहे थे। केवल *नम्रता से वशीभूत होकर ही उन्होंने अपने काव्य को 'प्रयोग' कहा था।*

यद्यपि तारसप्तक दुनिया को आप्लावित न कर सका, उसकी कविताओ का जमाना बहुत ही महत्त्वपूर्ण युग था। सन् 1939 से लेकर 1942 तक की मेरी कुछ *कविताएँ उसमे सग्रहीत है। सन् 43 म वह पुस्तक प्रकाशित हुई। दूसरा सप्तक* के प्रकाशन तक का काल नयी कविता के लिए अन्धकार युग था। किन्तु वह अन्धकार-युग बहुत ही ज्योतिष्मान था। वे बडी कठिनाइयो के दिन थे। वह बहुत *ही साहस का जमाना था। यद्यपि तारसप्तक के कवि अलग अलग जगह रहते* थे, फिर भी वे, अदृश्य सवेदना के सूत्रों से परस्पर बँधे हुए थे।

तारसप्तक की मेरी कविताएँ मुझे अभी भी प्रिय हैं, उनमे मौलिक द्रव्य का कच्चापन और अनगढपन है। उनमे कहीं चुनौती का, कही निष्ठा का, कहीं प्रश्न और जिज्ञासा का, कहीं सघर्ष का स्वर है। तारसप्तक की मेरी कविताओ के विषय अभी भी नये हैं। अगर मैं यह बताऊँ कि वे कविताएँ मुझे क्या प्रिय हैं, तो उसमे मेरी ही तारीफ हो जायेगी। केवल इतना कह दूँ कि मेरी इन कविताओं मे से केवल नैराश्यमूलक कविताओ को लेकर ही मेरी कठोर आलोचना की गयी। यह गलत था।

किन्तु मेरी वर्तमान काव्य प्रवृत्तियो के रूप-गुण तारसप्तक की कविताओ मे नहीं पाये जाते। जिसे मैंने 'अन्धकार युग' कहा है वह मेरे लिए काफी महत्त्व-पूर्ण रहा है। सन् 1943 के जमाने से लेकर सन् 52 53 के काल-खण्ड मे जो जीवन ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ, वह नही होना चाहिए था। मानव-मूल्य गिरते जा रहे थे, मनुष्य-सम्बन्ध गँठीले और उलझे हुए हो रहे थे, छोटी छोटी और अत्यन्त तुच्छ बातो के लिए घनघोर सघर्ष हो रहा था। महत्त्व, प्रतिष्ठा, पद प्राप्ति के पीछे बडी बडी 'प्रतिभाएँ' पडी हुई थी। तारसप्तक की कविताओं के जमाने मे ही, हमने अपने आस-पास जो जीवन-जगत् पाया था, उसके कण्ठ-रोधक रूप-स्वरूप के प्रति हमने अस्वीकार का भाव जताया था। किन्तु आगे चलकर तो *परिस्थिति और भी बिगड गयी। अवसरवादी सामजस्य करने का हमारा स्वभाव* न था। किन्तु अब तो जीने ही के लाले पड गये थे।

मानव-सम्बन्धो की इस गिरावट के जमाने मे, मेरी कविता की सारी इमेजरी—बिम्ब माला—विकसित हुई। उसमे घने और काले, लाल और नीले,

जामनी और बैंगनी रग हैं। इन कविताओं मे से अधिकाश अप्रकाशित हैं। यह
[illegible] कहना चाहूँगा
जो प्रकाशमान
। दृश्य और
अदृश्य महस्रों कोमल स्पर्शों ने सयुक्त रूप से मन की रचना कर डाली। ये स्पर्श जिन ज्वलन्त जनों के हैं, वे कम नही, अनगिन हैं। उन्ही के सहारे अनवस्था व्यवस्था-बद्ध होने लगी। वेदना सोचने के लिए बाध्य हुई। सवेदना डिफरेंशियल कैलक्युलस करने लगी। तब कहीं उसे मालूम हुआ कि ऋजु-रेखा, वस्तुत, वक्र-रेखा का ही एक विशिष्ट उदाहरण मात्र है, और प्रकृति एक-धन-एक-बराबर-दो के गणितिक नियम को, अनिवार्यत, स्वीकार नही करती।

तो मतलब यह कि तारसप्तक की कविताओ के अनन्तर, मनुष्य-सम्बन्धो की गिरावट के भीषण दृश्यो के बीच भी, मुझे कोई ध्रुव सा प्राप्त हो गया था। तत्कालीन कविताओ मे, जो नया साहित्य, प्रतीक तथा हस मे प्रकाशित हुई, इस तथ्य का स्पष्ट इगित है। राजनैतिक सामाजिक क्षेत्र के अध पतन-सम्बन्धी कविता, जो मैंने बगाल के अकाल पर लिखी, नया साहित्य मे प्रकाशित हुई। इसी सम्बन्ध मे एक कविता हस मे भी निकली, जो तीन-तीन पक्तियो की है। इसी भीषण परिवेश मे, इस स्याह परिपार्श्व मे, मेरे मन के भीतर ग्लानि, दुख, और व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध मे निराशा का भाव रहना स्वाभाविक ही था। ऐसी ही किसी भीषण मन स्थिति मे, इलाहाबाद के प्रतीक मे मेरी एक कविता प्रकाशित हुई, जो मुझे अभी भी अत्यन्त प्रिय है। वह है, 'मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं।' एक बेकार का मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत करती हुई एक कविता हस मे प्रकाशित हुई। वह भी मेरी अत्यन्त प्रिय कविताओं मे से है। परिवार के भीतर उत्पीडन, शोषण, विषमता और अत्याचार के जो दृश्य दिखायी देते हैं, उनसे विक्षुब्ध होकर मैंने एक कविता लिखी थी, किसी से। इस शीर्षक के अधीन वह कविता हंस मे प्रकाशित हुई। वे सब कविताएँ, जो तारसप्तक के प्रकाशन के अनन्तर निकली हैं, उस ज़माने की है जब विक्षोभ मेरा एक स्थायी भाव हो गया था। उन दिनो दूसरा सप्तक के कवि इधर-उधर छिट-पुट दिखायी देते थे।

यद्यपि, आगे के वर्षों मे धीरे-धीरे मेरी कविता के काले रग घुलने लगे, किन्तु मेरी इमेजरी बढती ही गयी। विषय भी विभिन्न और विस्तृत होते गये। यहाँ तक कि सन् 52-53 के आगे मेरी कविताओ ने अपना रूपाकार बढा लिया। यद्यपि पहले की कविताएँ बहुत छोटी न थी, किन्तु अब की तो, वस्तुत प्रदीर्घ हो उठी।

यह सब क्यो हुआ? इमेजरी क्यो बढने लगी? विषय क्यो विस्तृत हुए? कविताएँ क्यो प्रदीर्घ हो उठी? इसका उत्तर देना मेरे बस का काम नहीं है। मेरे लिए, वस्तुत, यह एक सवाल ही है।

मैं उन सौभाग्यशाली व्यक्तियो मे से हूँ, जिसे अपने गली-कूचे मे रहनेवालो का स्नेह प्राप्त हुआ। वे मेरी ही भाति छोटी-छोटी हस्तियाँ हैं। किन्तु उनके पेचीदा सघर्ष, अथाह प्रेम करने का उनका हार्दिक सामर्थ्य, और बौद्धिक जिज्ञासा के साथ-ही-साथ, उनकी साहसिक पहल, उनकी रोमैण्टिक कल्पना, उनकी

राजनैतिक आशा-आकांक्षाएँ, उनके समाजनैतिक स्वप्न मेरे चारों ओर चक्कर लगाने लगे। मेरी परिस्थिति अब विस्तृत हो गयी, वह फैलकर मैदान बन गयी, मैदान बनकर फैलती हुई वह पूरी पृथ्वी बन गयी। मेरी चहारदीवारी अब पीछे-पीछे हटने लगी और क्षितिज में विलीन होती हुई दिखायी दी। चेहरे अब सुन्दर हो उठे। मनोहर ज्योति से चमकती आँखें अब मुझसे बातचीत करने लगीं। उनमें से एक अरुण दीप्तिमान मुख ने मेरे व्यक्तित्व पर लगे हुए ज़माने के रहे-सहे कीचड़ को भी धो डाला। मैं एकबारगी मुक्त और स्वतन्त्र हो उठा।

यह एक नया जीवन्त वास्तव था। इस वास्तव में संघर्षशील मनुष्य की अनगिनत परिस्थितियाँ, मन स्थितियाँ और वस्तु स्थितियाँ थीं। उन्हें कुछ व्यापक सामान्यीकरणों में ढालकर काव्य-रूप देने की आवश्यकता थी। मैंने उस दिशा में शक्ति-भर कोशिश की है। प्रदीर्घ कविताएँ उसी की उपज हैं। मैं चाहता हूँ कि आगे इसी काव्य-प्रकार को और भी अधिक सुधारूँ। उसमें अधिक दीप्ति और प्रकाश लाऊँ। मैंने इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर एक लम्बी प्रणय-सम्बन्धी कविता भी लिखी है।

यह बात सन्देह के परे है कि सच्चा आशावाद मनुष्य की ज्वलन्त वास्तविक उष्मा से उत्पन्न होता है, केवल भविष्य-स्वप्न से नहीं।

आज की परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि जब कष्ट-ग्रस्त मानव-श्रेणी को अपने उद्धार का रास्ता स्वयं अपने हाथों बनाना होगा। निःसन्देह, इस मानव-श्रेणी की राजनीति और समाजनीति टुच्ची-ओछी स्वार्थग्रस्त राजनीति नहीं है। उसके पास न केवल एक विश्व स्वप्न है, वरन् विश्व के क्रान्तिकारी अनुभवों का एक खज़ाना भी है। भले ही हिन्दी साहित्य में इस परम्परा का व्यापक विकास न हुआ हो, किन्तु इस परम्परा की प्रेरणा कुछ हृदयों को तो आकुल कर ही सकती है।

आज के मेरे-जैसे कवि के सामने मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि शिल्प का विकास किस प्रकार किया जाये, वरन् यह है कि जीवन तथा हृदय पर नित्य आघात-प्रत्याघात करनेवाले कारणों को किस प्रकार समेटा जाये। उन्हें किस प्रकार काव्य में रूपबद्ध किया जाये। वास्तविकता तो यह है कि आज के ज़माने में मेरे लिए मुख्य प्रश्न कॉण्टेंट की कमी और शिल्प के आधिक्य का नहीं, वरन् कॉण्टेंट के अतिरेक और शिल्प की अपर्याप्तता का है। इसीलिए, मेरी मुख्य समस्या यह है कि कॉण्टेंट के वैविध्य को किस प्रकार समेटा जाये, किस प्रकार उसे रूपबद्ध किया जाये।

तारसप्तक के इस नये संस्करण में, मैं अपनी एक ताज़ा कविता सम्मिलित कर रहा हूँ। उसके सम्बन्ध में एक विशेष निवेदन यह है कि इस कविता में जान-बूझकर जो रूपक बाँधा गया है, वह साभिप्राय और सोद्देश्य है। भारत के कुछ सक्रिय राजनैतिक क्षेत्रों में—जिसका कि मुझे व्यक्तिगत निजी अनुभव है—जनता को ढोर समझा जाता है। साथ ही उससे भय भी अनुभव किया जाता रहा है। हाँ, यह रुख या भाव अख़बारों से, मंच से, नहीं प्रकट किया जाता, अथवा ड्राइंगरूमों में भी नहीं बताया जाता। यह भाव प्रकट किया जाता है, निजी बैठकों में, निजी मण्डली में। शासक-वर्गों के इस लोक-भय से विक्षुब्ध होकर ही, 'लकड़ी का रावण' शीर्षक कविता लिखी गयी है। हाँ, कविता की शैली नितान्त आत्म-परक है, और तथाकथित प्रगतिशील व्याख्याकार यह अर्थ लगा सकते हैं कि मैं

उस भावना का भागी हूँ। किन्तु कोई भी मर्मज्ञ पाठक इस कविता के वस्तु-सत्य तक सहज पहुँचकर निर्णय कर सकता है।

[तारसप्तक के दूसरे संस्करण के लिए लिखा गया किन्तु अप्रकाशित वक्तव्य। रचनाकाल सम्भवत 1963-64]

आत्म-वक्तव्य : तीन

पिछले बीस वर्षों में न मालूम कितनी बातें घटित हुई है। वे सबके सामने हैं। मेरी अपनी जिन्दगी जिन तग गलियों में चक्कर काटती रही, उन्हें देखते हुए यही मानना पडता है कि साधारण श्रेणी में रहनेवाले हम लोगों को अस्तित्व-संघर्ष के प्रयासों म ही समाप्त होना है। मेरा अपना प्रदीर्घ अनुभव बताता है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की वास्तविक स्थिति केवल उनके लिए है जो उस स्वातन्त्र्य का प्रयोग करने के लिए सुपुष्ट आर्थिक अधिकार रखते हों, जिससे कि वे परिवार सहित मानवोचित जीवन व्यतीत कर सकें, और साथ ही व्यक्ति स्वातन्त्र्य का ऐसा प्रयोग भी कर सकें जो विवेकपूर्ण हो और लक्ष्योन्मुख हो। अपने जीवन के आर्थिक आधार को दृढ और सुपुष्ट करने के लिए व्यक्ति के व्यवसायीकरण का मार्ग भी सामने आता है। मेरे लेखे यह अत्यन्त अनुचित मार्ग है और कम-से-कम मैं उसे कभी स्वीकार नहीं कर पाया, लेकिन वह मार्ग तो सामने आता ही है और व्यवसायीकरण-व्यापारीकरण का दबाव तो तीव्रतर होता जाता है। सच तो यह है कि व्यक्ति की सच्ची आत्म-परीक्षा, उसकी आध्यात्मिक शक्ति की परीक्षा, का सबसे प्रधान समय, उस इम्तिहान का सबसे नाजुक दौर, यही आज का युग है।

जीवन और परिवेश की विषमता की यह स्थिति आभ्यन्तर लोक में भी दु स्थिति उत्पन्न करती है, यह एक दारुण सत्य है। मैं कहूँ कि यह मेरा अपना भी सत्य है। परिणामत, स्वाधीनता के इस युग म मेरी कविता सघन बिम्ब-मालिकाओं में अधिकाधिक प्रकट होने लगी। अचानक अन्तर्मुख दशाएँ और भी दीर्घ और गहन होती गयी। किन्तु यह भी एक तथ्य है कि इस आत्मग्रस्तता के बावजूद और शायद उसको साथ लिये लिये मेरा आत्म-सवेदन समाज के व्यापकतर छोर छूने लगा। कविता का कलेवर भी दीर्घतर होता गया। परिणामत, मेरी कविताएँ कदाचित् मासिक पत्र-पत्रिकाओ म प्रकाशन के योग्य भी नहीं रह गयी।

यहाँ जो नयी कविता दी जा रही है, और जो सन् 1963 की ही रचना है, अपेक्षाकृत छोटी है। इससे और छोटी रचनाएँ शायद मैं अब लिख नहीं सकता। भाव प्रकृतियों के खयाल से यह कविता मेरा प्राय सर्वांगीण प्रतिनिधित्व करती है। जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, वह मेरी इस टिप्पणी को और आगे बढाती है और कदाचित् उसके बाद यह टिप्पणी भी अनावश्यक हो जाती है।

[तारसप्तक के दूसरे सस्करण (1966) में प्रकाशित। रचनाकाल 1963]

नयी कविता एवं मेरी रचना-प्रक्रिया

यह विषय मेरे लिए नया है। कोई सोच नहीं सकता कि वह किस तर्ज से लिखता है। आधुनिक काव्य की जो रचना-प्रक्रिया है उस पर निर्णय लेना पाठकों का कार्य है। आधुनिक यथार्थ के कुछ बिम्ब आधुनिक काव्य-प्रक्रिया के अंग हैं। जिस तरह की काव्यधारा चली, या जैसी शैली चली, उसका प्रभाव मुझ पर भी पड़ा। कारण कुछ भी हो वह नहीं सकता, शायद इसलिए कि हिन्दी साहित्य के बड़े-बड़े केन्द्रों से मेरा निकट का सम्बन्ध रहा या और भी कुछ। फिर सारी स्थितियों के घात-प्रतिघात भी रचना-प्रक्रिया का अंग बनते हैं।

सामाजिक संवेदन का प्रभाव शैली पर पड़ता है। आधुनिक काव्य प्रक्रिया पर भी यह प्रभाव है ऐसा मैं मानता हूँ। अद्यतन प्रवृत्ति उसमें है कि नहीं, [मैं नहीं] कह सकता। जिनका प्रभाव हम सब पर होता है उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया लेखक पर, कवि पर भी होती है। वह प्रतिक्रिया न केवल मेरी कविता बल्कि नयी काव्य-प्रक्रिया पर भी है।

शैली आदि की बात छोड़ दीजिए। साधारण तौर पर मेरे मन में यदि किसी बात की प्रतिक्रिया होती है तो क्षण दो क्षण के लिए [नहीं] होती, बल्कि वह परिस्थिति काफी देर तक बनी रहती है, एक विशेष प्रकार का परिवेश बना रहता है। मैं काफी दिनों तक चिंतन एवं संवेदनात्मक स्थिति में डूबा रहता हूँ। उदाहरण के तौर पर, गत वर्ष मेरी एक पुस्तक जब्त हो गयी। तत्काल कोई गहरी प्रतिक्रिया नहीं हुई। मुझ पर तुरन्त कभी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, और होती भी है तो काव्य रूप में नहीं। और यदि मैं उसे काव्य रूप में प्रगट करूँ तो असफल हो जाऊँगा। पुस्तक जब्त होने की प्रक्रिया अभी कुछ दिन पूर्व अकस्मात हुई और कविता की कुछ पंक्तियाँ बनीं

> जल रही है लाइब्रेरी
> पासिपालिस की
> मैंने सिर्फ नालिश की
> मैंने सिर्फ नालिश की
> अँधेरी जिस अदालत में''

[illegible]

स्ट्रक्चर बन जाता है। कविता के पूर्ण हो जाने पर पूर्ण शांति मिलती है।

लेकिन जब तक यह विश्वास नहीं हो जाता कि जो कुछ मुझे कहना था वह कविता में कह सका हूँ, तब तक शांति नहीं मिलती। यही कारण है कि मेरी बहुत-सी कविताएँ प्रकाशित नहीं हुईं। बहुत-सी रचनाएँ अधूरी पड़ी हैं। जिन्हें जानता हूँ कि व्यर्थ हैं, उन्हें खतम करता जाता हूँ।

मानव-मन या मानव-मूल्य पर चोट पहुँचानेवाली कोई बात होती है तो संवेदनशील चिन्तन मन-ही-मन चलता रहता है। बिम्ब रूप पूरा कैसे होगा,

यह नहीं सकता, पर डूब जाऊँ तो शाखा-प्रशाखा अपने आप निकलती जाती है और पूरी बात, पूरा चित्र आ जाता है। कहाँ तक प्रभावोत्पादक है—मैं नहीं जानता। इस सम्बन्ध में मेरी स्थिति बहुत दुविधाजनक है, क्योंकि मैं कवि के साथ ही-साथ आलोचक भी हूँ और जो कवि आलोचक भी होता है उसकी ऐसी-की तैसी हो जाती है।

कुछ कमजोरियाँ भी हैं। कभी-कभी लगता है यह कमजोरी नहीं है। वस्तुतः, मैं बिना चित्र प्रस्तुत किए, लिखता नहीं। यदि लगता है कि मेरा चित्र यथार्थ नहीं है तो नहीं लिखता। कोई भी विचार यदि अभिभूत कर देता है तभी ठीक से लिख पाता हूँ।

मैं कविता में लय को आवश्यक मानता हूँ। इससे कुछ-न-कुछ नियन्त्रण रहता है। कविता में विन्यास बड़ी बात है, बिम्ब से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है विन्यास। कथ्य शृंखलाबद्ध रूप में आना चाहिए। विन्यास तब तक ठीक नहीं होगा जब तक शृंखला न हो। कवि-कर्म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विन्यास से अंकुश रहता है। भाव इधर-उधर भटकते नहीं। अंकुश इसलिए जरूरी है कि सही-सही बिम्बों को बाँधकर रखना है। कविता पूरी हो जाने के बाद विन्यास किया जा सकता है। मेरा यह अपना खयाल है। मैं तो उसे एक स्तर से देखता हूँ। विन्यास का वास्तविक स्वरूप सामने सुषुप्त अवस्था से जाग्रत अवस्था में आने पर आता है। मेरी बहुत-सी कविताएँ मुझे अधूरी लगती हैं। ढूँढ़ता हूँ तो लगता है कोई बात और थी जो इसमें नहीं है। इसी प्रक्रिया को कुछ आलोचकों ने कृत्रिमता बताया है। मैं इस आरोप को नहीं मानता। तत्वगत, आकारगत संवेदना आ जाय तभी कविता पूर्ण होती है।

[17 दिसम्बर 1963 को आयोजित परिसंवाद में वक्तव्य। रिपोर्ट जबलपुर समाचार, 5 जनवरी, 1964 में प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसंघर्ष, दूसरा संस्करण 1983 में और अब रचनावली में पहली बार दूसरे संस्करण से संकलित]

नयी कविता और उसकी पृष्ठभूमि

आधुनिक हिन्दी कविता में यथार्थ

हिन्दी जिस रफ्तार से दिन-दिन आगे बढती जा रही है, उसका साहित्य जिस गति के साथ विकसित हो रहा है, उसको देखते हुए हमे कहना पडता है कि आधुनिक काव्य-काल बहुत दिनो तक रहेगा, क्योकि वह मानव-जीवन के ऐसे-ऐसे अमर तत्त्वो से सजीवित हो उठा है, जो हमे नित्य उसके प्रति (उस तत्त्व के प्रति) सत्य-निष्ठ और श्रद्धायुक्त बनाये रखता है। हम जीवन के प्रति अधिकाधिक प्रामाणिक होते जा रहे हैं। हमारी कल्पना हमे नील गगन के अथाह शून्य मे भटकाती नही, वरन् जीवन को उसके यथार्थ स्वरूप मे ग्रहण कराते हुए उस ओर उठा ले जाती है।

एक दृष्टि से देखा जाये तो प्रसाद-पन्त-महादेवी का काल समाप्त हो चुका है। उनकी कल्पना-शक्ति और भावनाओ की गूढता इत्यादि बातें, मेरे खयाल से, पुरानी हो गयी हैं।

गुप्तजी अब शान्त हैं, और पुराने ढर्रे के कवि प्राचीन हो चुके हैं। आजकल हमे ऐसे कवियो की जरूरत महसूस होती है जो मानव-जीवन की एकता के साथ ही, उसके वविध्य से भी अत्यन्त निकटता से परिचित हो, जो वैविध्य को हवा मे उडाकर अरूप एकता के आकाश मे मुक्त न फिरें, किन्तु वैविध्य के संघर्षात्मक संसर्ग से उत्पन्न मानवीय मनोभावो की उत्कटता मे अपने को लीन करते हुए, उसी एकता के दर्शन करायें, अर्थात् वे मानवता के अधिक निकट रहे।

पन्त-प्रसाद-महादेवी का सौन्दर्य-दर्शन और उनकी गूढता तत्कालीन ब्रज-भाषा की स्थूल सौन्दर्यगत कविता की इष्ट प्रतिक्रिया थी। भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण के प्रभाव से हिन्दी कविता, नवीन शब्दावली मे व्यञ्जनीकरण के नये ढंग के साथ, प्राचीन दार्शनिक आदर्श को नवोत्फुल्ल सौन्दर्य-दृष्टि से पहचानते हुए, अधिक आन्तरिक होकर आधुनिक हो गयी थी।

किन्तु फिर भी वह अपने को प्राचीन से मुक्त न कर सकी। वह अधिक स्वप्न-शील थी, और नीहारवत् चरम सत्य के पीछे स्वयं नीहारमय हो गयी थी। जीवन की यथार्थता से स्वतन्त्र होकर, एकान्त मे कला-साधक होकर, विश्व के साथ तन्मयत्व प्राप्त करना ही कवियो का आदर्श हो गया। मानव-जीवन की ओर उनकी पहुँच कल्पना द्वारा होने से, उसके कल्याण की तडप के अभाव मे, उन्होंने प्राचीन दार्शनिक आदर्श की सहायता लेकर कविता की। अलौकिक की ओर उनकी कल्पना का प्रयास लौकिक की उपेक्षा पर खड़ा था।

अर्थात् समय की आवाज उनके कानो पर न पहुँची। हिन्दुस्तान की विस्तरण-शील आत्मा को भुलाकर अपना एकाकी मार्ग तय करना, उन्होंने अपना धर्म समझा और अपने सुपीरियर ईगो की माया मे स्वयं को जगत् से अलग रखा।

मानव-मस्तिष्क की गति प्रतिक्रियाशील है। छायावादी धूमिलता और जीवन की ओर कल्पना द्वारा पहुँच की भी प्रतिक्रिया शुरू है। फलस्वरूप 'नवीन',

'नेपाली', 'वच्चन', 'दिनकर', 'अज्ञेय' इत्यादि कवि एक पक्ति मे खडे हैं। नये कुछ-एक, जैसे प्रभाकर माचवे वगैरह, अपनी निश्चित दिशा लिये धीरे-धीरे इसी श्रेणी मे आ रहे हैं।

'नवीन' नये और पुराने दोनो हैं। किन्तु उनकी कविता की आत्मा की गति

यथार्थवादी है। समय से स्फूर्ति प्राप्त कर उन्होने भारतीय क्रान्ति के गीत गाय

आज पान देते ही देते छलका नयनो मे पानी।
देख तुम्हारी यह आकुलता मेरी मति-गति अकुलानी॥

'दिनकर' 'नवीन' से कुछ अधिक चित्रकार हैं। ग्रामीण या अन्य चित्रो के द्वारा ही उन्होंने अपनी भावनाओ को प्रकट किया, अर्थात् उनकी काव्यात्मा ने जीवन के कुछ विस्तृत कोनो को छू लिया। भारत के चित्र ही हमे भारत से बद्ध करायेंगे। 'दिनकर' की न केवल प्रवृत्ति यथार्थवादी है, परन्तु कला भी वही है। वीरेन्द्रकुमार भी इस सौन्दर्यगत यथार्थवाद से अलग नही। वे वास्तव मे सौन्दर्य-चित्रो से ही अरूप भावना-लोक मे परिभ्रमण कर रहे हैं, अर्थात् अत्याधुनिक काल के कवियो ने वास्तव की उपेक्षा न की। 'नेपाली' की कविता इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। 'अज्ञेय' भारत की विकसनशील सस्कृति के मुख्य अगो मे से एक अग, अर्थात् कर्मण्यता, का प्रतिनिधित्व करते हैं। हिन्दुस्तान की बलवान आत्मा यदि दर्शन, कविता, विज्ञान, को उपलब्धि के लिए पोषक समझती है, तो कर्म को भी वह महत्त्व देती है। आधुनिक सास्कृतिक उत्थान के लिए कर्म भी उतना ही अपरिहार्य है जितना कि बौद्धिक और भावनात्मक पक्ष। सम्पूर्ण विकास को दृष्टि मे रखते हुए, हमे 'अज्ञेय' की तेजस्विता सुन्दर परिणाम के लिए सहायक प्रतीत होती है।

आधुनिक भारतीय जीवन विश्व-जीवन के झकोरो से सवेदित है। राजनैतिक जागरण सास्कृतिक उत्थान का केवल एक पक्ष है। आधुनिक भारतीय अपने-आपको अन्य देशीय लोगो से बिलकुल भिन्न नही पाता। क्या बौद्धिक और क्या भावनात्मक पक्ष मे, हम शैले, वर्ड्सवर्थ, शॉपेनहॉर, नीत्शे, काण्ट, हेगेल, फिश्टे, शेलिंग, मार्क्स, क्रोपाटकिन, अनातोले फ्रास, रोम्याँ रोलाँ, मेरेडिथ, हार्डी, लैम्ब, स्टीवेंसन, येटस, टैगोर, गाधी, टॉल्सटॉय, खैयाम, कालिदास से अलग अनुभव नही करते। हमने इन्ही लोगों मे बहुत-कुछ स्वीकार किया है। विश्व-साहित्य इतना विस्तृत और अपार है कि मानवीय-व्यक्तीकरण की कलात्मकता और उसके अध्यात्म की गहराई पर आनन्दाश्चर्य होता है। हिन्दुस्तान भी विश्व की सस्कृति का उत्तराधिकारी है। उसकी सस्कृति इसलिए विश्वात्मक होना चाह रही है।

हम प्रगति की ओर यत्नशील हैं। मानवीय आत्मा स्वभावत प्रगतिशील होती है। हमारे पूर्वगामी कविगण का भी हमारी उन्नति मे काफी हाथ है। हम उनके कन्धो पर खडे होकर विश्व देख रहे हैं।

मैं आपसे पहले कह चुका हूँ कि अत्याधुनिक काव्य-धारा वास्तव को अत्यन्त सहानुभूति से देखती है। लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि वह गद्यात्मिका

(प्रोजेक) है। नहीं, बात इससे बिल्कुल उल्टी है। वह अत्यन्त मानवीय है। पन्त प्रसाद, महादेवी का रोमैण्टिक युग समाप्त नहीं है, केवल उसकी दिशा मे थोडा सा परिवर्तन है।

'बच्चन' का निशा-निमन्त्रण अत्याधुनिक इसलिए है कि उसमे जितनी उत्तमता से यथार्थ के प्रति भावनात्मक रिश्ते का दिग्दर्शन कराया गया है, वह हिन्दी साहित्य-जगत् मे दुर्लभ है। भावनाओ के लिए अन्त करण और उसकी कल्पनादि वृत्तियाँ ही काफी नहीं हैं बल्कि स्व-बाह्य ससार और उसकी निज-पर प्रतिक्रियाओ की सघर्षात्मक भिन्नता का विस्तृत और अधिक उन्नत अन्त-करण मे परिवर्तन कर देना इष्ट है। यथार्थवाद का यही महत्त्व है। फिर अपने 'स्व' मे और स्व बाह्य जगत् मे कोई अन्तर नही रह जाता। बच्चन के लिए स्व-बाह्य कल्पना से अधिक महत्त्वपूर्ण है। रगीन कल्पना का आश्रय न लेकर, विचार या तर्क को भी त्यागकर, बच्चन की भावनाएँ बाह्य को आत्मसात् करना चाहती हैं। यथार्थवाद का आध्यात्मिक अर्थ यही है, और इसीलिए यथार्थवादी लेखक जीवन के प्रति अधिक उदार रहे हैं।

'बच्चन' अपनी उत्तमता से कुछ अशो मे जब गिरते हैं, तब यह आध्यात्मिक धरातल उनके लिए बुरे अर्थ मे अपना कुछ खो बैठता है। जब विचार या तर्क को तलाक देकर, कल्पना के रँगीलेपन से बाज आकर, असन्तुष्ट भावनाएँ सन्तोष के लिए आत्मलीन होने के बजाय बाहर दौडती फिरती हैं, तब सिवा भाग्यवाद के कोई वाद आश्रय नही दे सकता। मैंने एक जगह कही लिखा है

',मनुष्य साधारणत मानस की ऊपरी सतह पर रहता है। उसकी विविध इच्छाएँ, अभिमान, बौद्धिक ज्ञान भी इसी छिछले पानी मे पनपने से उसे बाह्य की ओर ले जाते हैं। बाह्य जगत् मे सन्तोष नाम की चीज नही मिल सकती। अपने अन्दर सुख टटोलने के बजाय जब मानव-मन बाहर भटकता फिरता है, तब सिवा भाग्यवाद और निराशावाद के और दूसरा वाद आश्रय नही दे सकता, क्योकि आशावाद का दूसरा नाम है 'आत्मबल'।"

मेरा दृष्टिकोण स्पष्ट है। 'बच्चन' के भाग्यवाद से आत्मोन्नति का कोई सम्बन्ध नहीं, कारण 'बच्चन' पतन-उन्नयन मे विश्वास कम रखते हैं। उनके लिए सब मानव-अन्त करण समान हैं। इसलिए उनके साहित्य मे आत्मा का प्रश्न ही नहीं उठता। उनके साहित्य की उपज आत्म-चैतन्य (सैल्फ-कॉन्शसनेस) से नही है।

स्वान्तर्जगत् और बाह्य-जगत् की विरोधी स्थिति से उठकर, उन दोनो की साम्यावस्था से जनित जो व्यापक दृष्टिकोण है, वह यथार्थवाद की आत्मा है। यथार्थवादी कला उस विरोधी स्थिति को मिटाने का प्रयत्न है, जिसको मैं आध्यात्मिक कहता हूँ। यही जब किंचित् विकृत हो जाती है, अर्थात् जब मानव-मन बाह्य को उसके स्वरूप मे न लेकर अपनी सकुचित भावनाओ को उस पर लादना चाहता है, तब, जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, मनुष्य भाग्यवादी बनता है। कहने का साराश यह है कि भाग्यवाद मनुष्य की भावनाओ के विकार से उत्पन्न है। किन्तु 'बच्चन' के साथ यही विकार उनका कुछ उपकार भी कर गया। जब 'बच्चन' की अताकिक, कल्पना-विगत, भावनापूर्ण दृष्टि ने बाह्य को देखा, तब सुख मिटनेवाला देखा और दु:ख अगाध देखा। ससार की इस स्थिति से उनका कवि-हृदय व्यापक हो गया। दुखियो के प्रति सहानुभूति की गहराई जितनी अधिक

मुझे 'बच्चन' में दिखलायी दी, उतनी, मुझे खेद है, छायावादी न दिखला सके। वास्तव संसार के दुःख के असाध्य रोग ने 'बच्चन' के हृदय को अत्यन्त व्यापक और उदार बना दिया। निशा निमन्त्रण इस दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर काव्य है। अपने दुःख से पीड़ित होकर 'बच्चन' ने संसार के दुःख के दर्शन किये। उनकी प्रिय पत्नी के निधन ने उनके हृदय को नयी आँखें दी। क्राइस्ट की जगत् के प्रति करुणामयता की तुलना 'बच्चन' की इस आर्द्रता से की जा सकती है।

'बच्चन' का भाग्यवाद भावनाजन्य है, तर्कजन्य नहीं। उनकी फिलॉसफी के लिए उनका हृदय टटोला जायगा। महादेवी वर्मा के आँसू हमारे हृदय को रुला नहीं सकते, किन्तु 'बच्चन' का निशा निमन्त्रण पढ़ते समय बरबस आँखें तर हो जाती हैं, कारण यह कि महादेवी वर्मा ने दुःखवाद का धर्म (कल्ट) बना लिया, जो उनकी कल्पना से उत्पन्न है। इसके विपरीत 'बच्चन' स्वयं रोया है, खूब, तब वह दूसरों को रुला सका।

'बच्चन' का वास्तववाद अत्यन्त मानवीय है। उसमें हमारा दिल हिला देने की शक्ति है। भावनात्मक दृष्टि से जीवन के मूल्य पहचानने का यह प्रयास है। अत्याधुनिक काल की प्रमुख धारा का इससे अधिक दर्शन आपको और कहाँ नहीं हो सकता।

यही वास्तववाद दूसरे स्वरूपों में आपको अन्य कवियों में मिलेगा। 'नवीन' में वह ओज और स्फूर्ति से युक्त मिलेगा, 'अज्ञेय' में कर्म की अथक ताकत के स्वरूप में, और 'दिनकर' में कभी करुणा, बेबसी और कभी युद्ध-भावावेश के स्वरूप में दिखलायी देगा।

हमारा प्रयत्न जीवन को उसके विविध और समग्र रूप में एक ही साथ लेकर मानव-आत्मा को दिशा-निर्देश करने में होना चाहिए। ऐसा कवि मनुष्य-जीवन का बहुत बड़ा उन्नायक होगा। पर अभी हमने पाया बहुत कम है। ब्राउनिंग कहता है

ग्रो ओल्ड एलोंग विद मी
दि बैस्ट इज़ येट टु बी
दि लास्ट ऑफ लाइफ, फॉर व्हिच दि फर्स्ट वॉज़ मेड।

[सम्भावित रचनाकाल 1940-41। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित]

आधुनिक काव्य की चिन्ताजनक स्थिति

यद्यपि यह कहा जाता है कि तनाव का, खिंचाव का काल साहित्य सृजन के लिए विशेष उपयुक्त रहा है। यह भी सत्य है कि पिछले कुछ सालों से हिन्दी-काव्य में ह्रास के लक्षण स्पष्ट दिखायी देने लगे हैं। वह युग जिसका प्रतिनिधित्व मैथिलीशरण गुप्त से लगाकर तो 'बच्चन' ने किया, अब समाप्त हुआ है। उनकी गूँजें, वही भावच्छायाएँ, वही काव्य-उपादान, थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ पत्र-

पत्रिकाओ मे प्रकाशित होनेवाली कविताओ मे मिल जाया करते हैं।

स्पष्ट है कि विगत साहित्यिक पीढी का रोमैण्टिक काव्य वर्तमान भारतीय जीवन के यथार्थ पर आधारित नही है। पिछले आठ-दस सालो से हमारी जिन्दगी मे कुछ ऐसी तबदीली हुई है, और पिछले चार-पांच सालो से उस तबदीली की रफ्तार इतनी तेज हो गयी है कि अलसायी छायाओ के उपवनो के उन्मन वातावरणो से आज हमारी आत्मा की परितृप्ति नहीं हो सकती। न उस टाइप के प्यार को लेकर, उसके अभिशापो और वरदानो तथा तत्सम्बन्धी मूक साधनाओ, मरण-त्यौहारो और अग्नि शृगारो के खिलौने से हमारी जिन्दगी म भाव-सम्पन्नता आ सकती है, वशर्ते कि हमारा काव्य कवि-गोष्ठियो मे उठते-बैठते रस बरसानेवाला काव्य न हो। आज हमारी जिन्दगी का यथार्थ हमारे साहित्य मे अपने पूरे अभिप्राय और आवेग के साथ उतरना चाह रहा है। खेद है कि हिन्दी के प्रत्यक्ष काव्य-प्रयास कुछ महत्त्वपूर्ण अपवादो को छोडकर उन्ही पुरानी गूँजो को गुँजा रहे हैं, उसी बासी गन्ध को फैला रहे है जिसका हमारे वर्तमान जीवन के यथार्थ से सामजस्य नही हो पाता।

जब तक हमारे कविगण वर्तमान यथार्थ के अभिप्राय समझ नही सकेंगे, और उन्हें समझकर उनका चित्रण नही कर सकेंगे, तब तक हमारे काव्य-साहित्य का उद्धार नही। 'दिनकर' कुरुक्षेत्र का पोथा भले ही लिख लें, और उसमे राष्ट्रवाद के नाम पर बडे शब्दो और ऊँची-ऊँची कल्पनाओं, फडकते हुए वाक्यो और धडकते हुए चित्रणो की रेल-पेल कर दिखायें, यह निश्चित है कि वही जिन्दा रहेगा जो वर्तमान यथार्थ के अभिप्रायो को समझ सके। यानी आज के प्रश्नो के सम्बन्ध मे निश्चित भावात्मक और बौद्धिक 'आउटलुक' रख सके। 'दिनकर' के बारे मे तो यह कहा जा सकता है कि वह अब पुराने खेमे का कवि हो गया है। किन्तु प्रधान प्रश्न तो उन कवियो का है जो, नवीन दृष्टिकोण का विरोध अथवा उपेक्षा करते हुए, अपने प्रयासो के डिफेन्स म इन कवियो के काव्य-उदाहरणो का प्रस्तुत करते है। यह भी निश्चित है कि जो व्यक्ति वर्तमान यथार्थ की ओर दृष्टिपात नही करता, उसमे अपनी काव्य-प्रेरणा और स्फूर्ति ग्रहण नहीं करता, और उस नारे मे प्रभावित होता है जो 'भारतीय सस्कृति' का नारा कहलाता है, तो वह व्यक्ति नवीन दृष्टिकोण (मॉडर्न आउटलुक), जनता का दृष्टिकोण, भी ग्रहण नही कर सकता। आज 'भारतीय सस्कृति' का नारा उन लोगो का है जो जनता के क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को रूसी दृष्टिकोण कहकर लोगो का ध्यान, वर्तमान जन-जीवन के यथार्थ के तकाजो से हटाते हुए, उन पुराने मायालोकों मे अटकाना चाहते हैं जहाँ अध्यात्म और विलास परस्पर चुम्बन-आलिंगनादि मे व्यस्त है। यदि 'भारतीय सस्कृति' का अर्थ जनता के अपने तकाजो और सवालो के आधार पर उसको सुसस्कृत करना होता तो वह नारा कभी गलत नही होता। किन्तु बात इससे बिलकुल उलटी है। आज जब इन्सानियत तबाह हो रही है, और कुछ तबके उसकी कीमत पर लखपति बनने की कोशिश कर रहे है, तब गरीब मध्यवर्ग के एक लेखक को 'भारतीय सस्कृति' का लुभावना नारा देकर उसे उन लोगो से हटाया जा रहा है जो उसके अपने है। यानी जो उसी की तरह तबाह है और जिनकी हालत उससे भी बदतर है, जो अपनी जिन्दगी के तकाजो के आधार पर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक लडाइयां लड रहे है। जहां भूखी जनता को अनुशासन मे रहने

की, भारतीय संस्कृति के अनुसरण की, दिन-रात नसीहत दी जाती हो, और, दूसरी ओर, बड़े मज़े से अपने सगे-सम्बन्धियों को शोषण का मज़ा लेने दिया जाता हो, वहाँ 'भारतीय संस्कृति' के नाम पर एक बहुत बड़ा फ्रॉड चला करता है। अपने शत्रुओं के पक्ष में बुद्धिजीवियों की संघर्ष-आस्था को नष्ट करने के लिए विचारों की जालसाज़ी से भरे आन्दोलनों के प्रस्ताव छोड़े जाते हैं। 'भारतीय संस्कृति' का नारा इसी का एक अंग है। गरीब मध्यवर्ग के लेखक को ऐसे सब नारों से मोर्चा लेना होगा जो प्रतिक्रियावादियों के पक्ष में से निकले हैं।

मुझसे कहा जायगा कि यह राजनीति हुई, साहित्य नहीं रहा। किन्तु वस्तु-स्थिति तो यह है कि जनता की राजनीति और जनोन्मुख साहित्य का स्रोत एक है। और वह है, आज का यथार्थ। आज का यथार्थ कोई रहस्यवादी धारणा नहीं है जिसको समझने के लिए इडा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ियों को तीव्र करना ज़रूरी हो। आज का यथार्थ जनता के जीवन का यथार्थ है जो हम स्वयं रोज़मर्रा जीते हैं। यदि हमारी काव्य-प्रेरणा वस्तुतः जनजीवन से उद्भूत हुई हो, तो जनजीवन की वर्तमान परिस्थितियाँ और उसके कष्टों का कारण भी हमारे अनुभूति-क्षेत्र का अंग होगा। अर्थात् इन्सानियत को तबाह करनेवाले रावणों, उनके सिपहसालारों और दोनों के जन-विरोधी षड्यन्त्र भी हमारी अनुभूति के अंग होंगे, यानि मात्र बौद्धिक स्तर से उतरकर वे हमारे हृदय और आत्मा के समस्त अभिप्रायों में लीन हो जायेंगे। जब वे लीन होंगे तो स्थायी भाव होगा घृणा, घृणा और भयानक घृणा! तथा उनके नाश का संकल्प! जन-जीवन के अन्य चित्रों के साथ हमारे दूसरे भाव रहेंगे। देशभक्ति का अर्थ जन-भक्ति होगा। अतएव राजनीति और साहित्य मात्र अभिव्यक्ति में भिन्न हैं। उनका मूल है आज का यथार्थ, यानी जन-जीवन का यथार्थ, उसके लक्ष्य, उसके अभिप्रेत, उसके संघर्ष।

हमारे समाज में कुछ ऐतिहासिक महा-प्रक्रियाएँ चल रही हैं। किसी-न-किसी विकास-अवस्था में दो परस्पर विरोधी तत्त्वों का संघर्ष चल रहा है। समाज के अन्तस्तल में द्वन्द्वों का यह संघर्ष ऐतिहासिक प्रक्रिया है। इस संघर्ष की तीव्रता दिन-ब-दिन गहरी होती जा रही है। संघर्ष व्यापक होता जा रहा है। जब तक हम अपनी बुद्धि, प्राण मन, हृदय और आत्मा की समस्त अनुभूति तथा शक्ति को केन्द्रित करके, उसके द्वारा इस ऐतिहासिक ज़िन्दा यथार्थ के आधार पर, जन-जीवन के चित्र नहीं खड़े करते, तब तक गरीब किन्तु बुद्धिमान लेखक के जीवन कार्य का प्रथम अनुच्छेद भी समाप्त नहीं होता। स्पष्ट है कि यहाँ हम

[illegible]

को साहित्यिक जीवन की अपनी विशेषता नहीं बनाना चाहता, जो साहित्य में कैरियरिस्ट नहीं है, यानी अपनी रचना के मूल्य के आधार पर समाज से कीमत माँगता है, न कि स्पेशल कॉन्टैक्ट्स के ज़रिये मैन्यूवर करने का प्रकट-अप्रकट हिमायती है, जो अपनी बात की पाबन्दी चाहता हो और वस्तु सत्य, चाहे वह बौद्धिक और मानसिक ही क्यों न हो, की परवाह ज़्यादा करता है, यानी वाचाल नहीं है, और अपनी ही कल्पना की पतंग नहीं उड़ाया करता है; जो अपने साहित्य-कर्म के प्रति और उसके जन-जीवन-सम्बन्धी मूल प्रेरणा-स्रोतों के प्रति अगाध

रूप से गम्भीर और ईमानदार है, या गम्भीर और ईमानदार रहने की बेहद कोशिश करता है।

स्पष्ट है कि आज का साहित्यिक जितनी गम्भीरता से अपने प्रत्येक प्रकार के उत्तरदायित्वों को सोचेगा और जीवन के समस्त रूपों के अध्ययन में रुचि और सूक्ष्मता प्रकट करेगा, उतनी ही उसकी साहित्य-शक्ति तीव्र और प्रभावोत्पादक होगी। यदि वह अपने सब्जेक्ट मैटर के यथार्थ में गम्भीरता से प्रवेश करेगा, तो न सही एक दिन के एक प्रयास में, [बल्कि] धीरे-धीरे, कदम-ब-कदम, वह पुरानी जड़ीभूत परतों को तोड़कर अपने नये साहित्य-संस्कारों को जन्म देगा, और वह हौले-हौले उसका विकास करता हुआ आगे बढ़ता चला जायेगा। प्रयास के प्रथम चरण की दुरूहता, उलझी अभिव्यक्ति-शैली तथा भावों का सामान्य स्तर, लेखक के स्वयं के अनुभवों के सहारे निखरकर हीरे और मोतियों-सी चमकती हुई भावच्छवियों और शब्द-मालिकाओं का रूप धारण कर लेगा।

कहना न होगा कि विषय के यथार्थ के यथातथ्य भावात्मक चित्रण का कार्य एक वैसा ही घोर, अविरत और सुदीर्घ संघर्ष है जैसे भारत का वर्तमान जीवन। जितना गहरा यह संघर्ष होगा, समझिये कि उतनी ही गहराई के साथ, अपने स्वयं के काव्य-उपादान लेकर, जन-जीवन का वस्तु-सत्य अपने समस्त सन्दर्भों के साथ अपनी स्वयं की मौलिक अभिव्यक्ति लिये प्रकट होना चाह रहा है। लिखते वक्त, हर ईमानदार लेखक का यह अनुभव है कि जो बात वह वस्तुतः कहना चाहता है, यानी कि जो असल बात है (जिसे वह उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ प्रकट करने के लिए आतुर है), ठीक वही किन्हीं अजीब शक्तियों के षड्यन्त्र से हाथ से निकल जाती है, और अन्य भाव, अन्य अभिव्यक्तियाँ बीच में दस्तन्दाज़ी-दरअन्दाज़ी करती हुई किसी दूसरी ओर बहा ले जाना चाहती हैं। असली बात-रूपी रुपहली मछली उसको धोखा देते हुए, जाल में आती हुई-सी लगकर भी, इधर-उधर से फिसल जाती है, और कभी-कभी तो उसे निराश हो जाना पड़ता है। कहना न होगा कि यह एक महान् और सुदीर्घ संघर्ष है। और इस संघर्ष के पीछे है वैज्ञानिक ईमानदारी, जिसकी वैज्ञानिकता का हृदय मनुष्य हृदय है, यानी वह हृदय की अनुभूति की गहरी वैज्ञानिकता है। ऐसा संघर्षी लेखक झूठे रंगों, झूठी गूँजों और नकली बातों के फेर में नहीं पड़ता, न उसके सत्य का स्टैण्डर्ड इतना नीचा होता है कि जो बात अनुभूत नहीं है उसका वह दावा करे। उसकी अनुभूति को कल्पना के पर हैं और वैज्ञानिक आँखें हैं।

किन्तु हमारे लेखक—वे प्रगतिवादी ही क्यों न हों—इस प्रकार [के] संघर्ष से बचते हैं। इसलिए वे बात के नूर के स्थान पर भड़क रंग और फिसलती हुई ज़बान और बहता हुआ स्वर अधिक पसन्द करते हैं। परिणामतः, उनकी बात अधिक रोमैण्टिक ढंग की हो जाती है। शीघ्र इफेक्ट्स देने के लिए वे थोड़ा कहने की चतुरता का इस्तेमाल करते हुए कवि कर्म से फ़ारिग़ हो लेते हैं। यदि कोई यह कहे कि वे मॉडर्न आउटलुक, जन जीवन का दृष्टिकोण रखते हुए भी ईमानदार नहीं हैं, तो इस गम्भीर सत्य का एक पहलू [यह] भी है कि जो लेखक शीघ्र परिणाम के पीछे हाथ धोकर इस प्रकार पड़ा हुआ है, वह न अपने दृष्टिकोण के प्रति ईमानदार है, न अपने कर्त्तव्य के प्रति। ऐसे लेखक, यह सच है कि, कुछ समय के लिए अपने न्याय्य-पथ पर कथन-शैली के द्वारा साहित्य-जगत् में

अपना स्थान बना लेते हैं, किन्तु उनका हो-हल्ला शोर-गुल शीघ्र ही शान्त भी हो जाता है।

मैं यह पहले भी कह चुका हूँ कि जीवन के यथार्थ के प्रति अगर यह ईमानदारी रहे, तो वह स्वय ही बोलता हुआ चला आता है। यानी, दूसरे शब्दो मे, अपने स्वय के काव्य-उपकरण लेकर उतरता है। तो उसके मानी यह हुए कि घिसे हुए उपमा-चित्रो और प्रतीकों का पजा आप-ही-आप छूट जाता है। और जीवन-यथार्थ नये काव्य मे अपनी नवीन शैली लेकर उतरता है। कहना न होगा कि छायावादी शैली वर्तमान कष्टमय सघर्षमय जन जीवन-सम्बन्धी चित्र-प्रयासो के लिए नितान्त अनुपयुक्त और बिलकुल बेकार है। फिर भी, बडी ही प्रगतिशील भाव-धारा के (कभी-कभी हमारे प्रयासों की गहराई के अभाव मे) उन्ही प्रतीकों को लेकर चलाने के लिए असख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। निश्चित और स्पष्ट है कि पुराने प्रतीकों के रगदार कॉच की खिडकियो से बाहर की असलियत के विशाल दृश्य ठीक-ठीक दीख नही पाते। यानी, यद्यपि यथार्थ खुद बोलता हुआ काव्य मे उभरना चाहता है, तथापि हमारे साहित्य-सम्बन्धी असगत सस्कार उसकी जबान की जगह उन्ही घिसी हुई उपमाओ तथा शब्दो का शोर-गुल खडा कर देते हैं। दूसरे शब्दो मे, पूर्वागत काव्य-शैली तथा भाव-शैली के घनीभूत प्रभाव के कारण नवीन यथार्थ भी अपनी भाषा को छोडकर, अपना पैटर्न छोडकर, पुराने पैटर्न मे कैद हो जाता है। अतएव, नवीन लेखक के पास पुराने प्रभावों से जूझते हुए वर्तमान जन-यथार्थ के चित्र-प्रयासो के लिए उपयुक्त पैटर्नों की प्राप्ति का भी महत्त्वपूर्ण कार्य है। सघर्षी लेखक को, नये यथार्थ की किसी पूर्वागत परम्परा के अभाव के कारण, कभी कभी अपने पैटर्नों के प्रति, और अपने प्रति उत्पन्न अविश्वास के प्रति, घोर सघर्ष करना पडता है। नवीन यथार्थ के पैटर्नों को वह सामाजिक मान्यता नही मिल पायी है।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि सघर्षी लेखक के विरुद्ध सारी स्थिति-परिस्थितियाँ आज काम कर रही हैं। चूँकि आज उसे अपना रास्ता बनाना है, यानी नये यथार्थ

अपनी भाषा और प्रतीको

लगाकर सम्पादको की

करती है, जो कि उसकी

के लेखक स्वय (यद्यपि

मे उसका ध्यान अपने

र चूँकि उसे वस्तुत जन-जीवन के विभिन्न प्रधान रूपो और प्रधान भावो को अपने भाव-विलास के क्षेत्र मे आत्मसात् करने की दीर्घ प्रक्रिया मे लीन होना है—अतएव, वैज्ञानिक ईमानदारी रखनेवाले अनुभूतिप्रवण साहित्यकार की समस्त प्रवृत्तियाँ आज कठोर सघर्ष कर रही है। इस घनघोर आस्था और अन्तत अपनी विजय मे उतनी ही घनघोर निष्ठा आज के जनवादी लेखक की पतवार है, उसका सम्बल है। यह उसका अहकार नही कि साहित्यिकों की फूहड सोसायटी उसे अरुचिकर प्रतीत होती है।

सबसे बडी बात यह है कि जिस प्रकार एक नेता न केवल जनता को नेतृत्व प्रदान करता है, वरन् वह उससे सीख और नसीहत भी ग्रहण करता है, उसी

प्रकार नये लेखक का सबसे बडा शिक्षक, सबसे बडा गुरु, और सबसे बडा वैज्ञानिक, स्वय जन जीवन और उसके दृश्य है। हमे वास्तविक जन-जीवन मे अनेक महान् व्यक्ति देखने को मिलते हैं, महान् प्रतिभाएँ दृष्टिगत होती हैं, और महान् सघर्ष और त्याग के विशाल मानवीय दृश्य नजर मे आते हैं, जिनके सामने हमारी तथाकथित साहित्यिक सोसायटी के नेता बौने, बुजदिल, निर्बुद्धि मालूम होते हैं। कहना न होगा कि चूंकि लेखक इस जन-जीवन का ही एक भाग, एक अश है, इसलिए वह इस जन-जीवन के आदेशो का ही पालन करेगा। उसका खुदा और पैगम्बर उसी जन-जीवन मे बसता है, और वही जन-जीवन उसका कुरान और मार्क्सिज्म है। तात्पर्य यह कि हमारा लेखक एक नये ढाँचे का व्यक्ति है जो कवि-सम्मेलनों और पत्र-पत्रिकाओ के ग्रामोफोनो से अलग अपनी बीणा पर जिन्दगी के सप्त-स्वर छेडता है। इस सघर्ष के ऐतिहासिक कार्य और उन स्वरो के आगे वह किसी की परवाह नही करता, चाहे वह कितना ही बडा तीसमारखाँ क्यो न हो।

यहाँ 'जन-जीवन', इस शब्द का भी स्पष्ट कर देना चाहिए। चूंकि फ्रॉड की गुजाइश सब जगह है, इसलिए यहाँ भी है। जब हम रास्ते पर घूमते है तो करुणाजनक दृश्य दिखायी देते हैं। क्या हम जन-जीवन को उतना ही नि शक्त और दयनीय समझें? हरगिज नही! हमारे कतिपय साथी उस दयनीयता के चीखते हुए चित्रो और उसके विद्रूप रगो को ही एकमात्र जन-जीवन समझते हैं। यह गलत है। वह जन-जीवन का एक अल्पाश है। उस अल्पाश से समस्त जन-जीवन पर निर्णय नहीं दिये जा सकते। जन-जीवन मे करुणा है, पर विद्रूप दयनीयता नही, उसम कठोर सघर्ष शक्ति है, त्याग की भावना है, विवेक है, कर्मण्यता है, उसी प्रकार युगानुयुग शोषण के कारण, अलावा गरीबी के, उसमे अज्ञान है तो ज्ञान भी है, कुसस्कार है तो क्रान्ति-भावना भी है। साराश मे, जन जीवन की आत्म शक्ति और सघर्ष शक्ति के ऐतिहासिक क्रान्तिकारी अभिप्राय हैं। उनके दुख, कष्ट, वेदना मे एक रफ्तार है—वह रफ्तार जो जमाने की रग म गुस्सैल खून की तरह बहती है। वह कष्ट वेदना एक शमशीर है जो जन-शत्रुओं को खत्म कर देगी। वह कष्ट-वेदना जन-जीवन के पैरो म मोच नही है। साराश यह कि जन-जीवन क इन मौलिक तत्त्वो के आधार पर ही मानवीय करुणा, सघर्ष आदि के दृश्य खडे किये जाने चाहिए।

यहाँ हम एक दूसरे खतरे की ओर भी इशारा कर देना चाहते हैं। वह यह कि जन-जीवन के इन क्रान्तिकारी अभिप्रायो को वास्तविक जन-जीवन के दृश्य से हटाकर उनके सामान्यीकरणो (जेनेरेलाइजशन) की कविता हिन्दी में होती है। जैसे, धरती का प्रतीक लेकर जन-जीवन की प्रशस्ति की रचनाएँ, अथवा किसान-मजदूरो की क्रान्तिकारी हैसियत के पुरजोश तराने। निःसशय ऐसी कविताएँ जरूरी हैं, किन्तु चूंकि ऐसी कविताएँ करना अपेक्षाकृत आसान है, और चूंकि इस ढर पर अनेक कविताएँ और भी लिखी जा सकती हैं, और अपनी लिखास (लिखने की प्यास) पूरी की जा सकती है, इसलिए कौन वास्तविक जन-जीवन के दृश्यो की मूर्ति खडा करे! जैसे कोई गरीब स्त्री अपने बच्चों को सुलाते हुए लोरी गा रही है और तब उसकी आँखों मे जीवन के दृश्य तैर रहे हैं। कौन इस थीम को अकित करे! इसम तक्लीफ़ होती है! एक वृद्ध पिता अपने नाती

को जीवन-सघर्ष मे वफादार रहने की बात कहता है । कौन इसका चित्रण करे ! तकलीफ होती है ! एक माता अपने क्रान्तिकारी पुत्र की आँखो मे भावी नव-जीवन के सपनों की मूर्ति की तस्वीर देखती हुई पुलकित हो जाती है। कौन उसकी पुलक का अकन करे ! तकलीफ होती है ! एक मित्र अपने दूसरे मित्र की भयानक तकलीफ से पीडित होकर वर्तमान जिन्दगी की तस्वीर अपनी आँखो मे बसाता है । कौन इसका चित्रण करे ! तक्लीफ होती है ! गोया आसानी से हो जाय तो ठीक, नही तो ऐसी तैसी !

मराठी, उर्दू और हिन्दी की कविता का मिलान यहाँ ठीक होगा । मराठी मे जीवन-दृश्यो के क्षणो का सूक्ष्म चित्रण हुआ है । उर्दू मे क्रान्ति और तारुण्य की बेसत्र सम्मिलित मनोभावनाओ का, और हिन्दी मे वर्तमान जीवन की कटुता का, जोश भरे तरानो और क्रान्ति के सामान्यीकरणा का, बाहुल्य है । हम जीवन के समस्त दृश्यो का चित्रण करना जरूरी है । इसलिए हमारे प्रयास व्यापक होना चाहिए । विशिष्ट (पार्टिकुलर) जन-जीवन-दृश्यो मे जन-जीवन के अभिप्रायो के सामान्यीकरण (जेनेरल) की गूँज जरूरी है । इन दोनो के मिश्रण से ही पाठक को अपने जीवन भाव और अपने अभिप्राय समझ म आयेंगे । और इस प्रकार उसके हृदय मे कठोर यथार्थ और हिम्मत, शक्ति और मस्ती का योग होगा । विशिष्ट को छोड मात्र सामान्य मे वह बल नही आ पाता, जो जिन्दगी मे चट्टानी हिम्मत, भुजाओ म फौलादी ताकत, दिल मे इन्सानियत का लहराता समुन्दर, ला सके । इस प्रकार जन जीवन का ज्ञान, जन-जीवन के अभिप्राय, और उसकी आत्म-शक्ति का मेल, जब तक हम अपने सुख दुख मे न कर केवल ऊपरी अमूर्त्त निराकार वैचारिक स्तर पर ही उसे घुमाते रहेंगे, तो सामान्य विशिष्ट का स्वर नही हो पायेगा । काव्य मे विशिष्ट के साथ-साथ सामान्य रहे तो जीवन दृश्य और उनका आघात ठीक ठीक होगा । हमारे रात-दिन चलते हुए सघर्ष के दृश्यो के अभिप्राय ही तो जन-जीवन के अभिप्राय, जन जीवन के प्रतीक है । इस लक्ष्य की पूर्ति अपने आपम एक ऐसा आकर्षक और सम्मोहक कार्य है, जिसके लिए जिन्दगी के तमाम दूसरे व्यक्तिगत मोहो को ठुकराया जा सकता है, और उसके माध्यम द्वारा जीवन की सफलता और अपने काव्य का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है ।

[नया खून 1951 मे प्रकाशित । पुन प्रकाशित—सबेरा सकेत, दीपावली विशेषाक 1971 म]

प्रयोगवाद

तथाकथित प्रयोगवाद की कोई विशेष व्याख्या नही की जा सकती, साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप मे ही उसे देखा जा सकता है । यह निश्चित है कि प्रारम्भिक रूप

मे प्रयोगवादी कविताएँ तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के विरुद्ध व्यक्ति द्वारा की गयी भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ हैं। किन्तु अब व्यक्ति छायावादी नही, उसमे अब बौद्धिकता आ गयी है। वह जो देखता है उस पर सोचना चाहता है, जो अनुभव करना है वह लिखना चाहता है। उच्च सामाजिक श्रेणियो और वर्गों म वह 'हैव-नॉट्स' मे से है, 'हैव्स' मे से नही। जिस बात पर वह सोचना चाहता है, जिस स्थिति पर सोचने के लिए उसे मजबूर होना पडता है, उसके प्रति उसका दृष्टिकोण घनघोर व्यक्तिवादी स्थिति से लगाकर तो अविकसित मार्क्सवादी स्थिति तक फैला हुआ है। समाज उसका गला दबाता है, उसका अपना वर्ग भी उसकी आवाज को कुण्ठित करता है। समाज मे पुरानापन है, दकियानूसी है, जडता है और कुचलने की शक्ति है। व्यक्ति इससे विद्रोह करता है, परन्तु विद्रोह *करने का तरीका उसे नही मालूम। इसलिए मात्र भावनात्मक* विस्फोट करके वह रह जाता है। बौद्धिक लक्ष्यानुगामी होने के कारण, उसके विद्रोह मे प्रगतिवादी फूत्कार नही आ पाते। वह कला-तत्त्व से अधिक सचेतन है, किन्तु अपने उदग्र और दमित भावना मण्डल की यथातथ्यता को प्रकट करने के लिए उसके पास केवल छायावादी शब्दावली है, जिसका प्रयोग वह नही चाहता। उसके अनुसार छायावादी शब्द छायावादी भाव को ही प्रकट करते हैं। वे नये मनोवैज्ञानिक यथार्थ को प्रकट नही करते।

इस धारणा का परिणाम यह हुआ कि कविता को वैचारिक गद्य का जामा पहनाया जाने लगा। समाज से सामजस्य के अभाव के फलस्वरूप तथा उसके विरुद्ध उसमे प्रखर बौद्धिक व्यक्तिवाद का विकास हुआ। कुछ लोगो मे अन्तर्मुखी चेतना उदित हुई तो कुछ मे बहिर्मुखी। चेतना अधिक यथार्थोन्मुख हुई, चाहे वह अन्तर्मुखी हो या बहिर्मुखी। कुछ मे बाह्य चित्र प्रधान हुए, कुछ मे अन्तश्चित्र। यह स्वाभाविक ही था कि इस खेमे के कुछ लोग आगे चलकर मार्क्सवादी होते। नवीन यथार्थोन्मुख (यथार्थ से मतलब हमेशा बाहरी यथार्थ ही नही होता) प्रतीक, उपमाएँ सामने आयी। घिसी घिसाई शब्दावली का त्याग हुआ।

किन्तु शिक्षित समाज की अभिरुचि छायावादी ही थी। उनके लिए पीडा का अर्थ रोमैण्टिक या आध्यात्मिक ही था। यह स्वाभाविक ही था कि उन्हे ये कविताएँ पसन्द न आती। आगे चलकर ये ही छायावादी तबके और उनके समर्थक प्रशसक, स्वधीनता के उपरान्त, साहित्य तथा समाज के प्रभावशाली पदो और स्थानो पर जा पहुँचे। उन्होने पर्याप्त रूप से ऐसा वातावरण घनीभूत किया जिसम इस नवीन प्रवृत्ति का कण्ठरोध हो। किन्तु प्रयोगवादी प्रवृत्ति ऐतिहासिक कारणो से ही उत्पन्न हुई थी, उसी से उसका विकास भी हुआ और हो रहा है। इसलिए वह सामयिक विरोधो से दब नही सकती थी। दूसरा सप्तक के प्रकाशन के साथ ही, हिन्दी की विद्वान् मण्डली का ध्यान इसकी ओर गया, और तब से प्रयोगवाद चर्चा का विषय बना हुआ है।

यह ध्यान मे रखना चाहिए कि तारसप्तक और दूसरा सप्तक मे स्थिति तथा व्यक्ति का बहुत बडा भेद है। दूसरा सप्तक वालो को अच्छी परिस्थितियाँ मिली थी। साथ ही, तब तक तारसप्तक वाले भी काफी आगे बढ चुके थे। इसलिए जिन प्रश्नो को लेकर तारसप्तक वाले आगे बढे उन प्रश्नों को लेकर दूसरा सप्तक वाले नही। तारसप्तक वालो की रोमास-भावना की आयु, बहुत अशो

मे, छायावाद मे ही बीत चुकी थी। वे अपनी छायावादी अवधि पार कर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया करते हुए प्रयोगवादी थे, तो, दूसरा सप्तक वाले अपनी नवीन रोमैण्टिक भावनाएँ लेकर प्रयोगवाद मे आये। तारसप्तक और दूसरा सप्तक मे यह एक मौलिक भेद है। व्यक्ति के विकास की दृष्टि से तारसप्तक अधिक मजबूत है, दूसरा सप्तक रोमैण्टिक परिधान की दृष्टि से अधिक मनोरम। रोमैण्टिक भावनाएँ जीवन की यथार्थता हैं। मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टि से वे, अतएव, प्रयोगवाद के लिए निषिद्ध नही ठहरती, बशर्ते कि उनकी ओर देखने की दृष्टि मुहर्रिल न हो।

कोई भी नयी साहित्यिक प्रवृत्ति अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे अनगढ होती ही है। किन्तु हिन्दी मे केवल उसके कमजोर उदाहरणो को लेकर ही उस पर आक्रमण किया गया। उसकी शक्ति नही परखी गयी। यह इस बात का सबूत है कि वर्तमान आलोचक, जिनमे प्रगतिवादी और छायावादी शामिल हैं, जीवन के नये मोडो की साहित्यिक अभिव्यक्ति का आकलन नही कर सकते, न्याय की बात ही नही उठती।

हमे साहित्यिक माप-जोख दो दृष्टियो से करनी चाहिए। एक, रूप की दृष्टि से, दूसरे, वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से। वस्तु-तत्त्व मे इतनी शक्ति होती है कि वह स्वय अपने रूप को लेकर आता है। अतएव, मुख्यत, हमारे लिए वस्तु तत्त्व प्रधान हो जाता है। प्रश्न यह है कि क्या प्रयोगवाद का आज तक का विकास ऐसा है कि जो हमारी जनता के मुख्य लक्ष्यो को अग्रसर कर सके? अथवा, क्या उसमे यह आशा हो सकती है? मेरा अपना मत यह है कि अभी तक प्रयोगवादी कवियो म यह विशाल चेतना नही आ पायी है जिसे हम महत्त्व देते हैं। कुछ कवि तो मात्र मानसिक प्रत्याघातो का चित्रण करके ही चुप रह जाते हैं। अन्यो ने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये है। इनको देखकर यह आशा होती है कि आगे चलकर नये कवि अपने विशाल उत्तरदायित्वो का निर्वाह अधिक सफलतापूर्वक कर सकेंगे।

[सम्भावित रचनाकाल 1952-59। **नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र** मे सकलित]

मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का एक पहलू

मेरे मन मे बार-बार यह प्रश्न उठता है कि कबीर और निर्गुण पन्थ के अन्य कवि तथा दक्षिण के कुछ महाराष्ट्रीय सन्त तुलसीदासजी की अपेक्षा अधिक आधुनिक क्यों लगते हैं? क्या कारण है कि हिन्दी-क्षेत्र मे जो सबसे अधिक धार्मिक रूप से कट्टर वर्ग है, उनमे भी तुलसीदासजी इतने लोकप्रिय हैं कि उनकी भावनाओ और वैचारिक अस्त्रो द्वारा, वह वर्ग आज भी आधुनिक दृष्टि और भावनाओ से सघर्ष करता रहता है? समाज के पारिवारिक क्षेत्र मे इस कट्टरपन को अब नये पल भी फूटने लगे हैं। खैर, लेकिन यह इतिहास दूसरा है। मूल प्रश्न जो मैंने उठाया है

उसका कुछ-न-कुछ मूल उत्तर तो है ही।

मैं यह समझता हूँ कि किसी भी साहित्य का ठीक-ठीक विश्लेषण तब तक नहीं हो सकता जब तक हम उस युग की मूल गतिमान सामाजिक शक्तियों से बननेवाले सांस्कृतिक इतिहास को ठीक-ठीक न जान लें। कबीर हमें आपेक्षिक रूप से आधुनिक क्यों लगते हैं, इस मूल प्रश्न का मूल उत्तर भी उसी सांस्कृतिक इतिहास में कहीं छिपा हुआ है। जहाँ तक महाराष्ट्र की सन्त-परम्परा का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि मराठी सन्त-कवि, प्रमुखतः, दो वर्गों में आये हैं, एक ब्राह्मण और दूसरे ब्राह्मणेतर। इन दो प्रकार के सन्त-कवियों के मानव धर्म में बहुत कुछ समानता होते हुए भी, दृष्टि और रुझान का भेद भी था। ब्राह्मणेतर सन्त-कवि की काव्य-भावना अधिक अनतन्त्रात्मक, सर्वांगीण और मानवीय थी। निचली जातियों की आत्म-प्रस्थापना के उस युग में, कट्टर पुराणपंथियों ने जो-जो तकलीफें इन सन्तों को दी हैं, उनमें ज्ञानेश्वर-जैसे प्रचण्ड प्रतिभावान सन्त का जीवन अत्यन्त करुण कष्टमय और भयंकर दृढ़ हो गया। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ ज्ञानेश्वरी तीन सौ वर्षों तक छिपा रहा। उक्त ग्रन्थ की कीर्ति का इतिहास तो तब से शुरू होता है जब वह पुनः प्राप्त हुआ। यह स्पष्ट ही है कि समाज के कट्टरपन्थियों ने इन सन्तों को अत्यन्त कष्ट दिया। इन कष्टों का क्या कारण था? और ऐसी क्या बात हुई कि जिस कारण निम्न जातियाँ अपने सन्तों को लेकर राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में कूद पड़ीं?

मुश्किल यह है कि भारत के सामाजिक-आर्थिक विकास के सुसम्बद्ध इतिहास के लिए आवश्यक सामग्री का बड़ा अभाव है। हिन्दू इतिहास लिखते नहीं थे, मुस्लिम लेखक घटनाओं का ही वर्णन करते थे। इतिहास-लेखन पर्याप्त आधुनिक है। शान्तिनिकेतन के तथा अन्य पण्डितों ने भारत के सांस्कृतिक इतिहास के क्षेत्र में बहुत अन्वेषण किये हैं। किन्तु सामाजिक-आर्थिक विकास के इतिहास के क्षेत्र में अभी तक कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं हुआ है।

ऐसी स्थिति में हम कुछ सर्वसम्मत तथ्यों को ही आपके सामने प्रस्तुत करेंगे।

(1) भक्ति-आन्दोलन दक्षिण भारत से आया। समाज की धर्मशास्त्रवादी, वेद-उपनिषद्वादी शक्तियों ने उसे प्रस्तुत नहीं किया, वरन् आलवार सन्तों ने और उनके प्रभाव में रहनेवाले जनसाधारण ने उसका प्रसार किया।

(2) ग्यारहवीं सदी से महाराष्ट्र की गरीब जनता में भक्ति आन्दोलन का प्रभाव अत्यधिक हुआ। राजनैतिक दृष्टि से, यह जनता हिन्दू मुस्लिम दोनों प्रकार के सामन्ती उच्चवर्गीयों से पीड़ित रही। सन्तों की व्यापक मानवतावादी वाणी ने उन्हें बल दिया। कीर्तन-गायन ने उनके जीवन में रस संचार किया। ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि सन्तों ने गरीब किसान और अन्य जनता का मार्ग प्रशस्त किया। इस सांस्कृतिक आत्म-प्रस्थापना के उपरान्त सिर्फ एक और कदम की आवश्यकता थी।

वह समय भी शीघ्र ही आया। गरीब उद्धत किसान तथा अन्य जनता को अपना एक और सन्त, रामदास, मिला, और एक नेता प्राप्त हुआ, शिवाजी। इस युग में राजनैतिक रूप से महाराष्ट्र का जन्म और विकास हुआ। शिवाजी के समस्त छापेमार युद्धों के सेनापति और सैनिक, समाज के शोषित तबकों से आये। आगे का इतिहास आपको मालूम ही है—किस प्रकार सामन्तवाद टूटा नहीं,

किसानों की पीडाएँ वैसी ही रही, शिवाजी के उपरान्त राजसत्ता उच्च वंशोत्पन्न ब्राह्मणों के हाथ पहुँची, पेशवाओं (जिन्हें मराठे भी जाना जाता रहा) ने किस प्रकार के युद्ध किये और वे अंग्रेजों के विरुद्ध क्यों असफल रहे, इत्यादि।

(3) उच्चवर्गीयों और निम्नवर्गीयों का संघर्ष बहुत पुराना है। यह संघर्ष निस्सन्देह धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक क्षेत्र में अनेकों रूपों में प्रकट हुआ। सिद्धों और नाथ-सम्प्रदाय के लोगों ने जनसाधारण में अपना पर्याप्त प्रभाव रखा, किन्तु भक्ति-आन्दोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आन्दोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने सन्त पैदा किये, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किये। कबीर, रैदास, नाभा सिंपी, सेना नाई, आदि-आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलन्द की। समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरुद्ध नया विचारवाद अवश्यम्भावी था। वह हुआ, तकलीफें हुईं। लेकिन एक बात हो गयी।

शिवाजी स्वयं मराठा क्षत्रिय था, किन्तु भक्ति-आन्दोलन से, जाग्रत जनता के कष्टों से, खूब परिचित था, और स्वयं एक कुशल संगठक और वीर सेनाध्यक्ष था। सन्त रामदास, जिसका उसे आशीर्वाद प्राप्त था, स्वयं सनातनी ब्राह्मणवादी था, किन्तु नवीन जाग्रत जनता की शक्ति से खूब परिचित भी था। सन्त से अधिक वह स्वयं एक सामन्ती राष्ट्रवादी नेता था। तब तक कट्टरपन्थी शोषक तत्त्वों में यह भावना पैदा हो गयी थी कि निम्नजातीय सन्तों से भेदभाव अच्छा नहीं है। अब ब्राह्मण-शक्तियाँ स्वयं उन्हीं सन्तों का कीर्तन-गायन करने लगीं। किन्तु इस कीर्तन-गायन के द्वारा वे उस समाज की रचना को, जो जातिवाद पर आधारित थी, मजबूत करती जा रही थीं। एक प्रकार से उन्होंने अपनी परिस्थिति से समझौता कर लिया था। दूसरे, भक्ति आन्दोलन के प्रधान सन्देश से प्रेरणा प्राप्त करनेवाले लोग ब्राह्मणों में भी होने लगे थे। रामदास, एक प्रकार से, ब्राह्मणों में से आये हुए अन्तिम सन्त हैं, इसके पहले एकनाथ हो चुके थे। कहने का सारांश यह कि नवीन परिस्थिति में यद्यपि युद्ध सत्ता (राजसत्ता) शोषित और गरीब तबकों से आये सेनाध्यक्षों के पास थी, किन्तु सामाजिक क्षेत्र में पुराने सामन्तवादियों और नये सामन्तवादियों में समझौता हो गया था। नये सामन्तवादी कुनबियों, धनगरों, मराठों और अन्य गरीब जातियों से आये हुए सेनाध्यक्ष थे। इस समझौते का फल यह हुआ कि पेशवा ब्राह्मण हुए, किन्तु युद्ध-सत्ता नवीन सामन्तवादियों के हाथ में रही।

उधर सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में निम्नवर्गीय भक्तिमार्ग के जनवादी सन्देश के दाँत उखाड़ लिये गये। उन सन्तों को सर्ववर्गीय मान्यता प्राप्त हुई, किन्तु उनके सन्देश के मूल स्वरूप पर कुठाराघात किया गया, और जातिवादी पुराणधर्म पुनः निःशंक भाव से प्रतिष्ठित हुआ।

(4) उत्तर भारत में निर्गुणवादी भक्ति-आन्दोलन में शोषित जनता का सबसे बड़ा हाथ था। कबीर, रैदास, आदि सन्तों की बानियों का सन्देश, तत्कालीन मानों के अनुसार, बहुत अधिक क्रान्तिकारी था। यह आकस्मिकता न थी कि चण्डीदास कह उठता है :

> शुनह मानुष भाई,
> शबार ऊपरे मानुष सत्तो

ताहार उपरे नाई।

इस मनुष्य-सत्य की घोषणा के क्रान्तिकारी अभिप्राय कबीर में प्रकट हुए। कुरीतियों, धार्मिक अन्धविश्वासों और जातिवाद के विरुद्ध कबीर ने आवाज उठायी। वह फैली। निम्न जातियों में आत्मविश्वास पैदा हुआ। उनमें आत्म-गौरव का भाव हुआ। *समाज की शासक-सत्ता को यह कब अच्छा लगता?* निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का प्रारम्भिक प्रसार और विकास उच्चवंशियों में हुआ। निर्गुण मत के विरुद्ध सगुणमत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरुद्ध उच्च-वंशीय संस्कारशील अभिरुचिवालों का संघर्ष था। सगुण मत विजयी हुआ। उसका प्रारम्भिक विकास कृष्णभक्ति के रूप में हुआ। यह कृष्णभक्ति कई अर्थों में निम्नवर्गीय भक्ति आन्दोलन से प्रभावित थी। उच्चवर्गीयों का एक भावुक तबका भक्ति-आन्दोलन से हमेशा प्रभावित होता रहा, चाहे वह दक्षिण भारत में हो या उत्तर भारत में। इस कृष्णभक्ति में जातिवाद के विरुद्ध कई बातें थीं। वह एक प्रकार से भावावेशी व्यक्तिवाद था। इसी कारण, महाराष्ट्र में, निर्गुण मत के बजाय निम्न-वर्ग में, सगुण मत ही अधिक फैला। सन्त तुकाराम का विठोबा एक सार्वजनिक कृष्ण था। कृष्णभक्तिवाली मीरा 'लोकलाज' छोड़ चुकी थी। सूर कृष्ण-प्रेम में विभोर थे। निम्नवर्गीयों में कृष्णभक्ति के प्रचार के लिए पर्याप्त अवकाश था, जैसा महाराष्ट्र की सन्त परम्परा का इतिहास बतलाता है। उत्तर भारत में कृष्णभक्ति-शाखा का निर्गुण मत के विरुद्ध जैसा संघर्ष हुआ वैसा महा-राष्ट्र में नहीं रहा। महाराष्ट्र में कृष्ण की शृंगार-भक्ति नहीं थी, न भ्रमरगीतों का ज़ोर था। कृष्ण एक तारणकर्ता देवता था, जो अपने भक्तों का उद्धार करता था, *चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो। महाराष्ट्रीय सगुण कृष्णभक्ति में* शृंगारभावना, और निर्गुण भक्ति, इन दो के बीच कोई संघर्ष नहीं था। उधर उत्तर भारत में, नन्ददास वगैरह कृष्णभक्तिवादी सन्तों की निर्गुण मत-विरोधी भावना स्पष्ट ही है। और ये सब लोग उच्चकुलोद्भव थे। यद्यपि उत्तर भारतीय कृष्णभक्तिवाले कवि उच्चवंशीय थे, और निर्गुण मत से उनका सीधा संघर्ष भी था, किन्तु हिन्दू समाज के मूलाधार यानी वर्णाश्रम-धर्म के विरोधियों ने जातिवाद-विरोधी विचारों पर सीधी चोट नहीं की थी। किन्तु उत्तर भारतीय भक्ति-आन्दोलन पर उनका प्रभाव निर्णायक रहा।

-एक बार भक्ति-आन्दोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी। ये घोषणा तुलसीदासजी ने की थी। निर्गुण मत में निम्नजातीय धार्मिक जनवाद का पूरा ज़ोर था, उसका क्रान्तिकारी सन्देश था। कृष्णभक्ति में वह बिलकुल कम हो गया, किन्तु फिर भी निम्नजातीय प्रभाव अभी भी पर्याप्त था। तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति स्वीकार की, *किन्तु उसको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया। निर्गुण मतवाद* के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रान्तिकारी जातिवाद-विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदासजी ने पुराण-मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। निर्गुण मतवादियों का ईश्वर एक था, किन्तु अब तुलसीदासजी के मनोजगत् में परब्रह्म के निर्गुण-स्वरूप के बावजूद सगुण ईश्वर ने सारा समाज और उसकी व्यवस्था—जो जातिवाद, वर्णाश्रम धर्म पर आधारित थी—उत्पन्न की। राम निषाद और गुह का आलिंगन कर सकते थे, किन्तु निषाद और गुह ब्राह्मण का अपमान कैसे कर सकते

किसानों की पीड़ाएँ वैसी ही रहीं, शिवाजी के उपरान्त राजसत्ता उच्च वंशोत्पन्न ब्राह्मणों के हाथ पहुँची, पेशवाओं (जिन्हें मराठे भी जाना जाता रहा) ने किस प्रकार के युद्ध किये और वे अंग्रेज़ों के विरुद्ध क्यों असफल रहे, इत्यादि।

(3) उच्चवर्गीयों और निम्नवर्गीयों का संघर्ष बहुत पुराना है। यह संघर्ष निस्सन्देह धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक क्षेत्र में अनेकों रूपों में प्रकट हुआ। सिद्धों और नाथ-सम्प्रदाय के लोगों ने जनसाधारण में अपना पर्याप्त प्रभाव रखा, किन्तु भक्ति-आन्दोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आन्दोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने सन्त पैदा किये, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किये। कबीर, रैदास, नामा शिंपी, सेना नाई, आदि-आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द की। समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरुद्ध नया विचारवाद अवश्यम्भावी था। वह हुआ, तकलीफें हुईं। लेकिन एक बात हो गयी।

शिवाजी स्वयं मराठा क्षत्रिय था, किन्तु भक्ति-आन्दोलन से, जाग्रत जनता के कष्टों से, खूब परिचित था, और स्वयं एक कुशल संगठक और वीर सेनाध्यक्ष था। सन्त रामदास, जिसका उसे आशीर्वाद प्राप्त था, स्वयं सनातनी ब्राह्मणवादी था, किन्तु नवीन जाग्रत जनता की शक्ति से खूब परिचित भी था। सन्त से अधिक वह स्वयं एक सामन्ती राष्ट्रवादी नेता था। तब तक कट्टरपन्थी पोषक तत्त्वों में यह भावना पैदा हो गयी थी कि निम्नजातीय सन्तों से भेदभाव अच्छा नहीं है। अब ब्राह्मण-शक्तियाँ स्वयं उन्हीं सन्तों का कीर्तन-गायन करने लगीं। किन्तु इस कीर्तन-गायन के द्वारा वे उस समाज की रचना को, जो जातिवाद पर आधारित थी, मजबूत करती जा रही थीं। एक प्रकार से उन्होंने अपनी परिस्थिति से समझौता कर लिया था। दूसरे, भक्ति आन्दोलन के प्रधान सन्देश से प्रेरणा प्राप्त करनेवाले लोग ब्राह्मणों में भी होने लगे थे। रामदास, एक प्रकार से, ब्राह्मणों में से आये हुए अन्तिम सन्त हैं, इनके पहले एकनाथ हो चुके थे। कहने का सारांश यह कि नवीन परिस्थिति में यद्यपि युद्ध सत्ता (राजसत्ता) शोषित और गरीब तबकों से आये सेनाध्यक्षों के पास थी, किन्तु सामाजिक क्षेत्र में पुराने सामन्तवादियों और नये सामन्तवादियों में समझौता हो गया था। नये सामन्तवादी कुनबियों, धनगरों, मराठों और अन्य गरीब जातियों से आये हुए सेनाध्यक्ष थे। इस समझौते का फल यह हुआ कि पेशवा ब्राह्मण हुए, किन्तु युद्ध-सत्ता नवीन सामन्तवादियों के हाथ में रही।

उधर सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में निम्नवर्गीय भक्तिमार्ग के जनवादी सन्देश के दाँत उखाड़ लिये गये। उन सन्तों को सर्ववर्गीय मान्यता प्राप्त हुई, किन्तु उनके सन्देश के मूल स्वरूप पर कुठाराघात किया गया, और जातिवादी पुराणधर्म पुनः निःशंक भाव से प्रतिष्ठित हुआ।

(4) उत्तर भारत में निर्गुणवादी भक्ति-आन्दोलन में शोषित जनता का सबसे बड़ा हाथ था। कबीर, रैदास, आदि सन्तों की बानियों का सन्देश, तत्कालीन मानों के अनुसार, बहुत अधिक क्रान्तिकारी था। यह आकस्मिकता न थी कि चण्डीदास कह उठता है

शुनह मानुष भाई,
शबार ऊपरे मानुष सत्तो

ताहार उपरे नाई।

इस मनुष्य-सत्य की घोषणा के क्रान्तिकारी अभिप्राय कबीर मे प्रकट हुए। कुरीतियो, धार्मिक, अन्धविश्वासो और जातिवाद के विरुद्ध कबीर ने आवाज उठायी। वह फैली। निम्न जातियो मे आत्मविश्वास पैदा हुआ। उनमे आत्म-गौरव का भाव हुआ। समाज की शासक-सत्ता को यह कब अच्छा लगता? निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का प्रारम्भिक प्रसार और विकास उच्चवंशियो मे हुआ। निर्गुण मत के विरुद्ध सगुणमत का सघर्ष निम्न वर्गों के विरुद्ध उच्च-वशीय सस्कारशील अभिरुचियालो का सघर्ष था। सगुण मत विजयी हुआ। उसका प्रारम्भिक विकास कृष्णभक्ति के रूप मे हुआ। यह कृष्णभक्ति कई अर्थों मे निम्नवर्गीय भक्ति आन्दोलन मे प्रभावित थी। उच्चवर्गीयो का एक भावुक तबका भक्ति-आन्दोलन से हमेशा प्रभावित होता रहा, चाहे वह दक्षिण भारत मे हो या उत्तर भारत मे। इस कृष्णभक्ति मे जातिवाद के विरुद्ध कई बातें थी। वह एक प्रकार से भावावेशी व्यक्तिवाद था। इसी कारण, महाराष्ट्र मे, निर्गुण मत के बजाय निम्न-वर्ग मे, सगुण मत ही अधिक फैला। सन्त तुकाराम का विठोबा एक सार्वजनिक कृष्ण था। कृष्णभक्तिवाली मीरा 'लोकलाज' छोड चुकी थी। सूर कृष्ण-प्रेम मे विभोर थे। निम्नवर्गीयो मे कृष्णभक्ति के प्रचार के लिए पर्याप्त अवकाश था, जैसा महाराष्ट्र की सन्त परम्परा का इतिहास बतलाता है। उत्तर भारत मे कृष्णभक्ति-शाखा का निर्गुण मत के विरुद्ध जैसा सघर्ष हुआ वैसा महा-राष्ट्र मे नही रहा। महाराष्ट्र मे कृष्ण की शृगार भक्ति नही थी, न भ्रमरगीतो का जोर था। कृष्ण एक तारणकर्ता देवता था, जो अपने भक्तो का उद्धार करता था, चाहे वह किसी भी जाति का क्यो न हो। महाराष्ट्रीय सगुण कृष्णभक्ति मे शृगारभावना, और निर्गुण भक्ति, इन दो के बीच कोई सघर्ष नही था। उधर उत्तर भारत मे, नन्ददास वगैरह कृष्णभक्तिवादी सन्तो की निर्गुण मत-विरोधी भावना स्पष्ट ही है। और ये सब लोग उच्चकुलोद्भव थे। यद्यपि उत्तर भारतीय कृष्णभक्तिवाले कवि उच्चवशीय थे, और निर्गुण मत से उनका सीधा सघर्ष भी था, किन्तु हिन्दू समाज के मूलाधार यानी वर्णाश्रम धर्म के विरोधियो ने जातिवाद-विरोधी विचारो पर सीधी चोट नही की थी। किन्तु उत्तर भारतीय भक्ति-आन्दोलन पर उनका प्रभाव निर्णायक रहा।

एक बार भक्ति-आन्दोलन मे ब्राह्मणो का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा मे कोई देर नही थी। ये घोषणा तुलसीदासजी ने की थी। निर्गुण मत मे निम्नजातीय धार्मिक जनवाद का पूरा जोर था, उसका क्रान्तिकारी सन्देश था। कृष्णभक्ति मे वह बिल्कुल कम हो गया, किन्तु फिर भी निम्नजातीय प्रभाव अभी भी पर्याप्त था। तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति [illegible] सामाजिक दायरा बतला दिया। निर्गुण मतवाद
जातिवाद-विरोधी भूमिका के विरुद्ध
प्रस्तुत किया। निर्गुण मतवादियो का ईश्वर एक था, किन्तु अब तुलसीदासजी के मनोजगत् मे परब्रह्म के निर्गुण-स्वरूप के बावजूद सगुण ईश्वर ने सारा समाज और उसकी व्यवस्था—जो जातिवाद, वर्णाश्रम धर्म पर आधारित थी—उत्पन्न की। राम निषाद और गुह का आलिगन कर सकते थे, किन्तु निषाद और गुह ब्राह्मण का अपमान कैसे कर सकते

थे। दार्शनिक क्षेत्र का निर्गुण मत जब व्यावहारिक रूप से ज्ञानमार्गी भक्तिमार्ग बना, तो उसमें पुराण-मतवाद को स्थान नहीं था। कृष्णभक्ति के द्वारा पौराणिक कथाएँ घुसीं, पुराणों ने रामभक्ति के रूप में आगे चलकर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा की।

साधारण जनों के लिए कबीर का सदाचारवाद तुलसी के सन्देश से अधिक क्रान्तिकारी था। तुलसी की भक्ति का यह मूल तत्त्व तो स्वीकार करना ही पड़ा कि राम के सामने सब बराबर हैं, किन्तु चूँकि राम ही ने सारा समाज उत्पन्न किया है, इसलिए वर्णाश्रम धर्म और जातिवाद को तो मानना ही होगा। प. रामचन्द्र शुक्ल जो निर्गुण मत को कोसते हैं, वह यों ही नहीं। इसके पीछे उनकी सारी पुराण-मतवादी चेतना बोलती है।

क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि रामभक्ति-शाखा के अन्तर्गत, एक भी प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नहीं आया? क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्णभक्ति-शाखा के अन्तर्गत रसखान और रहीम-जैसे हृदयवान मुसलमान कवि बराबर रहे आये, किन्तु रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद नहीं कर सका? जब कि यह एक स्वतःसिद्ध बात है कि निर्गुण-शाखा के अन्तर्गत ऐसे लोगों को अच्छा स्थान प्राप्त था।

निष्कर्ष यह कि जो भक्ति आन्दोलन जनसाधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जनसाधारण की सांस्कृतिक आशा-आकांक्षाएँ बोलती थीं, उसका 'मनुष्य-सत्य' बोलता था, उसी भक्ति-आन्दोलन को उच्च-वर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया, और उससे समझौता करके, फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके, और अनन्तर जनता के अपने तत्त्वों को उनमें से निकालकर, उन्होंने उस पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

और इस प्रकार, उच्चवंशी उच्चजातीय वर्गों का—समाज के संचालक शासक वर्गों का—धार्मिक सांस्कृतिक क्षेत्र में पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर, साहित्यिक क्षेत्र में उन वर्गों के प्रधान भाव—शृंगार-विलास—का प्रभावशाली विकास हुआ, और भक्ति-काव्य की प्रधानता जाती रही। क्या कारण है कि तुलसीदास भक्ति-आन्दोलन के प्रधान (हिन्दी क्षेत्र में) अन्तिम कवि थे? सांस्कृतिक-साहित्यिक क्षेत्र में यह परिवर्तन भक्ति-आन्दोलन की शिथिलता को द्योतित करता है। किन्तु यह आन्दोलन इस क्षेत्र में शिथिल क्यों हुआ?

ईसाई मत का भी यही हाल हुआ। ईसा का मत जनसाधारण में फैला तो यहूदी धनिक वर्गों ने उसका विरोध किया, रोमन शासकों ने उसका विरोध किया। किन्तु जब वह जनता का अपना धर्म बनने लगा, तो धनिक यहूदी और रोमन लोग भी उसको स्वीकार करने लगे। रोमन शासक ईसाई हुए और सेंट पॉल ने उसी भावुक प्रेममूलक धर्म को कानूनी शिकंजों में जकड़ लिया, पोप जनता से फीस लेकर पापों और अपराधों के लिए क्षमापत्र वितरित करने लगा।

यदि हम धर्मों के इतिहास को देखें, तो यह जरूर पायेंगे कि तत्कालीन जनता की दुरवस्था के विरुद्ध उसने घोषणा की, जनता को एकता और समानता के सूत्र में बाँधने की कोशिश की। किन्तु ज्यों-ज्यों उस धर्म में पुराने शासकों की प्रवृत्ति-वाले लोग घुसते गये और उनका प्रभाव जमता गया, उतना-उतना गरीब जनता

का पक्ष न केवल कमजोर होता गया, वरन् उसको अन्त में उच्चवर्गों की दासता—धार्मिक दासता—भी फिर से ग्रहण करनी पड़ी।

क्या कारण है कि निर्गुण-भक्तिमार्गी जातिवाद-विरोधी आन्दोलन सफल नहीं हो सका? उसका मूल कारण यह है कि भारत में पुरानी समाज-रचना को समाप्त करनेवाली पूंजीवादी क्रान्तिकारी शक्तियां उन दिनों विकसित नहीं हुई थीं। भारतीय स्वदेशी पूंजीवाद की प्रधान भौतिक-वास्तविक भूमिका विदेशी पूंजीवादी साम्राज्यवाद ने बनायी। स्वदेशी पूंजीवाद के विकास के साथ ही भारतीय राष्ट्रवाद का अभ्युदय और सुधारवाद का जन्म हुआ, और उसने सामन्ती समाज-रचना के मूल आर्थिक आधार, यानी पेशेवर जातियों द्वारा सामाजिक उत्पादन की प्रणाली समाप्त कर दी। गांवों की पंचायती व्यवस्था टूट गयी। ग्रामों की आर्थिक आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी।

भक्ति-काल की मूल भावना साधारण जनता के कष्ट और पीड़ा से उत्पन्न है। यद्यपि पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कहना ठीक है कि भक्ति की धारा बहुत पहले से उद्गत होती रही, और उसकी पूर्वभूमिका बहुत पूर्व से तैयार होती रही। किन्तु उनके द्वारा निकाला गया यह तर्क ठीक नहीं मालूम होता कि मध्ययुगीन भक्तों की भावना में जनता के सांसारिक कष्टों के तत्त्व नहीं हैं। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन में हमें पर्याप्त सत्य मालूम होता है कि भक्ति-आन्दोलन का एक मूल कारण जनता का कष्ट है। किन्तु पण्डित शुक्ल ने इन कष्टों के मुस्लिम विरोधी और हिन्दू-राजसत्ता के पक्षपाती जो अभिप्राय निकाले हैं, वे उचित नहीं मालूम होते। असल बात यह है कि मुसलमान सन्त-मत भी उसी तरह कट्टरपन्थियों के विरुद्ध था, जितना कि भक्ति-मार्ग। दोनों एक-दूसरे से प्रभावित भी थे। किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भक्ति-भावना की तीव्र आर्द्रता और सारे दुःखों और कष्टों के परिहार के लिए ईश्वर की पुकार के पीछे जनता की भयानक दुःस्थिति छिपी हुई थी। यहाँ यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि यह बात साधारण जनता और उसमें से निकले हुए सन्तों की है, चाहे वे ब्राह्मण वर्ग से निकले हों या ब्राह्मणेतर वर्ग से। साथ ही, यह भी स्मरण रखना होगा कि शृंगार-भक्ति का रूप उसी वर्ग में सर्वाधिक प्रचलित हुआ जहाँ ऐसी शृंगार-भावना के परिपोष के लिए पर्याप्त अवकाश और समय था, फुरसत का समय। भक्ति-आन्दोलन का आविर्भाव, एक ऐतिहासिक-सामाजिक शक्ति के रूप में, जनता के दुःखों और कष्टों से हुआ, यह निर्विवाद है।

किसी भी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए। एक तो यह कि वह किन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों से उत्पन्न है, अर्थात वह किन शक्तियों के कार्यों का परिणाम है, किन सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है? दूसरे यह कि उसका अन्तःस्वरूप क्या है, किन प्रेरणाओं और भावनाओं ने उसके आन्तरिक तत्त्व रूपायित किये हैं? तीसरे, उसके प्रभाव क्या हैं, किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरुपयोग किया है और क्यों? साधारण जन के किन मानसिक तत्त्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है?

तुलसीदासजी के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रश्न अत्यन्त आवश्यक भी हैं। रामचरितमानसकार एक सच्चे सन्त थे, इसमें किसी को भी कोई सन्देह नहीं हो

सकता। रामचरितमानस साधारण जनता में भी उतना ही प्रिय रहा जितना कि उच्चवर्गीय लोगो मे। कट्टरपन्थियो ने अपने उद्देश्यो के अनुसार तुलसीदासजी का उपयोग किया, जिस प्रकार आज जनसघ और हिन्दू महासभा ने शिवाजी और रामदास का उपयोग किया। सुधारवादियो को तथा आज की भी एक पीढी को तुलसीदासजी के वैचारिक प्रभाव से सघर्ष करना पडा, यह भी एक बडा सत्य है।

किन्तु साथ ही यह भी ध्यान मे रखना होगा कि साधारण जनता ने राम को अपना त्राणकर्ता भी पाया, गुह और निषाद को अपनी छाती से लगानेवाला भी पाया। एक तरह से जनसाधारण की भक्ति-भावना के भीतर समाये हुए समान प्रेम का आग्रह भी पूरा हुआ, किन्तु वह सामाजिक ऊँच-नीच को स्वीकार करके ही। राम के चरित्र द्वारा और तुलसीदासजी के आदेशो द्वारा सदाचार का रास्ता भी मिला। किन्तु वह मार्ग कबीर के और अन्य निर्गुणवादियो के सदाचार का जनवादी रास्ता नही था। सचाई और ईमानदारी, प्रेम और सहानुभूति से ज्यादा बडा तकाजा था सामाजिक रीतियो का पालन। (देखिए, रामायण मे अनुसूया द्वारा सीता को उपदेश)। उन रीतियो और आदेशो का पालन करते हुए, और उनकी सीमा मे रहकर ही, मनुष्य के उद्धार का रास्ता था। यद्यपि यह कहना कठिन है कि किस हद तक तुलसीदासजी इन आदेशो का पालन करवाना चाहते थे और किस हद तक नही। यह तो स्पष्ट है ही कि उनका सुझाव किस ओर था।

[illegible] हिन्दी साहित्य

आश्चर्य की बात यह है कि आजकल [illegible] तुलसीदास के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा गया है, उसमे, जिस सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया के तुलसीदासजी अग थे, उसको जान-बूझकर भुलाया गया है। पण्डित रामचन्द्र [illegible] की वर्णाश्रमधर्मी जातिवादग्रस्त सामाजिकता और सच्चे जनवाद को एक- [illegible] हमारे मन मे अत्यन्त पुरा-
तनवादी कहा जायेगा कबीर का [illegible] ी है।

दूसरे, जो लोग शोषित निम्नवर्गीय जातियो के साहित्यिक और सास्कृतिक सन्देश मे दिलचस्पी रखते हैं, और उस सन्देश के प्रगतिशील तत्त्वो के प्रति आदर रखते हैं, वे लोग तो यह जरूर देखेंगे कि जनता की सामाजिक मुक्ति को किस हद तक किसने सहारा दिया और तुलसीदासजी का उसमे कितना योग रहा। चाहे श्री रामविलास शर्मा-जैसे 'मार्क्सवादी' आलोचक हमे 'वलगर मार्क्सवादी' या बूर्ज्वा कहे, यह बात निस्सन्देह है कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से मध्ययुगीन भारत की सामाजिक, सास्कृतिक, ऐतिहासिक शक्तियो के विश्लेषण के बिना, तुलसीदासजी के साहित्य के अन्त स्वरूप का साक्षात्कार नही किया जा सकता। जहाँ तक रामचरितमानस की काव्यगत सफलताओ का प्रश्न है, हम उनके सम्मुख केवल इसलिए नतमस्तक नहीं हैं कि उसमे श्रेष्ठ कला के दर्शन होते हैं, बल्कि इसलिए कि उसमे उक्त मानव-चरित्र के, भव्य और मनोहर व्यक्तित्व-सत्ता के, भी दर्शन होते हैं। तुलसीदासजी की रामायण पढते हुए, हम एक अत्यन्त महान् व्यक्तित्व की छाया मे रहकर अपने मन और हृदय का आप-ही-आप विस्तार करने लगते हैं। और जब हम कबीर आदि महान् जनोन्मुख कवियो का सन्देश

देखते हैं, तो हम उनके रहस्यवाद से भी मुँह मोडना चाहते हैं। हम उस रहस्यवाद के समाजशास्त्रीय अध्ययन में दिलचस्पी रखते हैं, और यह कहना चाहते हैं कि निर्गुण मत की सीमाएँ तत्कालीन विचारधारा की सीमाएँ थीं, जनता का पक्ष लेकर जहाँ तक जाया जा सकता था, वहाँ तक जाना हुआ। निम्नजातीय वर्गों के इस सांस्कृतिक योग की अपनी सीमाएँ थीं। ये सीमाएँ उन वर्गों की राजनैतिक चेतना की सीमाएँ थीं। आधुनिक अर्थों में, वे वर्ग कभी जागरूक सामाजिक-राजनैतिक संघर्ष पथ पर अग्रसर नहीं हुए। इसका कारण क्या है, यह विषय यहाँ अप्रस्तुत है। केवल इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि संघर्षहीनता के अभाव का मूल कारण भारत की सामन्तयुगीन सामाजिक-आर्थिक रचना में है। दूसरे, जहाँ ये संघर्ष करते से दिखायी दिये, वहाँ उन्होंने एक नये सामन्ती शासक वर्ग को ही दृढ़ किया, जैसा कि महाराष्ट्र में हुआ।

प्रस्तुत विचारों के प्रधान निष्कर्ष ये हैं (1) निम्नवर्गीय भक्ति-भावना एक सामाजिक परिस्थिति में उत्पन्न हुई और दूसरी सामाजिक स्थिति में परिणत हुई। महाराष्ट्र में उसने एक राष्ट्रीय जाति खड़ी कर दी, सिख एक नवीन जाति बन गये। इन जातियों ने तत्कालीन सर्वोत्तम शासक वर्गों से मोर्चा लिया। भक्ति-कालीन सन्तों के बिना महाराष्ट्रीय भावना की कल्पना नहीं की जा सकती, न सिख गुरुओं के बिना सिख जाति की। साराश यह कि भक्ति भावना के राजनैतिक गर्भितार्थ थे। ये राजनैतिक गर्भितार्थ तत्कालीन सामन्ती शोषक वर्गों और उनकी विचारधारा के समर्थकों के विरुद्ध थे।

(2) इस भक्ति आन्दोलन के प्रारम्भिक चरण में निम्नवर्गीय तत्त्व सर्वाधिक सक्षम और प्रभावशाली थे। दक्षिण भारत के कट्टरपन्थी तत्त्व, जो कि तत्कालीन हिन्दू सामन्ती वर्गों के समर्थक थे, इस निम्नवर्गीय सांस्कृतिक जन-चेतना के एकदम विरुद्ध थे। वे उन पर तरह तरह के अत्याचार भी करते रहे। मुस्लिम तत्त्वों से मार खाकर भी, हिन्दू सामन्ती वर्ग, उनसे समझौता करने की विवशता स्वीकार कर, उनसे एक प्रकार से मिले हुए थे। उत्तर भारत में हिन्दुओं के कई वर्गों का पेशा ही मुस्लिम वर्गों की सेवा करना था। अकबर ही पहला शासक था, जिसने तत्कालीन तथ्यों के आधार पर खुलकर हिन्दू सामन्तों का स्वागत किया।

उत्तरप्रदेश तथा दिल्ली के आस-पास के क्षेत्रों में हिन्दू सामन्ती तत्त्व मुसलमान सामन्ती तत्त्वों से छिटककर नहीं रह सके। लूट-पाट, नोच खसोट के उस युग में जनता की आर्थिक सामाजिक दुःस्थिति गम्भीर थी। निम्नवर्गीय जातियों के सन्तों की निर्गुण-वाणी का, तत्कालीन मानों के अनुसार, क्रान्तिकारी सुधारवादी स्वर, अपनी सामाजिक स्थिति के विरुद्ध क्षोभ, और अपने लिए अधिक मानवोचित परिस्थिति की आवश्यकता बतलाता था। भक्तिकाल की निम्नवर्गीय चेतना के सांस्कृतिक स्तर अपने-अपने सन्त पैदा करने लगे। हिन्दू-मुस्लिम सामन्ती तत्त्वों के शोषण-शासन और कट्टरपन्थी दृढ़ता से प्रेरित हिन्दू-मुस्लिम जनता भक्ति-मार्ग पर चल पड़ी थी, चाहे वह किसी भी नाम से क्यों न हो। निम्नवर्गीय भक्ति-मार्ग निर्गुण-भक्ति के रूप में प्रस्फुटित हुआ। इस निर्गुण-भक्ति में तत्कालीन सामन्तवाद-विरोधी तत्त्व सर्वाधिक थे। किन्तु तत्कालीन समाज-रचना के कट्टर पक्षपाती तत्त्वों में से बहुतेरे भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव में

आ गये थे। इनमें से बहुत-से भद्र सामन्ती परिवारों में से थे। निर्गुण भक्ति की उदारवादी और सुधारवादी सांस्कृतिक विचारधारा का उन पर भी प्रभाव हुआ। उन पर भी प्रभाव तो हुआ, किन्तु आगे चलकर उन्होंने भी भक्ति-आन्दोलन को प्रभावित किया। अपने कट्टरपन्थी पुराणमतवादी संस्कारों से प्रेरित होकर, उत्तर भारत की कृष्णभक्ति, भावावेशवादी आत्मवाद को लिये हुए, निर्गुण मत के विरुद्ध संघर्ष करने लगी। इस सगुण मत में उच्चवर्गीय तत्त्वों का पर्याप्त से अधिक समावेश था। किन्तु फिर भी इस सगुण शृंगारप्रधान भक्ति की इतनी हिम्मत नहीं थी कि वह जाति-विरोधी सुधारवादी वाणी के विरुद्ध प्रत्यक्ष और प्रकट रूप में वर्णाश्रम धर्म के सार्वभौम औचित्य की घोषणा करे। कृष्णभक्ति-वादी सूर आदि सन्त-कवि इन्हीं वर्गों से आये थे। इन कवियों ने भ्रमरगीतों द्वारा निर्गुण मत से संघर्ष किया और सगुणवाद की प्रस्थापना की। वर्णाश्रम धर्म की पुनःस्थापना के लिए सिर्फ एक ही कदम आगे बढ़ना जरूरी था। तुलसीदासजी के अदम्य व्यक्तित्व ने इस कार्य को पूरा कर दिया। इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन, जिस पर प्रारम्भ में निम्नजातियों का सर्वाधिक जोर था, उस पर अब ब्राह्मण-वाद पूरी तरह छा गया और सुधारवाद के विरुद्ध पुराण मतवाद की विजय हुई। इसमें दिल्ली के आस-पास के क्षेत्र तथा उत्तरप्रदेश के हिन्दू-मुस्लिम सामन्ती तत्त्व एक थे। यद्यपि हिन्दू मुसलमानों के अधीन थे, किन्तु दुःख और खेद से ही क्यों न सही, यह विवशता उन्होंने स्वीकार कर ली थी। इन हिन्दू सामन्त तत्त्वों की सांस्कृतिक क्षेत्र में अब पूरी विजय हो गयी थी।

(3) महाराष्ट्र में इस प्रक्रिया ने कुछ और रूप लिया। जन-सन्तों ने अप्रत्यक्ष रूप से महाराष्ट्र को जाग्रत और सचेत किया, रामदास और शिवाजी ने प्रत्यक्ष रूप से नवीन राष्ट्रीय जाति को जन्म दिया। किन्तु तब तक ब्राह्मणवादियों और जनता के वर्ग से आये हुए प्रभावशाली सेनाध्यक्षों और सन्तों में एक-दूसरे के लिए काफी उदारता बतलायी जाने लगी। शिवाजी के उपरान्त, जनता के गरीब वर्गों

कि निम्नजातीय सांस्कृतिक चेतना जिसे पल-पल पर कट्टरपन्थ से मुकाबला करना पड़ा था, वह उत्तर भारत से अधिक दीर्घकाल तक रही। पेशवाओं के काल में दोनों की स्थिति बराबर-बराबर रही। किन्तु आगे चलकर, अंग्रेजी राजनीति के जमाने में, पुराने संघर्षों की यादें दुहरायी गयीं, और 'ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरवाद' का पुनर्जन्म और विकास हुआ। और इस समय भी लगभग वही स्थिति है। फर्क इतना ही है कि निम्नजातियों के पिछड़े हुए लोग शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन में हैं, और अग्रगामी लोग कांग्रेस पेजेन्ट्स ऐण्ड वर्कर्स पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी तथा अन्य वामपक्षी दलों में शामिल हो गये हैं। आखिर जब इन्हीं जातियों में से पुराने जमाने में सन्त आ सकते थे, आगे चलकर सेनाध्यक्ष निकल सकते थे, तो अब राजनैतिक विचारक और नेता क्यों नहीं निकल सकते?

(4) सामन्तवादी काल में इन जातियों को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती थी, जब तक कि पूँजीवादी समाज-रचना सामन्ती समाज-रचना को समाप्त न कर देती। किन्तु सच्ची आर्थिक-सामाजिक समानता तब तक प्राप्त नहीं हो

सकती, जब तक कि समाज आर्थिक-सामाजिक आधार पर वर्गहीन न हो जाये।

(5) किसी भी साहित्य का वास्तविक विश्लेषण हम तब तक नहीं कर सकते, जब तक कि हम उन गतिमान सामाजिक शक्तियों को नहीं समझते, जिन्होंने मनोवैज्ञानिक-सांस्कृतिक धरातल पर आत्मप्रकटीकरण किया है। कबीर, तुलसीदास, आदि सन्तों के अध्ययन के लिए यह सर्वाधिक आवश्यक है। मैं इस ओर प्रगतिवादी क्षेत्रों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

[नयी दिशा, मई 1955 मे प्रकाशित। नयी कविता का आत्म-संघर्ष म सकलित]

नयी कविता : एक दायित्व

नये कवियों के सामने आज जितनी समस्याएँ प्रस्तुत हुई हैं, उतनी कदाचित् उनके पूर्वजों और अग्रजों के सामने न थीं। उन समस्याओं के बारे में सोचना नये लेखक की एक मजबूरी हो गयी है। उसके सामने ये समस्याएँ किताबी ढंग से पेश नहीं होतीं, वरन् संवेदनाओं का इतिहास बनकर उसके सामने ये महत्त्वपूर्ण हो उठती हैं। इन संवेदनाओं के कार्य-कारणों के विश्लेषण की ओर उसकी दृष्टि जाना स्वाभाविक ही है। ये कार्य-कारण जिन क्षेत्रों के अंगभूत होते हैं, उन क्षेत्रों के तत्त्व-रूप से ही उन समस्याओं का स्वरूप-निर्धारण होता है। संवेदना के स्तर पर ये समस्याएँ भले ही अनकानेक रूप-निर्धारण करें, और मात्र मनोवैज्ञानिक या व्यक्तिगत कहलायें, असल में उस स्थिति का उद्घाटन करती हैं जिसमें मनुष्य चाहता एक है, और दुनिया देती और कुछ है। साधारण मनुष्य सल्तनत नहीं चाहता। मनुष्य की स्वाभाविक गरिमा के अनुरोधों के अनुसार वह जीवन चाहता है, और उस जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हो जाने की स्थिति चाहता है। लेखक इस साधारण मनुष्य से अधिक असाधारण नहीं है (अपवादों को छोड़कर)। आज की दुनिया में बैठा हुआ आज का मनुष्य, विरोधी, अनुकूल अथवा भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ करता हुआ, जिस ढंग से अपने जगत् से सन्तुलन अथवा असन्तुलन स्थापित करता चलता है, वह ढंग उसकी संवेदनाओं के इतिहास की शैली बनकर, उसके चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण या संहार करता हुआ, उसके जीवन को एक विशेष प्रकार का रूपाकार, एक विशेष प्रकार का डिजाइन, देता चलता है।

निश्चय ही, व्यक्ति द्वारा प्राप्त सामंजस्य को एक दृष्टि से असन्तुलन और दूसरी दृष्टि से सन्तुलन कहा जा सकता है। असल में, वह आस-पास के जगत् में, अपनी स्थिति में, विशेष प्रकार का सामंजस्य, सन्तुलन और असन्तुलन दोनों को एक साथ अपने में धारण किये हुए है। बात थोड़ी स्पष्ट की जाय। एक व्यक्ति बदलते हुए समाज के भीतर नये मानवतावादी मूल्यों से संचालित होकर अपने आस-पास के जगत् और उसके प्रवाहों से विशेष प्रकार का सामंजस्य स्थापित

किये हुए है। किन्तु, उसी जगत् का एक पक्ष और एक धारा ऐसी है जो उस व्यक्ति द्वारा प्राप्त इस प्रकार के सामजस्य को न केवल हीन दृष्टि से देखती है, वरन् प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनो ही तरीको से उस व्यक्ति की तत्सम्बन्धित सत्ता को समाप्त करने की ओर अग्रसर होती है—भले ही इस सक्रिय विरोध के उसके अपने तरीके मीठे और सुसस्कृत से लेकर अभद्र और कठोरतम रहे। फलत, व्यक्ति का सन्तुलन यदि एक पक्ष से है, तो उसका दूसरे पक्ष से असन्तुलन अनिवार्य ही नही, वह कभी-कभी प्राकृत हो उठता है। यदि व्यक्ति का नये मूल्यो के लिए आग्रह बहुत ही भीतरी और चरित्रगत हुआ तो फिर कहना ही क्या ! फिर तो उसके भौतिक और मानसिक जीवन मे चिन्ता, आशका और अशान्ति ही समझिए। मुश्किल यह है कि उसका यह विरोधी पक्ष घर-आँगन, परिवार-रिश्तेदार, दोस्त-अहबाब, सभा-सोसाइटी, समाज-राजनीति तक ही सीमित नही रहता, वरन् उसके अपने मन के भीतर भी वह अनेक प्रकार की द्विधाएँ, और नये और पुराने के बीच के अनकानेक मानसिक द्वन्द्व, उत्पन्न करता है।

यह आन्तरिक द्वन्द्व, वस्तुत, बहुत बार उसके भीतर नयी आवश्यकताओ के अनुसार व्यक्तित्व के नये रूपायन के अनुरोधो और पुराने मूल्यो के अनुसार बने हुए आन्तरिक चरित्र, के बीच द्वन्द्व होता है। पुराने मूल्यो और नये मूल्यो का आन्तरिक सघर्ष कहाँ तक सफल होता है, यह व्यक्ति की अपनी तेजस्विता और आत्मबल पर निर्भर है। यह द्वन्द्व सबमे समान रूप से तीव्र ही हो, यह आवश्यक नही। लोग सघर्ष के अलग-अलग स्तरो तक पहुँचकर रुक जाते हैं। नतीजा यह होता है कि कुछ पुराने मूल्य साथ-साथ चले चलते है, और कुछ नये मूल्य आत्मसात् हो जाते हैं। उनकी भीतरी टक्कर के अलावा वास्तविक बाह्य जीवन मे भी टक्कर हो उठती है। इस टक्कर को टाला नही जा सकता। जो लोग आत्म सन्तुष्टिपूर्वक समाज से सामजस्य की बात करते है, उनकी जिन्दगी मे जरा घुसकर देखने से पता चलता है कि उन्होने कितना और कैसा सामजस्य प्राप्त कर लिया है। असल मे, वह [सच्चा] सामजस्य न होकर शिष्ट समाज की गोल-मोल सतही आव-भगत से अपनी गोल मोल सतही सामाजिक भद्रता का सामजस्य होता है। वह सामजस्य यश और शिश्नोदर की लिप्सा मे पडे हुए मनुष्य का आत्मछल मात्र है।

नये मूल्यो का जन्म नयी परिस्थितियो की सार्वजनिकता से होता है। मूल्य मूर्त्त होते है, जो, केवल भावुक और वैचारिक धरातल पर 'मूल्य' कहलाकर, वस्तुत, व्यक्तित्व का गुण (वच्यूँ) बनने का प्रयास करते रहते हैं। नयी परि-स्थितियाँ जब व्यक्तित्व को इष्ट दिशा मे सम्पूर्ण रूप से मोड देती हैं—अपने तकाजो की पूर्ति के लिए आवश्यक कार्यो की शक्ति जब व्यक्तित्व मे पैदा कर देती है, यानी उस परिस्थिति के लिए आवश्यक गुणो का जन्म और विकास जब उस व्यक्तित्व मे हो जाता है—तब वे मूल्य साकार हो उठते हैं। मूल्यो को जन्म देने-वाली ये परिस्थितियाँ अपनी सार्वजनिकता मे ऐतिहासिक होती है। अतएव वे मूल्य भी ऐतिहासिक हो जाते है।

मध्यवर्गीय परिवारो के क्षेत्र मे, पारिवारिक उत्तरदायित्व की सुघर सामा-जिकता और शिष्ट समाज मे अपने यश की सुघर वैयक्तिकता महत्त्वपूर्ण होती है। फलत, पारिवारिक उत्तरदायित्व के सुघर निर्वाह का सघर्ष, और शिष्ट समाज

मे यश प्राप्त करने का सघर्ष, महत्त्वपूर्ण हो उठता है। इस उत्तरदायित्व का सुघर निर्वाह किस ढग, किस प्रणाली और किस रीति से हो रहा है, यह महत्त्वपूर्ण नही होता, जितनी कि यह बात कि ख्याति मिल रही है कि यह उत्तरदायित्व पारिवारिको को उत्तम रीति का जीवन प्रदान कर रहा है, और यह कि अपने सुघर-सुन्दर जीवन द्वारा वह शिष्ट समाज का यशोभागी है। नतीजा यह होता है कि मध्यवर्ग की केवल आत्म-वचनाओ का ही सृजन नही होता, वरन् उस तथाकथित यश और उत्तरदायित्व की पूर्ति के मार्ग मे व्यक्ति को अनेको झूठे समझौते करने पडते हैं।

भारत की पूरी ऐतिहासिक स्थिति ही ऐसी है कि गरीब वर्ग अधिकाधिक गरीब होते जा रहे हैं और धनी वर्ग अधिकाधिक श्रीमान। मध्यवर्ग की खाती-पीती शिष्ट श्रेणी और उसी वर्ग की गरीब श्रेणी के बीच भयानक खाई पडी हुई है, जो दिन-ब-दिन बढती जाती है। ये गरीब श्रेणी अब इस नतीजे पर पहुँच रही है कि उसका [illegible]
प्राइम
छोटे
वकीलो तक मे यह बात घर करके बैठ गयी है। निस्सन्देह, इस वर्ग मे से बहुतेरे ऐसे हैं जो व्यक्तिगत लाभ की लालसा मे औरो की राह मे बाधा बनकर स्वय महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, या आपेक्षिक ऊँची जगह पर पहुँच जाते हैं। किन्तु उनका स्वय का वर्ग (गरीब श्रेणी) उनका स्वागत नही करता। फलत, उच्च वर्गो के प्रति अविश्वास, घृणा, तिरस्कार और क्षोभ, साथ ही, अपने वर्ग की दु स्थिति मे पडे हुए लोगो की सहायता, प्रेम तथा नये आदर्शों का स्वप्न, और अपनी दु स्थिति के प्रति उग्र प्रतिक्रिया और विक्षोभ—इस गरीब मध्यवर्ग के स्थायी भावो मे से हैं। इस वर्ग से उत्पन्न और इस वर्ग से तदाकार लेखक अपनी परिस्थितियो से जूझता हुआ उन्ही भाव-स्थितियो को व्यक्तिगत धरातल पर प्रकट करता है जो उस वर्ग की अपनी होती हैं। लेखक की ये भाव-स्थितियाँ अपनी श्रेणी की परिस्थितियो की पेचीदगियो से पैदा हुए विविध तनावो से उत्पन्न होती है।

ये तनाव ऐतिहासिक तनाव हैं—ऐतिहासिक इस दृष्टि से कि समाज के भीतर चलनेवाली परिवर्तन प्रक्रियाओ का वे महत्त्वपूर्ण अग हैं। इन तनावो का मर्म समझना उनको उनके वास्तविक सन्दर्भ मे देकर सवेदनात्मक ज्ञान के हार्दिक माध्यम द्वारा काव्य मे (अथवा उपन्यास आदि मे) प्रकट करना, लेखक का ऐतिहासिक कार्य है।

यह निश्चित है कि गरीब श्रेणी के परिवारो मे भी, (1) सामन्ती प्रभाव, (2) व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादी नयी पीढी, [और] (3) पुरानी और नयी पीढी को अपने अजगर-पाश मे बाँधनेवाली एक सी दु स्थितियाँ होने के कारण, नये मूल्यो का सघर्ष पेचीदा हो जाता है। सचेत और भावुक, जिज्ञासु और कार्यशील नया लडका अपनी व्यक्ति स्वातन्त्र्य की वृत्ति को इतना अमानवीय रूप से तीखा नही कर सकता कि जिससे ये दु स्थितियाँ और भी घनीभूत हो जायें। समाज की विषमता का ज्ञान उस लडके को प्रारम्भ से ही एक वेदना के रूप मे प्राप्त हो जाता है। अपने स्कूली जीवन मे ही वह सीख जाता है कि ऊनी कोट पहनकर आनेवाला विद्यार्थी और फटा कुर्ता पहनकर विद्याध्ययन करनेवाला विद्यार्थी, इन दोनों की

अलग-अलग श्रेणियाँ हैं, जिनके भाव-समुदाय और मनोवैज्ञानिक तत्व अलग-अलग हैं। किन्तु साथ ही, जीवन के अधिकाधिक अनुभव के फलस्वरूप, उसकी संवेदनात्मक ज्ञान-क्षमता गहरी और विस्तीर्ण होती है। फलत: वह यह पाता है कि केवल सामन्ती प्रभाव ही (जिससे जूझने के कारण उसके स्नेह-सम्बन्ध तोड़े मरोड़े गये हैं), परिवार के अन्दर बाहर उसकी परिस्थिति खराब होने का एकमात्र मूल कारण नहीं हैं, वरन् उसके मूल में और भी एक तथ्य है। *जिसे धन यानी आर्थिक* क्षमता और तज्जन्य और तदनुषंगी सामाजिक प्रतिष्ठा कहा जाता है, जिसे समाज में जीवन की 'सफलता' (घोषित या अघोषित रूप से) कहा जाता है, परिवार के अन्दर उसी की दृष्टि में और उसी आधार पर ऊँच नीच की कल्पना, सफलता-असफलता की कल्पना घर किये बैठती है। समाज के अन्दर [उसे] अपनी आजीविका के संघर्ष के अतिरिक्त, सामाजिक प्रतिष्ठा के मनोविज्ञान से, सफलता-असफलता की कल्पना के मनोविज्ञान से, जूझना पड़ता है। इसका पर्यवसान उसके आस पास के समाज से न केवल असामंजस्य में होता है, वरन् इस कारण विभिन्न व्यक्तित्व-चरित्रों से परस्पर-आघात-प्रत्याघात द्वारा उसका स्वयं का मन भी अन्तर्मुख होता जाता है। उसे प्रतीत होता रहता है कि साधारणजनों के मानवीय अनुरोधों का पुंज, इन्हीं सामन्ती प्रभाव-पूजा [के] और व्यक्तिगत *पद-प्रतिष्ठा-लोभों और आर्थिक क्षमता की वृद्धि की कला के चमत्कारों के*, एकदम विरुद्ध है। जितना-जितना उसका अनुभव बढ़ता जाता है, वह इस नतीजे पर पहुँचता है कि व्यक्तिगत आर्थिक क्षमता और सामाजिक पद प्रतिष्ठा के पुजारियों का कार्य इस बात का प्रमाण है कि हमारा समाज निकृष्ट किस्म के इस सिद्धान्त पर आधारित है कि 'प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने लिए, दूसरों को चूल्हे में जाने दो।' इस सिद्धान्त की पुष्टि उसका अपना अनुभव, अपना जीवन करता है। अनुभव-ज्ञान के अधिकाधिक विकास के साथ उसे यह भी दिखायी देने लगता है कि वर्तमान समाज प्रणाली दूषित है, पूँजीवादी है। चाहे जितने लोग उसे सुधारने का प्रयत्न करें, इस समाज के मूलाधार को बदले बिना वह नहीं सुधर सकती।

किन्तु इस ज्ञान तक आते-आते तनावों की दुनिया में रहनेवाला व्यक्ति अपनी आधी शारीरिक और मानसिक शक्ति खो देता है। पच्चीस वर्ष की आयु होने के बाद, जब नयी आशा और नये उत्साह की रचनात्मक आवश्यकता होती है, तब वह वृद्ध हो जाता है। आजीविका का संघर्ष उसे पछाड़ देता है। स्नेह की भूख उसे दबा देती है। ज्ञान की पिपासा जाग्रत होते हुए भी, उसके साधन उसके पास नहीं होते। इसलिए उसके स्थायी भाव क्षोभ, घृणा, अविश्वास, तिरस्कार [रहते हैं,] और साथ ही, स्नेह सम्बन्धों के निर्वाह का अनुरोध, अपने व्यक्तिगत संघर्ष को सामाजिक संघर्ष में बदलने की लालसा, और तत्सम्बन्धी जिज्ञासा पैदा हो जाती हैं। वह भावुक से अब बौद्धिक होने लगता है।

इस असामंजस्य के अतिरिक्त उसका सामंजस्य भी बहुत बड़ा होता है। उसके आस-पास उसके समानधर्मा और समशील नवयुवकों की अनेक पंक्तियाँ होती हैं, जिनसे उसे प्रेरणा, सहानुभूति, जीने की और काम कर दिखाने की शक्ति प्राप्त होती है—भले ही उसके काम प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं के कालमों में न दिखायी दें। नतीजा यह होता है कि 'मनुष्य-सत्य' का जो अर्थ वह लेता है, 'मानवीयता' का जो अर्थ उसके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह अर्थ निश्चय ही

अन्य उच्च वर्गों द्वारा लिये गये अर्थ से बहुत कुछ भिन्न होता है।

सामजस्य फलप्रद करने की यह प्रक्रिया अपने तईं काफी कठिन होती है। जिन लोगों से उसका सामजस्य होता है, वे उसकी-जैसी ही तनावो की दुनिया मे रहनेवाले लोग होते है। उनके पास मूल साधनो की ही कमी होती है। जीविकोपार्जन स्वय एक बडी कठिन समस्या हो जाती है। किन्तु, उन्हे सबसे बडी सुविधा यह होती है कि स्वय की जीवन-स्थिति के कारण ही वे गरीब वर्ग के एक भाग होते हैं, इसलिए उनकी मनोदशाएँ वे अधिक समझते है, और उन सामाजिक प्रक्रियाओ की उन्हे अधिक जानकारी होती है जो उन गरीब वर्गों मे चलती रहती हैं। दूसरे, स्वय पढे-लिखे और सास्कृतिक क्षेत्र मे होने के कारण, वे प्रगति की अद्यावत् प्रवृत्तियो को आत्मसात् किये रहते है।

अपने साहित्य की जीवन-भूमि मे ऐसे लोग मुख्यत तीन बातें अर्जित करते हैं · (1) व्यक्तिगत सघर्ष को सामाजिक सघर्ष मे बदलने की प्रक्रिया, और सामाजिक सघर्ष मे व्यक्तिगत सघर्ष का महत्त्व।

(2) नये मानवतावादी मूल्यो के लिए किये जानेवाले सघर्ष मे चरित्र का महत्त्व ('चरित्र' का यहाँ साधारण अर्थ नहीं लिया जा रहा है, अज्ञान भी चरित्र का अग है), वैज्ञानिक विचारधारा का महत्त्व, जिस पर उसकी विश्व-दृष्टि आधारित है, विश्व-दृष्टि के विकास का महत्त्व—इस विश्व-दृष्टि मे चरित्र की मानवीय मनोहरता और सुदृढता भी सम्मिलित है। इस चरित्र मे मानवीय सुकुमार गुणों का समन्वय तो हो ही, साथ ही उसमे समाज के अन्दर दुष्प्रभावो से उत्पन्न धारणाओ के विरुद्ध अपनी सत्ता स्थापित करने की प्रवृत्ति भी हो। वैचारिक आकर्षण मे चरित्र का आकर्षण भी सम्मिलित है, इसलिए कि विचार यथार्थ की वेदनाओ से प्रसूत हैं, वे सवेदनात्मक ज्ञान-क्षमता के हार्दिक माध्यम से उत्पन्न हुए हैं।

(3) अनुभवजन्य तथा विचारजन्य ज्ञान की प्राप्ति का अनुरोध होता है कि ज्ञान-प्राप्तिकर्ता का चरित्र भी उस ज्ञान द्वारा निश्चित किये गये मानदण्डो और कार्यों की पूर्ति करे। साराशत, व्यक्तित्व को अब ऐसे गुणों की आवश्यकता होती है जो नये मानवीय मूल्यों की नयी नयी मजिलो तक पहुँचने के सघर्ष मे टिकने के लिए उसे सक्रिय सहायता कर सके, उसे जीवन-ज्ञान की गहराई दे सके, और उस ज्ञान के कार्यात्मक तकाजों की पूर्ति के लिए आवश्यक हार्दिक, बौद्धिक और कार्यात्मक क्षमता प्रदान कर सकें।

किन्तु इस पूरे विकास के लिए व्यक्ति को एक-से-एक भयानक तनावों की राहों से गुजरना पडता है। बैठकर प्रोफेसरी करनेवाला व्यक्ति चार अखबार पढ़कर गप लगा सकता है, अमेरिका और रूस [के बारे मे] दून की हांक सकता है, लेकिन समाज की गलियो मे रहनेवालो के सघर्ष के मनोविज्ञान को वह कतई नही समझ सकता।

इस पूरे सघर्ष मे, भीतरी व्यक्तित्व को खूब चोटें पहुँचती हैं, दिल और दिमाग मे तनावो के कारण उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति बहुत ज्यादा खर्च हो जाती है। इस सघर्ष मे, उसके हार्दिक स्नेह-सम्बन्ध, जिनके बिना वह जी नहीं सकता, काफी तोडे-मरोडे गये होते हैं। हार्दिक सम्बन्धो मे टूट-फूट की नुक्सान-भरपाई हो ही जाये, यह आवश्यक नहीं होता। उसे हृदय-सम्बन्धी सहा-

यता की जरूरत महसूस होती रहती है। जीविका-सम्बन्धी प्रश्न सनातन हो जाता है। बिना आर्थिक क्षमता के, वह पारिवारिक स्नेह की जीवन-सम्बन्धी कार्यगत आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर सकता।

इस प्रकार, एक ओर उसके जीवन में सहकारियों, सहयोगियों और सहानुभवियों का बल होता है, नये अनुभव से प्राप्त सवेदनात्मक ज्ञान-क्षमता होती है, तो दूसरी ओर, विशुद्ध व्यक्तिगत क्षेत्र मे वह 'असफल' (सासारिक दृष्टि से) है। किन्तु सबस बडा बल प्रेरणा का उन्मेष है, व्यापक भावनाओं को अनुभव करने की हार्दिक क्षमता और सामाजिक विकास मे योग देने की वृत्ति और कार्य [है,] जिसका सम्बल उसे सहारा देता रहता है।

हम यह पहले ही कह चुके है कि अपने विकास मे इस श्रेणी के व्यक्ति की दो प्रतिक्रियाएँ परिलक्षित होती हैं। एक, सामन्ती प्रभावो और प्रतिच्छायाओ के विरुद्ध व्यक्ति-स्वातन्त्र्य भावना से सचालित प्रतिक्रियाएँ, दूसरी, आर्थिक-सामाजिक व्यक्तिवाद के विरुद्ध, यानी तदनुपगी समस्त विकृतियो क विरुद्ध (चाहे वे समाज-रचना से सम्बन्धित हो या व्यक्ति से) मानव-मुक्ति और मानव गरिमा की भावना से सचालित प्रतिक्रियाएँ।

इन दोनो भावनाओं द्वारा सचालित प्रतिक्रियाएँ, जो गरीब वर्ग के किसी लेखक को अपने व्यक्तित्व के अग के रूप मे प्राप्त होती हैं, उसे सघर्षों और तनावो की दुनिया मे प्राकृत रूप से पहुँचा देती है। ये सघर्ष और तनाव बहुधा उस अन्तर्मुख बना देते हैं, और दुखी हुई आत्मा के आत्मनिवेदन की वृत्ति को प्रोत्साहित करते है। दूसरे, ये सघर्ष की सीमा मे ही घिरे नही रहते, किन्तु इन दो उपर्युक्त वृत्तियों और परिस्थिति की पेचीदगियो की भावना के मिल-जुल रूप म भी प्रकट होते हैं। कभी वे आत्मद्वन्द्व का रूप लेते हैं, कभी बाहरी यथार्थ को मोडने की आकाक्षा बनते हैं, तो कभी मात्र निराशा का पुज बन जाते हैं। किन्तु, वस्तुत, ये सघर्षों और तनावो से उत्पन्न विभिन्न सम्मिश्र भाव-स्थितियाँ ही है।

इस श्रेणी के कवियो के लिए, नयी कविता का जन्म सघर्षों और तनावो से उत्पन्न विभिन्न भाव स्थितियों से हुआ है।

साहित्य की वास्तविक जीवन-भूमि (जो इन्होने पायी है), वस्तुत, उनकी कविता से अधिक सम्पन्न गरिमामय, वैविध्यपूर्ण और नये मूल्यो से समन्वित है। किन्तु, नयी कविता तो तनावो के मनोविज्ञान को भी पूर्णत बिम्बित नही कर पाती। सवेदनात्मक ज्ञान क्षमता और अनुभव-सामर्थ्य की श्री से स्वय सम्पन्न होते हुए भी, लेखक तनावो के अत्यन्त लघु, अत्यन्त अल्प क्षेत्र को ही कविता मे प्रतिबिम्बित कर पाता है। यहाँ तक कि नये मूल्यो के क्षेत्र में उसने स्वय जो ईमानदार सघर्ष किया है, उसकी गूँज ही कहीं-कहीं प्रकट होती है, न कि उस सघर्ष के वस्तु-तत्त्वो (जिनमें मनोवैज्ञानिक तत्त्व प्रधान रूप से शामिल हैं) का मानसिक चित्र। यहाँ तक कि वास्तविक जीवन में महान् भावनाएँ जो मूर्त्त होती है और बराबर अनुभव की जाती हैं (वह लेखक का मानव सामर्थ्य है), नयी कविता मे बिम्बित नही हो पाती। कहीं-कहीं, इधर-उधर, ऐसी मानसिक प्रतिक्रियाओं के खण्ड-चित्र दिखायी देते हैं। किन्तु तनावो के विस्तार-चित्र, जिनमे जीवन के सामान्यीकरणों के लिए गुजाइश हो, मुझे तो कम-से-कम नहीं-से दिखायी दिये। मतलब यह है कि इस श्रेणी के लेखकों मे से बहुतेरो मे (जिनमे नम्रतावश नहीं,

वास्तविकतावश, मैं भी अपने को शामिल करता हूँ) कहीं-न-कहीं अटकाव जरूर है, जिसका निदान आवश्यक है।

इसका एक कारण, जो मुझे सूझ पडता है, यह है कि कविता ऐसे लोगों के लिए 'प्राइवेट' चीज हो गयी है—प्राइवेट इस अर्थ मे कि अपने वास्तविक जीवन मे किये हुए वास्तविक सघर्ष, और उसके दौरान मे प्राप्त अनुभव, और अनुभूत महान् भावना की वास्तविकताएँ और पायी हुई दृष्टि, उसको इतना हर्षोत्फुल्ल या प्रेरणामय नहीं करती, जितना कि सघर्ष मे शक्ति के अतिव्यय से उत्पन्न थकान और क्षोभ उसे किसी 'मात्र अपने' से आत्मनिवेदन करने की ओर प्रोत्साहित करते हैं। फल यह होता है कि यद्यपि आत्मनिवेदन कवितामय हो जाता है, लेखक अपने व्यक्तित्व को अप्रत्यक्षत विकृत रूप से देखने लगता है—यानी जहाँ तक कि उस लिखित कविता का क्षेत्र है। अर्थात्, वह अपने भीतर के मानव-सामर्थ्य की ऊँचाइयो के प्रति कला के क्षेत्र में अनुत्तरदायी व्यवहार करता है। यह द्विधा इस बात का भी सकेत है कि लेखक के व्यक्तित्व-चरित्र मे एक खाई है, एक दीवार है। दीवार इसलिए कि वस्तुत जिस प्रकार की स्थिति और जीवन वह अपने लिए चाहता है (उसका चाहना नि सन्देह अत्यन्त मानवोचित है), वह न मिलने पर (वह सबको मिलना, सामान्यत, असम्भव भी है, जब तक कि समाज स्थिति ही आमूल बदल न जाये और सबको वैसी जीवन स्थिति न मिले) वह न केवल दुखी है, वरन् उन इच्छाओ से इतना लिपटा हुआ है कि उसके काव्य के लिए तज्जन्य दु ख ही महत्त्वपूर्ण हैं, न कि उसके स्वय किये हुए सघर्ष, न कि उसके अपने ज्योतिर्मान अनुभव, न कि उसकी अपनी महान् भावना, जो चाह समाज-उन्नति के कार्य मे भ्रातृत्व और मैत्री की हो या प्रगाढ स्नेह की, जबकि वस्तुत उसने ये बातें अनुभव की है। अपने व्यक्तित्व को देखने क उसके दृष्टि विकार का एक कारण यह है कि अपने जीवन-मूल्यो के प्रति उसकी तदाकारिता मे कमी है, और यह कमी बहुत बडी है। यह कमी उसके सामर्थ्य को भी कम करती है, यहाँ तक कि उसके अपने अनुभवो, उसकी अपनी गहन व्यापक भावनाओ, उसके अपने सघर्षों, के मानवैतिहासिक महत्त्व को उचित रूप से आँक नही पाती। मैं जानता हूँ कि मेर इस कथन के अपवाद भी बताये जा सकते हैं। किन्तु, वे अपवाद, अपने-आपमे महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, मेरे उपर्युक्त सामान्यीकरण के लिए ऐसे प्रधान नहीं है कि वह सामान्यीकरण भग हो सके।

इसका एक दूसरा पक्ष भी है। वह है बढ-चढकर बात करने की अयथार्थ आत्मश्लाघामयी अहवादी प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति तथाकथित प्रगतिवाद के जोशीले उद्गारो म भी दिखायी देती है। इस प्रवृत्ति से हानि बहुत अधिक हुई है। 'हम यह कर देंगे वह कर देंगे, दुनिया के तख्ने को पलट देंगे' वाले कवि महान् राजनैतिक भावनाओ के वस्तुपरक, वस्तु सत्यात्मक, यथार्थ चित्रण से अछूते रहे हैं—जो राजनैतिक जीवन के राजनैतिक सघर्ष मे प्राप्त अप्रतिम हृदय विस्तार के रूप मे वास्तविक जीवन मे हमे प्राप्त होती हैं। खेद है कि मानव-मुक्ति की राजनीति की महान् मनुष्यता का विश्वदर्शी काव्य हिन्दी मे नहीं आ सका है। इसके विपरीत, जो मिला 'उसमे काव्य का खरापन' भी बहुत हद तक उपेक्षित हो गया। बढ-चढकर बात करने का ढोल काव्य-सघर्ष की वास्तविक अनुभवात्मक ऊँचाइयों की छाया भी नहीं छू सका।

उधर, नयी कविता के (इस श्रेणी के) लेखको मे, अपने अनुभव की साक्षात् जीवन-भूमि होने, रहन और बढने के बावजूद, अपने ही उत्कट प्रयासो और पराजयों के कारणो की खोज की भावनाओ, जिज्ञासाओ और पुन प्रयासो की वास्तविकताओ के बावजूद, काव्य मे जो आया, जो उतरा वह केवल मानसिक प्रतिक्रिया के खण्ड-चित्र ही है। तनाव-भरे जीवन के व्यापक मनोवैज्ञानिक और तथ्यात्मक सामान्यीकरणो का उसम अभाव-सा है।

इसके विपरीत, जिस व्यक्ति मे लक्ष्य के प्रति, श्रेष्ठतम जीवन-मूल्यो के प्रति, तदाकारिता कम हुई, या जिसने उसे जिस छोटी हद तक समझा, उतना ही उस लक्ष्य का तकाजा भी उस पर कम हुआ। उन अनुरोधो की उग्रता की तुलना मे व्यक्तित्व की सापेक्ष दुर्बलता की भावना कभी-कभी तीव्र होती है। किन्तु उन आग्रहो की उग्रता कम होने की स्थिति मे व्यक्तित्व पर दबाव कम हो जाने से, तथाकथित सन्तुलन और आत्मविश्वास के आभास का जन्म होता है। अपने ही तथाकथित सन्तुलन और आत्मविश्वास के आभास की भाव-स्थिति म, लेखक कभी-कभी अपने सामर्थ्य की डींग-सी मारने लगता है। साराश एक ओर, अनुभूत की हुई महान् भावनाओ, विशाल अनुभवो, भव्य करुणार्द्र स्थितियो और अथक जिज्ञासाओ की निश्छल प्रश्नभरी दृष्टियो का (जो उसके जीवन की वास्तविकताओ की एक महत्त्वपूर्ण अग रही हैं), कोई यथार्थ मनोवैज्ञानिक मानवीय चित्र नही उपस्थित किया जाता। उसके विपरीत, व्यक्तित्व पर लक्ष्यो की माँगें कम होने की स्थिति मे, छोटी-मोटी सासारिक सफलताओ के नशे म, लेखक अपने तथाकथित सन्तुलन और आत्मविश्वास के आभास का वृहद् रूप बनाकर कविता मे तथाकथित 'आत्म-स्थापना' करता है। किन्तु पाठको को या अन्य लेखको को ऐसी कविता पढकर केवल इतना ही प्रतीत होता है कि कवि 'आत्म प्रस्थापना' के मूड मे है। कुल मिलाकर नतीजा यह होता है कि वास्तविक अनुभवित जीवन के साक्षात् मनोवैज्ञानिक वस्तुतत्त्वात्मक चित्र, अपने अभाव म, महत्त्वपर्ण हो जाते है। विशिष्ट वर्ग मे रहनवाले विशिष्ट प्रकार के जीवन मे पडे हुए पूर्ण मनुष्य का मनोवैज्ञानिक चित्रण नही हो पाता। स्वय के द्वारा किये गये जीवन के नये मूल्यो के सघर्ष के अनुभव तो गुहान्धकार मे छिप ही जाते है, उन दु स्थितियो को ही सघर्ष का नाम दिया जाता है, जहाँ, वस्तुत, बहिरागता बाधाएँ और उनकी पीडाएँ ही हैं, किन्तु पेचोदगियो की भँवरो मे पडकर (उन्हे मेटने के लिए काफी अक्ल और धैर्य की आवश्यकता होती है) मन केवल डूबा ही जाता है, उबरता नही। यानी कि पीडा के सामने प्रयासरहित होने की स्थिति को सघर्ष कहा जाने लगता है। जहाँ सघर्ष है, वस्तुत, वही सघर्ष है। हर बाधा, मुठभेड हुए बिना, सघर्ष नहीं हो सकती। जो व्यक्ति, वस्तुत, अपने सघर्षो के प्रयासो की प्रेरणा मे विश्वास करता है, वह आस्थावान होता है। और वह अन्यो की सत्प्रेरणाओ पर भी सहज विश्वास कर लेता है। किन्तु जिसमे ऐसा नही होता, वह डींग भले ही मार ले, वह न अपने प्रति आस्थावान होता है, न अन्यो के प्रति। वस्तुत, मूलत वह अनास्थाशील व्यक्ति है। नयी कविता मे नये मूल्यों के सघर्ष के तनावो के, तथा म[illegible] किसी से छुपा नही है। दूसरी [illegible] वता पर है। बडी-बडी राजध [illegible] कृतियों मे, साबुन

और टॉयलेट के रोमास से लगाकर तो न जाने किन-किन शृगारिक वृत्तियों या (शहरी उच्चवर्गीयों की अभिरुचि का) सम्मोह दिखायी देता है।

शृगार और रोमास सब जगह हैं और जीवन का एक अग हैं। विभिन्न वर्गों मे ही, प्रेम से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक वस्तु-तत्त्व भी अलग-अलग होते हैं। गोदान की सिलिया का प्रेम, सियाराम की नारी का प्रेम, यशपाल के प्रेम से बिल्कुल भिन्न है। यशपाल आदि लोग (जिनमे गरीब श्रेणी से आये हुए बहुत-से नये कवि भी शामिल है) उच्च-मध्यवर्गीय शृगारिक तथा इतर सम्मोहो मे जकडे हुए हैं। अपनी श्रेणी की कविता को इन फैशनो से बचाना क्या जरूरी नही है? यह इसी बात को साबित करता है कि उच्च वर्ग के प्रति आसक्त लेखक साधारण श्रेणी की जीवन-भूमि मे प्राप्त शृगार का चित्रण नहीं कर सकते या नही करना चाहते। किन्तु बात केवल शृगार की ही नही, विचारो की, दृष्टि की, अभिरुचि की, और मर्मज्ञता की भी है। और, मूलत, उस सघर्ष को समझने की बात है, जो सिर्फ उन्होने ही नही किया है—अर्थात्, जीवन-मूल्यों की बात है। किस प्रकार के जीवन-मूल्य आप प्रस्तुत करना चाहते हैं—उच्च मध्यवर्गीय? या साधारण जन के? इसका अर्थ यह कदापि नही कि कला और तन्त्र के क्षेत्र मे उच्च-मध्यवर्गीयो की सफलताओं से अपने लिए नतीजे न निकाले जायें, किन्तु अपनी श्रेणी को छोडकर उनके सम्मोहो के वशीभूत तो न हुआ जाय।

इस श्रेणी के सारे लक्ष्यों का समवाय एक ही सूत्र मे है। और वह, वस्तुत, है मानव-मुक्ति, जिसके अन्तर्गत जीवन के सभी पक्ष आ जाते हैं, चाहे वह शृगार हो या राजनीति। हर पक्ष मे मुक्ति का सघर्ष है। कोई भी पक्ष इससे खाली नही है। उसमे, रामचन्द्र शुक्ल की शब्दावली मे, सत् और असत् का, मगल और अमगल का, सघर्ष चला हुआ है—चाहे वह सौन्दर्य का क्षेत्र क्यो न हो। इस सघर्ष के द्वन्द्वो को पहचानना, उनके मनोवैज्ञानिक तत्त्वो का चित्रण करना, क्या नयी कविता का, नये साहित्य का, कर्त्तव्य नही है? काव्य मे नये जीवन-मूल्यो की सस्थापना के लिए हमे प्रयास करना ही होगा, यह निस्सन्देह है।

अन्त मे, एक स्पष्टीकरण करना और जरूरी है। मैंने साधारण वर्ग के मनुष्य की ही ऊँचाइयो को ध्यान मे रखा है। मेरा यह खयाल है कि उसमे अनेक निचाइयों के बावजूद, ऊँचाइयाँ है। अनेक निचाइयों के बावजूद, उसी तरह, एक ईमानदार लेखक मे भी ऊँचाइयाँ हैं। मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि आत्मगत और बहिर्गत यथार्थ को यथार्थ दृष्टि से ही देखा जाना जरूरी है।

[नयी दिशा, अक्टूबर 1955 मे प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसघर्ष मे सकलित]

नयी कविता और आधुनिक भाव-बोध[1]

बहुत दिनों से हिन्दी साहित्य मे नयी कविता होती चली आयी है। विगत दो दशाब्दियो से हिन्दी कविता ने जो नया रग पकडा है, उससे घबराकर बहुतों ने अलग-अलग कोणो से उसका विरोध भी किया। किन्तु आज यह प्रकट सत्य है कि नयी कविता को साहित्य के मैदान से कोई भी नही हटा सकता। जिस समय वह साहित्य के मैदान से हटती नजर आयेगी, तब यह देखा जायेगा कि भिन्न और नवीन प्रकार की काव्याभिरुचि और भिन्न और नवीन प्रकार की काव्यधारा उसका स्थान ले रही है। किन्तु, इस समय कही भी ऐसा सकेत नही मिलता कि नयी कविता का पद और प्रभाव क्षीण हो रहा है।

पिछले बीस-पच्चीस वर्षों के भीतर नयी काव्य-प्रवृत्ति अनेक विकास-चरणो को पार करती हुई यहाँ तक आ पहुँची है। उसके भीतर अनेक शैलियाँ, अनेक भाव-धाराएँ, और अनेक वैचारिक दृष्टियाँ काम कर रही हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य और स्नेह-भावना से लेकर तो सभ्यता-समीक्षा तक, जो-जो भाव-श्रेणियाँ सम्भव हो सकती हैं, वे सब उसमे हैं। गीत और छन्दोबद्ध कविता से लेकर पद्याभास गद्य तक उसमे सम्मिलित है। दुर्भाग्य की बात केवल यह है कि उनके जो विरोधी समीक्षक हैं, [वे] उसकी सारी कृतियो, सारी शैलियो और भाव-धाराओ को सामने रखकर, उनका अध्ययन करके, उसका विरोध नही करते। केवल विरोधात्मक प्रचार को ही वे समीक्षा समझते हैं। किन्तु ऐसी समीक्षा का कोई मूल्य नहीं है, इतिहास ने यह स्पष्ट कर दिया है।

छत्तीसगढ नयी कविता के क्षेत्र मे भी उर्वर रहा है। हमारे छत्तीसगढ मे स्व सतीश चौबे की केवल कुछ कविताओ ने ही हिन्दी ससार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। आज इसी छत्तीसगढ के श्रीकान्त वर्मा नयी कविता के क्षेत्र मे नवीन उपलब्धियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। हिन्दी काव्यजगत् उनसे पूर्णत परिचित है। नाम गिनाना खतरे से खाली नही हैं क्योंकि बहुत-से नाम छूट भी सकते हैं। किन्तु श्रीहरि ठाकुर का नाम भुलाना नही चाहूँगा, जिनके अथक प्रयत्नो के फल-स्वरूप नये स्वर नामक दो काव्य-सग्रह प्रकाशित हुए, जिनमे नयी काव्य-प्रवृत्ति को विशेष स्थान दिया गया। आज श्री नारायणलाल परमार, श्री विश्वेन्द्रनाथ ठाकुर तथा मेरे अन्य मित्र इसी क्षेत्र मे काम करते जा रहे हैं। यह इस बात का सूचक है कि छत्तीसगढ का यह क्षेत्र नयी काव्य-धारा से पूर्णत परिचित है।

नयी कविता की आत्मा है आधुनिक भाव-बोध। आज का सुशिक्षित मनुष्य अपने परिवेश परिस्थितियो से जो सवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करता है, वे सवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ या उनका सामान्यीकरण नयी कविता मे प्रकट होता है। ऐसे सुशिक्षित मनुष्य का दृष्टिकोण मध्ययुगीन धार्मिक दृष्टि से अनुप्राणित अथवा छायावादी भावुकता से परिपूर्ण कल्पना प्रधान (मैं दृष्टिकोण की बात कर रहा हू) नही होता। विज्ञान के इस युग मे, उसकी दृष्टि यथार्थोन्मुख तथा सवेदन-

1 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' पुस्तक में यह निबन्ध 'छायावाद और नयी कविता-2' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था।—स

शील होती है। वह यथार्थ सम्बन्धों को ग्रहण कर यथार्थ-बोध द्वारा सवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करता है।

आधुनिक साहित्य-बोध को भी परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है। ये परिभाषाएं भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। महत्त्व की बात केवल इतनी है कि आधुनिक सवेदना एक विशेष परिभाषा की सीमा के अन्तर्गत नही लायी जा सकती। किन्तु यह बात सही है कि पूर्वतर युगो की भाव-दृष्टियो से वह सर्वथा भिन्न है। वह कहाँ किस प्रकार भिन्न है, यह पहले बताया जा चुका है। किन्तु खेद की बात यह है कि आधुनिकता के आदर्शभूत देश यूरोप अमरीका मान गये हैं। फलत, बहुत-से कवि यूरोपीय अमरीकी भाव-तत्त्वों को भारतीय वेश मे उपस्थित करते-से दिखायी देते हैं। अगर यूरोप-अमरीका का कवि उदास है, और उसका जी काट खाने को होता है तो हमारे यहाँ के कवि भी उदासी को फैशनवल समझकर कविता मे उदासी का चित्रण करते हैं। यह गलत है।

किन्तु, यही समीक्षकों के सामने एक समस्या उठ खडी होती है। आज सुशिक्षित मध्यवर्ग के लिए भारतीय परिस्थिति अनुकूल नहीं है। भ्रष्टाचार, अनाचार, ठगी, कलह, राग द्वेष, दाँव पेंच के दृश्य हम सर्वत्र दिखायी देते हैं। पैसे की कीमत बढ गयी है, आदमी की कीमत गिर गयी है। ऐसी स्थिति मे भारतीय कवि की कविता मे उदासी और विफलता, ग्लानि और क्षोभ का चित्रण होना स्वाभाविक है। अतएव उसे यूरोप-अमरीका मे उधार ली हुई भावना कहना असगत प्रतीत होता है। होता यह है कि कवि अपनी स्वय की मन स्थिति और अपने स्वय के रुझान और मनोदशाओं के अनुसार बाहर के प्रभाव ग्रहण करता है।

आज यूरोप-अमरीका मे एक विशेष प्रकार की समाज समीक्षा, सामाजिक आलोचन, सभ्यता-समीक्षा प्रचलित है। कई ऐसे लेखक-कवि हैं जो भारतीय अनुभव को ध्यान मे न रखकर, विदेशो मे प्रचलित जो सभ्यता-समीक्षा है उसको अपनाकर, काव्य मे अपनी भावनाएँ प्रकट करते हैं। पश्चिमी जगत् मे प्रचलित सभ्यता समीक्षा की एक विशेषता यह है कि उसमे मानव की उन्नतिपरक शक्तियो मे आस्था का अभाव है। कहा गया है कि मानव स्वभावत क्षुद्र है, तुच्छ है, वह स्वभावत स्वार्थ प्रेरित है। उसका मूल लक्ष्य स्वार्थ-पूर्ति है। हाँ, यह सही है कि कभी कभी, किन्ही अवसरो पर, वह महापुरुषो और वीरपुरुषो के रूप में भी सामने आता है, किन्तु यह भी एक धोखा है। मनुष्य विचित्र मनोवैज्ञानिक स्वार्थों से प्रेरित होकर महान् बनता है। आत्म-प्रदर्शन प्रवृत्ति, निम्नता भाव के विपर्यय से उत्पन्न उच्चता-भाव, अधिकार-प्राप्ति की भावना, इत्यादि इत्यादि, न मालूम कितनी ही सूक्ष्म किन्तु निम्न प्रवृत्तियो से परिचालित होकर, मनुष्य वीर पुरुष और महापुरुष बनने का प्रयत्न करता है। सहकारिता, सद्भावना, और सदाचार —ये सब ऊपरी-ऊपरी व्यावहारिक बातें हैं, व्यावहारिक सुविधा से उत्पन्न हैं। सक्षेप मे, मनुष्य मूलत क्षुद्र है। अतएव दुख सनातन है। दुख से उबरने का कोई उपाय नहीं।

इसी प्रकार, यह कहा गया है कि वर्तमान सभ्यता औद्योगिक सभ्यता है। औद्योगिक सभ्यता यान्त्रिक सभ्यता है, जिसमे मनुष्य सिर्फ एक पुर्जा है, इससे ज्यादा कुछ नही। यह सभ्यता मानव-व्यक्तित्व का हनन करती है, उसका नाश करती है। मानव-आत्मा का और मानव व्यक्तित्व का उद्भास और विकास

उसमे नही होता । समाजवादी और पूँजीवादी दुनिया मे अन्तर केवल यह है कि पूँजीवादी दुनिया मे व्यक्ति को चीखने-चिल्लाने का अधिकार है । किन्तु परिस्थितियाँ ऐसी है कि वह अपना विकास नही कर सकता, यद्यपि साम्यवादी दुनिया मे तानाशाही के कारण, वहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के अभाव मे, व्यक्ति विकास का प्रश्न ही नही उठता । यानी कि इस सवाल पर चौतरफा नजर डालने पर, यही साबित होता है कि व्यक्ति की आत्म-स्थिति, अर्थात् व्यक्ति के स्वभाव, की भाँति ही उसकी वाह्य स्थिति और परिवेश निराशाप्रद है । और, आत्मिक तथा वाह्यगत दोनो दृष्टियो और क्षेत्रो मे, यह जो दुख और निराशा है, वह मूलभूत, अनिवार्य और अटल है । मनुष्य की इससे उबरने की कोशिश केवल एक मानसिक बहलावा है, इससे अधिक कुछ नही ।

बहुत से व्यक्ति समाज मे लीन होकर राजनैतिक और सामाजिक कार्यों मे अपनी मुक्ति की खोज करते हैं, जनता के उद्धार मे अपना उद्धार देखते है । किन्तु, जनता क्या है ? उसका अपना कोई मन नही होता, जिधर हाँको उधर हँकती है। जनता ढोर है । जनता क्या है, एक भीड है। भीड की अपनी कोई आत्मा नही होती । भीड सामूहिक उत्तेजना मे—अनजानी उत्तेजनाओं मे—कार्य करती है । सन्तुलित बुद्धि से खूब सोच-विचार करके, एकान्त चिन्तन के द्वारा वह किसी निर्णय पर नही पहुँचती । उसमे आत्मा नही होती । ये जुलूस, ये नारे, ये *सम्मिलित प्रदर्शन, ये सार्वजनिक कार्य व्यक्ति के अपने आत्मतत्त्व के लोप के प्रमाण*

है । अपनी

आत्मतन्त्री

चाहता है

अग न बने,

जनता मे विलीन न हो जाये । दूसरे शब्दो मे व्यक्ति अद्वितीय व्यक्ति, सृजनशील व्यक्ति, समाज और जनता से अलग रहकर मौलिक साहित्य दे सकने की स्थिति मे हो सकता है । नही तो नही । *और इस प्रकार सृजन-कार्य ही म मानव की* सच्ची मुक्ति है, या उसकी आत्मपूर्ति है ।

अब यह समझ मे आ गया होगा कि नयी कविता म प्रचलित बहुतेरा निराशावाद और जनता और समाज से अलग रहकर जीने की यह प्रवृत्ति—अर्थात् व्यक्तिवाद—दोनो एक दार्शनिक भूमिका मे, दार्शनिक विचारधारा का रूप धारण कर, हिन्दी साहित्य मे—नयी कविता के क्षेत्र मे—खूब प्रचलित है । भारतीय मध्यवर्गीय जीवन मे आज जो खेदपूर्ण अवसन्न दुखमय स्थिति है, उसकी प्रधान मनोदशाओ को आज यूरोप-अमरीका का यह वैचारिक प्रवाह प्राप्त हो जाता है । और इस प्रकार नये काव्य मे स्वप्न भग, खेद, ग्लानि और निराशा के *भावो की एक वैचारिक भूमिका और दर्शन मिल जाता है, जिसमे व्यक्ति समीक्षा,* सभ्यता-समीक्षा और मानव-भाग्य-समीक्षा भी है ।

मैं इस वैचारिक प्रवृत्ति का विरोध करता हूँ । बहुतेरे लोग इसका विरोध करते हैं । किन्तु यह प्रवृत्ति प्रबल है ।

ध्यान मे रखने की बात है कि नयी कविता के पूरे क्षेत्र को इस वैचारिक प्रवृत्ति ने—इस निराशा-दर्शन ने, इस व्यक्तिवाद ने—नहीं घेरा है । उसका कुछ अश ही इस प्रवृत्ति का शिकार है । किन्तु नयी कविता के क्षेत्र का यह अश

संगठित है और सगठित रूप से इसका प्रचार होता है। इन लोगो के बीच लोकप्रिय विदेशी पत्रो मे इसी तरह के लेख प्रकाशित होते रहते है।

किन्तु नयी कविता के क्षेत्र मे कुछ आवाजें ऐसी है जो भारतीय व्यक्तित्व की, भारतीयता की, रक्षा चाहती हैं। वे भारतीय व्यक्तित्व को पश्चिमी जगत् से नही, वरन् एशिया, अफ्रीका, दक्षिण अमरीका से जोडना चाहती हैं। इन देशो में समाज-परिवर्तन, सघर्ष और निर्माण की प्रक्रिया जारी है। इसमे जनता और उसका नेतृत्व दोनो खूब भाग लेते है। वहाँ भी साहित्य विकासमान हो रहा है। अलजीरिया और इजिप्ट, कागो और क्यूबा, सीलोन और जापान, इण्डोनेशिया अर्जेन्तीना जैसे देशो में ज़िन्दगी नये उभार पर है, और वह विभिन्न कलात्मक माध्यमो से प्रकट हो रही है। नयी कविता का एक क्षेत्र, या यो कहिए कि नयी पीढियो का एक हिस्सा, मानसिक रूप से अपने को इन उठते हुए देशो के निकट पाता है।

हम पहले ही कह चुके है कि नयी कविता का मूल प्राण है आधुनिक भाव-बोध। यह आधुनिक भाव-बोध पश्चिमी जगत् के व्यक्तिवादी-निराशावादी दर्शन से अनुप्राणित हो अथवा भारत के अपने भविष्य स्वप्न से। भारत के अपने भविष्य स्वप्न से जो प्रेरित है, वे तथाकथित पिछडे देशो के सघर्षो और निर्माणो को प्रस्तुत करनेवाली प्रेरणाओ के अधिक निकट पाते है स्वय को। भविष्य भी इन्ही के साथ है, क्योकि वे मानव की उन्नति-परक शक्तियो मे, मानव की उद्धार-क्षमता मे, समाजवाद और जनतन्त्र मे, भारतीय सस्कृति की विकास-शक्तियो मे, प्रगाढ विश्वास रखते हैं।

दुनिया छोटी होती जा रही है। राष्ट्रीयता के भाव अन्तर्राष्ट्रीयता से अलग नही किए जा सकते। नयी कला, नयी कविता, स्वय एक अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु हो गयी है। किन्तु अपनी भूमि और अपने देश की मिट्टी मे रँगकर ही विश्वात्मक हुआ जा सकता है, नही तो नही।

इस व्यापक भावभूमि से यदि हम चलें, तो हम पायेंगे कि नयी काव्य-प्रवृत्ति, जो केवल क्षण चित्रो को प्रस्तुत करती है, इस दायित्व को निभा नही पाती। क्षण चित्र अपने-आपमे अपूर्ण हैं। जीवन समग्र है, किन्तु वह अपनी समष्टि मे उलझा हुआ है। अतएव कोई भी क्षण-चित्र—उस समग्र को, उसकी सारी पेचीदगियों में, प्रतिबिम्बित नही कर पाता। यही दुर्भाग्य है। लेखक की मूल प्रवृत्ति यह हो गयी है कि किसी भी जीवन-खण्ड मे प्रकट एक स्थिति, एक प्रसग के अन्तर्गत एक विशेष भाव को पकड ले और उसे शब्द-बद्ध कर दे। वह उस भाव से सम्बद्ध अन्य सूत्रो को पकडकर उन्हे प्रस्तुत नही कर पाता। इससे यही सूचित होता है कि वास्तविक जीवन-विश्लेषण की क्षमता उसमे नही है। वह वाह्य के प्रति केवल सवेदनाघात करके, सवेदनात्मक प्रतिक्रिया करके, उसे शब्दो मे बाँध देता है। मेरे कथन का यह अर्थ नही है कि जीवन-विश्लेषण के विस्तृत चित्रो का नितान्त अभाव है। नयी कविता के क्षेत्र मे ऐसी बहुतेरी कृतियाँ मौजूद हैं, जिनमे जीवन के विस्तृत चित्र, जीवन की विभिन्न परस्पर-सलग्न समस्याएँ तथा दिक्-सकेत, प्राप्त होते हैं। किन्तु प्रधानता उनकी नही है। ऐसा क्यो ? यह इसलिए है कि कवि-कलाकार यथार्थ-बोध के प्रथम स्तर पर, सवेदनात्मक आकलन और सवेदनात्मक प्रतिक्रिया के स्तर पर, ही रहना चाहते है। वे वास्तविक जीवन-विश्लेषण को उसकी पूरी गहराई [मे] आत्मसात् करना नही चाहते, ऐसा प्रतीत

होता है। यही कारण है कि जीवन के विस्तार-चित्र हमें नयी कविता में कम दिखायी देते हैं, क्योंकि उसमें केवल विशिष्ट का चित्रण ही नहीं, वरन् परस्पर-सम्बन्धित विशिष्टों का चित्रण और उनका सामान्यीकरण—विश्लेषण और समन्वय—*इन दोनों की आवश्यकता है। गहराई से जीवन में पैठने के अतिरिक्त* जीवन के वैविध्य के अनुभव, जीवन-चिन्तन और कलात्मक उपलब्धि के लिए आवश्यक अभिव्यक्ति-क्षमता—यह सब चाहिए। तभी हम एक विशेष दृष्टि से अनुभवों का संकलन करके उन्हें क्रम-बद्ध रूप में, एक मनोहर काव्यात्मक प्रकाश-वातावरण के भीतर, स्थापित कर सकेंगे। किन्तु यह नहीं होता है, क्योंकि क्षण-चित्र उपस्थित करने में जो सुकरता और सुविधा होती है, वह इसमें नहीं है। ध्यान में रखिए कि नयी कविता की भी एक रूढ़ि बन गयी है (किसी भी काव्य-रूढ़ि को बनने के लिए बीस-पच्चीस साल बहुत होते हैं), और, इस रूढ़ि के अनुरोधों के कारण, अगला विकास भविष्य पर छोड़ दिया गया है।

सच बात तो यह है कि जीवन-विश्लेषणपरक विस्तृत चित्रण करने के लिए जिस बौद्धिकता, और संकलित अनुभव-चित्रों के गठन के लिए जिस बुद्धि-शक्ति, की आवश्यकता होती है, वह इस क्षेत्र में बहुत कम दिखायी देती है। वस्तुत, नयी कवितावाले ठीक ही करते हैं, जब वे यह कहते हैं कि हमारी कविता बौद्धिक नहीं है। नयी कविता को बौद्धिक कहनेवाले वे लोग हैं जो छायावादी कल्पना-प्रधान भावुकतावाद की दृष्टि से, उसके पैमाने को ध्यान में रखते हुए, नयी कविता को देखते हैं। नयी कविता की गद्यात्मक आभा को देखकर वे उसे बौद्धिक कहते हैं। किन्तु नयी कविता में किसी बौद्धिक प्रक्रिया का उत्कर्ष नहीं दिखायी [देता]। उसमें तो संवेदनाघातों या उनके सामान्यीकरणों अर्थात् सामान्यीकृत *भावों की ही प्रधानता है। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।*

किन्तु यदि हमें सच्चे आधुनिक भाव-बोध को चित्रित करना है, तो हमें तीव्रतम संवेदना-शक्ति के अतिरिक्त सूक्ष्म का अवगाहन करनेवाली बुद्धि और उसकी विश्लेषण-क्षमता चाहिए ही। और उसके अतिरिक्त हमें विरोध-दृष्टि से अनुभव-संकलन और उनके क्रमबद्ध चित्रण-गठन की भी आवश्यकता होती है।

इसी को मैं दूसरे शब्दों में यों कहूँगा कि हमें कोई प्रयोगवाद और नयी कविता के नपे-तुले, जाने-माने दायरे से निकलकर नव-क्लासिक्वाद की तरफ मुड़ना होगा। तभी हम यथार्थ के परस्पर-अन्त सम्बन्धों को गहराई से समझकर, जीवन के वैविध्य को इस प्रकार रख सकेंगे कि जिसमें कोई निष्कर्ष निकल सके। दूसरे शब्दों में, हम अनुभव संकलित करके उनके क्रम-चित्रों का एक ऐसा संगठन उपस्थित कर सकेंगे, जो यथार्थ को प्रस्तुत करेगा, जो उस यथार्थ की सारभूत विशेषताओं के चित्रण द्वारा किन्हीं जीवन-निष्कर्षों को अंकित और संकेतित कर सकेगा।

जिस प्रकार आज जीवन छिन्न विच्छिन्न है, उसी प्रकार, सम्भवतः उन्हीं छिन्न-विच्छिन्नताओं के परिणामस्वरूप, नये काव्य में सब ओर क्षण-चित्र ही क्षण-चित्र हैं। किन्तु यह स्थिति, स्थिति होने मात्र से, अपने औचित्य को सिद्ध नहीं कर सकती। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि एक ओर भारतीय भूमि और आकाश में नयी कविता अधिक-से-अधिक रमे, तो दूसरी ओर, यह भी आवश्यक है कि हम, नव-क्लासिक्वाद की तरफ मुड़ते हुए, वैविध्यपूर्ण जीवन के सारभूत निष्कर्षों और दिक् संकेतों को, अनुभूत यथार्थ के परस्पर अन्त -

सम्बन्धो को, अनुभव-चित्रो के सगठन के द्वारा प्रकट कर सकें। तभी हम आधुनिक युग के बहिरन्तर सत्य की गहनता और वैविध्य को, उसके सारे महत्त्व के साथ, कलात्मक अभिव्यक्ति दे सकेंगे।

[नये स्वर, अप्रैल 1956 मे प्रकाशित। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र मे 'छायावाद और नयी कविता-2' शीर्षक से सकलित]

छायावाद और नयी कविता

कोई भी नया साहित्यिक आन्दोलन उन विशेष देश-कालगत परिस्थितियो से पैदा होता है जिन्हे हम सामाजिक विकास की एक महत्त्वपूर्ण शृखला कह सकते हैं। याद कीजिये वह ज़माना, जब गांधीवादी राजनीति को सप्रश्न दृष्टि से देखा जा रहा था और काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनी थी। वामपक्षी विचारधारा हस के ज़रिए हिन्दी साहित्य-क्षेत्र मे फैल रही थी और साहित्यिक मूल्यो के पुनर्निर्धारण के प्रश्न कुछ साहित्यिको के मन मे घुमड रहे थे। इन वामपक्षी विचार-आवर्तो ने दो प्रकार के लेखक पैदा किये—एक तो वे जो सीधे-सीधे राजनैतिक विचार-प्रवाह के साहित्यिक रूपान्तर थे, और दूसरे वे थे जिन्होंने छायावादी साहित्यिक आदर्शो और मनोदशाओ के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रियाएँ की थी। ये दूसरे प्रकार के लेखक सन् 1939 से ही छायावादी-आदर्शवादी भूमि को वैचारिक दृष्टि से त्याग रह थे। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण विरोध सिर्फ एक बात को लेकर था। और वह यह कि छायावाद न अर्थ-भूमि को सकुचित कर दिया है। सौन्दर्य, दुख, कष्ट, लक्ष्य, आदर्श, क्रोध, क्षोभ का चित्रण जो छायावाद मे हुआ, वह वास्तविक मनोदशाओ का नही, वरन् कल्पित दुख, कष्ट, क्रोध, क्षोभ आदि का है। छायावादी मनोदशा वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व नही करती—वह जीवन जो जिया जाता है—उसकी करुणा वास्तविक करुणा नही। छायावादी मनोभावो मे रगीनी इसलिए है कि उसमे जिन्दगी, जैसी कि वह जी जाती है, की असलियत लापता है। यही है वह मूल प्रतिक्रिया जो नयी कविता ने उन दिनो छायावाद के विरुद्ध की थी।

किन्तु इस प्रतिक्रिया की पार्श्वभूमि सामाजिक न थी। आग्रह इस बात का था कि छायावाद म वर्णित करुणा व्यक्ति की वास्तविक करुणा नही, जिन्दगी के भीतर करुणास्पद परिस्थितियो से उत्पन्न मनोभावो का चित्रण नही। वह कुछ और ही है, जिसमे करुणा का विलास है, उसकी तकलीफ नही। लेकिन नयी *कविता का कवि इस तकलीफ को आत्मकेन्द्री अर्थों मे ही देख रहा था। वह इस* करुणा की सामाजिक व्याख्या न कर पाता था। अतएव नयी कविता का जन्म छायावादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद की ही बगावत थी। यह बगावत इसीलिए सम्भव थी कि देश की बिगडी हुई दशा मे मध्यम-वर्ग के साधारण व्यक्ति का जीवन असह्य हो उठा था। ऐसा व्यक्ति यह सोचता था कि तत्कालीन

रोमैण्टिक कविता कम-से-कम उसके कष्टग्रस्त जीवन के मनोभावों के यथार्थ को तो उभारे।

नयी कविता की दूसरी बद्धमूल धारणा यह थी कि छायावाद जीवन के प्रश्नों को भावुकता प्रधान, कल्पना-मूलक, आदर्शवादी दृष्टि से देखता है। उसकी यह दृष्टि जीवन के यथार्थ के बिलकुल विपरीत है। जैसे, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का आदर्शीकरण, नारी का आदर्शीकरण, किसान-मजदूर-जीवन का रोमैण्टिक वायवीय चित्रण, (जैसे पन्त की ग्राम्या में) दुःख और करुणा का आदर्शीकरण—गोया हर चीज का कल्पना प्रवण आदर्शीकरण और उदात्तीकरण। निश्चय ही छायावाद की फिलॉसफी और कार्य-पद्धति ही गड़बड़ है। इस प्रतिक्रिया का फल यह हुआ कि नयी कविता जीवन की समस्याओं को बौद्धिक दृष्टि से देखने और मिटाने के लिए छटपटाने लगी और उसकी चित्रण-पद्धति बौद्धिक हो उठी। यह बौद्धिकता उसके दृष्टिकोण तक ही सीमित न रही, वरन् काव्य-रचना का एक प्रमुख सर्जनात्मक तत्त्व बनकर सामने आयी। और साथ ही उसकी शैली को भी प्रभावित किया।

चूँकि नयी कविता कल्पना-प्रवण, भावुकतापूर्ण, वायवीय आदर्शवादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध यथार्थवादी व्यक्तिवाद की बगावत थी, इसलिए उसमें (1) बौद्धिकता के कारण यथार्थवादी आत्म-चेतना, और (1) व्यक्तिवाद का आत्मकेन्द्री स्वरूप, अर्थात् वास्तविक सुख दुःख की सामाजिक पार्श्वभूमि और ऐतिहासिक शक्तियों के प्रति सघन रागात्मक सम्बन्ध की क्षीणता पायी जाती है। ध्यान रहे

तार सप्तक के प्रकाशन (सन् 1943) तक उसके चार कवि प्रगतिवादी (थे) और दो कवि प्रगतिवाद से प्रभावित हुए। केवल एक श्री अज्ञेय प्रगतिवादी न हो सके। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनने के अनन्तर सन् 42 तक वामपक्षी विचारधाराएँ युवकों में फैल चुकी थीं। यह भी ध्यान देने की बात है कि साधारण रूप से तार सप्तक में संगृहीत कविताएँ सन्'42 के उत्तरार्ध के पूर्व की ही कविताएँ हैं। इसलिए उन कविताओं में पूँजीवाद के विरुद्ध क्षोभ के बावजूद व्यक्ति चेतना का ही प्राधान्य है।

दूसरा सप्तक निकलने तक परिस्थिति बदल चुकी थी। नयी कविता का टेकनीक प्रचार पा चुका था। जिन व्यक्तिगत और सामाजिक राजनैतिक स्थिति-परिस्थितियों से तारसप्तक वालों को जूझना पड़ा, वे परिस्थितियाँ दूसरा सप्तक वालों के पास न थीं। जिन प्रश्नों को तारसप्तक में उठाया (गया) उनका विकास भी दूसरा सप्तक में न हो पाया। तारसप्तक के कवियों में, वर्तमान दुःस्थिति के भाव से ग्रस्त रहने की मनोदशा के कारण उत्पन्न नकारवादी नैराश्यमूलक निवेदन, राजनैतिक विरोध सामाजिक व्यंग्य व्यक्ति के भीतर के वास्तविक अन्त-

होती हैं। दूसरा सप्तक में न इतना सामाजिक व्यंग्य है और न राजनैतिक विरोध और न इतनी निविड़ आत्म चेतना। इसके विपरीत, उसमें मनोहर प्राकृतिक

दृश्यांकन, निसर्ग सौन्दर्य का अनेक रूपकों में चित्रण, वातावरण के सुघर रेखा-चित्र और काव्य-शिल्प की रमणीयता के दर्शन होते हैं। दूसरा सप्तक वालों का टेक्नीक सधा हुआ है, और उनके काव्य-विषय भी अपेक्षाकृत सरल हैं। सामाजिक व्यंग्य, प्रगतिशील प्रवृत्ति और राजनैतिक स्वर क्षीण है और वह भी सिर्फ गूंज भर है। तारसप्तक वालों ने जितने मनोभावों को और मनुष्य दशाओं को मथा है, उतना दूसरा सप्तक वालों ने नहीं। ऊपर लिखित वचन सिर्फ भेद दरशाने के लिए हैं, न किसी की श्रेष्ठतरता स्थापित करने के लिए।

स्वर्गीय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में छायावाद के प्रति जो क्षोभ प्रकट किया, वह एकदम निःसार और अनर्गल है, यह नहीं कहा जा सकता। उन्होंने बार-बार यह शिकायत की है कि छायावाद में अर्थ-भूमि का संकोच हो गया है, मानव मन के बहुत ही अल्प और अ-महत्त्वपूर्ण विषयों की ओर ध्यान दिया गया है। छायावाद के सार्वभौम एकच्छत्रता के वातावरण में, नये कवियों ने केवल नम्रता प्रदर्शित करने के लिए अपनी कविताओं को प्रयोग कहा। वस्तुतः, वे कविताएँ प्रयोग न होकर साक्षात् कविताएँ थीं। नयी कविता के विरोधियों ने निन्दा के तुच्छ भाव से प्रयोगवाद शब्द चला दिया। अतः, हमारे पाठक यह जान लें कि नयी कविता कविता है, प्रयोग नहीं। अगर उसमें आज अधकचरा-पन दिखायी देता है, तो यह तो नयी कविता की प्रारम्भिक अवस्था ही का लक्षण है, जैसा कि यह छायावाद में भी था, या कि अन्य साहित्यिक प्रणालियों की प्रारम्भिक अवस्था में हो सकता है। तो आइये, अब नयी कविता के स्वरूप पर थोड़ा विचार करें और उसकी सफलताओं पर भी दृष्टि डालें।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि नयी कविता का कवि जगत् और जीवन से, सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति-परिस्थिति में, जागरूक रहा। किन्तु उसकी उनके प्रति मानसिक प्रतिक्रियाएँ अन्तर्मुखी, भावप्रवण और निबिड आत्ममूलक रहीं। इस आत्म-केन्द्रिता से उसकी बौद्धिकता अलग नहीं की जा सकती। उदाहरणतः, कवि जो भाव अपने हृदय में अनुभव करता है—चाहे वह राजनैतिक हो या व्यक्तिगत—उस भाव को ठीक वैसे ही लिखना चाहेगा जैसा वह वस्तुतः उसके हृदय में है। उसके सारे रूप-रंग, स्थिति प्रत्यय का सच्चा चित्र उपस्थित करना चाहेगा, जैसे घनघोर उदासी को इस प्रकार प्रकट करेगा—

> आज उचटा-सा हृदय,
> साइरन बज जाये उसके बाद
> निर्जन शून्य सड़कों सा निभृत निःसंग खाली
> व्यर्थता की स्याह सी बेमाप
> चादर से
> अभी ज्यों ढँक गया हो शून्य जी का प्रान्त। (नेमिचन्द्र)

अगर कोई छायावादी कवि होता तो घनघोर उदासी के बेमनपन को वायवीय प्रकार से रखता। ध्यान रहे कि कलकत्ते में बमबारी की आशंका से मारवाड़ियों और बनियों की बेतहाशा भीड़ स्टेशन पर जमी रहती थी। कलकत्ते में साइरन की आवाज एक भयानक सूचना थी, जिससे सारी सड़कें सूनी पड़ जाती थीं। अपने मन के वास्तविक भाव सत्य को उसने यथार्थ-प्रेरित उपमाओं और प्रतीकों से

बांधा। जैसे, 'लहू की बूंदों से जलते हैं सड़कों पर बिजली के बल्ब लाल-लाल' (रामविलास शर्मा)। शर्मांजी युद्धातंक के वातावरण का चित्रण कर रहे हैं। यह कभी आवश्यक नहीं है कि उपमाएं और चित्र बाहरी सामाजिक यथार्थ से ही उद्भूत हुए हों, किन्तु यह आवश्यक है कि प्रस्तुत उपमा या चित्र ठीक उसी मात्रा में और ठीक उसी रूप में उपस्थित किये जायें, कि जिस मात्रा में और जिस रूप में कवि के भाव हैं। प्रभाव और भाव की अन्विति नयी कविता के टेकनीक की पहली शर्त है। साराश यह कि कल्पना तथा शैली के सम्बन्ध में नयी कविता में वैज्ञानिकता बरती जाती है, और भाव-तत्त्व के यथार्थ स्वरूप-चित्रण को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। इसका प्रधान कारण है नयी कविता का कवि जगत् और जीवन से वस्तुवादी यथार्थोन्मुख दृष्टि लेकर जन्मा है, चाहे वह अपने मन के निगूढतम भावों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म छटाओं को प्रकृतिरूपात्मक उपादानों के द्वारा चित्रित करता हो, अथवा अपने मन की भाव-स्थिति को आधुनिक सभ्यता के उपकरणों के प्रतीकों द्वारा व्यक्त करता हो। उसकी कविता में सामाजिक यथार्थ, प्राकृतिक सौन्दर्य और भव्यता से लेकर निगूढ भाव स्थितियों के विश्लेषण और चित्रण व्यंग्य और विद्रोह सभी सम्मिलित हैं। उसकी वास्तविकता-ग्राहक दृष्टि जब मन की स्थितियों पर मुड़ती है, तो कल्पना-शक्ति के माध्यम से वह आत्माभिव्यक्ति का साधन बनती है। जैसे, अज्ञेय की यह कविता :

हम रहे, झर चली बूँदें काल निर्झर की
उदधि की झंझा-प्रताड़ित द्रुत लहर हमने नहीं माँगी,
वासना से, याचना से हम परे थे—
सहज अनुरागी।
... ...
वक्ष थे सलग्न, पर अस्तित्व के उस इन्द्रधनु के छोर,
नहीं करना चाहते थे,
निरे मानव-जीव की शत-फण बुभुक्षा के
कुलाहल का आस्फालन,
... ...
आत्मलय के रुद्र-ताण्डव का प्रमाथी
तप्त आवाहन,
क्योंकि दोनों चल रहे थे एक ही समताल की गति पर।

अथवा धर्मवीर भारती की यह बात देखिए :

लेकिन फिर भी मजबूरी है
तुम दूर कहीं, खाली-खाली भारी मन से,
घुप-घुप करती-सी ढिबरी के नीचे बैठी
कुछ घर का काम-काज धन्धा करती होगी
यह शाम मुझे इस तरह निगलती जाती है!
कोहरे की पाँखें फैलाती, नरभक्षिणी
यम की चिड़िया-सी
यह जाड़े की मनहूस शाम मँडराती है!

जहाँ तक राजनैतिक-सामाजिक चित्रणों का प्रश्न है, श्री हरिनारायण व्यास,

रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, हमारे सामने प्रमुख रूप से आते हैं। राजनैतिक-सामाजिक आस्थाओं का भाव-प्रधान स्वरूप हमें श्री हरिनारायण व्यास में ही मिलता है। यही कारण है कि वे 'शरणार्थी' में इस प्रकार की पंक्तियाँ लिख सके—

हम पड़े हैं तम्बुओं में
गिन रहे हैं कल्पना के फूल की पँखुरी।
खून में भीगे हुए परिधान अपने
खा रहे हैं धूप उस मैदान में।

हंस के शान्ति अंक में प्रकाशित शमशेरबहादुर सिंह की 'शान्ति' पर कविता हिन्दी प्रगतिशील साहित्य में एकदम बेजोड़ है। सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्सुक भावनाओं की गहरी मानवता उसमें लक्षित होती है। 'नयी कविता' में अब तक व्यंग्य और राजनैतिक विरोध का स्वर भी तीव्र तो था, पर उसमें मानवीय गहराई का अभाव था। सो शमशेर ने पूरा किया। समय के विशाल कैनवास पर देश-देशान्तरों के मानव-चित्रों का विहंगावलोकन करने का श्रेय नरेश मेहता को प्राप्त है। उन्होंने प्रकृति-सौन्दर्य को वैदिक संस्कृति की आँखों से देखा और उसके भव्य उदात्त चित्र खड़े किये गये। 'उषस' पर उनकी कविता की कुछ पंक्तियाँ ये हैं :

किरणमयी, तुम स्वर्ण वेश में!
स्वर्ण देश में!
सिंचित है केसर के जल से
इन्द्रलोक की सीमा,
आने दो सैंधव घोड़ों का
रथ कुछ हलके धीमा।

अथवा 'किरन-धेनुएँ' में—

बरस रहा आलोक दूध है,
खेतों खलिहानों में,
जीवन की नव-किरण फूटती
मकई के दानों में,
सरिताओं में सोम दुह रहा वह अहीर मतवाला!

किन्तु चित्रकला की प्रधानता और उसके सम्पूर्ण आकार की व्यंजना श्री गिरिजाकुमार माथुर में ही है। डॉ रामविलास शर्मा की यह 'प्रत्यूष के पूर्व' की झाँकी देखिए :

सीत्-सीत् करती बयार है बह रही,
पौ फटने में अभी पहर-भर देर है।
बरगद से कुछ दूरी पर जो दीखता
ऊँचा-सा टीला, उस पर एकत्र हो,
ऊँचा मुँह कर देख डूबता चन्द्रमा
हुआ हुआ करते सियार हैं बोलते।

साराश यह कि नयी कविता में कोई भी विषय नहीं छूटता। ध्यान में रखने की बात सिर्फ इतनी है कि नयी कविता भाव या अनुभूति को, स्थिति या दृश्य को,

उसके मूर्त स्वरूप और सत्ता मे पकडती है। कल्पना उसके लिए सिर्फ एक वैज्ञानिक अस्त्र है, जिसके जरिए अकन किया जाता है।

[सम्भावित रचनाकाल 1955-56। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र मे सकलित]

हिन्दी-काव्य की नयी धारा

सन् 1940-43 के आस-पास हिन्दी के कुछ नये लेखक यह अनुभव कर रहे थे कि छायावादी काव्य और साहित्य के मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक भाववादी आदर्श जिन्दगी के तकाजो को पूरा नही कर पाते, वास्तविक सवेदनात्मक प्रश्नो का उत्तर नही दे पाते। इन लेखको को महादेवी की 'पीडा' वास्तविक पीडा की श्रेणी मे बैठती दिखायी न दी। उनका खयाल था कि असल जिन्दगी—जिसे जिया जाता है—वह बहुत ही उलझनभरी, अपने-आपमे सम्पन्न, साथ ही, बडी कठोर भी है। उनका यह ज्ञान अनुभवजन्य था। ये लोग अपने अनुभव की सवेदनात्मक प्रक्रियाओ और रूपो को प्रकट करने लगे। यथार्थ के अनुभवो से ग्रस्त होकर, आत्म-प्रकटीकरण की दिशा मे उन्होने अपने प्रयास आरम्भ किये।

राष्ट्र मे काग्रेस के भीतर वामपक्षी विचारधाराओ के उदय तथा विकास का वह काल था। व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ से सचेत रहते हुए, उनका वैज्ञानिक समाधान पाने और उसको व्यावहारिक रूप देने की तलाश हुई। एक वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि की खोज आरम्भ हुई—ऐसी दृष्टि जो व्यक्तिगत-सामाजिक समस्याओ से लगाकर तो अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ तक का वैज्ञानिक उत्तर दे सके। वामपक्षी भाव-विचारधाराओ ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। यह स्वाभाविक ही था कि ऐसे लोगों के लिए हृदय की दृष्टि बौद्धिक होती। जीवन की छोटी-से-छोटी मनोवैज्ञानिक बात क्या न हो, उसके प्रति दृष्टि बहुत महत्त्वपूर्ण हुई। किन्तु, वस्तुत, इन लोगों का साहित्य वामपक्षी साहित्य न हो पाया। यह सकारण था।

ये लोग समस्याओ को सवेदनात्मक रूप से अनुभव करते थे, उनके निराकरणो और समाधानो को नही। समाज और व्यक्ति की भीतरी आत्म-सगति मे बहुविध दरारो और दोषो के तीव्र सवेदनात्मक बोध को लेकर चलनेवाला व्यक्ति यदि वैज्ञानिक रूप से सिद्ध समाधानो को सवेदनात्मक स्तर पर धारण कर न चले तो अन्तत उसे मात्र काल्पनिक आत्म-सगति या विश्व-सगति को लेकर ही तो आना होगा। नया वैज्ञानिक बोध इतना गहरा न हो पाया कि वह हार्दिक और आत्मिक आस्था और विश्वास का रूप ले सके।

सगति का प्रश्न मामूली प्रश्न नही है। लेखक के जीवन की अपने साहित्य से सगति, उद्घोषित आदर्शों की समाज से सगति, व्यक्ति से समाज का सामजस्य, व्यक्ति की भीतरी आत्म सगति—[इन सब] की दृष्टि से जब उसने अपनी तरफ

और सब तरफ देखना आरम्भ किया, तो उसे घृणा, जुगुप्सा, निराशा के वास्तविक अनुभवों से गुजरना पड़ा। उसने इस सम्बन्ध में अपने-आपको भी क्षमा नहीं किया। वह बहुत बार आत्म-घृणा से भी भर उठा। इस दृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उसका 'समाज' से जो सामंजस्य चाहिए, वह बिगड़ गया। अपने व्यक्तिगत जीवन में उसने न केवल 'समाज' के प्रति अश्रद्धा, अनास्था की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ कीं, वरन् उससे समझौते के अभाव में वह उससे अलग, अकेला, अपने-आपमें ढका-मुँदा रहने लगा। यहीं से उसकी आत्मग्रस्तता शुरू होती है।

उधर उसे जीवन में संघर्ष करना पड़ रहा था। जीवन-स्तर लगातार गिरता जा रहा था। समाज से उसके सन्तुलन तथा समझौते के अभाव में, उसे अपने व्यक्तिगत व्यावहारिक जीवन में असफलता मिलनी ही थी। इसके फलस्वरूप वह अधिक आत्मग्रस्त, अधिक अहंग्रस्त हो उठा। अपनी अहं-चेतना को पुष्ट करके ही वह जी सकता था।

इस भाव-भूमि को लेकर सन् 1940-43 के काल की उन कविताओं का आविर्भाव हुआ, जिनमें से कुछ तारसप्तक में संगृहीत हैं। इन कविताओं की विशेषता यह थी कि इन्होंने छायावादी मानदण्ड स्वीकार नहीं किये। नये यथार्थ ने नये प्रतीक और नयी उपमाएँ प्रदान कीं। अब चन्द्र 'तप-क्षीण कापालिक' हो गया। आत्मा, जिसको हंस की उपमा दी जाती रही अब चिमगादड़ हो गयी। यद्यपि घृणा, निराशा और जुगुप्सा का स्वर उभरा, किन्तु वह इतना और ऐसा नहीं था कि यह बतलाया जा सके कि उसमें आशा और विश्वास है ही नहीं। वैज्ञानिक बुद्धि, यथार्थवादी दृष्टि के फलस्वरूप जो निराशा उत्पन्न हो वह स्वयं आशा को फलदायी करती है। वह न वायवीय निराशा है न वायवीय आशा। काव्यानुभूति की कसौटी यथार्थ के संवेदनात्मक अनुभव बने। काव्य-परीक्षा यथार्थवादी अनुभूति हुई।

तारसप्तक के प्रकाशन की ओर तीन चार बड़े आदमियों को छोड़कर भद्र साहित्य में किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। किन्तु पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी, इलाचन्द्र जोशी, और रामचन्द्र टण्डन ने विशेष लेख लिखे और उसका खूब स्वागत किया। किन्तु वह काल 'बच्चन', 'अंचल', नरेन्द्र, और, बाद में, शिवमंगलसिंह 'सुमन' का काल था। फिर भी तारसप्तक नये लेखकों में प्रचलित हुआ। नये ढंग की कविताएँ की जाने लगी। जगह-जगह नये नये लेखक पैदा हुए। उनके लिए तारसप्तक ने पार्श्वभूमि पैदा कर दी थी। उधर तारसप्तक के लेखक स्वयं अपना विकास कर रहे थे, यद्यपि मासिक-पत्रों ने भी प्रकाशन का दरवाज़ा उनके लिए बन्द कर रखा था।

ज़माना आया जब दूसरा सप्तक का भी प्रकाशन हुआ। फिर तो लेखकों की बाढ़ आ गयी। समालोचकों का ध्यान नये लेखकों की तरफ गया। और अब तो विश्वविद्यालयों की एम० ए० परीक्षाओं में प्रयोगवाद के प्रश्न पूछे जाते हैं। कविवर 'दिनकर', नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉक्टर रामविलास शर्मा ने काव्य की इस प्रवृत्ति का डटकर विरोध किया। किन्तु उसका फैलना रुका नहीं। आज वह पहले से ही बंगला, उर्दू और मराठी में पर्याप्त रूप से पुष्ट हो गयी है।

दूसरा सप्तक का स्वर तारसप्तक से निराला है। एक तो यह कि तार-

सप्तक के लेखकों की जवानी साहित्यिक-रोमैण्टिक छायावाद म निकल गयी थी। उनके सम्मुख जीवन के प्रश्न, समस्याएँ, प्रमुख थी। दूसरा सप्तक वालो की सौन्दर्य-प्रेम भावनाएँ नये ढग से सम्मुख आयी। नये ढग की कविता की उनकी यह सबसे बडी देन है। नौजवानी मे ही उनको पके-पकाये रूप मे प्रगतिवादी अथवा कोई अन्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिल गया था। छन्द, भाव, भाषा, शैली सभी उन्हें *तैयार मिले*। *इसके लिए उनको कोई सघर्ष नही करना पडा*, न बौद्धिक, न हार्दिक। इसलिए उनकी कला अधिक गुणात्मक और सौन्दर्यमयी हुई। किन्तु उन्होने जीवन के सम्बन्ध मे वे प्रश्न नहीं उठाये, जो तारसप्तक वालो ने खडे किये थे। तारसप्तक वाले मजिल-पर-मजिल इतने आगे बढ गये कि उसमे सग्रहीत कविताओ से उनकी आज की काव्य-स्थिति का कोई अनुमान नही लगाया जा सकता।

ये कवि विचारधारा की दृष्टि से दो खेमो म बँटे हुए हैं। एक खेमा है सक्रिय प्रगतिशीलता-विरोधी, जिसमे सर्वप्रमुख हैं श्री वात्स्यायन और धर्मवीर भारती, आदि। दूसरे लोग प्रगतिवाद के पक्ष मे हैं, जिनमे प्रमुख है गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन, नरेशकुमार मेहता, भारतभूषण अग्रवाल, आदि। बहुत थोडे ऐसे हैं जो इन दोनो की कुछ कुछ बातें मानते हुए भी दोनो से थोडे-थोडे दूर है। उनमे से प्रमुख हैं श्री प्रभाकर माचवे, पण्डित भवानीप्रसाद मिश्र, आदि।

काव्य-प्रवृत्तियो की दृष्टि से, यह कहा जाना चाहिए कि इनके फिर दो विभाग हो जाते हैं। एक म प्रमुखत सौन्दर्यवादी ही आते है। जैसे, गिरिजा-कुमार माथुर, नरेशकुमार मेहता, और, कुछ अशो मे, हरिनारायण व्यास, तथा सच्चिदानन्द वात्स्यायन। दूसरे पक्ष मे आभ्यन्तर प्रतीकात्मक चित्रण ही अधिक होता है, जिनमे प्रमुख हैं वात्स्यायन, गजानन माधव मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती, आदि। मजेदार बात यह है कि भवानीप्रसाद की शैली ऐसी है कि वह आभ्यन्तर को बाह्य बनाकर चलती है। ऐसे लोगों म स्वय मिश्रजी और माचवे हैं।

हिन्दी साहित्य मे नयी कविता का प्रसार होता जा रहा है। उसे कोई रोक नही सकता। आज के प्रगतिवाद मे बाह्य पक्ष का ही चित्रण किया जाता है, व्यक्तिगत यथार्थ, आन्तरिक अनुभूति, को तो वे लोग जैसे छूते ही नही। यही उनका मामला गडबड है। जब तक सम्पूर्ण मनुष्य को लेकर हम न चलेंगे, तब तक उसके किसी एक ही अश को सर्वप्रधान बनाकर हम सम्पूर्ण को खण्डित कर देंगे। जब तक हम आज के युग के पीडित मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मसत्ता का चित्रण नही करते, उसके वास्तविक सुख दुख, उसके सघर्षों और आदर्शों का अकन नही करते, उसके अनिवार्य भवितव्य और कर्त्तव्य का मार्ग प्रशस्त नही करते, तब तक नयी कविता का कार्य अधूरा है। हम नही करेंगे तो कोई और आकर करेगा। ऐतिहासिक अनिवार्यताएँ किसी के लिए रुकती नही।

[सम्भावित रचनाकाल 1955-57। किसी पत्रिका मे प्रकाशित]

नयी कविता की प्रकृति

नयी कविता की प्रकृति और रूप की चर्चा करना यहाँ व्यर्थ है। इतना कहना काफी है कि वह व्यक्ति-मन की प्रतिक्रिया है। प्रथम उन्मेष-काल मे उसके पास आदर्शवाद था, सामाजिक विषमताओ को दूर करने के कार्य मे लगने के अतिरिक्त, विषमताहीन समाज व्यवस्था का स्वप्न और व्यक्ति-विकास की अनन्त सम्भावनाओ का स्वप्न भी उसके पास था। फलत, यदि उसके काव्य मे समाज के (वर्तमान पूँजीवादी समाज के) प्रति क्षोभ और कष्ट-भावना थी, तो दूसरी ओर वैफल्य का भान भी था। किन्तु यह वैफल्य उसका व्यक्तिगत था। एक विशेष समाज, वर्ग और परिवार मे पाये जानेवाले व्यक्ति के मानस का चित्रण उसमे है, उसमे एक मनोवृत्तान्त है। यदि कवि अपनी आत्मपरक कविता मे अपनी व्यथा प्रकट नही करेगा तो फिर काहे मे करेगा। उसकी उदासी और विफलता रोमैण्टिक नही है, वरन् इसके विपरीत वह वास्तविक जीवन-समस्याओ से उत्पन्न है। उसके पास आदर्शवाद और आशावाद भी है। अतएव वह अपने व्यक्तिगत सुख दुःख के परे जाकर, खतरा मोल लेते हुए, राजनैतिक सामाजिक विषय की कविता लिखने के पहले उस क्षेत्र मे स्वत कार्य करता है, और उसके साथ राजनैतिक-सामाजिक काव्य-विषय भी चुनता है। सक्षेप में, काव्य-रचना उसके जीवन से सम्बद्ध है—ऐसे जीवन से जो उसके काव्य की मूल भूमि है। ध्यान मे रखने की बात है कि आगे चलकर, नयी कविता के डिफेन्स मे जब प्रगतिवादी दृष्टि का विरोध किया गया, तब सबसे पहले जीवन और काव्यानुभूति की समानान्तरता का, पैरेलेलिज्म का, सिद्धान्त स्थापित किया गया। कहा गया कि जीवन मे प्राप्त होनेवाली अनुभूतियाँ और सौन्दर्यानुभूति, ये दो चीजें अलग-अलग हैं। बाह्यत स्पष्ट सी दीखनेवाली इस बात के पीछे एक स्पष्ट-अस्पष्ट राजनैतिक उद्देश्य था। वह यह कि कवि का काव्य-जीवन और वास्तविक जीवन, इन दो मे अविच्छिन्नता और मौलिक एकता को कुहरिल कर दिया जाये। यह सिद्धान्त एक बहुत ही खतरनाक मान्यता है। नयी कविता के बुर्ज से शीत-युद्ध चलानेवाले नीति-नियामको का वह एक सोद्देश्य मानसिक विक्षेप है। इसकी चर्चा आगे होगी।* ··

[कला सम्बन्धी धारणाओ को मूल जीवन-दृष्टि से सुविधा के लिए भले ही अलग रखा जाय, वे इससे सर्वथा विच्छिन्न नही होती। ध्यान मे रखने की बात है कि भारतीय-साहित्य-चिन्तन मे काव्य-सौन्दर्य के सम्बन्ध मे विस्तृत और वैविध्यपूर्ण चर्चा है। किन्तु नयी कविता ने पैतृक सम्पत्ति भी नही ली है।]···

नयी कविता की अपनी विशेष कोई दार्शनिक धारा या विचारधारा नही रही। वह तरह-तरह के झुकावो, दृष्टियो और विचारो का एक ढेर बन गयी।

* 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' पुस्तक मे 'नयी कविता की प्रकृति' शीर्षक से ही प्रकाशित इस निबन्ध में यहाँ जो अश दिया हुआ था वह असम्बद्ध था। पाण्डुलिपि से मिलाने पर यह स्पष्ट हुआ कि सम्भवत इस अश के पहले और बाद के दो हस्तलिखित पृष्ठ नहीं हैं। इसलिए उस अश में से एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य, जो किसी हद तक सम्बद्ध भी है, यहाँ इन कोष्ठकों के भीतर दिया जा रहा है।—स०

संक्षेप में, नयी कविता के पास अपनी कोई विशिष्ट दार्शनिक धारा या विचार-धारा नहीं है। लगभग सभी कवियों में विकसित विश्व-दृष्टि का अभाव है, सांगोपांग विचारधारा का अभाव है। अगर किसी में कोई विश्व दृष्टि है भी, तो वह ऐसी स्थिति में है कि वह उसकी भाव-दृष्टि का अनुशासन, प्राय, नहीं कर सकती।

काव्य के लिए विचारधारा का महत्त्व

क्या यह वांछनीय है ? इस प्रश्न का उत्तर, अपने-अपने झुकावों के अनुसार, अलग अलग तरह से दिया जायेगा। मेरे अपने मतानुसार, यह अच्छा नहीं हुआ। अच्छा नहीं है, हानि प्रद है, साहित्य के लिए, देश के लिए, स्वयं कवियों के अपने अन्तर्जीवन के लिए भी। आज बहुत-से कवियों के अन्त करण में जो बेचैनी, जो ग्लानि, जो अवसाद, जो विरक्ति है, उसका एक कारण (अन्य कई कारण है) ऐसी विश्व-दृष्टि का अभाव है जो उन्हें आभ्यन्तर आत्मिक शक्ति और मनोबल प्रदान कर सके तथा उसकी पीडाग्रस्त अगतिकता को दूर कर सके।

कहा जायेगा कि नयी कविता, वस्तुत, एक नयी तर्ज है, नया काव्य प्रकार है, और उसमें विभिन्न विश्व-दृष्टियों या विचारधाराओं को स्थान प्राप्त है। और, यह कि यदि वैसी विचारधाराएँ उसमें नहीं आ पातीं, तो इसका कारण यह है कि समाज ने, उन विचार-धाराओं के लिए, फिलहाल, कोई उपजाऊ ज़मीन तैयार नहीं की है।

इस सम्बन्ध में मेरा यह निवेदन है कि नयी कविता के क्षेत्र में कार्य करने-वाले कवियों द्वारा किसी ऐसी विश्व दृष्टि के विकास के प्रयत्न नहीं देखे गये (या वे प्रयत्न इतने प्रधान नहीं हुए कि सबका ध्यान अपनी ओर खींच सकें), जो उनकी भाव-दृष्टि का अनुशासन कर सकें, और उस भाव-दृष्टि में किसी न-किसी प्रकार से उनकी विश्व-दृष्टि प्रतिच्छवित हो सके।

यह भी कहा जा सकता है कि लेखक-कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह समग्रतापूर्ण किसी विश्व दृष्टि का विकास करे। यह काम दार्शनिकों, चिन्तकों तथा अन्य विचारकों का हो सकता है, लेखक-कलाकार का नहीं। इसी सिलसिले में ऐसे साहित्य-युगों की ओर संकेत किया जा सकता है जबकि किसी दार्शनिक धारा को लेखक-कलाकार ने अपनी कला का आधार नहीं बनाया, नहीं ही बनाया—जैसे, हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य, अथवा कहिए, वीरगाथा काल। अन्य देशों के साहित्य-युगों के भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। संक्षेप में, कला-कार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह कोई दार्शनिक आधार ग्रहण करे। और सचमुच यदि हम 'दार्शनिक' आधार का बहुत संकुचित अर्थ स्वीकार करें, तो कलाकार के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह किसी बँधे-बँधाये वैचारिक ढाँचे को अपनी कला की श्रेष्ठता उपस्थित करने के लिए यान्त्रिक रूप से स्वीकार करे। यह सब सही है।

फिर भी ऐसे लेखक कलाकार होते आये हैं जिन्होंने व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में, एक कलाकार की हैसियत से, सोचा-विचारा है। चेतना की समृद्धि और विस्तार श्रेष्ठ कला का एक लक्षण है। और जब तक मानव-समस्याएँ हल नहीं होतीं, चाहे वे किसी भ क्षेत्र और

तर की क्यों न हो, तब तक मानव-संवेदनापूर्ण कलात्मक चेतना का यह धर्म है कि वह उन पर सोचे-विचारे और अपनी दृष्टि को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करे।

एक बात और भी है। किसी भी कलाकृति में लेखक की जीवन-दृष्टि अवश्य प्रकट होती है। भले ही लेखक जाने या न जाने, उसी जीवन-दृष्टि के भीतर और उसके आसपास जीवन-जगत् सम्बन्धी तरह-तरह की धारणाएँ और विचार होते हैं। यह भी एक तरह की विचारधारा ही है, जिसे हम पूर्णतः सुसम्बद्ध सुसंगत वैचारिक व्यवस्था भले ही न कहें।

कलाकार और मानव-समस्या

इस युग में, इस काल-विशेष में, जबकि मानव-समस्याएँ अधिकाधिक एकत्रित और विकसित होती जाती हैं, यह स्वाभाविक ही है कि लेखक-कलाकार उनसे प्रभावित हो और उन्हें अपनी कलात्मक चेतना के विषय बनाये। अगर वह किसी कारण से—जैसे राजनैतिक कारणों से—उन समस्याओं के स्वाभाविक तर्क-संगत समाधानों को स्पष्टतः और पूर्णतः प्रकट नहीं कर पाता, अथवा उन समस्याओं की वास्तविक रूपाकृतियों को स्पष्टतः और पूर्णतः प्रकट करना अपने लिए खतरनाक समझता है, तो वैसी स्थिति में वह उन्हीं समस्याओं के प्रति-बिम्बन को बदलकर, सिर्फ इशारेबाजी से उन्हें बताता-समझाता हुआ, आगे बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में, किसी-न-किसी प्रकार से वह उन्हें, प्रत्यक्षतः या परोक्षतः, सूचित अवश्य कर देता है, और उनके आधार पर एक मानव-कथा या सांकेतिक मनोवृत्तान्त उपस्थित कर देता है। किन्तु भारत में ऐसी कोई स्थिति नहीं है कि हमारे कवि-कलाकार उन मानव-समस्याओं से जी चुरायें। और, उनकी इस प्रकार उपेक्षा करें मानो वे हैं ही नहीं, और यदि हैं भी तो केवल कला-कार की अपनी निजी किसी मनोग्रन्थि या व्यक्तिगत समस्या के रूप में। कम-से कम, प्रस्तुत समय में, भारत में ऐसी कोई भयानक बाधा नहीं है जो लेखक को अपने पूर्ण और मूर्त्त आत्म-प्रकटीकरण अथवा जीवन-चित्रण से रोके।

तो फिर वह कौन-सी चीज है जो कवि कलाकार को, अपने ही क्यों न सही, मूर्त्त और साक्षात् जीवन के चित्रण और पूर्ण आत्म-प्रकटीकरण से रोकती है? क्या मैं यह कहूँ कि उनमें प्रतिभा का अभाव है? मैं जानता हूँ कि वैसी चीज नहीं है, हरगिज नहीं है। फिर क्या बात है?

निज स्थिति का काव्य

मेरे मत से, उसका उत्तर उन विचार-सरणियों में मिलेगा जो नयी कविता के आस-पास फैली हुई है, और उसको घेरे हुए है। फिर भी मुझसे यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आखिर आज यह सवाल उठाने की ज़रूरत ही क्या पड़ गयी।

तो इसका उत्तर यह है कि नयी कविता उस प्रकार की आइवरी टॉवर की, रोमैण्टिक स्वप्नशीलता की, एकान्त-प्रिय आत्म रतिमय आध्यात्मिकता की, कविता नहीं है, जैसी कि पुराने रोमैण्टिक युग की हुआ करती थी। वह, मूलतः एक परिस्थिति के भीतर पलते हुए मानव हृदय की पर्सनल सिचुएशन की, कविता है। इसीलिए उसमें कहीं आत्मालोचन है, तो कहीं बाह्य स्थिति-परिस्थिति

और समाज पर व्यग्य है, तो कही आर्थिक विवशताओ से उत्पन्न करुणा-भाव है, तो कही ग्लानि है, कही वैफल्यजनित विक्षोभ है, तो कही जीवन-आलोचना है। यहाँ तक कि उसमे जहाँ रोमैण्टिक रग है, वहाँ भी एक व्यक्ति-स्थिति-परिस्थिति का दबाव है या उभार है। यह पर्सनल सिचुएशन यहाँ तक बढ़ गयी है कि बहुतेरे कवियो ने उसे व्यक्त करने के लिए अपनी एक निजी अभिव्यक्ति शैली और प्रतीक-सम्पदा भी बढ़ा ली है। यहाँ तक कि कई बार एक कवि को दूसरे कवि की कविता ही समझ मे नहीं आती। अजी, यह पर्सनल सिचुएशन यहाँ तक बढ़ चुकी है कि कइयो के अपने एस्थेटिक पैटर्न्स बनकर वे इतनी जड़ीभूत हो गये हैं, कि कविगण एक-दूसरे की गहराइयो को सचमुच समझ नही पाते। हिन्दी कविता के क्षेत्र मे मुझे जो अनुभव हुए हैं उसके आधार पर मैं यह बात कह रहा हूँ।

निज समस्या की मानव-समस्या मे परिणति आवश्यक

अपने इन घरौंदो, इन काराओ के पार जाकर, उन पर्सनल सिचुएशन्स, वैयक्तिक स्थिति-परिस्थितियो का सामान्यीकरण करते हुए, आत्म स्थिति और व्यक्ति-स्थिति से हटकर मानव-समस्या के रूप मे उन्हे देखना क्या कलात्मक चेतना का धर्म नही होना चाहिए? आज जो प्राप्त मानव सम्बन्धो का ताना-बाना है, उसका अवलोकन-निरीक्षण अध्ययन तथा उससे उचित निष्कर्षों की प्राप्ति के प्रयत्न, कलात्मक चेतना के बाहर की कोई चीज होनी चाहिए? क्या कलात्मक चेतना का विस्तार वहाँ तक नही हो सकता? कलात्मक चेतना के विस्तार के प्रति यह अरुचि क्यो?

इसका उत्तर यह कहकर दिया जा सकता है कि जहाँ तक जीवन को तद्गत (वस्तुपरक) दृष्टि से देखकर उसके अध्ययन का प्रश्न है वह काम शास्त्रो का है, न कि कलाकार का। अतएव कलाकार से वैसी बातें कहना उसके व्यक्ति-स्वातन्त्र्य मे बाधा डालना है। कलाकार का काम तो केवल आत्माभिव्यक्ति करना है।

किन्तु प्रश्न यह है कि इतर जनो को यह अधिकार क्यो न हो कि वे यह जानें कि कलाकार की वह आत्मा, जिसकी वह अभिव्यक्ति कर रहा है, कैसी है? हीन और क्षुद्र है या श्रेष्ठ और उदात्त? ज्ञान-दीप्त है या अज्ञानग्रस्त? वस्तुत, वह कवि जीवन सवेदनशील है, या जीवन के स्थान पर उसने किसी झूठी स्वप्न-प्रतिमा को खडा करके काम से छुट्टी पायी है? आदि-आदि प्रश्न उठते है। क्या ऐसे सवाल उठाना स्वाभाविक नहीं?

यदि कवि-कलाकार किसी शास्त्रीय पुस्तक के पास न भी पहुँचे, तब भी, मनुष्य होने के नाते, वह समस्याओ के प्रति सवेदनशील अवश्य होता है। यह सही है कि कोई लेखक-कलाकार अधिक सवेदनशील तो कोई कम सवेदनशील होता है, अथवा किसी की सवेदना का विस्तार सक्षिप्त तो किसी का व्यापक होता है। फिर भी यह कहना कि वह मानव-समस्या के प्रति सवेदनशील नहीं है, मुझे [illegible]

मेरे खयाल से ऐसा कहना कवियो का अपमान है। किन्तु, यदि वह उन समस्याओ

के प्रति सवेदनशील है, तो वह उनका चित्रण इस प्रकार क्यो नही कर पाता कि जिससे वह एक मानव-समस्या के रूप म हमारे सामने प्रस्तुत हो ? मानव-समस्या जब भी हमारे हृदय को स्पर्श करती है, तब हम लगता है कि वह अपने पूरे ताने-बाने के साथ उपस्थित हो रही है। तो, वह समस्या उसके ताने-बाने, उनकी पीडा इन तीनो का समग्र एकीभूत सवेदनात्मक अकन क्यो नही हो पाता ? यह ठीक है कि एक ही मानव-समस्या को भिन्न कलाकार भिन्न रूप से ग्रहण करेंगे या समझेंगे, अथवा उनके सम्बन्ध मे हमारा सवेदनात्मक ज्ञान तीव्र होते हुए भी उथला हो सकता है। किन्तु प्रश्न यह है कि हमारी व्यक्ति समस्या, मन की निविड पीडा, एक मानव-समस्या के रूप म गृहीत और चित्रित क्यों नहीं हो पाती।

मेरे खयाल से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। व्यापक मानव-जीवन तक पहुँचने के लिए यह सिर्फ पहला कदम, पहली सीढी है।

व्यक्ति समस्या को मानव समस्या बनाकर तभी प्रस्तुत किया जा सकता है जब हम उस समस्या से पूर्ण तटस्थ हो, और फिर उसमे भीगें-रमे, और इस प्रकार उन सारे ताने बाने को देखें जिससे मानव-जीवन बना हुआ है, अपनी स्थिति मे और विकास मे। सक्षेप मे, हमे केवल तथाकथित सौन्दर्यानुभूति के क्षणो के बाहर जाना होगा, और भाव का आधार बननेवाले ज्ञान का विस्तार करना होगा। केवल एक क्षण के उत्कर्ष का चित्रण करने के बजाय हमे लम्बी नजर फेंकनी होगी, और वह सारा तानाबाना अकित करना होगा जिससे वह समस्या, एक विशेष काल और परिस्थिति मे, विशेष रग और रूप म, विकसित और ग्रन्थिल हुई है। यह सब कार्य तथाकथित सौन्दर्यानुभूति के बाहर का कार्य है। और, चूँकि वह कार्य सौन्दर्यानुभूति के बाहर का कार्य है, इसलिए यह समझा जाता है कि वह सौन्दर्यानुभूति के क्षणो के लिए, या कलात्मक चेतना की परिवृद्धि और विकास के लिए, महत्त्वपूर्ण नही है। और यदि है भी तो उससे कला का कुछ बनता-बिगडता नहीं है। वह जैसी है वैसी ही रहेगी।

आतरिक निषेध और पिछले पाप

सच बात तो यह है कि इस प्रकार के झुकावो और दृष्टियो के पीछे, कला-सम्बन्धी कुछ धारणाएँ और विचार-सरणियाँ काम कर रही हैं। ये धारणाएँ और विचार-सरणियाँ उस काल म अधिक प्रचलित और प्रसारित हुईं जिसे हम हिन्दी-क्षेत्र म शीत-युद्ध का काल कह सकते हैं।

आपको याद होगा, सन् 1951-52 के अनन्तर, साहित्य-क्षेत्र से, विशेषकर काव्य क्षेत्र मे प्रगतिवादी विचार धारा को खदेडकर बाहर करने के लिए नयी कविता के बुर्ज से शीत-युद्ध की गोलन्दाजी की गयी थी। यह शीत-युद्ध, मेरे लेखे, विश्व मे चल रहे राजनैतिक शीत-युद्ध की साहित्यिक शाखा के रूप मे था। इस शीत-युद्ध के दौरान तरह-तरह के प्रश्न उठाये गये, जो सचमुच कला-चिन्तन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। कला का स्वरूप क्या है ? काव्य सौन्दर्य के तत्त्व क्या है ? साहित्यिक उत्तरदायित्व का क्या अर्थ है ? आदि-आदि के सम्बन्ध म जोर-दार चर्चाएँ हुईं। एक नया साहित्यिक वातावरण उत्पन्न हुआ। नयी कविता को प्रबल समर्थक शक्ति मिली। (किन्तु ऐसा नही था कि मूल प्रगतिवादी विचार-

धारा उन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकती थी) । यह वातावरण एक विशेष समूह द्वारा, लगभग संगठित रूप से, तैयार किया गया था। उसने कविता को नयी व्यक्तिवादी पश्चिमी भूमिका प्रदान की। पश्चिमी साहित्य की परम्परा अत्यन्त उच्च, श्रेष्ठ और भव्य है । अमरीकी साहित्य एक श्रेष्ठ साहित्य है, तथा वह ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी साहित्य से बहुत कुछ भिन्न है । अमरीकी साहित्य की अधिकांश प्रेरणाएँ प्रगतिशील हैं, यथार्थवादी है। ऐसी ही श्रेष्ठ परम्पराएँ पश्चिमी यूरोप में भी हैं। किन्तु, शीत युद्ध के नीति-नियामकों ने उनसे अपनी प्रेरणा ग्रहण नहीं की वरन, साम्यवाद विरोध को अपना प्रधान धर्म मानते हुए, (उन दिनों डलेस का जोर था । भारत में भी डलेसवादियों की आज भी कमी नहीं है), वे नीति-नियामक ऐसे सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे, जो घोषित रूप से थे तो साहित्य सौन्दर्य, कला-सौन्दर्य के सम्बन्ध में, किन्तु उनका उद्देश्य अधिक व्यापक था। चूँकि प्रगतिवाद, अपने अन्तर्बाह्य कारणों से, विशृंखल हो गया था, साथ ही वह जिस रूप में हिन्दी-क्षेत्र में था वह अपरिपक्व ही कहा जा सकता है इसलिए उसका प्रभाव क्षीणतर हो गया । उस पुराने अपरिपक्व प्रगतिवाद ने अपने हठ के कारण नयी कविता का सब तरह से विरोध किया, इसलिए उसे मार खानी पड़ी। इस शीत युद्ध के समय प्रचलित सिद्धान्तों की छाप अभी भी नयी कविता पर है, यह भूलना नहीं चाहिए।

ध्यान में रखने की बात है कि एक कला-सिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन-दृष्टि होती है, उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन दर्शन होता है, और उस जीवन दर्शन के पीछे, आजकल के जमाने में एक राजनैतिक दृष्टि भी लगी रहती है। निःसन्देह, नयी कविता की एक फिलॉसफी के रूप में कला-सिद्धान्त लाया गया। कला-सिद्धान्त के पीछे सामाजिक-साहित्य मनोवृत्तियों का विश्लेषण करनेवाला 'आधुनिक भाव बोध' का सिद्धान्त आया और 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' के नाम पर एक सामाजिक-राजनैतिक दर्शन भी प्रस्तुत हुआ । और ये सब नयी कविता के समर्थन और विस्तार में ही आये। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

यूरोप में काव्य-सौन्दर्य का ऊहापोह करनेवाले सिद्धान्तों का एक जगत का जंगल खड़ा हुआ है। ध्यान में रखने की मुख्य बात यह है कि न केवल ये सिद्धान्त परस्पर-भिन्न होते है, वे सिद्धान्त रूप में भी अस्थायी होते हैं । साहित्य सिद्धान्त के क्षेत्र में सौन्दर्य-तत्त्व का विश्लेषण करनेवाली थियरीज के भग्नावशेष इधर-उधर फैले पड़े है। मुख्य बात यह है कि वे सौन्दर्य-सिद्धान्त किसी विशेष कला-प्रवृत्ति की औचित्य स्थापना के लिए, किसी जीवन-दृष्टि के (जो कला में प्रकट होती है) समर्थन के लिए, लाये जाते है। और वह काव्य-प्रवृत्ति नष्ट होते ही, या उसमें नये तत्त्वों का समावेश होते ही, उन कला-सिद्धान्तों में भी धीरे धीरे परिवर्तन होने लगता है । प्रगतिवादियों के विषय एक थे, दृष्टि एक थी, वैसे ही उनका पैटर्न भी था। नया विषय, नयी दृष्टि और नये पैटर्न के लिए नया कला-
[illegible] उस कला-सिद्धान्त के पीछे पश्चिम का उज्ज्वल
[illegible] व्यक्तिवाद था, इसलिए
[illegible] ष्ट प्रकट हुई। और इस
संकुचित व्यक्तिवाद में शीत-युद्ध [illegible]।

यह नया कला-सिद्धान्त, मुख्यतः, जीवनानुभव और सौन्दर्यानुभूति की

समानान्तरता मानता है। सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में ही कला का प्रसव होता है। किन्हीं अन्तर्बाह्य आवेगों से मन का द्रवण होकर जब वह उत्कर्ष प्राप्त करता है, तब यह कहा जायेगा कि वह सौन्दर्यानुभव का क्षण है। इसलिए कलाकार से यह अनुरोध नहीं किया जा सकता कि तू ऐसा लिख वैसा लिख, तेरी कला ऐसी हो वैसी हो। सौन्दर्यानुभव के क्षणों में जिस प्रकार उसका मन द्रवित होकर आत्म-प्रकटीकरण करना चाहेगा, करेगा। उसका काम तो सिर्फ आत्मप्रकटीकरण और सुन्दर आकृतियों का निर्माण करना है। ध्यान रहे कि प्रगतिवादी सज्जन कलाकारों से इस प्रकार के अनुरोध करते थे। यह उनकी तानाशाही मनोवृत्ति थी। इस प्रकार वे रेजिमेण्टेशन करना चाहते थे। कलाकार को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह मनचाही चीज लिखे। यदि पाठकों को अच्छी लगे तो ठीक, न अच्छे लगे तो ठीक। यदि इस प्रकार के क्षणों में कोई मूल्यवान अनुभव ग्रथित हुआ, और उसकी अभिव्यक्ति सुन्दर हुई, तो निःसन्देह, वह मानवतावाद की स्थायी निधि में स्थान पायेगा। यदि आज नयी कविता लोकप्रिय नहीं है तो जनता में उसकी अभिरुचि बढ़ायी जा सकती है, प्रचार और प्रशिक्षण द्वारा।

संक्षेप में, तरह-तरह के विचार प्रकट किये गये। उनमें मुख्य बात यह बतायी गयी कि जीवानुभवों का स्तर और सौन्दर्यानुभवों का स्तर परस्पर भिन्न है। सौन्दर्यानुभवों की स्वतन्त्र क्रियमाणता, स्वतन्त्र गति है। इसलिए उस पर किसी भी प्रकार के बाह्यानुरोध नहीं लादे जा सकते। कलाकार का काम, कलाकार की हैसियत से सिर्फ सौन्दर्यानुभवों के क्षण की परिसीमा के भीतर रहकर उसका चित्रण करना है, अर्थात् कलाकार की हैसियत कलात्मक क्षण के अनुभव और चित्रण तक ही मर्यादित है। शेष कार्य वह एक नागरिक की हैसियत से, या ज्ञान-पिपासु बुद्धिवादी की हैसियत से, चाहे तो, कर सकता है। यह उन नीति-नियामकों की भूमिका थी।

इस भूमिका के विशेष सामाजिक-राजनैतिक उद्देश्य थे। पहला तो यह था कि लेखक-कलाकार को वास्तविक जीवन के स्पर्श से बचाया जाये, जिससे कि वह वास्तविक जीवन को अपनी कलात्मक चेतना के अन्तर्भूत न कर सके। क्योंकि यदि उसने वैसा, वस्तुतः, किया, तो निःसन्देह होगा यह कि वास्तविक जीवन की तरह-तरह की विषमताएँ सामने आयेंगी, और उनका चित्रण करते हुए वह वाम-पन्थी मनोवृत्तियों का भी चित्रण कर सकता है। उन नीति नियामकों का मुख्य उद्देश्य तो उन वामपन्थी मनोवृत्तियों से युद्ध करना था। यही कारण है कि उन्हीं के काव्य क्षेत्र के अन्तर्गत बहुत-से रचनाकारों ने जब अपनी किन्हीं कृतियों में वामपन्थी मनोवृत्तियाँ प्रकट कीं, तो उनकी वे कृतियाँ, उन नीति-नियामकों और उनके अनुसरण-कर्त्ताओं के लेखे, असुन्दर हो गयीं।

किन्तु इसके विपरीत, यह स्पष्ट है कि कलाकार को जीवन के स्पर्श से बचाया नहीं जा सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि कलाकार को ऐसी भूमिका प्रदान की जाये जिससे वह उन मनोवृत्तियों के पंजे में न आये। 'आधुनिक भाव-बोध' तथा 'लघु-मानव' आदि सिद्धान्त इसी आवश्यकता से उत्पन्न हैं। यह तो स्पष्ट है कि इस 'आधुनिक भाव बोध' में उन उत्पीडनकारी शक्तियों का बोध शामिल नहीं है जिन्हें हम शोषण कहते हैं, पूँजीवाद कहते हैं, साम्राज्यवाद कहते हैं, तथा उन संघर्षकारी शक्तियों का बोध भी शामिल नहीं है, जिन्हें हम जनता कहते हैं,

शोषित वर्ग कहते हैं। यहाँ तक कि इस आधुनिक भाव बोध में उस देश-निर्माण का स्वप्न भी नहीं है, जिसके अन्तर्गत हमारे यहाँ औद्योगीकरण हो रहा है, न उस देश-निर्माण का जबकि ग़रीब-अमीर रहेंगे ही नहीं।

संक्षेप में, भारत की शिक्षित मध्यवर्गीय जनता में जो भाव-संवेदनाएँ प्रगतिशील राजनैतिक अर्थ रखती हैं, कोई क्रान्तिकारी अर्थ रखती हैं, उनका 'आधुनिक भाव-बोध' में कोई स्थान नहीं है। हम तो केवल 'लघु-मानव' हैं, साधारण जनता नहीं। साधारण जनता में विश्व-परिवर्तन की अदम्य क्रान्तिकारी शक्ति होती है। लेकिन उन नीति नियामकों के लेखे, वह भीड़ की अन्धी ताकत है। वास्तविक चेतना तो व्यक्ति के अपने अभ्यन्तर की समृद्धि है। तो इसलिए व्यक्तित्व की इकाई महत्त्वपूर्ण है। यह इकाई 'लघु-मानव' है, क्योंकि अब यह इकाई महान् आदर्शों के उच्चतर स्तर की प्राप्ति के पीड़ाजनक भीषण प्रयत्नों में संलग्न नहीं है, न हो सकती है। महान् आत्माओं, महान् प्रतिभाशालियों, महामानवों का युग गया। अब हम जनसाधारण भी नहीं, केवल लघु-मानव हैं। क्योंकि हम जनसाधारण हो जायें तो वामपन्थी मनोवृत्तियों के शिकार होकर, भीड़ की अन्धी ताकत बनते हुए, अपनी व्यक्तिगत इयत्ता को खो देंगे। इसलिए हमें जनसाधारण से लघु मानव बन जाना चाहिए।

हमें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एक पुनीत सिद्धान्त है (चाहे उसमें लूट खसोट, अनाचार, भ्रष्टाचार, स्वार्थ, चरित्रहीनता, धन का प्रभुत्व, शोषण, क्यों न चलता हो !)। यदि समाज में बुराइयाँ हैं तो धीरे-धीरे ही दूर होंगी। लोग हैं कि जो अपने लघुत्व के कारण इस स्वातन्त्र्य से डरते हैं। वे कलाकार हीन हैं जो बाह्यानुरोध स्वीकार करते हैं। मनुष्य की परम-चेतन अन्तरात्मा पर ज़ोर डालनेवाली, और उसे गुलाम बनानेवाली, यह साम्यवादी पार्टी रेजिमेण्टेशन करती है। वह साहित्य का भी रेजिमेण्टेशन करना चाहती है। वह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विरुद्ध अधिनायकत्व के सिद्धान्त में विश्वास रखती है। साम्यवाद का विरोध एक पवित्र धर्म है। ये कुछ बुद्धिजीवी और वह कुछ जनता इतनी बेवकूफ़ है कि उनके बहकावे में आ जाती है। वह विदेशी प्रभाव भारत में लाती है, लोगों के दिमागों को गुलाम बना लेती है (पश्चिमी प्रभाव भारतीय प्रभाव है, अमरीकी नीति-नियमन वस्तुतः भारतीय है। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद भारत का शत्रु है, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद और साम्राज्यवाद भारत का अपना सगा भाई है !)।

यह एक स्पष्ट तथ्य है कि हमारे अधिकांश कवि इस राजनीति के चक्कर में नहीं हैं। मेरा उद्देश्य तो केवल यही दरशाना था कि किस प्रकार एक कला-सिद्धान्त के साथ एक समाजनीति और राजनीति लगी हुई है। किन्तु, आज की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि, यद्यपि इस राजनैतिक विचारधारा का कोई विशेष प्रभाव हम पर नहीं है, फिर भी काव्य-सौन्दर्य-सम्बन्धी बहुत सी धारणाओं का हम पर अवश्य प्रभाव है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम उसकी जाँच करें।

[रचनाकाल अनिश्चित, सम्भवतः 1955 के बाद। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में संकलित]

नयी कविता का आत्मसंघर्ष

जब कभी कोई नयी काव्य-प्रवृत्ति अथवा साहित्य-प्रवृत्ति अवतरित होती है, कला के मूल तत्त्वो के सम्बन्ध मे, सिद्धान्तो के बारे मे, बहस शुरू हो जाती है। यदि इस विचार-विनिमय को वास्तववादी होना है, तो उसे एक साथ दो काम करने होंगे—एक तो अपने युग-विशेष की प्रवृत्तियो को समझना होगा, दूसरे, नयी काव्य-प्रवृत्ति के स्वरूप को हृदयगम करना होगा। नयी काव्य-प्रवृत्ति अभी तक पण्डितों, आचार्य प्रवरो और आलोचक-वरेण्यो द्वारा हृदयगम नही हो सकी है। किन्तु यह चिन्ता की बात नही है। चिन्ता की बात यह है कि नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र के भीतर से ऐसी कोई आलोचना अभी नही उठी है जो उस प्रवृत्ति की सीमाएँ बताये और उसकी विस्तृत समीक्षा करे।

कला की वस्तु और रूप का प्रश्न आज ही क्यो उठ खडा हुआ? वह भी इतने जोर से क्यो? सवेदनशील कवि-हृदय को उसके आस-पास की वास्तविकता के मार्मिक पक्ष गहरी चुनौती देते हैं। यह चुनौती दो प्रकार की होती है—एक, तत्त्व-सम्बन्धी, दूसरी, रूप-सम्बन्धी। आज के कवि के हृदय मे तनाव भी है, घिराव भी। किन्तु कवि-हृदय फैलना चाहता है, आत्म-विस्तार करना चाहता है। फैलने की इस मनोवृत्ति के सक्रिय होते ही, उसे मानव-वास्तविकता के मूल मार्मिक पक्ष दिखायी देने लगते है। किन्तु कहना चाहिए कि इन मार्मिक पक्षो का सवेदनात्मक आकलन करने की सारी तत्परता होते हुए भी, अभिव्यक्ति लँगडा जाती है। आज की काव्य-प्रवृत्ति की मनोवैज्ञानिक धारा यदि विशुद्ध आत्म-परक भाव धारा होती, अर्थात् अनायास प्रवाहित होनेवाले स्वच्छन्द भावों का वह प्रवाह होता, तो दिक्कत का सामना न करना पडता। किन्तु वह कविता सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदनो के तीव्र मानसिक प्रतिनियाघातो को प्रकट करना चाहती है (वह सर्वत्र कहाँ तक सफल है, यह एक अलग प्रश्न है)। ऐसी स्थिति मे, उसे न केवल अनुभूति-पक्ष के वरन् वस्तु पक्ष के, और उसमे सम्बन्धित परिज्ञान पक्ष के, विकास की अपेक्षा है। यह सवाल, या इससे सम्बन्धित प्रश्न, कविजनों के मन मे उठत रहते हैं।

किन्तु ज्ञान पक्ष सवेदना से हटकर काव्योपयोगी नहीं रहेगा। यह तथ्य स्वीकृत करने पर भी, इस बात से मुँह नही मोडा जा सकता कि आज की नयी कविता के प्रगल्भ विकास के लिए कवि की मूलभूत सवेदन-शक्ति मे विलक्षण विश्लेपण-प्रवृत्ति चाहिए।

ऐसा क्यो? इसलिए कि कविता पुराने काव्य-युगो से कही अधिक, बहुत अधिक, अपने परिवेश के साथ द्वन्द्व स्थिति मे प्रस्तुत है। इसलिए उसके भीतर तनाव का वातावरण है। परिस्थिति की पेचीदगी म बाहर न निकल सकने की हालत मे, मन जिस प्रकार अन्तर्मुख होकर निपीडित हो उठता है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आज की कविता मे घिराव का वातावरण भी है।

अतएव आज की कविता, किसी-न-किसी प्रकार मे, अपने परिवश के साथ द्वन्द्व-स्थिति मे उपस्थित होती है, जिसके फलस्वरूप यह आग्रह दुर्निवार हो उठता है कि कवि-हृदय द्वन्द्वो का भी अध्ययन करे, अर्थात् वास्तविकता मे बौद्धिक

दृष्टि द्वारा भी अन्त.प्रवेश करे, और ऐसी विश्व-दृष्टि का विकास करे, जिससे व्यापक जीवन-जगत् की व्याख्या हो सके, तथा अन्तर्जीवन के भीतर के आन्दोलन, आर-पार फैली हुई वास्तविकता के सन्दर्भ से, व्याख्यात, विश्लेषित और मूल्यांकित हो।

तभी हम आस पास फैली हुई मानव-वास्तविकता के मार्मिक पक्षो का उद्घाटन-चित्रण कर सकेंगे। माना कि यह उद्घाटन-चित्रण मात्र विवेचनात्मक बौद्धिक दृष्टि से ही नही होगा। किन्तु उस बौद्धिक प्रतिभा के फलस्वरूप संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन अधिक पुष्ट होंगे। अनुभूति को ज्ञान-प्रेरित जीवनानुभव प्राप्त होने की सम्भावना बढ जायेगी। इस प्रकार व्यक्तित्व अधिक सक्षम हो सकेगा।

किन्तु केवल इतना ही काफी नहीं है। वैविध्यपूर्ण, स्पन्दनशील, आस पास फैले हुए मानव-जगत् के मार्मिक पक्षो के वेदनात्मक चित्रण के लिए अभिव्यक्ति-सम्पदा भी चाहिए। केवल आत्यन्तिक तीव्र संवेदनाघातपूर्ण मानसिक प्रतिक्रिया करनेवाली काव्य-शैली को अधिक लचीली, अधिक सक्षम और सम्पन्न बनाना होगा, जिससे कि वह एक ओर कवि-हृदय की अत्यन्त सूक्ष्म संवेदनाएँ मूर्तिमान कर सके, तो दूसरी ओर, वास्तव जीवन जगत् की लहर-लहर को हृदयंगम कर उसे समुचित वाणी दे सके। पुरानी शास्त्रीय शब्दावली में कहा जाये तो, उसे भाव-पक्ष के साथ विभाव-पक्ष का चित्रण करना होगा।

सच बात तो यह है कि आज के कवि को एक साथ तीन क्षेत्रो मे संघर्ष करना है। उसके संघर्ष का त्रिविध स्वरूप यह है या होना चाहिए: (1) तत्त्व के लिए संघर्ष, (2) अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए संघर्ष, (3) दृष्टि-विकास का संघर्ष। प्रथम का सम्बन्ध मानव-वास्तविकता के अधिकाधिक सक्षम उद्घाटन-अवलोकन से है। दूसरे का सम्बन्ध चित्रण-सामर्थ्य से है। और तीसरे का सम्बन्ध थियरी से है, विश्व-दृष्टि के विकास से है, वास्तविकताओ की व्याख्या से है। यह त्रिविध संघर्ष है।

कला-तत्त्व

कला वस्तु-तत्त्व-अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का ही एक भाग है। वे ऐसे अन्तर्तत्त्व हैं जो बाहर के धक्के से या उन धक्कों से संचय से उद्वेलित अर्थात् (1) तरंगायित, (2) मानसिक दृष्टि के सम्मुख उद्घाटित, (3) जीवन-मूल्यों तथा पूर्वतर अनुभवों से आलोकित, तथा (4) अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठते हैं।

तरंगायित होकर जब अन्तर्तत्त्व मानसिक दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो उठते हैं, तभी उनमे रूप आ जाता है, अर्थात् कल्पना-बिम्ब या स्वर या प्रवाह से वे संवृत्त हो उठते हैं। कल्पना का कार्य यहीं से शुरू हो जाता है। बोध-पक्ष अर्थात् ज्ञान-वृत्ति भी यहाँ सक्रिय हो उठती है। यह उद्घाटन-क्षण है—यह कला का प्रथम क्षण है। इसके अनन्तर मानसिक दृष्टि, जो इस तत्त्व-रूप को देख रही थी, उसके रस मे निमग्न-सी होने लगती है। साथ ही बोध पक्ष यानी ज्ञान-वृत्ति की सक्रियता के फलस्वरूप वह तटस्थ भी हो जाती है। वह अन्त प्रवेश करने लगती है, साथ ही वह बाहर से पर्यवलोकन भी करती है। फलत , एक ओर, रस का प्रवाह या भाव-प्रवाह अन्य समस्वभावी और समरूप अनुभवों को उस तत्त्व में

मिला देता है, तो दूसरी ओर, हृदय में संचित जीवन मूल्यों की, अर्थात् हमारे अन्तःकरण में स्थित आदर्शात्मक सत्ता की, भी एक धारा इस तत्त्व में मिलने लगती है। कल्पना उद्दीप्त होकर, संवेदना से आप्लुत उस मूल तत्त्व को, समरूप अनुभवों और जीवन-मूल्यों से संश्लेषित करती हुई, एक संश्लिष्ट जीवन-चित्रशाला उपस्थित कर देती है। यह कला का दूसरा क्षण है कि जिसमें हमारे वेदनात्मक हेतु और संवेदनात्मक अभिप्राय किसी व्यापक मार्मिक जीवन महत्त्व से न्यस्त हो जाते हैं, और हमारे लिए वह आत्म-तत्त्व इतना अधिक महत्त्वमय मालूम होता है कि हम उसकी अभिव्यक्ति के लिए छटपटाते हैं। इस छटपटाहट को जब हम शब्द, रंग तथा स्वर में अभिव्यक्त करने लगते हैं, तब कला का तीसरा क्षण शुरू हो जाता है। अभिव्यक्ति के साधन, अर्थात्, भाषा, हमारे लिए सामाजिक है। इससे उसके शब्द संयोग, भाव परम्परा और ज्ञान-परम्परा से पूर्ण हैं। अतएव हम अपने हृदगत तत्त्वों को उनके मौलिक रूप रंग और भार में स्थापित और प्रगट करने के लिए नये शब्द-संयोग बनाने या लाने पड़ते हैं। शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो, हमें नवीन वक्रोक्तियों और भंगिमाओं का सहारा लेना पड़ता है। साथ ही, कल्पना-शक्ति भी नव-नवीन रूप-बिम्बों का विधान करती है, जिससे मनस्तत्त्व अपने मौलिक रूप रंग में प्रकट हो सकें।

अभिव्यक्ति का संघर्ष दीर्घ होता है। कला का यह तीसरा क्षण दीर्घ होता है। उस संघर्ष में, अभिव्यक्ति के स्तर तक आते-आते, हमारे मनोमय तत्त्व रूप बदलने लगते हैं। होता यह है कि उस संघर्ष के दौरान में भाषा के भीतर अवस्थित ज्ञान-परम्परा और भाव परम्परा के कारण, जो पहले से ही शब्द-संयोग बने हुए हैं, उन शब्द संयोगों के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े हुए जो अर्थानुषंग हैं, उन अर्थानुषंगों के प्रभाव में आकर, समशील-समरूप अर्थानुषंगों को आत्मसात् कर, मनोमय रूप तत्त्व अपने को और पुष्ट करते हैं। फलतः, वे इस हद तक बदल भी जाते हैं। जब वे अपने खास साइज और अपनी खास काट की अभिव्यक्ति पा लेते हैं, तब उनके तत्त्व और रूप पहले से बहुत कुछ बदले हुए होते हैं। सामाजिक सम्पदा होने के कारण भाषा मनोमय रूप-तत्त्वों को उनके प्रकट होने के दौरान में घटा बढ़ा देती है, और अनजाने ढंग से उनमें नये रूप-तत्त्व ला देती है। साथ ही यह अभिव्यक्ति-संघर्ष भाषा का कुछ बदल देता है, उसे नवीन शब्द संयोग, नवीन अर्थवत्ता और नयी भंगिमाएँ और व्यंजनाएँ देता है। इस प्रकार, कलाकार भाषा का भी निर्माण करता है। अभिव्यक्ति समाप्त होते ही, उसके संघर्ष का अन्त होते ही, कला का तीसरा क्षण भी समाप्त होता है। अब कलाकृति सामने आ जाती है। अब उसमें केवल इधर-उधर कुछ शब्दों या स्वरों के फेरफार के सिवाय कुछ बाकी नहीं रह जाता।

यदि उपर्युक्त स्थापनाएँ सही हैं, तो उससे कई निष्कर्ष निकलते हैं। सृजन-प्रक्रिया के दौरान में काव्य के मनोमय तत्त्व और रूप स्थिर नहीं होते। वे मनोमय तत्त्व-रूप तब तक अपने को विकसित और संशोधित करते जाते हैं, अपने को पुष्ट और प्रकाशान्वित करते जाते हैं जब तक कि अभिव्यक्ति में सम्पूर्णता आकर कला का तीसरा क्षण समाप्त न हो जाय। इसका अर्थ यह है कि जो महानुभाव आत्मोद्घाटन को ही काव्य का उद्देश्य समझते हैं, आत्म प्रकटीकरण प्रधान मानते हैं, वे सज्जन आत्म-प्रकटीकरण की प्रक्रिया हृदयंगम नहीं कर सके

हैं। कवि अपने अन्तर मे व्याप्त जीवन जगत् को प्रकट करता है। वह किसी भावोद्देश्य को प्रकट करता है, किन्तु यह भावोद्देश्य निरा व्यक्तिगत नही होता। सच तो यह है कि मनुष्य जब काव्य मे अपने-आपको प्रकट करता है, तब वह केवल आत्म-प्रस्थापना ही नही करता, वरन् वह *आत्म-औचित्य की स्थापना* करता है। आत्म-औचित्य की स्थापना के द्वारा ही वह आत्म-प्रस्थापना करता है। फलत, इस औचित्य-स्थापना की भावना से प्रेरित होकर, वह अपने भीतर जो कुछ उसका अपना विशिष्ट है, उसे सामान्य मे— उस सामान्य मे जिसे वह सामान्य समझता है—इतना अधिक मिला देता है, कि उस सामान्य के प्रवाह मे बहकर उसका विशिष्ट आमूलाग्र बदल जाता है। *और जब वह विशिष्ट सामान्य* मे घुल-मिलकर रूपान्तरित हो जाता है, तब कवि आह्लाद और प्रकाश का अनुभव करता है। और उसे लगता है कि उसका विशिष्ट—जो अब विशिष्ट रहा ही नही— बहुत ही मार्मिक महत्त्व प्रकाश, मार्मिक महत्त्व-किरणें, विकसित कर रहा है। *यह सामान्य क्या है ? वे जीवन-मूल्य हैं, वे जीवन दृष्टियाँ है*, जो कवि ने अपने बाह्य विस्तृत जीवन मे पायी हैं। दूसरे शब्दो मे, उसके अन्तर मे व्याप्त ये जीवन-मूल्य और यह जीवन-दृष्टि बाह्य जीवन-जगत् का ही मनोवैज्ञानिक रूप हैं।

सृजन-प्रक्रिया के दौरान मे एक विलक्षण बात घटित होती है। एक तो यह कि *विशिष्ट जब सामान्य मे घुलता है, तब उस विशिष्ट के कारण कवि की आत्म-लीन* दशा का जो सवेदनात्मक पुंज है वह तो स्थायी रहता है, किन्तु उस बद्धता के घेरे की दीवारें टूट जाती हैं। इस प्रकार कवि-मन, सवेदनात्मक पुज धारण करते हुए भी, जो पुज उसकी आत्मलीन स्थिति मे उदबुद्ध हुए थे—सामान्य भूमि पर आकर जीवन-मूल्य और जीवन दृष्टियो से समन्वित होने से—अपने को उन सवेदना-पुजो से ऊपर उठा हुआ अर्थात् तटस्थ महसूस करता है, तथा वे सवेदना-पुज जीवन-मूल्यो और जीवन-दृष्टियो से तथा पूर्वगत अनुभवो से मिलकर अपने को व्यापक महत्त्व और प्रकाश से युक्त कर लेते हैं। अतएव उन सवेदना-पुजो मे दर्शक-मन को *एक अद्वितीय आनन्द प्राप्त होता है*। इस प्रकार दर्शक-मन अपने को एकदम तटस्थ, तो, दूसरी ओर, एकदम रसमग्न अनुभव करता है। विशिष्ट को सामान्य बनाने के हेतु, कवि-मन वेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होकर निरन्तर भाव-सशोधन और भाव-सम्पादन करता जाता है। यह कवि की आन्तरिक प्रक्रिया का अग है। सच तो यह है कि कविता एक सास्कृतिक प्रक्रिया है।

अभिव्यक्ति प्राप्त होने पर, भाव-पक्ष का सामाजीकरण हो जाता है। सृजन-प्रक्रिया के अन्तर्गत विशिष्ट को सामान्य बनाने की यह क्रिया तभी से शुरू हो जाती है, जब कवि कला के प्रथम क्षण मे अन्तर-नेत्रो से उस तत्त्व को देखने लगता है, कि *जो तत्त्व उन अन्तर-नेत्रो के सामने तरगायित और उद्घाटित हो* उठता है। आगे चलकर, समरूप अनुभवो से मिलते हुए, वह मनोमय तत्त्व जब जीवन-मूल्यो और जीवन दृष्टियो से अपना सगम करता है, तब वह और भी सामान्य हो उठता है। प्रश्न यह है कि वे जीवन-मूल्य और जीवन दृष्टियाँ किसकी हैं ? *(केवल व्यक्ति की तो वे हो ही नही सकती)। वह सामान्य भूमि* किसकी है ? यह प्रश्न स्वाभाविक है। यह प्रश्न हमे समाजशास्त्रीय आलोचना

की ओर ले जाता है। आगे चलकर जबकि कवि अपने मनोमय तत्त्व-रूप को बाह्य अभिव्यक्ति के साँचे में ढालने लगता है, या जब वह बाह्य अभिव्यक्ति को अन्तर-अभिव्यक्ति (मनोमयतत्त्वात्मक रूप) के साइज़ की, काट की, रंग की, बनाने लगता है, तब उसकी आँखों के सामने जो सौन्दर्य-प्रतिमान होता है, वह सौन्दर्य-प्रतिमान किस सौन्दर्याभिरुचि ने, किस वर्ग की सौन्दर्याभिरुचि ने, उत्पन्न किया है, यह प्रश्न स्वाभाविक हो उठता है। सौन्दर्याभिरुचि यदि मात्र व्यक्ति-जन्य होती तो बात अलग थी। किन्तु सौन्दर्याभिरुचि का वह फ्रेम, मात्र व्यक्तिजन्य नहीं है। अतएव यह प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक है कि उस वर्ग ने सौन्दर्याभिरुचि के उस फ्रेम का विकास किया तो क्यों किया, उसका औचित्य क्या है, सीमाएँ क्या हैं, आदि-आदि।

ध्यान रहे कि सौन्दर्याभिरुचि अपनी रक्षा के लिए सेंसरों का भी विकास करती है। प्रश्न यह है कि सेंसर किन मनस्तत्त्वों के विरुद्ध हैं, क्यों है, क्या इसका विश्लेषण आवश्यक नहीं है? उदाहरण के लिए, आज की नयी कविता में कर्कश विद्रोह-स्वर, अथवा गली-कूचों की धूल और मिट्टी की व्यंग्य-तस्वीर, अथवा क्रान्तिकारी चण्डता सौन्दर्यजनक नहीं समझी जाती। भद्रवर्ग की बैठक में सुनायी गयी ऐसे भावोंवाली कविताओं के प्रति प्रतिष्ठित महारथियों ने अविश्वास-अरुचि और वैराग्य ही प्रकट किया। उन्होंने बार-बार यह कहा कि उन्हें प्रतीत नहीं होता कि वह स्वर वस्तुतः आत्मानुभूति है। अर्थात्, उन्होंने उस पर अविश्वास किया। दूसरे शब्दों में, नयी कविता खास काट की, खास शैली की होने के अलावा कुछ विशेष विषयों और मनस्तत्त्वों तक ही सीमित रहनी चाहिए। स्पष्ट है कि उनकी सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष वर्ग की है, जिस विशेष वर्ग ने विशेष वर्ग-स्थिति में ही उस विशेष सौन्दर्याभिरुचि का अंगीकार किया है। और उस अभिरुचि के अन्तर्गत सेंसर काफी सक्रिय है। उच्च-मध्यवर्गीय सौन्दर्याभिरुचि के अधीन हो निम्न मध्यवर्गीय कविजन, जाने-अनजाने, उस फ्रेम के कारण सेंसर लगाते रहते हैं, और इस प्रकार अपने मानव-स्पन्दन और मर्मानुभव काटते रहते हैं। निस्सन्देह, सौन्दर्याभिरुचि और उसके अधीनस्थ सेंसर के विश्लेषण के सिलसिले में हम उस सौन्दर्याभिरुचि और सेंसर की सामान्य भूमि, अर्थात् वर्गीय भूमि, तक पहुँचना ही पड़ता है।

सच तो यह है कि काव्य की विशिष्ट और सामान्य भूमियों को पूर्णतः समझने का अभी प्रयास नहीं किया गया है, अथवा उन उपायों में सर्वांगीण पूर्णता नहीं आ पायी है। जो हो, यह सही है कि कविता में कवि का आत्मोद्घाटन उतना विश्वसनीय नहीं है, जितनी कि उसकी सामान्य भूमि।

सृजन-प्रक्रिया के उपर्युक्त विश्लेषण से जो दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि यदि कलाकार के तीनों क्षण पूर्ण न हुए, या उनमें शिथिलता आयी, तो कविता सुन्दर नहीं होगी। उसके तत्त्वों में निखार नहीं आयेगा। जो कविताएँ दुर्बोध हो जाती हैं, उन कविताओं में मन रस-मग्नता के साथ-ही-साथ पर्यालोचनपूर्ण तटस्थता का निर्वाह नहीं कर पाता। तटस्थता के पूर्ण निर्वाह के अभाव का प्रमुख कारण यह है कि वह अपनी वेदनाओं को जीवन मूल्यों और जीवन-दृष्टियों के प्रकाश में नहीं देख रहा है, कि वह अभी भी व्यक्तिबद्ध है, आत्मग्रस्त है। वे दृष्टियाँ और वे मूल्य उसके सम्बन्धित तत्त्वों का अंग नहीं बनी

हैं, उनका सामाजीकरण नहीं हुआ है। मैं कला के दूसरे क्षण की बात कर रहा हूँ। फलत, कवि अपने आत्मलीन भाव को तो देख पाता है, किन्तु उनको पूर्व-गत अनुभवों से प्रकाशित और जीवन मूल्यों से समन्वित करनेवाली जीवन-दृष्टि से एकात्म नहीं कर पा रहा है। इस सामान्य भूमि पर खड़े होकर वह तटस्थ हो सकता है। जब तक उसकी वेदना व्यापक मार्मिक अर्थ नहीं देती, तब तक कला का दूसरा क्षण सिद्ध-सम्पन्न हो नहीं हो सकता। संक्षेप में, वह उस सामान्य भूमि और अपनी विशिष्ट अनुभूति को समन्वित और एकात्म नहीं कर पाता। फलत, वह मात्र आत्मग्रस्त होकर रह जाता है। इसके विपरीत, जिन कवियों के पास अपने संवेदन शिथिल हैं, वे शीघ्र ही तटस्थ हो जाते हैं, अपने से वे जल्दी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु मनोमय तत्त्व में संवेदनात्मक आनन्द प्राप्त होने की दशा क्षीण होने के कारण, वे उस मनोमय तत्त्व के संवेदन-पुंजों को ही ग्रहण नहीं कर पाते। फलत उनकी कविता रिक्त रह जाती है, शुष्क हो जाती है। मनोमय तत्त्व के संवेदन-पुंजों को प्राप्त करना कवि का आद्य-प्राथमिक कर्तव्य है। वे उसे ही भूल जाते हैं। सच तो यह है कि कवि सृजन-प्रक्रिया के दौरान में निराला जीवन जीता है। उस जीवन को उसे ईमानदारी से आग्रहपूर्वक ध्यानशील होकर जीना चाहिए। नहीं तो बीच-बीच में सीवन उखड़ जायेगी और उसके फलस्वरूप काव्य में खोट पैदा होगी।

सृजन-प्रक्रिया के उपर्युक्त विश्लेषण में एक तीसरा निष्कर्ष निकलता है। वह यह है कि कवि की संवेदन-क्षमता, कल्पना की संश्लेषण-शक्ति और बुद्धि की विश्लेषण-शक्ति, इन तीनों में से कोई भी बात कमजोर हुई, तो मनोमय तत्त्व-रूप अपनी-अपनी सही-सही ऊँचाई को नहीं प्राप्त कर सकेगा। इसके साथ अभिव्यक्ति-सामर्थ्य को भी जोड़िये। अभिव्यक्ति-सम्पदा की प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष आवश्यक है। यह प्रयत्नसाध्य है और अभ्यासवश है।

हमारे जन्मकाल से ही शुरू होनेवाला हमारा जो जीवन है, वह बाह्य जीवन जगत् के आभ्यन्तरीकरण द्वारा ही सम्पन्न और विकसित होता है। यदि वह आभ्यन्तरीकरण न हो तो हम कृमि—पानी का जीव हायड्रा—बन जायेंगे। हमारी भाव-सम्पदा, ज्ञान सम्पदा, अनुभव-समृद्धि उस अन्ततत्त्व-व्यवस्था हो का अभिन्न अंग है, कि जो अन्ततत्त्व-व्यवस्था हमने बाह्य जीवन-जगत के आभ्यन्तरीकरण से प्राप्त की है। हम मरते दम तक जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण करते जाते हैं। किन्तु साथ ही, बातचीत, बहस, लेखन, भाषण, साहित्य और काव्य द्वारा हम निरन्तर स्वयं का बाह्यीकरण करते जाते हैं। बाह्य का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तर का बाह्यीकरण एक निरन्तर चक्र है। यह आभ्यन्तरीकरण तथा बाह्यीकरण मात्र मननजन्य नहीं वरन् कर्मजन्य भी है। जो हो, कला आभ्यन्तर के बाह्यीकरण का एक रूप है।

बातचीत, बहस, भाषण, लेखन, चित्रकला, काव्य-साहित्य, आदि द्वारा हम बाह्य जीवन जगत् के साथ या तो सामंजस्य उत्पन्न करते हैं (या उस सामंजस्य के अनुकूल प्रस्तुत होते हैं), अथवा उसके साथ हम द्वन्द्व में उपस्थित होते हैं। काव्य भी या तो बाह्य जीवन-जगत् के साथ सामंजस्य में या उसके अनुकूल उपस्थित होता है, अथवा उसके साथ द्वन्द्व रूप में प्रस्तुत होता है, अथवा काव्य प्रवृत्ति (बातचीत, भाषण, लेखन, के समान ही) एक स्तर या क्षेत्र में सामंजस्य, और

दूसरे स्तर या क्षेत्र में द्वन्द्व, को लेकर प्रस्तुत होती है। सक्षेप में, आभ्यन्तर या बाह्योकरण, विश्वव्यापी सामजस्य या द्वन्द्व अथवा दोनों के भिन्न रूप में उपस्थित होना है। कला इस नियम का अपवाद नहीं है।

आज की कविता मे उक्त सामजस्य से अधिक द्वन्द्व ही है। इसलिए उसके भीतर तनाव या घिराव का वातावरण है। आज का पद्याभास गद्य, मुख्यत , यह बात व्यक्त करता है कि इसमे सुमधुर लयात्मक किन्तु गणितन्तीय छन्दों का स्थान नहीं। सक्षेप में, इस पार्श्वभूमि को देखकर ही वर्तमान कविता की विवेचना होनी चाहिए।

किन्तु, आवश्यकता इस बात की है कि हम इस द्वन्द्व को पूर्णत समझें और तदनुसार अनुभव-समृद्धि बढायें। मेरा अपना मत है कि हमारे साहित्य चिन्तन या कलात्मक दृष्टि का विकास तभी होगा, जब हम वास्तविक जीवन में व्यापक तथा विविध जीवनानुभवो से सम्पन्न होंगे, तथा हम विक्षुब्ध उत्पीडित मानवता के (वायवीय नहीं, पूर्ण) आदर्शों से एकात्म होंगे। इनके बिना तत्त्व-समृद्धि और तत्त्व परिष्कार की समस्या अधूरी ही रह जायेगी। लेकिन पता नहीं क्यों, मुझे यह विश्वास है कि नयी काव्य प्रवृत्तियाँ चाहे वे गीत रूप में ही क्यों न आयें—उक्त कार्य कर सकेंगी।

वास्तविक जीवन-जगत् के मार्मिक पक्षों को प्रकट करने के लिए, दूसरे शब्दों में, हमारे आभ्यन्तर में व्याप्त वास्तविक जीवन-जगत् के मार्मिक पक्षों की अभिव्यक्ति के लिए, हमें कुछ खतरों से सावधान रहना होगा।

कुछ खतरे

एक खतरा है जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि का। नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र के कुछ महान् व्यक्ति, अपनी वर्गीय अभिरुचि के फलस्वरूप, सौन्दर्य का जो प्रतिमान हमारे सामने रखते हैं, उसमें जब तक व्यापक सशोधन नहीं होगा, तब तक हम अपने ही जीवन-अनुभवों का पूर्ण और प्रभावशाली चित्र उपस्थित नहीं कर सकते। जो *काव्यात्मक व्यक्तित्व एक बन्द सन्दूक (क्लोज्ड सिस्टम) बनाता है,* ('तुम नहीं व्याप सकते, तुममें जो व्यापा है, उसी को निबाहो') वह जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि ही प्रस्तुत कर रहा है। इस तरह की जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि के फलस्वरूप ही, कुछ साहित्यिक समाजशास्त्री अपने दर्रे के बाहर के क्षेत्र में प्रचलित नयी काव्य समृद्धि में विद्रूपता के अतिरिक्त कुछ नहीं देखते। यदि हमें वैविध्यपूर्ण, परस्पर द्वन्द्वमय, मानव-जीवन के (अपने अन्तर में व्यापित) मार्मिक पक्षों का वास्तविक प्रभावशाली चित्रण करना है, तो हमें जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि और उसके सेंसर त्यागने होंगे, तथा अनवरत रूप से अपने ढाँचों और फ्रेमों में सशोधन करते रहना होगा। मनुष्य-जीवन का कोई अग ऐसा नहीं है जो साहित्याभिव्यक्ति के अनुपयुक्त हो। जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि एक विशेष शैली को दूसरी विशेष शैली के विरुद्ध स्थापित करती है। गीतों का नयी कविता से कोई विरोध नहीं है, न नयी कविता को उसके विरुद्ध अपने को प्रतिष्ठापित करना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि जीवन में नये तत्त्व आयें, न कि [किसी] काव्य-शैली की धारा की समाप्ति हो। किन्तु जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि जबर्दस्ती का विरोध पैदा करा देगी। यह स्वय अपनी धारा का विकास भी

कुण्ठित करेगी, साथ ही पूरे साहित्य का।

नयी कविता के विभिन्न कवियों की अपनी-अपनी विशेष शैलियाँ हैं। इन शैलियों का विकास अनवरत है। आगे चलकर जब वे प्रौढ़तर होंगी, नयी कविता विशेष रूप से ज्योतिर्मान होकर सामने आयेगी। साथ ही, नयी कविता में स्वयं कई भाव-धाराएँ हैं, एक भाव-धारा नहीं। इनमें से एक भाव-धारा में प्रगतिशील तत्त्व पर्याप्त हैं। उनकी समीक्षा होना बहुत आवश्यक है। मेरा अपना मत है, आगे चलकर नयी कविता में प्रगतिशील तत्त्व और भी बढ़ते जायेंगे और वह मानवता के अधिकाधिक समीप आयेगी।

[कृति, फरवरी 1960 में प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसंघर्ष में संकलित]

नयी कविता की अन्तःप्रकृति : वर्तमान और भविष्य

नयी काव्य-धारा के सम्बन्ध में न मालूम कितनी ही बार विस्तारपूर्वक चर्चा हो चुकी है। पत्र-पत्रिकाओं में लेख इत्यादि के प्रकाशनों के साथ-ही-साथ अब तो पुस्तकें भी निकल आयी हैं। अनेक लेखकों ने अपनी बातें समझा-समझाकर पाठकों के सामने उपस्थित की हैं। नयी काव्य धारा अब हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में प्रधान धारा बन उपस्थित हुई है। यही नहीं, अब वह कहानी-साहित्य को भी प्रभावित कर रही है। नयी कहानी नामक जो एक नये ढंग की कहानी हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में आ रही है, वह एक तरह से, कहा जाये तो, नयी कविता की देखा-देखी, या उससे किसी-न-किसी प्रकार से प्रेरित, नयी कहानी है।

लेकिन, बावजूद इसके, नयी कविता का विरोध अभी भी होता रहता है। यह विरोध कभी दबे और कभी खुले स्वर से, कभी आदर्श के नाम से तो कभी काव्य-भाषा के नाम से, होता ही आया है। अभी भी वह जारी है।

इसके पहले कि हम इस विरोध के रुख को जानें, यह आवश्यक है कि हम सरसरी तौर पर नयी काव्य प्रवृत्ति के अन्त स्वरूप को पहचानने की कोशिश करें।

सबसे पहली बात जो जानने की है वह यह कि आज की सभ्यतावस्था में, आज की समाजावस्था में, जो जीवन प्रसंग उपस्थित होते हैं, जो वास्तविक अनुभूतियाँ हमें होती हैं, जो वास्तविक अनुभव हमें होते हैं, वे बार-बार उत्पन्न ऐसी संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ हैं जो हम अपनी परिस्थिति और परिवेश के साथ किया करते हैं। ये संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ वास्तविक जीवन प्रसंगों में होने के कारण मूर्त्त होती हैं। और उनके सन्दर्भ का एक सूत्र परिस्थिति और परिवेश में होता है, तो उसी सूत्र का दूसरा छोर मानव-अन्त करण में होता है। इस तथ्य को हमें

भूलना नहीं है कि ये प्रतिक्रियाएँ वास्तविक जीवन-प्रसंगों में वास्तविक परिवेश के प्रति वास्तविक मानव-अन्तःकरण में उत्पन्न होती हैं।

लेखक या तो इन मूर्त्त संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करता है, अथवा हृदय में सचित इन संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं के पुंजों को, उनके सामान्यीकरणों को, इन संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं से उत्तेजित स्वप्नों को, अथवा इन संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं द्वारा प्रेरित अन्य भावों या विचारों को, काव्य में व्यक्त करता है। चाहे वह विचार व्यक्त करे, चाहे भाव, अथवा कोई कल्पना चित्र या स्वप्न ही उपस्थित क्यों न करे, उसका मूल आधार, उसका प्रेरणात्मक तत्त्व, और उसका रूप और आकार, उसके ताने बाने, उसके अन्तःसूत्र, उन संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं से बने होते हैं, जो संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ मनुष्य आज की समाजावस्था के अन्तर्गत जीवन-प्रसंगों और जीवन स्थितियों में प्राप्त वास्तविक परिवेश और वास्तविक परिस्थितियों के प्रति किया करता है। दूसरे शब्दों में, नयी काव्यधारा का प्राण है वास्तविक संवेदनात्मक और बौद्धिक समसामयिकता।

आज के कवि के अन्तःकरण में जो कड़ुआहट, दुःखानुभव, आत्मग्लानि, सौन्दर्यासक्ति, आलोचनशीलता आदि-आदि भाव हैं, वे सब आधुनिक समाजावस्था के अन्तर्गत उपस्थित जीवन-प्रसंगों में, अर्थात् वास्तविक और परिस्थिति के प्रति, संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं के पुंज हैं, अथवा उनके आधार पर किये गये सामान्यीकरण हैं। उनमें जो भाव-दृष्टि प्रकट होती है, वह भाव-दृष्टि उस संवेदनात्मक स्थिति में पड़े हुए मनुष्य की भाव-दृष्टि है। इसी को बहुत-से लोग आधुनिक भाव बोध भी कहते हैं।

किन्तु, आधुनिक भाव बोध की जिस ढंग से परिभाषा की गयी है, उससे सबका सहमत होना कठिन हो जाता है। यह क्यों है, किस प्रकार है, यह आगे बताया जायगा।

नयी काव्य-प्रवृत्ति की दूसरी विशेषता है पुरानी काव्य-भाषा का त्याग, और ऐसी सामान्य भाषा का प्रयोग जिसका उपयोग बातचीत में किया जाता है। छायावादी काव्य भाषा लाक्षणिक और अलंकरण-प्रधान थी, उसका प्रयोग शिक्षित समुदायों के वार्तालाप में नहीं होता था। न इस समय होता है। सामान्य बातचीत में साधारण रूप से जिन शब्दों का प्रयोग होता है वे सब नयी कविता में ग्राह्य हो सकते हैं, बशर्ते कि काव्यात्मक अर्थद्योतन की क्षमता रखते हों। ऐसा क्यों? सामान्य वार्तालाप या चर्चा या बातचीत की भाषा का ही प्रयोग क्यों?

इसका कारण यह है कि संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ जो मन में उठती हैं, वे किसी काव्य-भाषा के वस्त्र पहनकर नहीं आतीं। काव्य-भाषा का आदर्श तो यह होना चाहिए कि वह उत्तेजित शारीरिक चेष्टा के रूप-जैसी ही प्रत्यक्ष प्रतीत हो। चूँकि यह सब विषयों में सर्वत्र सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए स्वर को साधा जाना चाहिए। स्वर को साधा भी जाता है। स्वर का अर्थ है लहजा। नयी काव्य-प्रवृत्ति की काव्य भाषा यद्यपि बातचीत के बहुत निकट आ गयी है, किन्तु यह नैकट्य काव्यात्मकता के त्याग अथवा भावना की शिथिलता के कारण यदि उत्पन्न है तो वह निःसन्देह निरर्थक है। ऐसी कविता में संवेदनाघात नहीं होगा। ध्यान में रखने की बात है कि नयी काव्य-भाषा में सामान्य वार्तालाप की भाषा के प्रयोग का अर्थ यह नहीं होता कि उसमें संस्कृत शब्दों का त्याग हो, न वैसा

माना हो जाता है।

नयी कविता की काव्य-भाषा अभी भी विकासावस्था में है। इसीलिए अनेक प्रकार के भाषा-रूप हम उसमें दिखायी देते हैं। महत्त्व की बात केवल इतनी ही है कि पुरानी भावुकता प्रधान अलंकृति-मूलक काव्य-भाषा का प्रयोग खप नहीं सकता। उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि पुराने काव्य में हमें भावना की अतिशयोक्ति और भावों की अतिरंजना दिखायी देती है। इसके विपरीत, संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ विशेष मात्रा और विशेष अनुपात में होती हैं। उसी मात्रा और अनुपात के शब्दाघात करना आवश्यक है। मात्रा और अनुपात का सही-सही पन अत्यन्त महत्त्व की बात है।

अब आप छन्दों पर आइए। नयी कविता का प्रयोगवादी कविता में नियम-बद्ध छन्दों का प्रयोग कम होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि इस काव्य-प्रवृत्ति में छन्दों का निषेध है। इस धारा के अन्तर्गत अनेक कविताएँ छन्दोबद्ध हैं। ध्यान में रखने की बात है कि उसमें गीत भी लिखे गये हैं। गीत-काव्य का निषेध उसमें नहीं है। अनेक नये कवियों में गीतात्मकता है। मुक्त छन्द प्रसाद और निराला ने भी खूब लिखे। यहाँ तक कि पद्याभास गद्य भी हमें निराला में मिलता है।

तारसप्तक वालों ने छायावादियों के इस नये छन्द प्रयोगों की स्वाधीनता का पूरा लाभ उठाया। आगे चलकर मुक्त छन्द को ही नये कवियों ने पद्याभास गद्य का रूप दिया। पद्याभास गद्य का प्रचार इतना क्योंकर हुआ?

सबसे पहले तो यह बता दूँ कि पद्याभास गद्य में बाह्य-परिवेश से की जाने-वाली संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं और भाव-प्रक्रियाओं को उनके सहज प्रवाही और पूर्ण रूप में उपस्थित किया जा सकता है। पद्याभास गद्य में, काव्य उसी प्रकार पढ़ा जाना चाहिए जिस प्रकार गद्य। हमारे यहाँ छन्द की भाषा गद्य की भाषा जैसी नहीं पढ़ी जा सकती। अगर आप दोनों की तुलना कर देखें तो आपको स्पष्ट भेद मालूम होगा। धारणा यह है कि गद्य की भाषा अधिक स्वाभाविक है, उसमें भाषा का स्वाभाविक स्वर, उसका लहजा, उच्चारण-विधि, इन सबकी समुचित रक्षा होती है।

ये सब बातें मैंने आपके सामने परिचयात्मक रूप से ही रखी हैं। मैं आपके सामने जो बातें विशेष रूप से रखना चाहता हूँ, वे आगे आयेंगी। यह सबको मालूम है कि बाह्य परिस्थिति या परिवेश से की गयी संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ और उनका सामान्यीकरण नव-काव्य में व्यक्त होता है। इसीलिए उसमें एक गहरी सम-सामयिकता है।

इस बात को मैं अब दूसरे ढंग से कहना चाहता हूँ। संसार को जीवन-जगत् को देखने की छायावादी दृष्टि में हमें अतिशय भावुकता और आध्यात्मिकता के

त्मक, विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक तत्त्व बहुत कम दिखायी देते हैं। इसलिए, मेरा अपना यह ख़याल है कि नयी काव्य-दृष्टि को हम बौद्धिक नहीं कह सकते। यह सोचना गलत है कि जहाँ भावुकता का अर्थात् भावात्मक व्याकुलता का,

अभाव है, वहाँ बौद्धिकता है। बौद्धिकता, वस्तुत, ज्ञान-दृष्टि है। ज्ञान मे तथ्य-बोध, विवेचन, विश्लेषण और मूल्यांकन होता है।

[अपूर्ण, रचनाकाल अनिश्चित। सम्भवत 1959 के बाद]

नयी कविता : निस्सहाय नकारात्मकता

नयी कविता के वर्तमान स्वरूप के प्रति कइयो मे असन्तोष है—स्वय उन बहुत-से कवियो मे भी, जो इस धारा के अग हैं। ऐसी स्थिति म यह स्वाभाविक ही है कि इस धारा का विश्लेषण विवेचन खास वे लोग करें जो एक ओर तो इस धारा के अग हैं तो दूसरी ओर उससे असन्तुष्ट भी हैं। असन्तोष प्रगति का लक्षण माना जाता है, किन्तु वह उसका वास्तविक लक्षण तो तब सिद्ध होगा, जब प्रगति वस्तुत: हो, होकर रहे।

काव्य का उन्नयन और विकास, नि सन्देह, एक जटिल प्रक्रिया है। केवल कवि प्रतिभा पर ही काव्य की उन्नति निर्भर नही है। हाँ, उसकी उन्नति के लिए जो तत्त्व आवश्यक होते हैं। उनम कवि की क्षमता भी एक तत्त्व है, किन्तु केवल वही पर्याप्त नही होता। उदाहरणार्थ, पश्चिमी जगत् की द्वितीय युद्धोत्तर कविता मे यद्यपि नया मोड आया है, फिर भी द्वितीय युद्ध के पूर्व उसकी जो उठान थी, उसकी ऊँचाई तक वर्तमान काव्य नही पहुँचा है—यह विज्ञो की राय है। सम्भव है, अनेक अन्य 'विज्ञ' इस बात को काटने के लिए कुछ युक्तियाँ और प्रमाण प्रस्तुत करें। किन्तु यह निश्चित तथ्य है कि काव्य-साहित्य की उन्नति उत्तरोत्तर और अनवरत होती जाये, यह अनिवार्य नियम नही है।

हिन्दी के वर्तमान काव्य साहित्य के प्रति कुछ लोगो मे जो असन्तोष है, उसे देखकर यह कहना पडता है कि यह असन्तोष इसलिए है कि काव्य मे जो कुछ वे कहना या देखना चाहते हैं वह प्रकट नही होता है या नही हो पाता। कोई चीज़ कही खो गयी है, गुम गयी है। जो बुनियादी है बुनियादी होकर सताती है, वह नही मिल पाती। उच्छ्वास की कमी नही, वातावरण-चित्रण, प्रतीकात्मक भाव व्यजना, अनूठी शैली—जी हाँ, सब कुछ है, किन्तु जीवन का जो मूल सत्य है, वह तिरोहित है। शायद, सत्य है भी कि नही इसमे सन्देह है, किन्तु असत्य भी जीवन का सत्य है, वह पूर्णत चित्रित हो। सो, वह भी नही। एक नि सहाय नकारात्मकता, अथवा अधिक से अधिक, जीवन के छिटपुट चित्र, जिनम कभी आलोचनात्मकता है तो कभी औदासीन्य का कलुप। इस स्थिति के विरुद्ध, काव्य स्थिति के विरुद्ध, स्वय कवि ही विद्रोह कर उठता है (भले वह उसे कहे या न कहे)। हाँ, यह सही है कि जीवन के इन छिटपुट चित्रो मे भी भाव गम्भीरता है तथा सचाई होती है (नही भी होती है)। फिर भी उससे सन्तोष नही हो पाता। कुछ और चाहिए, और, और!—वह चाहिए जो जीवन को उसकी समग्रता म, उसकी सारी विशेषताओ सहित प्रकट करे। केवल छिटपुट प्रयत्नो

मे (और उसकी वाहवाही मे) अब मजा नही आता।

इसलिए कुछ लोग 'खोज' पर विश्वास करते हैं। सतत अन्वेषण, सतत अनुसन्धान के पथ का नाम लेनेवाले लोग कम नही। किन्तु अनुसन्धान और अन्वेषण का थियॅराइज़ेशन (केवल विचारणा, केवल सिद्धान्त स्थापना) ही किया जाता है। अधिक-से-अधिक, वह आत्मान्वेषण और आत्मानुसन्धान बनकर रह जाता है, जिसके आवेग मे दो-चार, पाँच दस, दस बीस कविताएँ बनाकर मामला ठप्प हो जाता है। और ऐसी कविताओ मे आवृत्ति, पुनरावृत्ति, आवृत्ति पुनरावृत्ति। फिर वही दुश्चक्र चालू। सक्षेप मे, एक घेरा बन गया है, उसमे से निकलना मुश्किल है।

इस प्रकार के या ऐसे ही किसी अन्य प्रकार के विचार सुनने का अवसर मिला करता है। बहुत-से लोग पश्चिमी काव्याभ्यासी होकर अनुवाद कार्य मे इसलिए तल्लीन हैं कि उस अभ्यास के द्वारा उन्हे नयी अभिव्यक्ति प्राप्त हो सकेगी। ऐसे कवियो के मन म यह भाव प्रधान हो उठा है कि अभिव्यक्ति-शैली प्राप्त करने से हमारी कुछ कमियाँ दूर हो सकेंगी। अतएव, अनुवाद-कार्य काव्याभ्यास का आवश्यक अग माना जा रहा है।

इस सम्बन्ध मे भी कुछ विचार हो जाये। पहली बात तो यह है कि मनुष्य का कोई सच्चा श्रम अकारथ नही जाता। इसलिए काव्यानुवाद का भी नि सन्देह, अपना एक महत्त्व है। सन्त रामदास ने कवि को शब्दो का ईश्वर कहा था। किन्तु, हमारे प्राचीन सिद्धान्त-शास्त्री प्रतिभा के अतिरिक्त निपुणता और अभ्यास को महत्त्व देते आये है। आज के युग मे, जबकि परिवर्तन की गति द्रुततर है, जबकि जगत् अधिकाधिक परस्पर-सम्बद्ध और सक्षिप्त होता जा रहा है, जबकि घटनाओ का वेग तीव्र होकर सामाजिक जीवन म तरह-तरह की ध्वनि-प्रतिध्वनियाँ उत्पन्न कर रहा है, जबकि मन म तरह-तरह के घात-प्रतिघात हो रहे है, जबकि व्यक्ति-जीवन मे भाँति-भाँति के उत्तरदायित्व प्रधान हो रहे हैं, सामाजिक जीवन जटिल होकर कर्तव्य-भावना ग्रन्थिल हो गयी है—तो ऐसी स्थिति मे मन के भीतर जो उद्वेग है, जो एकालाप है, जो सुर है, उसकी प्रभावमय अभिव्यक्ति के लिए नि सन्देह शब्द-सम्पदा चाहिए, अभिव्यक्ति का अभ्यास चाहिए। यदि विदेशी स्रोतो से सहायता मिल सकती हो तो उसे लेने मे मुझे कोई हर्ज नही दीखता।

किन्तु (और यह बहुत बड़ा किन्तु है), यह विदेशी सहायता भारतीय जीवन का, हमारे अन्तर्जीवन का, कवि-जीवन का, स्थान ग्रहण नही कर सकती, हमारे मूल उद्वेगो का स्थान नही ले सकती, हमारी जीवन-दिशा का स्थान नही ले सकती। वह तभी स्वीकरणीय या अस्वीकरणीय है जबकि हम अपने वस्तु-तत्त्व मे पूर्णत सचेत हो। अपनी भाषा, अपना इतिहास, अपनी सस्कृति और साहित्य के तीव्र रासायनिक द्रव मे गलकर ही, उसमे एकीभूत होकर ही और विश्व-जीवन की विकीरणशील किरणो मे शोधित होकर ही, हमारे वस्तु-तत्त्व जब निखर उठें, तब उस वस्तु-तत्त्व के आग्रहो और अनुरोधो को पूरा करने के लिए ही वह सहायता आवश्यक है। वह जरूर ली जानी चाहिए। यदि हमारी ऐसी स्थिति नही है, तो नि सन्देह वह सहायता प्रतिकूल है। निष्कर्ष यह कि मुख्य प्रश्न जीवन-चेतना का प्रश्न है, न कि अभिव्यक्ति-सम्पदा के अन्वेषण का।

यह बिलकुल सही है कि कवि को पण्डित, आचार्य या सम्पादक होने की आवश्यकता नहीं है, उसके काव्य का सौन्दर्य, उसके पाण्डित्य और आचार्यत्व पर निर्भर न होकर, उसकी भाव-समृद्धि और अभिव्यक्ति-क्षमता पर निर्भर है। किन्तु मुख्य बात यह है कि भाव-समृद्धि और अभिव्यक्ति-क्षमता, दोनों एकीभूत सघनित स्थिति में बहुत कम पायी जाती हैं। अगर सचमुच वैसा होता तो क्या बात थी! शायद इसीलिए सतत अभ्यास की आवश्यकता है। किन्तु इसके तथा अन्य बातों के अतिरिक्त, काव्य सौन्दर्य के लिए एक और चीज़ की ज़रूरत है। वह है सौन्दर्य की थियॅरी।

आप मानिए या न मानिए, मेरा तजुर्बा यह है कि रचनाकार के मन में सौन्दर्य का कोई नमूना, कोई डिज़ाइन, कोई पैटर्न होता ज़रूर है। लेखक यह कोशिश करता है कि उसकी कृति नमूने के समीपतर हो। इसी बात को मैं दूसरे शब्दों में कहता हूँ। सौन्दर्य सम्बन्धी कोई कल्पना-कृति है जिसे हम यदि वैचारिक शब्दावली में कहें तो थियॅरी कह सकते हैं। यह सच है कि कवि रचना करते समय उससे इस प्रकार सचेत नहीं रहता, मानो वह कोई बाह्य चित्र हो या बाह्य सिद्धान्त हो। किन्तु सौन्दर्य-सम्बन्धी वह कल्पना-कृति, थियॅरी के तत्त्व या सिद्धान्त के तत्त्व अवश्य रखती है। सौन्दर्य-सम्बन्धी लेखक की वह मान्यता, जिसके अनुसार वह रचना करता है, रचना प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। होता यह है कि सौन्दर्य सम्बन्धी वे कल्पना कृतियाँ, या वे धारणाएँ, कभी-कभी अपने ही वस्तु तत्त्वों के अभिव्यक्ति-रूपों के विरुद्ध पूर्वाग्रह भी बन जाती हैं। इन पूर्वाग्रहों के कारण वे अभिव्यक्ति रूप काव्य में स्थान नहीं ले पाते। दूसरे शब्दों में, या तो वस्तु-तत्त्व ही काटकर फेंक दिये जाते हैं, या उन्हें ऐसी अभिव्यक्ति दी जाती है जो उनकी मूल अभिव्यक्ति स्वभावतः नहीं है। इस प्रकार पुराना घेरा ज्यों का त्यों बना रहता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और निवेदनीय है। वह यह कि बहुतेरे कविजन यह सोचते हैं, या यह सोचने के लिए मजबूर हो जाते हैं, कि चूँकि प्रत्येक कवि की अपनी विशेष अभिव्यक्ति शैली हुआ करती है, इसलिए उस विशेष अभिव्यक्ति-शैली के विकसित होने पर कवि ने एक मंज़िल तै कर ली। महत्त्व की बात यह है कि अभिव्यक्ति-प्रयास के दीर्घ काल में जो शैली विकसित हो जाती है वह आगे चलकर उसी कवि का एक बहुत बड़ा बन्धन भी हो जाती है। सभी तरह के अनुभूत वस्तु तत्त्व एक ही प्रकार की अभिव्यक्ति-शैली में नहीं बाँधे जा सकते। यह तो कहने की बात है कि तत्त्व स्वयं ही अपना रूप ग्रहण करता है। सच बात तो यह है कि पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करने की प्रक्रिया में तत्त्व स्वयं बदलने लगते हैं। यहाँ तक कि, प्रारम्भतः, जिस उद्वेगपूर्ण भाव को लेकर कवि लिख रहा था, कृति उस मूल भाव से दूर चली जाती है, उससे भिन्न हो जाती है। इसीलिए मेरा यह मत रहा है कि कला में वस्तुतः आत्माभिव्यक्ति नहीं हुआ करती। अभिव्यक्ति होती है, किन्तु जीने और भोगनेवाले अपने मन की, अपनी आत्मा की, वह सच्ची अभिव्यक्ति है, यह कहने का साहस नहीं हो पाता। वस्तुतः, यह आत्माभिव्यक्ति नहीं है। सौन्दर्य-सम्बन्धी अपनी अपनी धारणाओं के अनुसार, जो लोग अत्यधिक विशिष्ट बनने का प्रयत्न करते हैं और उसमें उलझकर रह जाते हैं, वे न आत्माभि-

व्यक्ति करते हैं, न सामान्याभिव्यक्ति । सच बात तो यह कि आत्मपरक रूप से विश्वपरक, जगत्परक होने की लम्बी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति ही कला है—अभिव्यक्ति-कौशल के क्षेत्र में और अनुभूति अर्थात् अनुभूत वस्तु-तत्त्व के क्षेत्र में।

दूसरे शब्दों में, सतत अन्वेषण और सतत अनुसन्धान का बाजा बजानेवाले लोग, वस्तुत, प्रयोग नहीं कर रहे है, वे प्रयोगवादी नहीं हैं, वे घेरे में फँसे हुए लोग हैं। बहुत से उसी में खुश हैं, कई अपनी इस स्थिति से असन्तुष्ट भी हैं। किन्तु यह घेरा तब तक नहीं टूट सकता, जब तक कि वस्तु-तत्त्व भिन्न-भिन्न होकर, व्यापक होकर, विभिन्न काव्य रूप ग्रहण नहीं करते। अथवा इसी बात को मैं इस तरह कहूँगा कि काव्य-रूप में बँधनेवाले तत्त्व, और वस्तुत अनुभूत होनेवाले तत्त्व, इन दो की यदि हम तुलना करें तो पायेंगे कि बहुत कम अनुभूत वस्तु तत्त्व काव्य-रूप ग्रहण करते हैं। शेष वस्तु तत्त्वों को काव्य-रूप देने का प्रयत्न नहीं किया जाता। और यदि किया भी जाता है तो सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाओं की तृप्ति न होने की स्थिति में उनको काटकर फेंक दिया जाता है। फलत, कवि-व्यक्तित्व और वास्तविक व्यक्तित्व में ज़मीन-आसमान का फर्क दिखायी देता है। कविता में केवल एक ही स्थायी भाव बार-बार प्रकट होकर समाप्त हो जाते हैं, यद्यपि सवेदनशील मन जीवन-जगत् को आत्मसात् करता हुआ, और उसके विरुद्ध-अनुकूल क्रिया-प्रतिक्रिया करता हुआ, अपना सचेत जीवन जिया करता है। फलत, कभी-कभी तो यह होता है कि कवि व्यक्तित्व वास्तविक व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता।

भाव अथवा जीवन के जो छिटपुट चित्र कवि उपस्थित करता है, उनमें मात्र विशिष्ट क्षण का चित्र बहुत कम होता है। सच बात तो यह है कि उसमें एक दिशा में जानेवाले, अथवा एक ही प्रकार के, विभिन्न भावों का सामान्यीकरण (जेनरलाइज़ेशन) होता है। किन्तु जीवन के जो अन्य अनुभूत वस्तु-तत्त्व हैं, उनसे इन सामान्यीकरणों का मानो कोई सम्बन्ध न हो ऐसा दिखायी देता है। जीवन विभिन्न अनुभूत क्षेत्रों के विभिन्न अनुभूत वस्तु-तत्त्वों का उनमें सायुज्य-स्थापन नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए लगता है रचनाकार के व्यक्तित्व में अन्तर्विभाजन है—काव्य रूप ग्रहण करनेवाले वस्तु तत्त्व अलग और विशिष्ट, जीवन में अनुभूत होनेवाले वास्तविक क्षण पृथक् और विशिष्ट। इन सबका विशाल सामान्यीकरणों के अन्तर्गत सयोजन न होने से बड़ी गड़बड़ है।

सक्षेप में, काव्य में जीवन के व्यापक चित्र चाहिए, न कि छिटपुट। व्यापक चित्रों में जीवन के विविध क्षेत्रों और अनुभवों का सामान्यीकरण निष्कर्ष आवश्यक है। यह न होने से तृप्ति नहीं होती, मार्गदर्शन नहीं होता। ज़िन्दगी को जीने और उसे ले चलने का उत्साह और उसकी दीप्ति हम काव्य से मिलनी चाहिए। जीवन के विविध अनुभवों के सामान्यीकरणों से उत्पन्न निष्कर्ष रूप दीप्ति वही दे सकता है। कविता जीवन वहन की लालटेन हो सके, इसका हमें प्रयत्न करना होगा।

भारतीय मन की कुछ अपनी विशेषताएँ है। वह साहित्य को अपने आत्मीय परमप्रिय मित्र की भाँति देखना चाहता है, जो रास्ते चलते उससे बात कर सके, सलाह दे सके, काट-छाँट कर सके, प्रेरित कर सके, पीठ सहला सके, और मार्ग-दर्शन कर सके। भारतीय साहित्य में उन लोगों की वाणी को ही प्रधानता मिली

है, जिन्होंने आध्यात्मिक असन्तोषों और अतृप्तियों को दूर करने की दिशा में विवेक-वेदना-स्थिति से ग्रस्त होकर काम किया है। आशा है कि हम लोग वैसा ही करेंगे।

[रचनाकाल 1959 के बाद, क्षमप्रज्ञ मे प्रकाशित। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र मे सकलित]

रचनाकार का मानवतावाद

नयी कविता पर विचार करते करते मैं यह सोचने लगता हूँ कि उसमे प्रेरणामय मानवतावादी दृष्टि होनी चाहिए। किन्तु इस प्रकार कुछ कह देने से नयी कविता मे, या किसी भी कविता मे वे गुण उत्पन्न नही हो सकते कि जिनका आग्रह मैं कर रहा हूँ या दूसरे कर रहे हैं। प्रेरणामय मानवतावादी भाव-धारा उसमे तब तक उत्पन्न नही हो सकती जब तक कि समाज मे या जीवन-जगत् मे मानवतावादी भावधारा का उत्कट और व्यापक प्रभाव न हो, अथवा रचनाकार का ऐसा प्रचण्ड व्यक्तित्व न हो कि जैसा, मान लीजिए वॉल्ट ह्विटमैन का था। यदि कुछेक समीक्षाकारो और विचारको के अनुरोधो और आग्रहो से कविता का रूप-रग बदल पाता, तो न मालूम कितने ही समीक्षकों और विचारको के भिन्न-भिन्न आग्रहों और अनुरोधो के अनुसार, कविता के भिन्न-भिन्न रूप-रग हो जाते। लेकिन ऐसा नही हो पाता, न ऐसा होना चाहिए। क्यो, ऐसा क्यो नही होना चाहिए ?

यह इसलिए नही होना चाहिए कि काव्य मे—साहित्य मे—चूँकि आभ्यन्तरीकृत जीवन और जीवन-दृष्टि प्रकट होती है, इसलिए जब तक कि रचनाकार बाह्य अनुरोधो और आग्रहो को स्वीकार करके उनके प्राप्त सत्यो के अनुसार जीवन का आभ्यन्तरीकरण नही करता, तब तक वह नवीन दृष्टि से, अर्थात् उन अनुरोधो और आग्रहो को, अन्तर मे स्थान देकर उनकी क्रियाशील शक्ति से, आभ्यन्तरित जीवन को काव्य मे कलात्मक रूप से प्रकट नही कर सकता। और, यदि वह इस प्रकार के आभ्यन्तरीकरण के बिना रचना उपस्थित करता है, तो निस्सन्देह उसकी उस रचना मे कलात्मक गुण उत्पन्न नही होंगे—ऐसे गुण जो प्रभावकारी हो। दूसरे शब्दो में, उसमे वह सौन्दर्य उत्पन्न नही होगा कि जो कलाकृति के लिए आवश्यक होता है।

तो मुख्य प्रश्न बाह्य अनुरोधो और आग्रहो की दृष्टि से जीवन के आभ्यन्तरीकरण का है, अर्थात् अपने व्यक्तित्व के—अपने कलाकार व्यक्तित्व के—सशोधन तथा पुन सशोधन का है, न कि केवल नवीन दृष्टि की अभिव्यक्ति का। दूसरे शब्दो मे, मुख्य प्रश्न कलाकार की जीवन्त सवेदनशील मानसिकता का है, उसके वास्तविक सवेदनशील मन का है, जो अन्तर्बाह्य तत्त्वो का आकलन-ग्रहण तथा सम्पादन-सशोधन किया करता है।

व्यक्ति करते हैं, न सामान्याभिव्यक्ति। सच बात तो यह कि आत्मपरक रूप से विश्वपरक, जगत्परक होने की लम्बी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति ही कला है—अभिव्यक्ति-कौशल के क्षेत्र में और अनुभूति अर्थात् अनुभूत वस्तु-तत्त्व के क्षेत्र में।

दूसरे शब्दों में, सतत अन्वेषण और सतत अनुसन्धान का बाजा बजानेवाले लोग, वस्तुत, प्रयोग नहीं कर रहे हैं, वे प्रयोगवादी नहीं हैं, वे घेरे में फँसे हुए लोग हैं। बहुत-से उसी में खुश हैं, कई अपनी इस स्थिति से असन्तुष्ट भी हैं। किन्तु यह घेरा तब तक नहीं टूट सकता, जब तक कि वस्तु-तत्त्व भिन्न-भिन्न होकर, व्यापक होकर, विभिन्न काव्य-रूप ग्रहण नहीं करते। अथवा इसी बात को मैं इस तरह कहूँगा कि काव्य-रूप में बँधनेवाले तत्त्व, और वस्तुत अनुभूत होनेवाले तत्त्व, इन दो की यदि हम तुलना करें तो पायेंगे कि बहुत कम अनुभूत वस्तु तत्त्व काव्य-रूप ग्रहण करते हैं। शेष वस्तु तत्त्वों को काव्य-रूप देने का प्रयत्न नहीं किया जाता। और यदि किया भी जाता है तो सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाओं की तृप्ति न होने की स्थिति में उनको काटकर फेंक दिया जाता है। फलत, कवि-व्यक्तित्व और वास्तविक व्यक्तित्व में जमीन-आसमान का फर्क दिखायी देता है। कविता में केवल एक ही स्थायी भाव बार-बार प्रकट होकर समाप्त हो जाते है, यद्यपि सवेदनशील मन जीवन-जगत् को आत्मसात् करता हुआ, और उसके विरुद्ध-अनुकूल क्रिया-प्रतिक्रिया करता हुआ, अपना सचेत जीवन जिया करता है। फलत, कभी-कभी तो यह होता है कि कवि व्यक्तित्व वास्तविक व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता।

भाव अथवा जीवन के जो छिटपुट चित्र कवि उपस्थित करता है, उनमें मात्र विशिष्ट क्षण का चित्र बहुत कम होता है। सच बात तो यह है कि उसमें एक दिशा में जानेवाले, अथवा एक ही प्रकार के, विभिन्न भावों का सामान्यीकरण (जेनरलाइजेशन) होता है। किन्तु, जीवन के जो अन्य अनुभूत वस्तु-तत्त्व हैं, उनसे इन सामान्यीकरणों का मानो कोई सम्बन्ध न हो, ऐसा दिखायी देता है। जीवन विभिन्न अनुभूत क्षेत्रों के विभिन्न अनुभूत वस्तु-तत्त्वों का उनसे सायुज्य-स्थापन नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए लगता है रचनाकार के व्यक्तित्व में अन्तर्विभाजन है—काव्य-रूप ग्रहण करनेवाले वस्तु तत्त्व अलग और विशिष्ट, जीवन में अनुभूत होनेवाले वास्तविक क्षण पृथक् और विशिष्ट। इन सबका विशाल सामान्यीकरणों के अन्तर्गत सयोजन न होने से बड़ी गड़बड़ है।

सक्षेप में, काव्य में जीवन के व्यापक चित्र चाहिए, न कि छिटपुट। व्यापक चित्रों में जीवन के विविध क्षेत्रों और अनुभवों का सामान्यीकरण निष्कर्ष आवश्यक है। यह न होने से तृप्ति नहीं होती, मार्गदर्शन नहीं होता। जिन्दगी को जीने और उसे ले चलने का उत्साह और उसकी दीप्ति हमें काव्य से मिलनी चाहिए। जीवन के विविध अनुभवों के सामान्यीकरणों से उत्पन्न निष्कर्ष रूप दीप्ति वही दे सकना है। कविता जीवन-वहन की लालटेन हो सके, इसका हमें प्रयत्न करना होगा।

भारतीय मन की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। वह साहित्य को अपने आत्मीय परमप्रिय मित्र की भाँति देखना चाहता है, जो रास्ते चलते उससे बात कर सके, सलाह दे सके, काट-छाँट कर सके, प्रेरित कर सके, पीठ सहला सके, और मार्ग-दर्शन कर सके। भारतीय साहित्य में उन लोगों की वाणी को ही प्रधानता मिली

है, जिन्होंने आध्यात्मिक असन्तोषों और अतृप्तियों को दूर करने की दिशा में विवेक वेदना-स्थिति में ग्रस्त होकर काम किया है। आशा है कि हम लोग वैसा ही करेंगे।

[रचनाकाल 1959 के बाद, अन्यत्र अप्रकाशित। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र में सकलित]

रचनाकार का मानवतावाद

नयी कविता पर विचार करते करते मैं यह सोचने लगता हूँ कि उसमे प्रेरणामय मानवतावादी दृष्टि होनी चाहिए। किन्तु इस प्रकार कुछ कह देने से नयी कविता मे, या किसी भी कविता मे वे गुण उत्पन्न नही हो सकते कि जिनका आग्रह मैं कर रहा हूँ या दूसरे कर रहे हैं। प्रेरणामय मानवतावादी भाव-धारा उसमे तब तक उत्पन्न नही हो सकती जब तक कि समाज मे या जीवन जगत् मे मानवतावादी भावधारा का उत्कट और व्यापक प्रभाव न हो, अथवा रचनाकार का ऐसा प्रचण्ड व्यक्तित्व न हो कि जैसा, मान लीजिए वॉल्ट ह्विटमैन का था। यदि कुछेक समीक्षाकारो और विचारको के अनुरोधो और आग्रहो से कविता का रूप-रग बदल पाता, तो न मालूम कितने ही समीक्षको और विचारको के भिन्न-भिन्न आग्रहो और अनुरोधो के अनुसार, कविता के भिन्न-भिन्न रूप रग हो जाते। लेकिन ऐसा नही हो पाता, न ऐसा होना चाहिए। क्यो, ऐसा क्यो नही होना चाहिए?

यह इसलिए नही होना चाहिए कि काव्य मे—साहित्य मे—चूँकि आभ्यन्तरीकृत जीवन और जीवन दृष्टि प्रकट होती है, इसलिए जब तक कि रचनाकार बाह्य अनुरोधो और आग्रहो को स्वीकार करके उनके प्राप्त सत्यो के अनुसार जीवन का आभ्यन्तरीकरण नही करता, तब तक वह नवीन दृष्टि मे, अर्थात् उन अनुरोधो और आग्रहों को, अन्तर मे स्थान देकर उनकी क्रियाशील शक्ति से, आभ्यन्तरित जीवन को काव्य मे कलात्मक रूप से प्रकट नही कर सकता। और, यदि वह इस प्रकार के आभ्यन्तरीकरण के बिना रचना उपस्थित करता है, तो निस्सन्देह उसकी उस रचना मे कलात्मक गुण उत्पन्न नही होंगे—ऐसे गुण जो प्रभावकारी हो। दूसरे शब्दो मे, उसमे वह सौन्दर्य उत्पन्न नही होगा कि जो कलाकृति के लिए आवश्यक होता है।

तो मुख्य प्रश्न बाह्य अनुरोधो और आग्रहो की दृष्टि मे जीवन के आभ्यन्तरीकरण का है, अर्थात् अपने व्यक्तित्व के—अपने कलाकार-व्यक्तित्व के—सशोधन तथा पुन सशोधन का है, न कि केवल नवीन दृष्टि की अभिव्यक्ति का। दूसरे शब्दो मे, मुख्य प्रश्न कलाकार की जीवन्त सवेदनशील मानसिकता का है, उसके वास्तविक सवेदनशील मन का है, जो अन्तर्बाह्य तत्त्वों का आकलन-ग्रहण तथा सम्पादन-सशोधन किया करता है।

अपने से बाह्य प्रतीत होनेवाले ये आग्रह और अनुरोध जब कलाकार के अन्त करण मे स्थान ग्रहण कर लेते हैं, और अपनी क्रियाशील शक्ति के द्वारा सवेदनात्मक अनुभवो की गहन अन्तर-दृष्टि सम्पन्न व्यवस्था मे (और उस अन्तर-दृष्टि मे) आवश्यक परिवर्तन उत्पन्न करने लगते हैं, तब यह कहा जा सकता है कि वास्तविक जीवन-जगत् का एक विशेष और विशिष्ट प्रकार से आभ्यन्तरीकरण हो रहा है। सवेदनात्मक अनुभवों की यह गहन अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न व्यवस्था क्या है ? सवेदनात्मक अनुभवो म गहन जीवन-आलोचना के जो सूत्र होते हैं वे सूत्र ही सवेदनात्मक अनुभवो से उत्पन्न या उनसे संयुक्त अन्तर्दृष्टि है। यह जीवन-आलोचन इतना निजगत, निजबद्ध और संवेदनाश्रित होता है कि उसको सवेदनात्मक अनुभवो से विच्छिन्न करके पृथक् रूप मे स्थापित करना कदाचित् सम्भव नहीं है। यह हमारे सवेदनात्मक जीवन ही के इतिहास का एक अग है।

तात्पर्य यह कि बाह्य आग्रहो और अनुरोधो के आभ्यन्तरीकरण की क्रिया सम्भव तो है। किन्तु, अन्त करण मे स्थित होकर उन अनुरोधो की क्रियाशील शक्ति जब तक इतनी सक्षम और समर्थ नही हो जाती, कि वे अनुरोध गहन सवेदनात्मक अनुभवों की अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न व्यवस्था का सम्पादन-सशोधन और पुनर्गठन कर सकें—जब तक यह इतनी सक्षम और समर्थ नही हो जाती कि लेखक की अपनी मूलभूत प्रेरणा बन सके, और लेखक की अपनी मूलभूत प्रेरणा बनकर उसके अन्ततत्त्वो की व्यवस्था को पुनर्रूपायित और पुनर्निरूपित कर सके, तब तक लेखक के द्वारा स्वीकृत वे बाह्य अनुरोध और आग्रह केवल सतही ढग से उसके मन मे रह रहे हैं, यही तो कहा जायेगा।

लेखक के अन्तर्जीवन—सवेदनशील अन्तर्जीवन—के सशोधन-परिष्करण का कार्य इतना सरल भी नहीं है, भले ही लेखक स्वय उसे करे। वह एक क्रमश-विकसित विवेक की क्रियाशीलता के बिना अधूरा ही है। किन्तु, केवल विवेक भी अपन-आपमे कुछ नही कर सकता, जब तक सवेदनात्मक अनुभवो का वह स्वय अग नही बन जाता, आन्तरिक-मानसिक-सवेदनात्मक प्रवाह का जब तक वह, बेमालूम ढग से, अग नही बन जाता। दूसरे शब्दो म, सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदनो की एकमेक स्थिति जब तक उपस्थित नही हो जाती, तब तक वह विवेक अन्तर मे भी सवेदनात्मक जीवन का अग न होगा।

आन्तरिक जीवन के अपने भीतरी विरोध होते है, अपना तनाव होता है। उसमें पनपने और तडपनेवाले अनेकानेक मूल्यवान अनुभव और महत्त्वपूर्ण सत्य, अभिव्यक्ति—कलात्मक अभिव्यक्ति—प्राप्त नही कर पाते। क्यो प्राप्त नहीं कर पाते ?

केवल वे ही सवेदनात्मक अनुभव, केवल वे ही अनुभवात्मक सत्य, कलात्मक अभिव्यक्ति पा लेते हैं, जो लेखक के सवेदनात्मक उद्देश्यो के—रचना उपस्थित करनेवाले सवेदनात्मक उद्देश्यो के—अनुसार होते है। रचना उपस्थित करनेवाले सवेदनात्मक उद्देश्य किस प्रकार के होते है ?

क्या यह सत्य नहीं है कि अपने जीवन म प्राप्त विशेष अनुभवो और विशेष भाव-प्रेरणाओ को ही लेखक प्रकट करता है, तथा इतर अनुभवो और भाव-प्रेरणाओ को वह व्यक्त नही करना चाहता या उन्हे व्यक्त करने की व्याकुलता उसमे उत्पन्न नहीं हो पाती ? रचना प्रसूत करनेवाले उसके सवेदनात्मक उद्देश्य,

उन विशेष व्याकुलताओं की ही एक शाखा हैं, कि जो व्याकुलताएँ अनुभूत जीवन के किसी विशेष अंग या क्षेत्र ही से सम्बद्ध होती हैं, और उन्हीं से उत्पन्न या निष्पन्न होती हैं। शेष अनुभवात्मक जीवन उनसे अलग रह जाता है, अर्थात् कलात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने के लिए आतुर नहीं होता। क्या यह सत्य नहीं है?

कलात्मक रचना का मनोविज्ञान नि:सन्देह एक महत्त्वपूर्ण विषय है। कलाकार बाह्य अनुरोधों और आग्रहों को स्वीकार करके भी, और तदनुसार अपने अन्तर्तत्त्वों की व्यवस्था का संस्कार करते हुए भी, उन अनुरोधों और आग्रहों को कलाकृति में अवतरित करे ही, यह आवश्यक नहीं होता—अर्थात् वह वैसा करेगा ही, यह अनिवार्य नियम नहीं है। इसके विपरीत, बहुधा यह देखा गया है कि लेखक चुप हो जाता है (सम्भवत: इसके कारण तरह-तरह के होंगे), अथवा वह अपनी दिशा बदल देता है, या वह सक्लपशील कर्म-जीवन में प्रविष्ट होकर उनकी पूर्ति करने लगता है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आभ्यन्तरीकृत अनुरोध तथा आग्रह कलाकृति में व्यक्त नहीं होते, या उनके अनुसार कलाकृति निर्मित नहीं होती, नहीं हुआ करती। यह सब कुछ कलाकार की उन आन्तरिक व्याकुलताओं पर निर्भर है, जिन्हें मैंने पहले संवेदनात्मक उद्देश्य कहा।

सच बात तो यह है कि सब कुछ कलाकार के व्यक्तित्व-निर्माण के इतिहास, उसके संवेदनात्मक जीवन के इतिहास, और उन सबसे बने हुए कवि-स्वभाव, पर निर्भर है।

किन्तु ऊपर जो पेचीदगियाँ बतायी गयी हैं उनका मतलब यह नहीं है कि लेखक-कलाकार बाह्य अनुरोधों या आग्रहों को स्वीकार नहीं करता। अथवा उसके स्वभाव से जो भिन्न और बाह्य हैं—अर्थात् वैसे अनुरोध—उनका वह विरोध ही करता रहता है। नहीं, यह बात नहीं।

इसके विपरीत, सच्चा संवेदनशील लेखक-कलाकार, अपने का बाह्य प्रभावों को ग्रहण करने के लिए छुट्टा छोड देता है, या उसे छोड देना चाहिए। कलाकार चाहे जितना महान् क्यों न हो, जीवन-जगत् की तुलना में उसका अन्तर छोटा ही है। इसलिए, वह जीवन जगत के विभिन्न प्रेरणापूर्ण दृश्यों, भाव-विचारधाराओं के सार-सत्यों को पीता रहता है या पीते रहना चाहिए।

इस प्रकार की प्रवृत्ति यदि उसमें है, तो वह बाह्य अनुरोधों और आग्रहों को अपने संवेदनशील विवेक द्वारा ग्रहण कर उन्हें अपने रंग में आत्मसात् करता रहता है। लेखक-कलाकार भले ही इस तथ्य को अस्वीकार कर दे कि वह बाह्य अनुरोधों या आग्रहों को कदापि नहीं मानता, किन्तु सच तो यह है कि वह अपने ढंग से उन्हें किसी न किसी रूप में स्वीकार करता रहता है। जहाँ भी और जिसमें भी उसे सत्यांश दिखायी देता है, उस सत्यांश को वह सोख लेता है। नि:सन्देह, यह आत्मसात्करण उसके अपने अन्तर्जीवन से सम्बद्ध है। वह उन सत्यांशों को अपने संवेदनशील अन्तर्जीवन में मिला लेता है। इस प्रकार, क्रमश:, लेखक के व्यक्तित्व का विकास होता जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि लेखक बहुत बार बाह्य अनुरोधों या आग्रहों को स्वीकार करके उन्हें आत्मसात् करके, अपने संवेदनात्मक अन्तर्जीवन में मिलाकर

भी, या तो चुप हो जाता है, या अपनी दिशा बदलकर सक्रपशील कर्म जीवन मे प्रविष्ट हो जाता है। किन्तु आत्मसात्कृत उन बाह्य अनुरोधो या आग्रहो के अनुसार कलाकृतियाँ उपस्थित नहीं कर पाता।

यदि हम यह मान लें कि वे बाह्य अनुरोध और आग्रह उसके अन्तर्जीवन के इतिहास बन चुके है, उसके प्रेरक तत्त्व बन चुके हैं, तो क्या कारण है कि वह वैसी कलाकृतियाँ उपस्थित नही कर पाता ?

इसका, सम्भवत, एक कारण यह है कि लेखक के पास उस प्रकार की अभिव्यक्ति का अभ्यास नही है, कि जैसी अभिव्यक्ति उन अनुरोधो और आग्रहो की दिशा मे चलने के लिए आवश्यक है।

अभिव्यक्ति का अभ्यास कलाकार का एक मुख्य कर्त्तव्य है। सूचित दिशा मे चलने के लिए अनवरत अभ्यास की आवश्यकता है। होता यह है कि लेखक अपने नवीन अनुरोधो (बाह्य अनुरोधो के आत्मसात् प्रभावो से उत्पन्न आग्रहो) द्वारा प्रेरित होकर चलता तो है, उसके पास कहने के लिए भी बहुत कुछ होता है, किन्तु तदनुसार सक्षम अभिव्यक्ति के विकास के प्रारम्भिक चरण मे होने से वह आत्मविश्वास खो देता है। नवीन अनुरोध नवीन कथ्य ले आते हैं, उन कथ्यो को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करना सरल कार्य नहीं होता। उन कथ्यो को व्यक्त करने के लिए, प्रभावोत्पादक कलात्मक रूप से प्रस्तुत करने के लिए, तदनुसरणशील अभिव्यक्ति पद्धति का विकास करना पडता है। अतएव लेखक, वस्तुत शुरू मे, सक्षम अभिव्यक्ति के विकास के प्रारम्भिक चरण ही मे, लडखडाता रहता है।

क्यो लडखडाता रहता है ? इसलिए कि अब तक उसने जिस अभिव्यक्ति-पद्धति और सौन्दर्याभिरुचि का विकास किया है, वह—एस्थेटिक पैटर्न—नवीन कथ्य की अनुसारिणी सक्षम अभिव्यक्ति के पथ पर चलनेवाले मन को मोडती रहती हैं, भावों और शब्दो को व्यवस्था बद्ध करनेवाली (गलत शब्दो को, और अनायास उत्पन्न हुए किन्तु सन्दर्भ न रखनेवाले भावो और शब्दो को, स्वीकार करनेवाली) उसकी आलोचन-सशोधन सम्पादन दृष्टि मे बाधा और व्यतिरेक, सन्देह और शका उत्पन्न कर देती हैं। बार बार यह घटना होने पर लेखक उस विषय-क्षेत्र के उस पथ पर आत्म विश्वास खो देता है, लडखडा जाता है और हाथ मे लिया हुआ काम फेंक देता है।

किन्तु यदि वह कथ्य अन्तर्जीवन मे स्थायी बना हुआ है, उस कथ्य को सवेदित करनेवाली अन्तर्बाह्य स्थिति परिस्थितियाँ बराबर बनी हुई है, अथवा जीवन-जगत् का वातावरण ऐसा है, देश समाज और साहित्य क्षेत्र का वातावरण ऐसा है, कि उस विशेष प्रकार के कथ्य को महत्त्व प्राप्त हो गया है, तो लेखक श्रमपूर्वक, तथा पुन पुन प्राप्त असफलताओ के बावजूद, सक्षम अभिव्यक्ति प्राप्त करने के बारम्बार प्रयत्न मे स्वय कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है, और साहित्य-क्षेत्र मे, निज विशिष्ट स्थान बना लेता है।

मनुष्य का स्वभाव है कि जो सुकर है, जो सुगम है, उसे अपनाता है, जो कठिन है जो श्रम साध्य है उसे वाह्यत मूल्य प्रदान करते हुए भी अपनाता नही। उसकी यह आदत अपने जीवन ही के मूल्यवान् तत्त्वो को अभिव्यक्ति प्रदान नहीं करने देती। परिणामत, स्वय के ही कुछ आवृत्त और पुनरावृत्त भावो और अभिव्यक्ति-पद्धति को—भले ही वे उसके जीवन मे, वस्तुत विशेष स्थान न

रखते हो—दुहराता रहता है, उन्हीं की जुगाली करता रहता है। परिणामत, उसका वास्तविक अन्तर्जीवन (और उसका व्यक्तित्व तथा जीवन प्रसंग भले ही किसी अन्य उपन्यासकार का विषय हो जायें) उसकी कला में व्यक्त नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में, यह कहना कि कलाकृति में कवि-कलाकार आत्मोद्घाटन करता है, अत्यन्त संकुचित और वायवीय अर्थ ही में सही हो सकता है।

कलाकृति में व्यक्त भाव किन्हीं विशेष सन्दर्भों में लेखक के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। कोई लेखक मात्र आत्मग्लानि अथवा किसी बुभुक्षित वासना का दमित रूप अथवा अन्य कोई सामाजिक आलोचन प्रकट करता है। किन्तु जो विशेष भाव लेखक प्रकट करता है, केवल वे ही उसके हृदय में हैं, तथा अन्य नहीं, यह मानना गलत है। होता यह है कि लेखक व्यक्त किये जानेवाले भावों को कोई अतिरिक्त मूल्य प्रदान करता है, शेष भावों को नहीं। परिणामत, केवल वे ही भाव तथा उनके आस-पास लगे हुए भाव ही वह प्रकट करता है। शेष को छोड़ देता है। दूसरे शब्दों में, लेखक अपनी मूल्य-भावना के अनुसार आभ्यन्तर भावों को प्रस्तुत करता है। और उसके अन्त:करण में एक मूल्य भावना होती है जो उसे किन्हीं विशेष भावों को प्रकट करने के लिए तैयार करती रहती है। दूसरे शब्दों में, लेखक अपना एक एस्थेटिक्स तैयार कर लेता है।

मानव-अन्त:करण में आलोचन धर्म मूलभूत है। वह संवेदनात्मक अनुभवों से, प्राथमिक अवस्था में, अविच्छिन्न होता है। किन्तु आगे चलकर वह सामान्यीकरणों के रूप में, जीवन तथ्यों के सामान्यीकरणों के रूप में, प्रकट होता है। इस प्रकार मानव-अन्त:करण में संवेदनात्मक आधारों पर, अनुभवात्मक आधारों पर, एक विशेष प्रकार की जीवन ज्ञान व्यवस्था उत्पन्न और विकसित हो जाती है। यह जीवन-ज्ञान व्यवस्था मूल्य भावनाओं और आलोचन-सूत्रों को अपने में सम्मिलित किये रहती है। संक्षेप में, जीवन-ज्ञान-व्यवस्था में मूल्य भावना और आलोचन सूत्र होते ही हैं। यह जीवन-ज्ञान-व्यवस्था जीवन यात्रा के क्रम में विकसित होती जाती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इसके अन्तर्गत समाया हुआ जो विश्व-बोध या जीवन-जगत बोध है, जो मूल्य-भावना है, जो विचार-व्यवस्था है, जो आलोचन सूत्र हैं वे परिष्कृत हों, निज-बद्धता से परे होकर वे संशोधित सम्पादित किये गये हों।

इस जीवन-ज्ञान व्यवस्था की, विचार-व्यवस्था की, एक विशेषता ध्यान में रखने योग्य है। उसमें जीवन व्याख्यान के जो सूत्र होते हैं वे उस दृष्टि के अंग हैं, कि जो दृष्टि भोक्ता मन ने जीवन यात्रा में निजगत प्रयासों और बाह्य प्रभावों से प्राप्त और विकसित की है। यह दृष्टि और मूल्य भावना बाह्य और अन्तर के योग से प्राप्त और विकसित होती है। चूँकि उसकी वास्तविक जीवन-प्रणाली एक विशेष वर्ग के क्षेत्र में ही चलती रहती है, अतएव उस वर्ग में प्रचलित सामान्य भाव धारा भी उसके विकास में सहयोग प्रदान करती है। इस प्रकार उस मूल्य भावना तथा दृष्टि के विकास में जितना निजगत योग है, उतना ही पारिवारिक तथा वर्गीय क्षेत्रों का भी उसके विकास में सहयोग है। इस प्रकार, एक ही साथ, वह दृष्टि निजगत तथा जीवन-क्षेत्रगत अर्थात वर्गगत प्रयासों के योग का एक परिणाम है, भले ही संवेदना के रूप में, अनुभूति के रूप में, उसके तत्त्व तथा कार्य निजी मालूम हों।

सवेदनात्मक-अनुभवात्मक आधारो पर उपस्थित यह जो विचार-व्यवस्था है, यह जो जीवन ज्ञान-व्यवस्था है, वह उसके साहित्य मे, उसकी रचना मे, उसकी कलाकृति मे, तरह-तरह से प्रकट होती है। मेरे अपने खयाल से वह मुख्यत: दो प्रकार से प्रकट होती है। एक तो वह भाव-दृष्टि, जीवन-आलोचन, जीवन-विवेक अथवा विचार-चित्रण या भावाकन के रूप म प्रकट होती है। किन्तु इसके अतिरिक्त वह कलात्मक विवेक का रूप धारण कर, कला-सम्बन्धी विचारधारा भी बन जाती है, और उसके प्रभाव से वह कलाकृति का अन्तर्बाह्य सगठन भी करती है।

किन्तु, महत्त्व की बात यह है कि उसके अन्त करण मे स्थित यह जो जीवन-ज्ञान-व्यवस्था है—जिसके मूल-जाल सवेदनात्मक अनुभवात्मक होते हैं—उस जीवन-ज्ञान-व्यवस्था को जीवन-जगत की व्याख्या के साथ, अर्थात् किसी व्यापक विचार-धारा के साथ, किसी दर्शन के साथ, जोडने का प्रयत्न होता रहता है। एक ओर, लेखक स्वय जीवन-जगत् की व्याख्या चाहता है, तो, दूसरी ओर, साहित्य-क्षेत्र मे विभिन्न प्रकार की विचारधाराएँ और दर्शन जीवन-जगत की व्याख्या को लेकर उपस्थित होती हैं। इस प्रकार लेखक के अन्त करण मे उपस्थित सवेदनात्मक-अनुभवात्मक जीवन-ज्ञान व्यवस्था के साथ जीवन-जगत की दार्शनिक व्याख्या का समन्वय हो जाता है, और वह दार्शनिक धारा लेखक को आत्म-विस्तार के रूप मे ही दिखायी देती है।

यह आवश्यक नही है कि लेखक जिस जीवन ज्ञान-व्यवस्था को लेकर चलता है उसमे विकास नही होता, अथवा जिस दार्शनिक धारा को लेकर चलता है, उसमे वह अपनी ओर से कोई नवीन तत्त्व नही जोडता।

इसके विपरीत, वह स्वय भी अपने-आपको उस दार्शनिक धारा द्वारा परिपुष्ट करता है, अपने स्वय की जीवन-ज्ञान-व्यवस्था का व्याख्यान उस दार्शनिक धारा की सहायता स करता है, साथ ही उस दार्शनिक धारा को वह अपनी विशेष दृष्टि से व्याख्यान करता हुआ उसमे नवीन अर्थ भर देता है।

किन्तु, अब तक विकास-प्राप्त जीवन-ज्ञान-व्यवस्था, जो लेखक के अन्त करण मे स्थित होती है और कलाकृति मे किसी-न किसी रूप मे प्रकट होती है, वह नवीन जीवन परिस्थितियो की पेचीदगियो म पडकर नवीन जीवन-प्रसगो मे ठेस खाकर जब नवीन तत्त्व ग्रहण करने लगती है, तब ऐसे नवीन सवेदनात्मक अनुभव-तत्त्वो के स्तर-के-स्तर हृदय म बन जाने के उपरान्त, या तो कलाकार पूर्व-प्राप्त दार्शनिक धारा को ही लचीली बनाकर उसमे नवीन अर्थ भरते हुए उसे नये रूप मे, किन्तु पुराने नाम स ही, विकसित कर लेता है, अथवा जीवन-जगत् की व्याख्या करनेवाली ऐसी नवीन विचारधारा को ग्रहण करता है जिसमे उसके नव-प्राप्त अन्तर्तत्त्वो की व्याख्या प्राप्त हो सके।

सक्षेप मे, इस प्रकार हम देखते है कि दार्शनिक विचारधारा लेखक की एक निजी आवश्यकता होती है। वह दार्शनिक विचारधारा कितनी दार्शनिक है, अथवा वह कितनी व्यवस्थाबद्ध है, वह कितनी सत्याधारित है, यह एक भिन्न प्रश्न है। महत्त्व की बात (लेखक के लिए) इतनी ही है कि वह अन्त करण-स्थित जीवन ज्ञान-व्यवस्था को व्यापक दृष्टिकोण से व्याख्यात करती है।

लेखक कलाकृति म उस दार्शनिक भाव-धारा को ज्यो-का-त्यो प्रकट नही

करता, वरन् वह उसे एक दृष्टि-रूप में ग्रहण कर उसके अनुसार जीवन-व्याख्यान या जीवन-आलोचन (जैसा और जितना कलाकृति में सम्भव है) उपस्थित करता है। उस दृष्टि द्वारा उसके हृदय में मूल्य-भावना विकसित होती है, और उस मूल्य-भावना के अनुसार, वह किन्हीं विशेष अन्तर्तत्वों को महत्त्व प्रदान कर शेष को अभिव्यक्ति-क्षेत्र से बहिर्गत कर देता है, अथवा उन्हें उपेक्षित करता है।

कलाकृति में—कलाकार के कार्य में—यह मूल्य-भावना बहुत सक्रिय होती है। वह किन्हीं विशेष भाव-दशाओं, किन्हीं विशेष जीवन-तत्वों को अभिव्यक्ति-महत्त्व प्रदान करती हुई, उन्हें विशेष कोण में, विशेष दृष्टि से ही स्थापित करती है। यह कोण, यह दृष्टि, क्या है ? वह उस ज्ञानात्मक भाव-धारा का ही एक रूप है जिसे मैंने दार्शनिक विचारधारा कहा।

अतएव, कलाकार अपने औचित्य की स्थापना के लिए, आत्म-विस्तार के लिए, अपने को उच्चतर स्थिति में उद्‌बुद्ध करने के लिए, अपना अन्त सगम दार्शनिक भाव-धाराओं से करता है। चूँकि वह कलाकार है, इसलिए वह कला में जीवन-चित्र ही प्रस्तुत करता है, न कि दर्शन की व्याख्या। किन्तु, उसके पास अपना एक वैचारिक दृष्टिकोण रहता ही है, जो एक मूल्यांकनकर्त्री और नियन्त्रण-शील शक्ति के रूप में उसकी कलाकृति के रूप तत्त्व और तत्त्व-रूप को नियमित करता है। अतएव यह कहना गलत है कि लेखक के पास जीवन-जगत् की व्याख्या अर्थात् विचारधारा का नितान्त अभाव है।

हाँ, यह कहना सही हो सकता है कि अपनी एक विशेष अवस्था में वह एक सर्वांगीण जीवन-जगत्-व्याख्या—ऐसी व्याख्या जो सब दृष्टियों से उसे सन्तोष प्रदान कर सके—उसने अभी प्राप्त नहीं की है, अतएव उसने अमुक विचारधारा से अमुक तत्त्व लेकर, भिन्न भाव-धारा से कोई अन्य तत्त्व लेकर, किसी दूसरी फिलॉसफी से कोई तीसरी बात लेकर, अपने-आपको परिपुष्ट करने का प्रयत्न किया है, अथवा जीवन-जगत् के वास्तविक क्षेत्र में किसी सामान्य ज्ञान में बहुत-सी बातें लेकर उसने अपने को सन्तुष्ट कर लिया है। यह सब हो सकता है। सम्भवतः आज की नयी काव्य-प्रवृत्ति के क्षेत्र में ऐसा ही कुछ है।

बात जो भी हो, यह निश्चित है कि लेखक के व्यक्तित्व का एक पक्ष वैचारिक है, और यह वैचारिक पक्ष अपनी पूरी वैचारिकता भले ही कलाकृति में उपस्थित न करे, वह स्वयं ओझल रहकर, किन्तु एक शक्ति के रूप में, उसके उस संवेद-नात्मक-अनुभवात्मक पक्ष का, जो कि कलाकृति में उपस्थित होता है, नियमन-नियन्त्रण अवश्य ही करता है।

इन्हीं बातों को देखते हुए लेखक के इस वैचारिक पक्ष के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए, साहित्य के क्षेत्र में अनेक विचारधाराएँ उपस्थित की जाती हैं, उपस्थित होती हैं—आध्यात्मिक, समाजवादी तथा समाजवाद-विरोधी तथा अन्य।

कलाकार का अन्तर्मन विचारों को आत्मानुभूत जीवन-सन्दर्भों से एकाकार करके ग्रहण करता है। अन्तर्मन में उपस्थित वास्तविक जीवन विचारों में प्रवाहित होता है। विचारों की यह प्रवहणशीलता लेखक की सारी संवेदनाओं से मिलकर उसके अन्तर्जीवन का अंश बन जाती है।

किन्तु जहाँ ये विचार कलाकार के अन्तःकरण में संवेदनात्मक रूप में उप-

स्थित जीवन-सन्दर्भों द्वारा ग्रहण नहीं किये जाते, वहाँ वे बाहरी ही रह जाते हैं। ऐसे न मालूम कितने विचार हैं, जो अपने-आपमें सुसंगत और न्यायोचित रहते हैं। किन्तु कलाकार के लिए वे उसी ढंग से *बाहरी हो जाते हैं, जिस प्रकार बाज़ार* घर के बाहर ही होता है।

ऐसी स्थिति में, लेखक के द्वारा आत्मानुभूत न हो पानेवाले विचारों का आग्रह यदि उससे किया जाये, अथवा लेखक यह समझे कि ऐसे विचारों को उस पर लादा जा रहा है, तो मन-ही-मन अथवा प्रकट रूप से वह विक्षुब्ध होकर विद्रोह *कर उठता है।*

लेखक चूँकि किसी-न किसी रूप से जीवन का चित्रण करता है, इसीलिए उसकी जीवनानुभूतियों को, उसकी भावनाओं-कल्पनाओं और जीवनानुभूति-रंजित बुद्धि को, उत्तेजित और प्रोत्साहित करने या कर सकनेवाली शब्दावली और शैली में जब तक कोई समीक्षा या सिद्धान्तवाद या विचारधारा प्रस्तुत नहीं *की जाती, तब तक वह उसे प्रभावित या प्रोत्साहित अथवा प्रेरित नहीं कर* सकती।

यह विशेषकर उस स्थिति में होता है जब लेखक उस विचारधारा या भाव-धारा या सिद्धान्तवाद को अपने वायुमण्डल से नहीं खींच पाता, क्योंकि वह विचारधारा या भाव-धारा या सिद्धान्तवाद उस वायुमण्डल में होता ही नहीं, न *उस समय उसके होने की कोई सम्भावना ही दिखती है।*

किन्तु जब किसी विशेष स्थिति-परिस्थिति में, वैसी विचार-धारा या भाव-धारा या सिद्धान्तवाद स्वाभाविक हो उठता है, अर्थात् उस विशेष स्थिति-परिस्थिति में जब उस ढंग के झुकाव या रुझान या उन्मुखताएँ स्वाभाविक रूप से उपस्थित होती हैं तब वैसी स्थिति-परिस्थिति में कलाकार उस विचारधारा को, उसकी बौद्धिक-सैद्धान्तिक शब्दावली को, *अनायास ग्रहण कर लेता है, अर्थात्* वह विवेचनात्मक-सैद्धान्तिक शब्दावली यदि उसके निकट नहीं तो दूर भी नहीं मालूम होती।

किन्तु ऐतिहासिक युगों में ऐसी भी विशेष स्थिति-परिस्थितियाँ होती हैं, जब समीक्षा या सिद्धान्त-विवेचना और सिद्धान्तों का बौद्धिक प्रयोग एक विशेष स्तर पर चलता रहता है, तथा कलाकार का जीवन-चिन्तन या जीवन-अनुभव और उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति किसी भिन्न स्तर पर चलती रहती है, और ये दोनों *स्तर एक-दूसरे से समानान्तर चलते रहते हैं,* और, बावजूद उनकी टकराहट के, कलाकार का जीवन-चिन्तन और कलात्मक अभिव्यक्ति समानान्तर चलती रहती है। ऐसी भी एक परिस्थिति होती है।

इसका परिणाम यह होता है कि सिद्धान्त विवेचन अर्थात विचारधारा की मूल दृष्टि या तो स्वयं बदलकर कलाकार के समीप आने लगती है, अथवा उस *विवेचन की मूलधारा* एक स्वतन्त्र विचार सरणि बनकर, बदलते हुए जीवन के मूल स्रोतों से विच्छिन्न होकर अपने आपको जड़ीभूत अवस्था में परिणत कर लेती है। विचारधाराओं की जड़ीभूत स्थिति यही सूचित करती है कि जीवन द्वारा उपस्थित नये सत्यों, तथ्यों तथा समस्याओं से उसने अपने-आपको अलग करके कूटस्थ ब्रह्म की स्वयंपूर्ण सम्पूर्ण इयत्ता स्थापित कर ली है।

इस प्रकार उस विचारधारा के क्षेत्र में जब सृजनशील और जीवनजन्य उद्वेगों

से परिपूर्ण चिन्तन दब जाता है तब, ऐसी स्थिति में, उसमें उदात्त और उच्च गौरव-गर्वपूर्ण अहंकार की भव्यता भले ही झलकने लगे, वह बावजूद उसमें स्थित महत्त्वपूर्ण सत्यों के, जीवन-विवाग के लिए निरुपयोगी हो उठती है — अपनी जड़ता के कारण, सत्यांशों के कारण नहीं।

दूसरे शब्दों में, समीक्षात्मक विवेचन तथा कलाकार के जीवन-चिन्तन की समानान्तरता तथा परस्पर-संवाद के अभाव की स्थिति जब स्पष्टत: दिखायी देने लगती है, तब यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि उस विचारधारा के क्षेत्र में काम करनेवाले लोग अपनी स्वयं की अक्षमताओं की घनी परछाईं अपनी स्वयं की विचारधारा के क्षेत्र में तो नहीं डाल रहे हैं। दुर्भाग्य की बात यह है कि किसी भी विचारधारा के क्षेत्र में, या कहिए, समीक्षात्मक विवेचन के क्षेत्र में, काम करनेवाले लोगों में आत्मालोचन और आत्म-समीक्षा बहुत कम दिखायी दी है। अपनी अनेकानेक असफलताओं के दोष, अपनी प्रभावहीनता के अपराध, का कुछ भी भाग अपने हिस्से में न रखकर उन्होंने सर्वथा कलाकार के मत्थे मढ़ा है।

कलाकार होने मात्र से कोई व्यक्ति, बहैसियत एक कलाकार के, कोई देवता, सन्त या वाछनीय कलाकार नहीं हो जाता। अगर ऐसा होता तो औरंगजेब की प्रशस्ति में काव्य करनेवाला कवि कालिदास [त्रिवेदी (एक रीतिकालीन कवि)], बहैसियत एक कलाकार के, और औरंगजेब से सम्बन्धित कविताओं में भी जीवन-सत्य की कलात्मक अभिव्यक्ति कर रहा होता। उन कलाकृतियों में, अर्थात् उन सवैयों-कवित्तों में, वह चाटुकार का कार्य कर रहा था। प्रसिद्ध कवि पद्माकर ने अपने सरदार हिम्मत बहादुर की बहादुरी के जो गीत गाये हैं उससे यही प्रमाणित होता है कि कलाकार, केवल रचना-कर्म के कारण ही, अपने-आपमें कोई देवता या सन्त या वाछनीय कलाकार नहीं हो जाता। वह कहाँ तक, किस हद तक, किस सीमा तक, वाछनीय कलाकार है, यह उसकी कलाकृति के अपने रूप-स्वरूप पर, उस कलाकृति की मूल प्रेरणा पर, उस कलाकार के व्यक्तित्व पर (जो उस कलाकृति में प्रकट हुआ है), तथा उस कलाकृति में जो जीवन मर्म प्रकट किये गये हैं (यदि वे प्रकट किये गये हैं तो)—इन सब पर और उनके प्रभावों के स्वरूप पर, इन सब परस्पर-सन्निविष्ट बातों पर, एक साथ निर्भर करेगा। कलाकार होने मात्र से, रचनाकार होने मात्र से, कोई व्यक्ति श्रेष्ठ वाछनीयता का अधिकारी नहीं होता।

समीक्षक के अहं-बद्ध विचारों का तुषार जिस भाँति उसके उग्र अहंकार का ही द्योतक होता है, उसी प्रकार कलाकार का अहंकार भी एक बड़ी अजीब चीज़ होती है। ऐसी अहंकारात्मक मनीषा जब प्रतिभा के नाम से खुलकर खेलती है, तब साहित्य का 'कल्याण' हो जाता है। समीक्षा और कला की यह टकराहट, असल में, महामहिम व्यक्तियों या महत्त्वाकांक्षी किन्तु पदहीन महानुभावों की आपस की टकराहट है।

कला, चाहे वह यथार्थवादी कला ही क्यों न हो, एक आत्मपरक प्रयास है। यह उसकी विशेषता है, बहुत बड़ी विशेषता। कला न केवल एक आत्मपरक प्रयास है, वरन् उसकी अपनी एक सापेक्ष स्वतन्त्रता है। वह व्यक्ति सापेक्ष है, जीवन-सापेक्ष है, वर्ग-सापेक्ष है, युग सापेक्ष है। वह स्वतन्त्र भी है। वह स्वतन्त्र इस अर्थ में है कि जो भाव-बीज कलाकार के अन्त:करण में उदित होकर, उसके

सारे सवेदनो और अनुभवो द्वारा परिपोषित होकर, विस्तार ग्रहण करके, उसके अन्तर्मन को आच्छादित करते हुए अपनी अभिव्यक्ति-लक्ष्य की ओर विकास-यात्रा करता है, तो उस भाव-बीज की विकास-यात्रा और उसकी अभिव्यक्ति अपने-आपम विभिन्न और अनुकूल-विपरीत तत्त्वो का एक गतिशील किन्तु सगतिबद्ध और सामजस्यबद्ध रूप बन जाती है।

उस भाव बीज की (इस प्रकार की) गतिशील अभिव्यक्ति के दौरान म, यह सामजस्य-बद्धता का, तथा उसके भीतर के तत्त्वो के विभिन्न अन्त सम्बन्धो मे एक गतिशील सगति की स्थापना का, यह जो शब्दात्मक-भावात्मक प्रयास है, उसके अपने विशेष-विशेष नियम हैं, जो कलाकार द्वारा अपने अन्त करण मे अपने-अपने ढग से अनुभूत तथा विकसित होते हैं।

यही कारण है कि दॉस्तॉवस्की की उपन्यास-रचना का शिल्प और शैली तुर्गनेव की उपन्यास-रचना के शिल्प और शैली मे भिन्न है। यही कारण है कि उपन्यास-कला के किन्ही सिद्धान्त ग्रन्थो को पढकर, उनम बताये नियमो का अनुसरण करते हुए, *उन नियमो पर चलने की पूरी पाबन्दी बताते हुए, कलाकृति* प्रस्तुत नही की जाती।

कला की स्वतन्त्रता का अर्थ है कला-तत्त्वो की अन्त सगठनशील, गतिशील सगति का, अर्थात कला की स्वाभाविकता का, निर्वाह। इस गतिशील सगति का स्थापना के कार्य मे जो भी अन्दर या बाहर के व्यवधान उत्पन्न होते है, वे कला-तत्त्व की (अभिव्यक्ति रूप धारण करनेवाली) आत्म-विकसनशील गति मे बाधा डालते हैं, अतएव वे कला की स्वतन्त्रता की उपेक्षा करते हैं।

कला की स्वतन्त्रता और कलाकार की स्वतन्त्रता, ये दोनो समानार्थी अथवा समीपार्थी शब्द नही हैं। कला की स्वतन्त्रता जीवन सापेक्ष है, व्यक्ति-सापेक्ष है। क्योकि यदि कलाकार अन्तर्तत्वो की गतिमानता म उनके विशिष्ट अन्त -सम्बन्धो को अनुभूत करके उनमे सगति और सामजस्य स्थापित नही करता—अर्थात काव्य निर्वाह नही करता—तो इसका अर्थ ही यह है कि अन्तर्तत्वो की गति जिस दिशा की ओर जाना चाहती है वहाँ से उसे मोडकर (क्या मोडकर? ऐस्थेटिक पैटर्न के मोह से ग्रस्त होने से? अथवा अन्य आदर्श, निष्कर्ष, उपदेश, *शैली-सौन्दर्य आदि के सम्मोह से जड होकर*?) कोई भिन्न दिशा देना चाहता है। वैसी स्थिति म उसके अन्त करण मे भावना, कल्पना, बुद्धि, इन तीनो का, तथा जीवनानुभूति और उसको प्रकट करने का सवेदनात्मक उद्देश्य, इन दोनो का, योग न होकर वे अलग-अलग पड जाते हैं। इस प्रकार कलाकृति बाधा-ग्रस्त हो जाती है।

इस बात को हम यो कहेंगे कि लेखक के अन्त करण मे मचित जो भाव तत्त्व [illegible] उनमे

लाभि-

रती है

अपने रूप-तत्त्व के विकास के लिए। इस प्रकार कला की स्वतन्त्रता लेखक के अन्तर पर, लेखक के अन्तर मे उपस्थित-जीवन-तत्त्वो पर, कलाकार के अन्तर मे उपस्थित भाव दृष्टि तथा जीवन-ज्ञान व्यवस्था पर, निर्भर है और उन्ही से मर्यादित है।

दूसरे शब्दों में, इस अन्त स्थित भाव-दृष्टि तथा जीवन-ज्ञान-व्यवस्था से भिन्न, पृथक् तथा बाह्य तत्त्वों के दबाव में आकर लेखक जब-जब कलाकृति में संशोधन करता है, अथवा ऐसे तत्त्वों के दबाव में आकर वह नवीन रचना उपस्थित करना चाहता है, करता है, तो वैसी स्थिति में कला की आत्मतन्त्रता-स्वधर्मिता म याथा हान में उसकी स्वतन्त्र स्थिति नष्ट हो जाती है।

संक्षेप म, कला की स्वतन्त्रता जीवन-सापेक्ष है—वह जीवन जो भाव-रूप में अन्त करण-स्थित है। वह उसी पर निर्भर है। कलाकार की स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि कलाकार मनचाहे जैसे भावों को मनचाही जैसी रूप-शैली में प्रकट कर सकता है। यहाँ उसकी कला के स्वरूप पर, और उस स्वरूप का कवि अन्त -करण से जो सम्बन्ध है उस पर, दृष्टि नहीं है, वरन् उस अधिकार पर दृष्टि है जिसे कलाकार अपना अधिकार समझता है। कलाकार को, लेखक को, यह स्वतन्त्रता समाज-सापेक्ष और समाज-स्थिति सापेक्ष है। पूँजीवादी देशों में साम्यवादी साहित्य पर न मालूम कितनी बार, साम्यवादी लेखकों पर न मालूम कितनी बार, प्रगतिशील चित्रकारों पर न मालूम कितनी ही बार, अंकुश लगाया गया, उनकी कृतियाँ ज़ब्त की गयीं, उन रचयिताओं को जेल की हवा खानी पड़ी। जब तक अपनी कलाकृति में आप समाज की आलोचना ऐसे ढंग से करते रहेंगे कि जिससे आग सुलगेगी, तब तक आपकी कुशल नहीं। आप अपनी चाल बदलिए, नहीं तो मार खानी पड़ेगी।

मेरा सरीखा एकान्तप्रिय नि सग व्यक्तिवादी स्वभाववाला लेखक एक पुस्तक लिखता है—भारत इतिहास और संस्कृति। मध्यप्रदेश के शिक्षा-विभाग द्वारा पुस्तक स्वीकृत हो जाती है। एक सरकारी पाठ्यपुस्तक समिति उसे स्वीकार कर लेती है। किन्तु उसके बाद मध्यप्रदेश सरकार का गृह-विभाग क्रुद्ध होकर उस पर पाबन्दी लगा देता है। वह पुस्तक अब इस राज्य में खरीदी-बेची नहीं जा सकती। वह यहाँ गैर कानूनी घोषित हो गयी है। देखिये 19 सितम्बर, 1962 का सरकारी गज़ट। वह दिन मेरे लेखक-जीवन की एक महान् तिथि है!)।

संक्षेप में, लेखक की स्वतन्त्रता तथा कलाकार की स्वतन्त्रता, वस्तुत, अभिव्यक्ति के अधिकार की स्वतन्त्रता है, किन्तु यह स्वतन्त्रता समाज-सापेक्ष और समाज-स्थिति-सापेक्ष है। कुछ बातें कहने का, कुछ बातें शब्दबद्ध करने का मुझे अधिकार नहीं है, भले ही सैद्धान्तिक रूप से विद्वान् लोग अपनी विद्वत्ता का परिचय देते हुए पूँजीवादी जनतन्त्र की प्रशंसा करें, और यह कहें कि वैसी बातें मुझे लिखने करने का बराबर अधिकार है।

चूँकि मैंने अपनी पुस्तक का उल्लेख किया, इसलिए कह दूँ कि उस पुस्तक में (अ) क्रान्तिकारी आवाहन नहीं है, (ब) हिंसा का प्रचार नहीं है, (स) वह अश्लील भी नहीं है। फिर भी उसम कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण सत्यांश हैं जो नागवार गुजरे हैं। बस, उसके गैर कानूनी करार दिये जाने का यही रहस्य है।

दूसरे शब्दों म, लेखक और कलाकार की स्वतन्त्रता समाज सापेक्ष है, समाज-स्थिति सापेक्ष है। मानव गौरव और उच्च अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए भी जो रचनाएँ आती हैं, उनमें ऐसे सत्यांश हो सकते हैं जो अप्रिय हों। अतएव वे सत्ताधारी अथवा सम्पन्न या प्रभावशाली वर्गों की भावना को ठेस पहुँचा सकते हैं।

इस बात को ध्यान न रखते हुए समाज में उन सत्यों के विरुद्ध ऐसी मनोग्रन्थियाँ तैयार कर दी जाती हैं कि जिससे अमुक-अमुक लेखक को प्रकाशक न मिल सके।

जनमत और लोकाभिरुचि बनाने का ठेका जहाँ उच्च-सम्पन्न वर्गों ने ले लिया है, वहाँ किसी भी बात की परिभाषा जो उनकी दी हुई होती है, खूब चलती है। और उस परिभाषा को विश्वविद्यालयों से लेकर छोटे-मोटे प्रकाशकों तक में इस तरह स्वीकृत करा लिया जाता है कि जिससे उसी के माप-मान चल पड़ते हैं। संक्षेप में, एक भाव-प्रवाह, विचारधारा, सत्य और सत्यांश के विरुद्ध मनोग्रन्थियाँ स्थापित करा दी जाती है। कलाकार या तो इस तरह की मनोग्रन्थियों का स्वयं शिकार हो जाता है, और अपनी ज़िन्दगी के एक हिस्से को अभिव्यक्ति के क्षेत्र से निकालकर फेंक देता है, अथवा यदि वह बहुत ही आतुर है तो चुपचाप लिखता जाता है, छपाता नहीं, छिपाता है, और बाह्य प्रोत्साहन के अभाव में बहुत बार वह रचनाएँ अधूरी छोड़ देता है। पूरी नहीं करता, इसलिए कि उसकी अभिव्यक्ति का भाव-बिन्दु प्रकट हो गया होता है, किन्तु उसका सांगिक, सावयव अन्त संगठन उपस्थित करने की उसे आवश्यकता नहीं रह जाती।

विभिन्न समाजों में इस प्रकार की मनोग्रन्थियाँ जो क्रमशः अथवा अचानक प्रचार द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, विकसित की जाती हैं, वे अच्छी हैं या बुरी यह एक भिन्न प्रश्न है। एक खास ढंग की अलिखित सोशल सैंक्शन्स, अर्थात् समाज-मान्यताएँ और समाज-अस्वीकृतियाँ, उचित होंगी, अमरीका में वे स्वतन्त्रता की कसौटी घोषित की जायेंगी, भले ही फिर हब्शियों को, एफ्रो-अमरिकनों को, गोरों के होटलों और रेस्तराओं से अलग रखा जाये। वह चल जायेगा। लेकिन साम्यवादी समाज-रचना को उलट देने या उसको निन्दनीय ठहराने की गरज़ से लिखे गये साहित्य या उसमें प्रकट भाव-दृष्टि को लेखक और कलाकार की स्वतन्त्रता की कसौटी माना जायेगा। हाँ, चार्ली चैपलिन की ओर ध्यान मत दिलाओ।

कलाकार की स्वतन्त्रता समाज-सापेक्ष और समाज-स्थिति-सापेक्ष है, यह निर्विवाद है। सम्पूर्ण स्वतन्त्रता कहने-भर की बात है। कलाकार को तो केवल यह देखना है—यदि वह मानव-धर्म और मानव-न्याय बुद्धि की भावना रखता है (सब कलाकार ऐसे नहीं करते)—कि वह सर्वोच्च मानव-मूल्यों की, मानव-मुक्ति के लक्ष्य की, स्थिति कहाँ पाता है, और कहाँ नहीं पाता, अर्थात् किस प्रकार की भाव दृष्टियों में वह अपनी अनुकूलता पाता है, और किस प्रकार की भाव-दृष्टियों में नहीं। दूसरे शब्दों में, किस प्रकार के सोशल सैंक्शन्स उसके अनुकूल हैं और किस प्रकार के नहीं।

मूलभूत अन्तर्विरोधों से ग्रस्त समाजों में, निःसन्देह लेखक-वर्ग में भी, कलाकार-वर्ग में भी, सोशल सैंक्शन्स अर्थात् सामाजिक निर्बन्धों के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ होती हैं, तथा न केवल वे दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, वरन् परस्पर-विरोधी भी हो सकती हैं।

ऐसी स्थिति में, कोई एक भाव-दृष्टि अथवा कुछ समानतामूलक भाव-दृष्टियों का समूह, सामाजिक प्रभाव तथा प्रतिष्ठा-सम्पन्न उच्च पदासीन वर्गों द्वारा मान्यता प्राप्त हो जाते हैं, तथा शेष दृष्टि या दृष्टियाँ मलिन भाव की सूचक, निम्न भाव की सूचक, निम्न पदासीन, तथा रिक्त और अर्थहीन करार दी जाती हैं।

इस प्रकार का यह दृष्टि-भेद, या यो कहिए कि दृष्टि-सघर्ष, सदा-सर्वदा तथा अनिवार्यत नये और पुराने का झगडा नही होता, वरन् वह वर्गों का सघर्ष होता है। साथ ही यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि वह नये और पुराने का भी सघर्ष हो सकता है। वह वैसा है या नही, यह देखने-समझने की बात होती है।

एकाध उदाहरण अप्रासगिक न होगा। छायावाद तथा द्विवेदीयुगीन काव्य-प्रवृत्ति, दोनो एक ही मध्यवर्ग से नि सृत हुई। अपने-अपने ढग मे दोनो आदर्शवादी और अध्यात्मवादी थी। फिर भी भाषा, भाव, शैली, तीनो क्षेत्रो की भिन्नता ने सघर्ष का रूप भी धारण कर लिया, यह किसी से छिपा नही। उसी प्रकार प्रयोगवादी या नयी कविता का जन्म भी मध्यवर्ग मे हुआ। छायावाद और इस आधुनिकतावादी प्रवृत्ति मे सघर्ष रहा, यह सर्वविदित है। यह नये-पुराने का झगडा है।

किन्तु, मध्यवर्ग के क्षेत्र मे प्रयोगवादी प्रवृत्ति का उदय, विकास और प्रसार, और फिर उसी मध्यवर्गीय क्षेत्र मे उसी प्रगतिवादी प्रवृत्ति की क्षीणता और दुर्बलता का ऐतिहासिक सत्य यही तो प्रकट करता है कि इस मध्यवर्गीय क्षेत्र को, एक ओर, वैभव-सम्पन्न उच्चवर्गीय प्रवृत्ति हथियाना चाहती है तो, दूसरी ओर, समाजवादी आदर्श का समर्थन करनेवाली शक्ति—सर्वहारा शक्ति—उसे अपने प्रभाव मे लाना चाहती है।

मध्यवर्गीय क्षेत्र मे इन दोनो के प्रचार-प्रसार का खूब क्षेत्र भी है। उच्च-मध्यवर्गीय आभिजात्य-मानवतावादी आध्यात्मिकता, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी प्रणाली के नाम पर, साहित्य-क्षेत्र से समाजवादी प्रभाव का उन्मूलन करना चाहती है। उसका मूल सामाजिक आधार है—उच्च-मध्यवर्गीय लोग और उनकी सौन्दर्याभिरुचिपूर्ण जगमगाहट से मोहमुग्ध वे निम्न-मध्यवर्गीय लेखक, जो लोभ-ग्रस्त और पिपासु होकर उनके आस-पास मँडराते है, या व्यक्तिगत आधार पर उनसे घृणा करते हुए भी उनके पद-चिह्नो पर चलने मे अपनी कलात्मक प्रवृत्ति की सार्थकता समझते हैं।

इसके विपरीत, इसी मध्यवर्ग मे भिन्न-भिन्न स्थानो पर ऐसे लोग भी हैं, जो न अत्यन्त दरिद्र निम्न-मध्यवर्गीय हैं, न ऐसे जिन्हे हम आर्थिक दृष्टि से किसी भी हालत मे सुखी कह सकते हैं। यह श्रेणी साहित्य तथा कला के क्षेत्र मे भी काम करती है, तथा वह ज्ञान-भिक्षु है, यह कहा जा सकता है। इसकी मनोवृत्ति मे प्रगतिवादी प्रवृत्तियो के प्रति समीपता, सम्भवत, पायी जा सकती है, और वह बहुत-कुछ अंशो मे अभी भी देखी जा सकती है। प्रगतिवादी जीवन-मूल्य भी इनमे देखे जा सकते हैं। यह है सामाजिक आधार, उस सर्वहारा आन्दोलन के, मध्यवर्ग के ऊपर, प्रभाव का।

इसके बावजूद, प्रगतिवादी आन्दोलन यदि बहुत-कुछ पीछे हटा है, तो इसका कारण यह नही है कि मध्यवर्ग पूरा-का-पूरा अवसरवादी हो गया है, यद्यपि उच्च-मध्यवर्गीय प्रभुता तथा बल-सम्पन्न पूँजी की सत्ताधारिता ने भी इसमे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया है। किन्तु इसका एक कारण यह भी है कि प्रगतिवादी प्रवक्ताओं ने अपनी वही पुरानी छर्रेवाली बन्दूक और वही पुराने तमचे निकाले जिनकी आज कोई कीमत नही। सक्षेप मे, उनके पास प्रगतिवादी प्रवक्ताओ के पास, मध्यवर्गीय अन्ध-सिद्धान्तवादी अहकार तो था, किन्तु कला की सृजनशील

प्रक्रिया मे, कला-सम्बन्धी समस्याओ मे, वह सूक्ष्म गति नही थी, जो कि एक जीवन-मर्मज्ञ और कला-मर्मज्ञ के लिए आवश्यक होती है। यही नही, लेखको से, विशेषकर नये ढग के लेखको से, वे तनकर अलग रहते थे। सिद्धान्तो के आइवरी टॉवर मे रहकर (अपनी ठाठदार रोज़ी-रोटी का सवाल वे पहले ही हल कर चुके थे) वहाँ के बुर्जों से वे लेखको के नयेपन पर, और नये लेखको के यूथ पर, अपने तीर-कमान का प्रयोग करते थे, खूँखार होकर। नि सन्देह उनमे से कुछ ने नयी प्रवृत्ति के साथ चलने का प्रयत्न किया भी तो लँगडाते हुए। सच तो यह है कि वे घिसे-पिटे थे और अपने घिसे-पिटेपन को सिद्धान्तवादिता का जामा पहनाकर सर्वमान्य होने का प्रयत्न करत थे।

यहाँ उनकी आलोचना करने का मेरा अभिप्राय नही है। मैं तो यह कह रहा हूँ कि प्रगतिवादी धारा का जो पीछे हटना हुआ, उसमे प्रगतिवाद के प्रवक्ताओ की नि सज्ञ अक्षमता और जड-बधिर-अन्ध-पगु प्रतिभा का भी विलक्षण योग था।

हिन्दी साहित्य-क्षेत्र मे शीत-युद्ध अब भी चला हुआ है। साहित्य-क्षेत्र मे मध्यवर्ग ही क्रियाशील है, और, सम्भवत आगामी दसियो वर्षों तक वह क्रियाशील रहेगा। मध्यवर्ग के ही लेखक आज भी हैं। जीवन की समस्याएँ जटिलतर होती जा रही हैं। ये समस्याएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। समाज मे आज उत्पीडन और शोषण की मात्रा, अतिचार और अत्याचार की मात्रा, और भी अधिक, और भी तीव्र हो रही है। अवसरवाद, भ्रष्टाचार, नैतिकता का ह्रास, मानवतावादी मूल्यो की अवनति और व्यक्तिबद्ध अहवादी मूल्यो का बढता हुआ प्रभाव, लूट-खसोट आदि-आदि बातो से सामान्य मानव का दु ख अपरिसीम होता जा रहा है।

ऐसी स्थिति मे, शीत-युद्ध के एक केन्द्र को यह चिन्ता सता रही है कि कही *यह सन्तप्त मानव समाजवाद और साम्यवाद का शिकार न हो जाये।* ऐसी स्थिति में, वह पाता है कि पश्चिमी जगत् का उच्च साहित्य साम्यवादी या समाजवादी प्रभाव को रोकने मे विशेष सहायक नही होता। हाँ, यह सही है कि समाज की जो आलोचना उसमे की गयी है वह कोई साम्यवादी दृष्टि या समाजवादी *दृष्टि से नही।* यहाँ तक कि *कभी-कभी उस दृष्टि की आलोचना समाजवादी भी करते है।* किन्तु फिर भी वह आलोचना तो हुई है। ऐसी स्थिति मे, वे अमरीकी प्रयोगवादी और श्रेष्ठ उपन्यासकारो का, अथवा ब्रिटेन या फ्रास के उच्च साहित्य का, प्रचार नही करते, क्योंकि आज के सन्दर्भ मे उनके लिए वे उपयोगी सिद्ध नही होते।

आज तो उन्हें पाश्चात्य जगत् की अराजकतापूर्ण स्थिति को, तथा उसमे उत्पन्न मानव-दु ख को, इस प्रकार परिभाषित करना है कि जिससे मनुष्य सकल्प-धर्मा बनकर महान् कार्यों के लिए, मुक्ति-कार्यों के लिए, उद्युक्त न हो।

उदाहरणत, वीरता की व्याख्या लीजिए। वीरता क्या है? अपने लघुत्व को ढाँकने का एक तरीका है। फिर लोग उस ओर उन्मुख क्यो होते है? इसलिए कि वे अपने लघुत्व की वास्तविकता से घृणा करते हैं। निष्कर्ष . (1) मानव निरन्तर लघु है। (2) इसलिए उसका दु ख स्थायी है। (3) वह दु ख से मुक्ति के प्रयत्न मे वीरता बताता है, किन्तु यह वीरता वस्तुत. उसके लघुत्व ही का मानसिक विक्षेप है। (4) यह मानसिक विक्षेप उसमे क्यो होता है? इसलिए कि उसमे बहुत बार आत्म-घृणा और आत्म-दया होती है, अतएव अपने लघुत्व मे

घृणा करते हुए वह अपनी ऊँचाइयाँ प्रदर्शित करने के लिए वीरता के दृश्य प्रस्तुत करता है। (5) वीरता के दृश्य प्रस्तुत करने से वह महान् नहीं हो जाता, क्योंकि वह निरन्तर लघु है। (6) इसलिए उसका दुःख स्थायी है। (7) अतएव मानव-मुक्ति के लिए प्रयत्न वृथा है, क्योंकि मुक्ति-जैसी कोई चीज नहीं है—एक दुःख से दूसरे दुःख की ओर जाने का वह प्रयत्न है।

यह मानवतावादी अवनत दर्शन है। मानव के सम्बन्ध में यह एक प्रकार का नकारवाद है। मानवीय भाग्य और वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में यह एक प्रकार का निराशावाद है।

[इस] विचारधारा के दो पक्षों की तरफ हमारा ध्यान जाना जरूरी है। एक तो यह कि यह *मुख्यतः मानव-मुक्तिवादी विचारधाराओं के विरुद्ध है।* उसकी तीखी नोक खासकर साम्यवादी धारणाओं के विरुद्ध है, क्योंकि साम्यवादी धारणाओं में यह बताया गया है कि मनुष्य चाहे तो अपना भाग्य-परिवर्तन कर सकता है। मनुष्य के अन्तःकरण में वे शक्तियाँ मौजूद हैं जो व्यक्ति और समाज, इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करते हुए मनुष्य को अधिक पूर्ण, अधिक सक्षम और अधिक सुखी बना सकती है। उसमें यह बताया गया है कि जन-साधारण में महान् सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं। मनुष्य ने अपने श्रम और बुद्धि द्वारा महान् उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, और मनुष्य का सच्चा सुख और मुक्ति तथा उपलब्धि सर्वजनहितार्थ उसकी सृजनशीलता में ही निहित है, उसके सृजनशील कार्यों में ही है। इस कारण साम्यवादी नैतिक जगत् की विचारधारा लोगों को आकर्षित करती है, बहुत आकर्षित करती है।

इस आकर्षण के प्रतिरोध के लिए यह आवश्यक है कि ऐसी भाव-धारा प्रचलित की जाय, जिसमें दुःख को शाश्वत मानकर उसमें समझौता करते हुए, समाज-परिवर्तन और मानव-परिवतन के स्वप्न को छोड़ दिया जाये।

इस भाव धारा की यह विशेषता ऐसी है जो मानव-प्रगति के चक्र में रोध और बाधा उत्पन्न करती है। दुःख के स्थायित्व, लघुत्व की मूल स्थिति, तथा उच्चतर गुणों के माया-स्वप्नत्व, का पाठ पढ़ाकर, मनुष्य को मानव-सत्ता के उच्चतर रूपान्तर के कार्यों और कार्यक्रमों से अलग करने का उद्देश्य और प्रेरणा उसमें समायी हुई है।

हिन्दी काव्य सृष्टि की वर्तमान गतिविधि में इस भाव-धारा का प्रभाव स्वाभाविक होता जा रहा है।

कारण क्या है? कारण है—वर्तमान देशकालावस्था की कतिपय विशेषताएँ। देश में, सामान्यतः, अवसरवाद, अनाचार, स्वार्थपरता, लाभ-लोभ और व्यक्तिवादी महत्त्वाकांक्षा का प्रभाव विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में लगातार बढ़ता जा रहा है। परिणामतः, जन-साधारण का जीवन मलिन और दुःखपूर्ण तथा वैयक्तिक आशाहीनता और भविष्यहीनता के भावों से ग्रस्त हुआ जा रहा है। काव्य में भी यही भविष्यहीनता तथा आशाहीनता के अराजक भाव बढ़ते जा रहे हैं। बाह्य समाज के जो सामान्य दृश्य कवि को दिखायी दे रहे हैं, वे उत्साह-संहारक, प्रेरणा-नाशक और हृदय विदारक हैं।

शीत-युद्ध के दौरान में, नवीन भाव धारा ने विगत जनतन्त्रवादी विचार-धारा से भी युद्ध किया और प्रगतिवादी विचारधारा से भी। इसको दुहराने की

आवश्यकता नहीं। महत्त्व की बात यह है कि लेखक में साम्यवाद-विरोधी, राजनीति-विरोधी, और अब जन-विरोधी, मनोग्रन्थियाँ पहले से ही तैयार कर दी गयी हैं। वे अब और भी अधिक दृढ़ बनायी जा रही हैं।

ध्यान में रखने की बात है कि सभ्यता, समाज, व्यक्ति, इन सबकी (इनकी दृष्टि से देखी गयी) वर्तमान स्थिति की आलोचना के तत्त्व इन कवियों में खूब प्रचलित हैं, किन्तु ये आलोचना के तत्त्व अत्यन्त व्यक्तिवादी दृष्टि की उपज हैं।

इस आलोचना का सारांश यह है कि रूस हो या अमरीका, सर्वत्र औद्योगिक सभ्यता है। औद्योगिक सभ्यता व्यक्तित्व का नाश करती है। व्यक्ति में आत्म-निर्णय, विवेक की शक्ति का ह्रास हो जाता है। उसका व्यक्तित्व भी विखण्डित हो जाता है। साम्यवादी जगत् और 'स्वतन्त्र' जगत्, इन दोनों में अन्तर केवल यह है कि 'स्वतन्त्र' जगत् में व्यक्ति, बावजूद व्यक्तित्व-विभाजन के, बावजूद व्यक्तित्व-नाश के, अपने स्वतन्त्र निर्णय के लिए स्वतन्त्र है।

व्यक्ति अपना स्वतन्त्र निर्णय तब तक नहीं कर सकता, जब तक वह भीड़ का अंग है। समाज में जब तक व्यक्ति पृथक्-पृथक् हैं और मनन के जगत् में रहकर निर्णय करने को स्वतन्त्र हैं, तब तक ही वह व्यक्ति है। तब तक वह आत्मा का केन्द्र है। किन्तु ज्यों ही वह एक हो जाता है, वह जन-यूथ के मनोविज्ञान की धारा में बहता है। स्वतन्त्र निर्णय की उसकी शक्ति या तो क्षीण हो जाती है या लुप्त हो जाती है। इसलिए, ये जो सड़कों पर जुलूस चल रहे हैं, ये जो हड़तालें हो रही हैं, ये जो सामूहिक-राजनैतिक आक्रमण-प्रत्याक्रमण हो रहे हैं, वे सब भीड़ की मनोवृत्ति के परिचायक होने से, स्वतन्त्र निर्णय के अभाव की अन्ध शक्ति को ही सूचित करते हैं। परिणामत, लेखक—जो कि अकेले ही में रहता है—उसे अकेले में रहना ही अच्छा है। तभी वह मानवता के उच्च गुणों को (यदि वे हैं तो) प्रतिष्ठापित कर सकता है। जनवाद, समाजवाद भीड़ की मनोवृत्ति के परिचायक हैं। जुलूस, हड़ताल आदि राजनैतिक सामूहिक कार्य गलत हैं। जनता ढोर है, वह पशु है, क्योंकि वह नेताओं के बहकावे में आती है, क्योंकि उसमें 'स्वतन्त्र' निर्णय करने की शक्ति नहीं है।

व्यक्ति अपनी व्यक्ति-सत्ता में अद्वितीय है, नि संग है। और ऐसी बाह्य प्रभावहीन नि संग स्थिति में ही, अपने इस प्रकार के एकान्त में ही, वह स्वतन्त्र निर्णय कर सकता है, अन्यथा नहीं।

दु ख की स्थिति प्राय स्थायी है। मनुष्य लघु है। लघुत्व से पूर्ण मनुष्य अपने लघुत्व से घृणा करता है, इसलिए कुछ काल के लिए वह 'वीर' बन जाता है। वीरता या महानता भ्रमात्मक है। लघुत्व मनुष्य की मूल प्रकृति है। अतएव, हे महोदय, महानों और वीरों के चक्कर में मत पड़िए।

दूसरे शब्दों में, यह जो विद्यमान स्वार्थग्रस्त अहग्रस्त व्यक्ति-सत्तात्मक स्थिति है—जिससे कि यह समाज बना हुआ है—उसका पहचानना, और उस यथार्थ को पहचानकर अपनी अद्वितीयता की रक्षा करना आवश्यक है।

अद्वितीयता की यह रक्षा उन दार्शनिक या कहिए धार्मिक अथवा आध्यात्मिक या रहस्यात्मक अनुभवों में हो सकती है, जिनकी परिभाषा करना, जिनके स्वरूप की व्याख्या करना, उनका काम है जिनको इसमें दिलचस्पी है।

और, इस प्रकार की अन्तिम व्याख्या और अन्तिम परिभाषा—वह जो भी

है—यदि व्यक्ति-सत्ता की एकमेव अद्वितीयता की रक्षा करती है तो उस स्थिति मे वह मानव की सर्वोच्च परिभाषा, उसकी निजी शक्तियो की, आत्म-शक्तियो की सर्वोच्च परिभाषा भी होगी।

मैंने इस भाव-धारा की कतिपय विशेषताओ को अपने शब्दो मे रखने का प्रयत्न किया है, न कि भाव-धारावालो के शब्दो मे। अतएव इसमे उनके विचारो को सम्भवत भद्दा बनाकर भी रखा गया है। किन्तु, भले ही मैंने उसे हलके ढग से या भद्दे ढग से रखा हो, उसका सार-सत्य वही है जो मैंने कहा।

उपर्युक्त भाव-धारा सम्पूर्ण-सर्वांगपूर्ण अथवा व्यवस्था-बद्ध या सुसगठित रूप से सब कवियो मे नही पायी जाती है। किसी मे उसका कोई अश है, तो किसी मे कोई और। इन कवियो की आभ्यन्तर जीवन-ज्ञान व्यवस्था मे इस भाव-धारा का योग है, वह कितना और कैसा योग है, यह एक भिन्न प्रश्न है।

यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि सब प्रयोगवादियो या नये कवियो की यह विशेषता नही है। सभी मे यह भाव-धारा पायी जाती है—यह कहना यथार्थ के अनुसार नही।

महत्त्व की बात केवल यह है कि यह भाव-धारा नितान्त प्रतिक्रियावादी है। इसके सारे आघात का मुख्य लक्ष्य कवि-कलाकार को लेखक समाज से, सामाजिक-मानवीय भावनाओ से, सामाजिक-मानवीय लक्ष्यो से, सामाजिक-मानवीय सत्ता के उच्चतर रूपान्तर के स्वप्न-लक्ष्य और प्रयत्न से, पृथक् नि सग और विरोधात्मक रूप मे स्थापित करना है।

इस लेखक का मुख्य उद्देश्य इस भाव-धारा के मुद्देवार खण्डन उपस्थित करना नही है। इसका मुख्य उद्देश्य वर्तमान स्थिति पर अपनी बुद्धि अनुसार प्रकाश डालते हुए यह बताना है कि आखिर किस प्रकार इस भाव-धारा से छुटकारा प्राप्त हो सकता है।

यह जानना जरूरी है कि आखिर इस क्षेत्र मे इस भाव-धारा का प्रचार क्यो-कर हुआ। बाह्य परिस्थिति वैसी थी, यह कहकर छुट्टी लेना गलत है। आन्तरिक अवस्था का भी इस भाव-धारा के प्रचार-प्रसार मे योग है। यह आन्तरिक अवस्था साहित्य-क्षेत्र की आन्तरिक अवस्था तथा अन्त करण के भीतर की अवस्था भी है।

काव्य एक आत्मपरक प्रयास है। भारतीय साहित्य—विशेषकर हिन्दी साहित्य—मे आत्मपरक काव्य की परम्परा रही आयी। उसी प्रकार साहित्य के तत्त्वो के विश्लेषण और उसके प्रभाव के विश्लेषण की भी परम्परा रही है।

प्रगतिवादी समीक्षा और प्रगतिवादी साहित्य ने मनुष्य के मात्र सामाजिक-राजनैतिक पक्ष पर ही खूब जोर दिया। उसके शेष पक्षो पर, तुलनात्मक दृष्टि से, बहुत कम बल रहा, या नही ही रहा। परिणामत, पाठक के सामने मनुष्य का जो चित्र प्रस्तुत हुआ, वह एकपक्षीय ही था, उसमे मानव-सत्ता की सर्वांगीण प्रगतिशील दृष्टि का प्रकटीकरण नही था।

इसका प्रभाव प्रगतिशील साहित्यकारों के व्यक्तित्व पर भी हुआ। एक ओर, वे अनेकानेक रचनाओं मे केवल उद्बुद्ध सामाजिक-क्रान्तिकारी भाव-दृष्टि प्रकट करते थे, तो दूसरी ओर, उनके वास्तविक जीवन मे जो दृश्य बहुत-बहुत लोगो ने समीपता मे देखा है उसमे उच्चवर्गीय सकीर्णता, विलास-लोलुपता, अपने पास

अधिकाधिक उच्चवर्गीय सामाजिक प्रभाव तथा अधिकाधिक वस्तु सग्रह और कीर्ति-सग्रह की लालसा प्रत्यक्ष दिखायी दे रही थी। इसी मनोवृत्ति के उदाहरण अधिकतर दिखायी दे रहे थे। अपवाद कुछ थे, वे अत्यन्त अल्प थे। सक्षेप मे, इन लेखकों के वास्तविक जीवन मे प्रगतिशील दृष्टि का अनुशासन नही था, और उस प्रगतिशील दृष्टि से जीवन सगठन नहीं था। उच्च और सुखपूर्ण वैयक्तिक जीवन ही उनका प्रधान जीवन-लक्ष्य था।

वैसे ही उनके सामाजिक सम्बन्ध भी थे। उन सामाजिक सम्बन्धो के कारण और उनके द्वारा ही वे भौतिक उन्नति के सोपानों पर चलते जा रहे थे। यदि समाजवाद के द्वारा उनका निजी प्रभाव बढता है तो वह भी अच्छा ही है—यह मानकर मानो कि वे चलत थे। उच्च वर्गों मे उनके गहन सामाजिक सम्बन्धो ही के कारण, उन्हे अपने प्रगतिवाद से कोई आर्थिक या सामाजिक हानि नहीं हुई।

परिणामत, उनके वास्तविक जीवन और आचरण के द्वारा कोई विशेष प्रेरणा नही मिल पाती थी। अपने भौतिक अस्तित्व की रक्षा का सघर्ष, जो एक साधारण मनुष्य को, एक गरीब आदमी को करना पडता है, वह उनके लिए मानो कि नही था, और अगर था भी तो वह एक ऐसे ढग से था जिसे हम मोटर कारवालो पर लदे हुए कर्जे से छुटकारे का सघर्ष कह सकते हैं। दूसरे शब्दो मे, ये लोग मानव, *मानवता, सघर्षशील मानवता, मुक्ति-सघर्ष, जनवाद, किसान-मजदूर क्रान्ति*, आदि शब्दो का प्रयोग करते थे, और विभोर होकर, भक्ति-भावपूर्वक, उन सब तत्त्वो का प्रतिपादन भी करते थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि, जैसा कि दिखायी देता था, उनकी विभिन्न कल्पनाएँ अतिसरलीकरण पर आधारित हो गयी थी। जिन्दगी की पेचीदगियो पर उनका ध्यान न जाकर, सामान्य विशेषताओं पर ही दृष्टि टिक जाती थी। इसलिए उनका 'प्रगतिशील' मानव एक निष्ठावान क्रान्तिकारी मानव था, जो प्रगतिशील मूल्यो की स्थापना के लिए जूझ पडता है। उसके हृदय म कही भी कोई शका, अपने व्यक्ति-सुख के सम्बन्ध मे कोई चिन्ता, अथवा अपनी परिस्थितियो मे कोई घबराहट, नही थी—यद्यपि यह साफ था कि वास्तविकता बराबर यह सूचित करती रहती थी कि वास्तविक प्रगतिशील' मनुष्य, जो कि हमे काम करते हुए दिखायी देता है, प्रगतिशील कविता मे दिखायी दे रहे प्रगतिशील मानव से कही अधिक उलझाव-भरा, कमजोर और विविधपक्षीय रुझान रखनेवाला मनुष्य है। सक्षेप मे, प्रगतिवादी मानव-बिम्ब जो काव्य मे उपस्थित हुआ, *प्रगतिवादी मानव के वास्तविक जीवन सघर्ष और वास्तविक व्यक्तित्व से* बहुत कुछ दूर होकर, अतिसरलीकरण पर आधारित कल्पना के रूप मे था। साथ ही, उसका केवल [एक] ही पक्ष—सामाजिक-राजनैतिक पक्ष ही—सामने आता था, दूसरे पक्ष नही।

परिणामत, प्रगतिवादी काव्य एक हद तक, एक सीमा तक, ही प्रभावित करता था। सारे जीवन को, मन वचन कर्म को—जीवन यापन-पद्धति को,—हृदय, आत्मा और बुद्धि को, एक केन्द्र स अनुशासन और नियन्त्रण करनेवाले प्रगतिवादी आदर्श और प्रगतिवादी जीवन-मूल्यो और उनके कार्यात्मक तथा अनुभावात्मक रूपो का चित्रण हमे दिखायी देता था, न आन्तरिक तथा बाह्य समस्याओ का चित्रण जो कि इस प्रकार के आत्मैक्य (?) से स्वभावत. उत्पन्न

होता है।

इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। प्रगतिवाद के कतिपय प्रवक्ता अपने प्रवचनों को विशुद्ध मार्क्सवाद और उसका विशुद्ध प्रयोग समझते हुए, और इस महान् कार्य से प्रसूत अहंकार के प्रतिनिधि बनकर, जिस प्रकार आलोचना करते जाते थे उससे, देश में वामपन्थी समाजवादी राष्ट्रवाद के बढ़ते हुए प्रभाव की धारा की उच्च लहरों पर चढ़कर, वे नित्य-नूतन विजय प्राप्त करते जाते थे। वह युग ही वैसा था।

महत्त्व की बात यह है कि [उन्होंने] प्रयोगवादी और नयी कविता का आरम्भ ही में विरोध किया। वे उसकी सूरत देखकर ही चिढ़ते थे। किसी विशेष साहित्य-धारा की उत्पत्ति-विकास के मूलभूत कारणों का तटस्थ विश्लेषण न कर, उसका विस्तृत स्वरूप-विश्लेषण और उस पर आधारित मूल्यांकन न कर, वे केवल उसको नष्ट-भ्रष्ट कर डालने के लिए ही कटिबद्ध रहे।

खैर, यह पुरानी बात हो गयी। दुःख की बात यह है कि आज भी उनके द्वारा [सिवाय] केवल विरोध के, विशुद्ध विरोध के, और कुछ नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में, जब नये प्रकार के लेखकों से उन्होंने अपने को अलग कर डाला, वे कैसे प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं में मोर्चा ले सकते थे, उन्हें बचा सकते थे?

आज आवश्यकता इस बात की है कि नये काव्य-क्षेत्र में एक विशेष केन्द्र से प्रतिक्रियावादी, जन विरोधी, विचारधारा का परिचालन किया जाता है, इसको रोका जाये। किन्तु यह कौन कर सकता है? क्या यह नये काव्य के स्वरूप ही से भड़कनेवाले लोगों से ही सिद्ध होगा?

मेरे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि समीक्षा की भाषा, समीक्षा-शैली, समीक्षा के अन्तर्गत विचारधारा की अभिव्यक्ति, इस प्रकार से हो कि लेखक यह समझ सके कि समीक्षक उसका शत्रु नहीं, उसका मित्र है, उसका भ्राता है। तभी वह लेखकों का विश्वास प्राप्त कर सकेगा।

लेखक लम्बी-चौड़ी सिद्धान्तवादी शब्दावली से न प्रभावित होता है, न उसे जान ही पाता है। अतएव यह आवश्यक है कि इस ढंग से बात की जाये कि जिससे समीक्षक और लेखक की दूरी कम हो, वे दो विभिन्न पृथक् लोकों में न रहकर, एक ही जगत् में रहकर, एक ही भाषा बोलते से प्रतीत हों।

महत्त्व की दूसरी बात यह है कि साहित्य-क्षेत्र में जिन केन्द्रों से जो प्रतिक्रियावादी विचारधारा प्रचारित और प्रतिचालित होती है, उन केन्द्रों और उनकी प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं की मूलगामी और प्रखर आलोचना करते हुए—इस प्रकार आलोचना करते हुए कि जिससे प्रगतिशील मानवतावाद का मार्मिक और सर्वांगपूर्ण तथा प्रेरणापूर्ण चित्र उपस्थित हो सके—अनेक व्यापक विवेचन और मन्थन करनेवाली पुस्तकें लिखी जायें, लेख लिखे जायें, तथा उस चुनौती को सहर्ष स्वीकार किया जाये जो भारतीय मानवता को विचारधारा के रूप में विशेष केन्द्र या केन्द्रों से दी गयी है।

दूसरे शब्दों में, समीक्षा एक ऐसा सिद्धान्त-संगत, जीवन-ज्ञानपूर्ण, जीवन-संवेदनपूर्ण, मार्मिक मानव चित्र प्रस्तुत करे, जो आज की व्यापक दुःख और कष्ट की स्थिति-परिस्थिति से ग्रस्त लेखक की विभिन्न वास्तविक मनोदशाओं के लिए न केवल ग्राह्य हो, वरन् उसके विभिन्न पूर्वाग्रह-ग्रस्त भावों को छिन्न-भिन्न

करते हुए उसे प्रेरणा प्रदान करे—ऐसी प्रेरणा जो एक ही साथ उसकी समस्याओं और विश्व की समस्याओं के समाधान का एक नम्र, किन्तु अत्यन्त भाव सवेदनशील प्रयत्न हो।

सिद्धान्त जीवन-जगत् के विभिन्न सामान्यीकरणों ही पर तो आधारित होते है। वे मानव के अन्त करण मे स्थित जीवन-ज्ञान-अवस्था का ही तो एक ऊर्ध्व-विकास रूप है। अतएव मेरा यह आग्रह है कि समीक्षा में आज के लेखक के परिवेश, उसकी रचना प्रक्रिया, उसके अन्त करण के सवेदन-पुजो को समझते हुए, उसकी विशेष सन्दर्भयुक्त भाषा को समझते हुए, और यह मानते हुए कि लेखक मानव-जीवन ही की अभिव्यक्ति कर रहा है—सक्षेप मे, लेखक के अन्त॰करण और काव्य मे सहानुभूतिशील अन्तर्दृष्टि को परिचालित करते हुए—कार्य किया जाये। विरोधी विचारधारा के क्षेत्र मे तथा स्वरूप विश्लेषण करनेंवाली वास्तविक साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र म क्या ऐसी अपेक्षा करना गलत है ?

[सम्भाव्ति रचनाकाल 1959-64 के बीच। नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र मे सकलित]

समीक्षाएँ

'हृदय' की स्मृति में

मरण का काला विस्तीर्ण हाथ उस मुख पर बिछ गया था, किन्तु उसका आना उसे अज्ञात नहीं था। वह उसके लिए तैयार बैठा था। उसके युयुत्सु हृदय में एक नयी आशा काँप उठी थी। वह बराबर अपने से चेतन होता हुआ एक अँधेरे मार्ग में से गुज़र रहा था। रास्ता उसे मिल नहीं रहा था, काले-काले नाग उसे काटने को दौड़ रहे थे। जीवन में श्रद्धावान वह पुरुष उनसे लड़ता चला जा रहा था, अपनी सारी बँटी हुई चेतना एकत्रकर, उन्नत होकर, विशाल होकर, क्योंकि साँप हिमालय को क्या काटेंगे, सिंह हवा को क्या मार डालेंगे!

बस, तभी उसने अपनी सम्पूर्णता पा ली थी, अनुभव कर ली थी। उस तिमिर-गर्भ में से चलता हुआ वह प्राण अपने ही लिए ईश्वर हो उठा था, अति-मानव हो गया था, जीवन के हरएक क्षण में अपनी अमिट छाप छोड़कर शक्ति इकट्ठा करता हुआ वह आगे बढ़ गया है! जीवन का धर्म पालन करते हुए उसने अपने प्राण-शरीर के एक टुकड़े से अपने मित्रों का सृजन किया, दूसरे से अपने शिष्यों का, तीसरे से अपनी स्त्री का, पिता का, चौथे से अपने बच्चों का, पाँचवें से अपने आलोचकों का, छठे से स्वयं अपना–अपनी आज का जो उन सबमें बँटकर फिर एकत्र हो गयी, भड़क उठी और आगे बढ़ गयी।

इस सकुंचित तिमिर-गर्भ में से होता हुआ वह महान तेजस्वी प्राण चल पड़ा है निर्भीक, एक यात्रामय उत्सुकता लेकर। एक नवीन आशा-सी काँप उठी है उसके हृदय में, एक सुन्दर दीपक के लघु प्रकाश को अपने सहस्र-सहस्र किरणों से हतप्रभ करता हुआ अपने नवीन देश में नवीन रूप लिये चलता जा रहा है वह गतिमान आत्मा।

बचपन से जीवन उसका बढ़ता जा रहा था अपने रंगीन रूपों को दूसरे नवीन रंगीन रूपों में खोते हुए, इस तरह विकसित होता हुआ, शक्तिमान होता हुआ, तेजस्वी होता हुआ। वह बढ़ रहा था आगे। उसके पथ में एक तिमिर-आवर्त की झुंझलाहट पड़ी हुई थी। परन्तु वहाँ तो वह अपना ईश्वर हो उठा था, वह आत्मसूर्य मृत्यु की अन्धकारमय नग्नता को शरमाता हुआ आगे चल पड़ा। अरे! वह तो आगे चल पड़ा, बढ़ गया, बदल गया, कुछ-का-कुछ हो गया।

तुम कहते हो वह अपना था। तुम रोओ मत, क्योंकि वह तुम्हारी पहचान भूल गया है, वह निराला हो गया है। कौन कहता है उसे कोई वस्तु मरण नाम की या कोई राक्षस काल नाम का आ गया और खा गया! कौन कहता है ऐसा? ऐसी बाहरी चीज़ उसे क्या कर सकती है! वह तो स्वयं ही आगे बढ़ता हुआ, बृहद होता हुआ, अपना ईश्वर होता हुआ, क्योंकि उसके चेतना शरीर का एक सूक्ष्माणु भी तुम्हारे तन में समाये प्राण से अधिक सघन और तेजस्वी है, वह चला गया है। तुम मत रोओ, उसकी स्त्री, पिता, माता, बहनो, बच्चो, मित्रो, शिष्यो, आलोचको, मत रोओ, क्योंकि वह तुम्हारी पहचान भूल गया है, वह तुम्हें नहीं

पहिचानता, वह तुमसे परे है। तुमसे *अलग है। वह अपने नवीन-चेतना-रूप मे* अपने नवीन धर्म का पालन करता हुआ आगे बढ रहा है, चला जा रहा है, और तुम पीछे रह रहे हो। उसको जीवन मे इतनी श्रद्धा थी कि वह तन का उत्सर्ग करते हुए बेरोक हो उठा, अबाध हो गया। जीवन की रश्मिमय धारा का स्रोत उसने इस तरह पकडा था कि कौन उसके वेगमय व्यक्तित्व को पकड सकता है ? *किसका सामर्थ्य है कि उसे ललकारे, ठहरने को कहे।*

लोगो ने उसको नही पहचाना था। परन्तु 'लोग' यह शब्द ही क्या है ? इसके क्या मानी होते हैं ? हम क्यो उसको उपयोग मे लायें, लेकिन फिर भी लाते है। और इसी मे उसका रहस्य है। परन्तु जो उनके समक्ष आया, उनके साथ बैठा, बातचीत की, वह उनकी आन्तरिकता की प्रकाश-भव्यता से अप्रभावित न रह सका। आत्म-विश्वस्त और विनयपूर्ण, गम्भीर पर नित्य स्मित-मुख और विनोदी, जीवन के मूल आदर्शतत्त्व के प्रति श्रद्धानत फिर भी अत्यन्त सूक्ष्म आलोचनाशील, नित्य जागरूक फिर भी शान्तिमय, सामाजिक ईमानदारी से भरा हुआ ऐसा उनका सादा साधनाशील व्यक्तित्व अपनी बातचीत मे कितना प्रकाशमान, जाज्वल्य और सन्तुलित था! उनका गृहस्थ जीवन स्नेह की दृष्टि [illegible] कितना अलग, चिन्तनशील, अपने [illegible] उनमे कुण्ठा कहाँ थी ? जीवन मे [illegible] थे। लेकिन विचारो के कृत्रिम, [illegible] ? भटके सब थे। वे कुछ ऐरिस्टो-क्रैटिक टेस्ट लिये हुए, परन्तु अत्यन्त उदार और अर्थसम्पन्न प्रोफेसर, हिन्दी के *अध्यापक, अपनी प्रतिभा से साहित्यसर्जना करते हुए विज्ञापन से दूर भागते थे।*

परन्तु सबसे अधिक, सबसे पहले और सबसे आगे यदि वे कुछ भी थे तो एक मानवत्तामय मानव। अपनी मानवता की ज्योति की प्रतिष्ठा उन्होने कई हृदयों में की। उनका एक क्षेत्र यह भी था। जीवन से पूर्ण सुमगठित और अबाध होकर जो प्रकाश हमारे हृदय मे उत्पन्न होता है उसकी सुमधुर व्योमोन्मुख उन्नत ज्वाला की विश्वासमयी मृदुल मुस्कान यदि मुझे कही देखने को मिली तो उस नाटे, विनोदी, किन्तु भव्य व्यक्तित्ववाले, अपने घर के, बाग के वृक्षों को पानी देते हुए प्रोफेसर के गम्भीर मुख पर।

बीमारी मे और विशेषकर मरणकाल मे लोग कितने दयनीय मालूम होते हैं। परन्तु उसमे वह पुरुष कितना भव्य, अपनी शारीरिक वेदना से लडता हुआ कितना धीर और उज्ज्वल मालूम होता था। अपनी बीमारी मे वह कितना स्थितप्रज्ञ हो उठा था।

उनकी बीमारी के दो दौर थे। पहला बहुत घातक परन्तु उससे वे बच गये थे। डॉक्टर निराश, पत्नी निराश, परन्तु मृत्युशय्या पर पडा हुआ आदमी कह रहा कि न जाने क्यों उसके हृदय में जीवन का निर्झर, *निर्मल, मधुर, स्पॉण्टेनियस अनायास* बहता चला आ रहा है, उत्तप्त कूलो को धोता हुआ, उन्हे शीतल करता हुआ।

वे अच्छे हुए। घर के लोगों के साथ बडे सुख से उन्होंने गृह-दर्शन किया। मित्रो से मिले, शिष्यों से मिले, मुझसे मिले। मेरे लिए वह क्षण अत्यन्त गहरा था। वे मरण से लौटकर जीवन मे आये थे और मेरी आँखो मे सुख के आँसू थे। उनकी बडी लडकी पाटू आवेश के साथ टेम्परेचर चार्ट फाड रही थी।

वे उस दिन बडे सुखी थे।

उनको फिर बुखार आ गया था। पहला स्वास्थ्य एक दिखावट थी, एक धोखा था उनको और सबको! और फिर एक लम्बी बीमारी और मृत्यु!

परन्तु उनकी मृत्यु! जीवन की इतनी सम्पूर्ण परिवर्तित रूपान्तरित चेतना की अकस्मात आवेशमय ज्वाला इतनी विचित्र, बृहत और श्मानवीय थी कि वह पूजनीय है, वन्द्य है। क्योंकि उनके मृत्यु-मार्ग से उस विचित्र महान् चेतना का महान् प्रकाश कुछ ऐसा आश्चर्य, विश्वस्त और भव्य था कि मालूम होता है उनके तन मे वहनेवाले, गतिमान जीवन ने केवल अपना पथ परिवर्तित कर दिया है, दिशान्तर कर दिया है, रूपान्तर कर लिया है। वह सतत है, चिरन्तन है। यह विश्वास—इस श्रद्धा का सागर हमारे हृदय मे भरता हुआ वह आज न होकर भी है, और अपना पथ अपनी कक्षा पर उसी तरह तै करता जा रहा है जिस तरह इलेक्ट्रोन, प्रोटोन के आसपास विद्युत वरसाता हुआ घूमता है!

[आगामी कल, खण्डवा, के मार्च-अप्रैल सयुक्ताक 1942 मे प्रकाशित। रचनावली के दूसरे सस्करण मे पहली वार सकलित]

वीरेन्द्रकुमार का 'आत्मपरिणय'

प्रकृति और आत्मा, स्त्री और पुरुष—इस स्वाभाविक द्वन्द्व का आध्यात्मिक अर्थ और उसका उद्देश्य, जिन गम्भीर मानसिक प्रक्रियाओ के द्वारा अपने आपको उद्घाटित करता है—मानवी जीवन के वे रहस्यमय, स्रोतोमय, परितृप्ति के आग्रही सत्य किस तरह एक-दूसरे मे वँटकर फिर एकत्र हो जाते हैं, एक विशाल आलिगन के गम्भीर तन्मय माधुर्य मे स्वय को पर्यवसित कर देते हैं—ऐसे ये सत्य—जीवन के अर्थ—मानव-जीवन के सत्य, किन सूक्ष्म प्रक्रियाओ के द्वारा, गति-पथो के द्वारा, अपनी परितृप्ति की ओर उन्मुख होते हैं—बाह्य को चुनौती देते हुए अपनी कोमल चेतना की अगारमय शक्ति अपने हृदय मे ढाँककर उस सतह तक पहुँच जाते हैं जिसे आध्यात्मिक कहकर हम अपने को धन्य मानते हैं, उनका चित्रण आत्मपरिणय मे हुआ है।

क्योकि वीरेन्द्रकुमार के प्रेम-पात्र केवल विवाह मे सम्बद्ध होकर अपनी प्रणयासक्ति का अन्तिम विन्दु नही देख पाते हैं, इसलिए यह सोचना सम्भव है कि वे अशक्त हैं, सामाजिक दुराग्रह से होड लेने की क्षमता उनमे नहीं है, अतएव वह हार्दिक कोमलता नपुसकता की सीमा छू आती है और कलाकार यहाँ असफल हुआ है। यह लोगो का मत हो सकता है। परन्तु जिस तरह बाहर रहकर हम आन्तरिक बातो को नही देख सकते, उसी तरह उन पात्रो के अन्दर बिना पैठे हम उनके भावो की थाह नही पा सकते। आत्मपरिणय (कहानी) की करुणा के किरण दादा, माना जा सकता है, कि एक अक्षम प्राणी हैं। परन्तु क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि इतने दिनो तक के मिलन-योग मे भी उन्हें विवाह का

ख्याल (आपडिया) तक नही आया ? हम विवाह कर सम्बद्ध हो और इस प्रकार समाज-स्वीकृत जीवन की लोहे की पेटी में अपना स्नेह-धन बन्द कर सुरक्षित रख दें—इस तरह की कोई कल्पना उनके मन में न आ सकती थी ? इतने दिनो के सहवास मे क्यो उन्होने यह न सोचा कि विवाह उनको एक कर सकता है ? फिर क्या कारण है कि वे यो रोते हैं ?

विवाह की कल्पना उनके मन मे न आ सकी। और इसका कारण हृदय की वह स्नेहाकुल अवस्था है जिसकी परितृप्ति किसी दूसरे हृदय मे घुलकर बह लेने की अवस्था से ही हो सकती है। उसकी बेचैनी, पीडा इतनी स्थूल नही है कि वह एक-दूसरे की बाहरी उपस्थिति से बुझायी जा सके। शायद वह तो उपस्थिति मे और भी वर्धमान हो विकसित हो। यह पीडा की आग सी काँपती हुई बेल हृदय के वृक्ष पर चढ ले, अपनी दूरगामी शाखाओ से उसके प्रत्येक भाग को आच्छादित कर ले। स्त्री को देखकर उत्पन्न हुए अनुराग और इस प्रेम मे बहुत अन्तर है। स्त्री के मोहमय रूप से उत्पन्न घातक अवस्था और स्नेह से आप्लुत हृदय का आग्रह, उसकी बेचैनी, पीडा, परितृप्ति—इन दो बातो मे बहुत अन्तर हो जाता है। पहला अधिक प्राणिशास्त्रीय है दूसरा अधिक आध्यात्मिक। पहला अधिक व्यक्ति निरपेक्ष है तो दूसरा अत्यन्त सघन वैयक्तिक। पहला शरीर है तो दूसरा आत्मा। आत्मपरिणय की करुणा और किरण दादा का यह स्नेह सालो के परिचय के बाद उत्पन्न स्वाभाविक सहज प्रगाढ विश्वास की रूपान्तरित स्थिति है।

स्त्री के स्नेह के ये दो रूप (1) आकर्षणमयी प्राकृतिक भूख, (2) परिशुद्ध सहज सरल मानवी हृदयो से उत्पन्न स्वाभाविक विश्वास प्रज्ज्वलित रूप प्रणय, ये श्री वीरेन्द्र कुमार की कला के दो सुदृढ अलकृत स्तम्भ हैं। ये दो रूप ऊपरी तौर पर देखने से एक दूसरे को लाँघ जाते हैं। एक दूसरे मे कुछ सादृश्य भी हो सकता है किन्तु मानवी मनो मे दोनो उत्पन्न होते हुए भी, वे सम्मिश्र होते हुए भी, वे एक ही उद्देश्य की ओर जानेवाले कभी-कभी सहकारी तत्त्व होते हुए भी, वे इतनी अलग भित्ति पर खडे है कि उनका मूल्याधार भी अलग है। नारी जीवन से जिनका सम्बन्ध अधिक गहरा आया है, और जिनको इन दो तत्त्वो के वर्गीकरण कर सकने की क्षमता और सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनको इसमे कोई चमत्कारपूर्ण विशेषता नजर नही आयेगी। ऐसे उन सब लोगो ने मुक्त कण्ठ से इस स्वरूप-निर्णय और मूल्य-निर्णय को स्वीकृत किया है। श्री वीरेन्द्रकुमार ने इसी बात को अनुभव-सत्य के रूप मे बिठाकर जीवन के ताने-बाने को बुना है, उस पर अपना रग चढाया है। परन्तु उनका रग कितना कलापूर्ण है इसकी सच्चाई उन्ही दो तत्त्वो पर आश्रित है जिनका जिक्र ऊपर किया जा चुका है।

स्त्री के यौवन का यह उभार, जो हमे प्रतिदिन आकर्षित करता है, प्रकृति [illegible] है। इस महाकर्षण के मोहमय सौन्दर्य रूप [illegible] परितृप्ति नही मिल पाती, क्योकि [illegible] सृजनशील उद्देश्य की पूर्ति नही होती है। यही कारण है कि सौन्दर्य-लालसा से व्याकुल उपभोग के अनन्तर स्त्री उद्देश्य-पूर्त होकर लौट पडती है—अपने अलग अस्तित्व के जीवन मे, मनुष्य को अकेलेपन के किनारे पराजित छोडकर। परन्तु स्नेह के अत्युच्च आत्मालिगन के

क्षण, द्वित्व मे एकत्व के भाव भरते हुए उनके स्वतन्त्र अस्तित्व के स्वतन्त्र उद्देश्य को भी अधिक बलिष्ठ और प्रकाशमान करते हैं। उनके आत्म-स्वातन्त्र्य मे—सच्चे आत्मस्वातन्त्र्य मे—कोई बाधा नहीं हो पाती। वे अपने-अपने पथो पर चल पडते हैं, अपने-अपने जीवन की दिशाओ मे। फिर भी वे एक हैं और सच्चे एकत्व की ओर उन्मुख हैं। 'कुछ अपने विचार' शीर्षक अपने एक लेख मे स्वय वीरेन्द्रकुमार ने अपने इस प्रेम-दर्शन को यो व्यक्त किया है—

"प्रेम दो आत्माओ के बीच की वह परम निर्मल पारदर्शी, अभेद्य कांच की खिडकी है, जिसका कांच उन्ही दो आत्माओ की मूलभूत ज्ञान-ज्योति है, जिसमे मे एक आत्मा दूसरी को देख सकती है, पूर्णत पहचान सकती है, पर उस कांच को भेदकर वे एक दूसरे मे प्रवेश नही कर सकती, तब वे लौटकर अपने ही मे आत्मस्थ हो जाती हैं। अज्ञान और मोह की सारी विकलता वहां मिट जाती है। उस प्रेम की खिडकी से उन्हे विश्व का समस्त सौन्दर्य एक साथ आलोकित, सुप्राप्त है। जब तक इस पारदर्शिनी खिडकी तक पहुँचकर हम नहीं लौटेंगे, तब तक हम एक दूसरे को सुलभ सुप्राप्त नही हैं।"

उपरोक्त इन दो तत्त्वो मे दोनो का स्वतन्त्र मूल्य है, इससे इन्कार नही किया जा सकता, परन्तु उनमे आत्मिक, बाधाहीन स्नेह का मूल्य हमेशा ही अधिक ठहरेगा क्योकि उसी के द्वारा मनुष्य को आत्म-प्रतीति होती है, मनुष्य के जीवन की उद्देश्य-पूर्ति होती है। पहले मे प्राकृतिक उद्देश्य है। इसको अधिक स्पष्ट करें, तो कह सकते हैं एक को योगात्मक, दूसरे को भोगात्मक! इस भोगात्मक रूप का चित्रण नारी की वह व्याकुल आलिगनमयी प्यास—वह उसकी यौवन-पूर्णता का अज्ञात प्रदर्शन, जिसका एकमात्र उद्देश्य जीवन के रक्त को आवेगमय कर उसकी संवेदनाओ मे खोते हुए प्रकृति के उद्देश्य को पूर्ण करना—इसकी सहित कल्पना—'महानारी' के रूप मे वीरेन्द्रकुमार ने की है। 'शीशा-महल की रानी' इस कल्पना (कर्मस्थान) को चित्रित करती है।

दूसरा आधार जो योगात्मक, अधिक मूलग्राही एकत्वोन्मुख, आत्मपूर्तिशील है, जिसका मूल्य हमेशा पहले से अधिक ऊँचा और सार्वभौमिक है, आत्मपरिणय कहानी मे अभिव्यक्त हुआ है, जिसमे कलाकार ने जीवन की सर्वोच्च भूमिका को बहुत मार्मिक अनुभूति के साथ चित्रित किया है। अतएव इस कहानी में करुणा और किरण दादा मे भौतिक विवाह का प्रश्न उठ खडा ही नहीं होता। प्रश्न उठ खड़ा होता है उस हृदय की मांग का जो करुणा में किरण दादा हमेशा करुणा को देते रहे, परन्तु उस क्षण अनजाने ही स्थूल नैतिकता की बाधा मानकर उन्होंने उस स्वातन्त्र्यपूर्ण प्रवाहशील तत्त्व को दबाकर उसके मिलने में इन्कार कर दिया। बस! इसी का करुणा के मन पर कितना आघात! करुणा ने बाहरी अधिकार नही मांगा—कभी नही मांगा। परन्तु किरण दादा का यह मिलने मे इन्कार उसे खा गया। और अन्त मे विदा होते समय स्वर आँसुओं मे डूब चला। वह किरण के पैरों पर गिर पड़ी। और उन्हें बाँहों मे भर अत्यन्त प्रगाढता मे छाती से लगा लिया। राशि-राशि अश्रु-धाराएँ उन चरणो का प्रक्षालन करने लगीं। करुणा के 'दादा' देख सके तो देखें कि उनके 'देवता' उसे लेने आए हैं।।।

किरण विदेह अमूर्त होकर आँसुओं मे पिघल गया। केवल दो आत्माएँ चिर आलिगनाबद्ध वहाँ शेष थीं, और उनके बीच अनन्त-अकूल आँसू-सागर लहरा

जिक सम्बन्ध (जिनके बीच मे व्यक्ति आघात-प्रत्याघात पाता रहता है)—दोनो उसे अधिक आत्मचेतन बना देते हैं, क्योकि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य उसे अपने विकास-पथ पर चले चलने का आग्रह करता है, और उलझन-भरे सामाजिक सम्बन्ध, जिनमें उसका जीवन पलता आया है, उसे अनेको प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से बाधा डालते हैं, या पूर्ण तृप्ति नहीं देते। पूँजीवादी समाज-रचना ही ऐसी है कि जिसमे व्यक्ति का समाज से सुसगत सामजस्य पाया नही जाता। अतएव व्यक्ति की सर्वश्रेष्ठ इच्छा—समाज से सम्पूर्ण तादात्म्य—कभी भी पूरी नही हो सकती। इसी कारण से कुछ स्पेंग्लर-सरीखे उग्र जातिवादी विचारक भी, जो अपने को शॉपेनहार, नीत्से और अन्य फासिस्ट विचारको के उत्तराधिकारी घोषित करते हैं, इस पूँजीवादी समाज-रचना को असभ्य, बर्बर कह देते हैं।

उपन्यास की मूल चेतना का उद्गम यही—व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामाजिक सम्बन्धो की विरोधी स्थिति है। सामन्ती और कृषि-सभ्यता-कालीन कथा-साहित्य की चेतना और परिणामत उसकी रचना, उपन्यास चेतना से बिल्कुल भिन्न है। सामन्ती और कृषि सभ्यता कालीन साहित्य मे यह द्वन्द्व आना इसलिए असभव था कि सामाजिक चेतना प्रजातन्त्रीय व्यक्ति-समानता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर आधारभूत नहीं थी।

पूँजीवादी प्रजातन्त्रीय जन-क्रान्ति एक विश्व घटना है। इस क्रान्ति को सर्वत्र फैला देने म फ्रेंच राज्य-क्रान्ति की बहुत बडी मदद हुई। यही नही, नेपोलियन स्वय इस जन-क्रान्ति के विरुद्ध नही गया। लौंग लिव दि रिपब्लिक की जगह लौंग लिव दि रिवोल्यूशन के नारे उसने लगाये। जन क्रान्ति के मूलाधार—नवीन पूँजीवादी समाज-रचना—के अनुसार ही, और उसको यूरोप की सामन्ती बाद-शाहतो के विरुद्ध हमेशा कायम रखने के लिए, उसने कानून की सृष्टि की जो सारे फ्रान्स पर कडाई से लगाये गये। नेपोलियन की प्रतिभा से निकले हुए कानून इग्लैण्ड आदि पूँजीवादी देशो ने भी अपने यहाँ के लिए स्वीकृत किये। जहाँ-जहाँ नेपोलियन ने विजय यात्रा की, वहाँ वहाँ वह नवीन समाज-रचना के क्रान्ति-बीज लेता गया। रूस और स्पेन मे वह हारा। वहाँ-वहाँ नवीन पूँजीवादी प्रजातन्त्रीय जन-क्रान्ति दकियानूसी जागीरदारान सामन्ती समाज-रचना से हार गयी।

इतनी भयानक और अदम्य शक्ति फ्रेंच राज्य क्रान्ति के तीसरे दर्जे, (थर्ड स्टेट) जिसमे व्यापारी कारीगर, मजदूर और किसान थे, का नेतृत्व नवीन उन्नतिशील व्यापारी, मध्यवर्ग का था। इसी के नेतृत्व मे व्यक्ति को सामन्ती शृखलाओं से मुक्त किया गया। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की स्थापना की गयी। व्यापार मे जो सामन्ती रोक-टोक थी उसको खत्म किया गया। सारे देश मे रास्ते और यातायात के जरिये स्थापित कर व्यापार को सुगमता और देश की एकता प्रदान की गयी। सामन्ती स्थानीयता (फ्यूडल पार्टीकुलरिज्म) के स्थान पर देश मे सुसग-ठित केन्द्रीय सरकार स्थापित की गई। राष्ट्रीयता का युग शुरू हुआ।

व्यापारी मध्यवर्ग के नेतृत्व म तीसरे दर्जे (थर्ड एस्टेट) के अन्य दल शामिल हुए, और इन सबके एकीभूत प्रयत्न से ही फ्रेंच राज्य-क्रांति सफल हो सकी।

यह जितना भी परिवर्तन हुआ, वह नेताओ की बुद्धि और जनता की शक्ति के सयोग से हुआ। वाल्टेअर और रूसो की विचारधारा ने समाज को दकिया-नूसी शृखलाओ से मुक्त किया, और उसको तीक्ष्ण तर्क दिया जिसके आधार पर

सारी विचार-प्रणाली खडी हुई। क्रान्तिकारी प्रजातन्त्रीय भावना अब दूर फैलती गयी।

पूँजीवादी समाज-रचना की स्थापना के साथ-ही-साथ कथा-साहित्य ने अपना पुराना कवच बदल दिया और वह एक नवीन शस्त्र की भाँति उपयोग मे आने लगा। वाल्टेअर की व्यग्यपूर्ण कहानियाँ और उपन्यास जलती हुई अग्नि-शिखा की भाँति चमकने लगी। फ्रेंच समाज का वह सक्रमण-काल था। परिणामत', उसके बाद ही, नवीन समाज-रचना की स्थापना के अनन्तर, शान्ति के काल मे सारी चीजो के स्थायी होने के साथ-ही-साथ उपन्यास साहित्य भी स्थायी होने लगा। नवीन, उत्साही उपन्यासकारो की टोली सगठित हुई जिसके सदस्य आगे चलकर दुनिया के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यासकारो मे से हुए। उनमे विक्टर ह्यूगो, जॉर्ज सैण्ड, बोदलिये, फ्लाबेर, गातिये और ज़ोला भी थे।

इन सबमे विक्टर ह्यूगो दलित, शोषित और तिरस्कृत जनता का प्रधान उपन्यासकार हुआ। उसका एक नाटक 'हरनैनी' जब खेला जा रहा था तब यकायक नाटकगृह मे शोर-गुल हुआ। कारण यह था कि फ्रास मे—शायद दुनिया मे भी—रगमच पर किसान, मजदूर, तिरस्कृत गठकटे, पीडित, जेबकट, नीति-हीन कैदी सर्वप्रथम आये थे। विक्टर ह्यूगो के विरुद्ध साहित्यिक मण्डली यह देखना नही चाहती थी। इस पर विक्टर ह्यूगो के समर्थको ने, जिनमे प्रधान फ्रान्स का देदीप्यमान सितारा दोदे भी था, इस शोरगुल को शान्त किया।

विक्टर ह्यूगो की मृत्यु के बाद [वह] फ्रान्स के प्रजातन्त्रीय और राष्ट्रीय जीवन का सर्वोच्च प्रतीक हुआ। उसके उपन्यासो मे पीडित जनता का जितना चमकीले रगो मे चित्रण हुआ है उतना उस काल के किसी भी उपन्यास मे नही। नोत्रदाम, लें मिज़रब्ल, नाइन्टीथ्री, लाफिगमैन इत्यादि उसकी महान मानवतावादी आत्मा की ज्वलन्त सृष्टियाँ हैं। उसके आलोचको ने उसके उपन्यासो की अतिशयोक्तिपूर्ण, अनिरजित काल्पनिक बातो पर उसे बुरी तरह कोसा है। फ्रेंच आलोचना जो अपने सौष्ठव, सुरुचि और तीक्ष्ण विश्लेषण के लिए विश्व मे प्रसिद्ध है, विक्टर ह्यूगो के भयानक चित्रणो को सहन न कर सकी। परन्तु यह भी सत्य है कि वह आलोचना परितृप्त फ्रेंच मध्यवर्ग मे उत्पन्न हुई है, जिस वर्ग की बुद्धि और आँखें इतने जलते चित्रों को देखने की आदी नही हैं।

विक्टर ह्यूगो की प्रजातन्त्रीय भावना अपने अतिरेक मे शुद्ध और ज्वलन्त मानवतावाद पर जा पहुँची। इसका कारण था ह्यूगो का अपने वर्ग से हटकर—अपने वर्ग की समस्याओं से हटकर—निम्नतम मनुष्य श्रेणी मे जा पहुँचना। यह महान सहानुभूति, वह ज्वलन्त मानवतावाद, मनुष्यता की नग्न और बीभत्स वास्तविकता की मसीहाई, विक्टर ह्यूगो की अपनी चीज है।

परन्तु फ्लाबेर जो तत्कालीन उपन्यासकारो की मण्डली का एक प्रमुख सदस्य था, अपने वर्ग से उतरकर कभी नीचे नही गया। फ्रेंच राज्य क्रान्ति की अन्तिम क्रान्तिकारी प्रतिध्वनियाँ विक्टर ह्यूगो मे प्राप्त होती हैं।

फ्लाबेर मे ह्यूगो की न तो मानसिक और न शारीरिक शक्ति (एनर्जी) थी। नवीन मध्यवर्ग ही जो पूंजीवादियो पर अपने खाने-दाने के लिए अवलम्बित था, फ्लाबेर का और अन्य उपन्यासकारो का विषय था। ज़ोला ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास नाना मे एक मध्यवर्गीय स्त्री के वेश्या-जीवन का चित्रण किया है।

नाना का वेश्या-जीवन समाज को एक चुनौती है, समाज-रचना को एक चुनौती है। फ्लाबेर का उपन्यास मादाम बोवारी भी सिर्फ मध्यवर्ग की एक समस्या बतलाता है। जॉर्ज सैण्ड के उपन्यासों में भी, जिनमें रोमांस की मात्रा काफी अधिक है, मध्यवर्गीय जीवन के अनेकों चित्र मिलते हैं। फ्लाबेर स्वयं अपने आप में एक समस्या थी। एक अराजकतावादी की भाँति तत्कालीन समाज के विरुद्ध (या ज्यादा सही तौर पर अपने वर्ग के विरुद्ध) इनके साहित्यिक प्रत्याघात होते थे। परन्तु इसको नष्ट करने की इच्छा इनमें बलवती नहीं थी। बालज़ाक अपनी काल्पनिक भव्यता और अनातोल फ्रान्स अपने शंकावाद में झूलते रहे। फ्लाबेर के यथार्थवाद के पीछे कोई यथार्थवादी सुलझाव नहीं था, वह चीज़ों को पेश करने का तरीका मात्र था। साहित्यिक आभिजात्य क्लासीसिज़्म का रूपान्तर फ्लाबेर के सौलेबों में हुआ। अनातोल फ्रान्स की समस्याएँ उस मध्यवर्ग की समस्याएँ हैं जिसने वैज्ञानिक युग में अपने प्राचीन विश्वास खो दिया है परन्तु उसके प्रति भावनात्मक नैकट्य अब भी कायम है। थाया इसी मानसिक द्वन्द्व का प्रतीक है। फ्लाबेर घोर यथार्थवादी होने के बाद भी व्यक्तिवादी था। इसलिए उसका यथार्थवाद उसे एक बढ़िया मनोवैज्ञानिक बना देता है।

ऐसे व्यक्तिवादी यथार्थवाद में भाग्यवाद (फ़ेटेलिज़्म) आ ही जाता है। कारण यह है कि कलाकार स्वयं इन असामंजस्यों, असंगतियों, विरोधी स्थितियों, दुराचारों और गम्भीर दोषों का मूल स्रोत नहीं पहचानता। ज़ोला के यथार्थवाद में फ्लाबेर से कम अनैकट्य है। फ्लाबेर जितने निर्मम और कठोर रूप से वास्तव को रखता है उतना ज़ोला नहीं। दूसरे ज़ोला का कैनवास फ्लाबेर से ज्यादा व्यापक है और उसमें मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की समता में सामाजिक तत्त्व भी है। इसलिए वह सामाजिक चित्रण अधिक व्यापक रूप में कर सका। फ्लाबेर एक निर्दोष शैलीकार था, और ज़ोला उससे अत्यन्त प्रभावित था परन्तु वह फ्लाबेर से अधिक स्वस्थ है। फ्लाबेर का दूसरा शिष्य मापामा स्त्री के मनोवैज्ञानिक चित्रण और फ्रेंच नैतिक-जीवन के चित्रण में सिद्ध-हस्त था।

[illegible]

ने चालाकी से मध्य-आफ्रिका में कांगो ले लिया था। इंग्लैंड ने हिन्दुस्तान पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। डच जहाज़ों बेड़े पूर्वी द्वीपों पर कब्ज़ा किये हुए थे। अमरीका ने फिलिपाइन्स पर आँखें गड़ा ली थीं। फ्रान्स और इंग्लैण्ड के व्यापारिक संघर्ष जगह-जगह पर हो रहे थे। प्रत्येक देश अपना-अपना साम्राज्य और शक्ति बढ़ाने में लगे हुए थे। उपनिवेशों के शोषण और पराजित देशों पर ज़ुल्मों से जो धन देश में आता था उससे वहाँ के पूँजीवादी अरबों और खरबों का हिसाब जोड़ते थे। इसी सर्वोच्च वर्ग पर अपने सुख के लिए अवलम्बित मध्यवर्ग भी अमन-चैन में था।

इसी सुख-शान्तिमय मध्यवर्ग में फ्रान्स के ये उपन्यासकार उत्पन्न हुए। परिणामतः, आर्थिक संघर्ष इन्हें कभी नहीं करना पड़ा। एक अनातोल फ्रांस को

छोड़कर जिसके पास सृजनशील कल्पना अधिक थी, बाकी सभी उपन्यासकारों के सम्मुख 'स्त्री' एक समस्या थी। उसके अनेकों मनोवैज्ञानिक पहलुओं का उद्घाटन करना एक साहित्यिक रिवाज हो गया था, जिसमें मोपासा नम्बर मार ले गया। मध्यवर्ग के यथार्थ चित्रण में मध्यवर्ग की स्त्री अनेकों इच्छा-भावना-कल्पनाओं का प्रतिनिधित्व उपन्यासकार करता था। फ्रान्स का यह उपन्यास-युग दुनिया में सर्वोत्तम कहा जा सकता है।

इंग्लैण्ड में पूँजीवाद के बलिष्ठ विकास में नवीन मध्यवर्ग की उन्नति के साथ ही-साथ रोमाण्टिक कथा साहित्य का जन्म हुआ। बायरन के प्रखर व्यंग्य-काव्य के अस्त्र के द्वारा काव्य-क्षेत्र में, निर्वासित स्कॉट ने ऐतिहासिक उपन्यास को, जिसमें उसकी रोमाण्टिक कल्पना और कथा तत्त्व का सुन्दर समन्वय हुआ है, बहुत आगे बढ़ाया, जिसके कारण वह बायरन के समान ही यूरोप-भर में प्रसिद्ध हो गया।

परन्तु उन्हीं दिनों, उद्योग-धन्धों की उन्नति के साथ-साथ प्रजातन्त्रीय भावना भी बढ़ रही थी। सहसा लोगों की दृष्टि जनता की ओर, समाज-जीवन और व्यक्ति-जीवन की ओर बढ़ने लगी। जेन ऑस्टेन ने जमींदारवर्गीय मध्यम श्रेणी के अनेकों चित्र खींचे। अपनी शान्त, यथार्थवादी, वस्तु-प्रधान शैली के द्वारा मध्यम वर्ग के रीति रिवाज, और व्यक्तियों के टाइप्स का अच्छा अध्ययन किया। वह एक अंग्रेजी यथार्थवाद था (जिसमें फ्रेंच यथार्थवाद की-सी काव्यहीनता जिसका उदाहरण फ्लाबेर की मादाम बोवारी है, बिलकुल नहीं है) जिसमें धरती, फूल और वातावरण की सुगन्ध थी। जेन ऑस्टेन के चित्र ग्राम-वातावरण में पनपने-वाले मध्यम वर्ग के हैं। उसकी शैली में सौन्दर्य, विनोद और वास्तविकता है।

गाँवों के इस मध्यम वर्ग से हटकर, जिनके जीवन में शुष्कता थी ही नहीं; डिकेन्स ने शहरों में रहनेवाले निम्न मध्यवर्गीय जनों का बहुत अच्छा चित्र खींचा। उसकी भावना एकदम मानवतावादी, प्रजातन्त्रीय करुणा से ओत-प्रोत है। अपने सहानुभूतिमय विनोद के द्वारा जिन्दगी के काले-से काले चित्रों का वह आसानी से खींचता चला गया। विक्टर ह्यूगो अपनी क्रान्तिकारी प्रजातन्त्रीय भावनाओं में स्वयं आत्म-चेतन था। दूसरे उसके चित्रों में निम्नवर्गीय जनता का प्रक्षुब्ध चित्रण था, उसके पीछे फ्रेंच राज्यक्रान्ति की आत्म-शक्ति थी। विक्टर ह्यूगो के चित्र प्रक्षुब्ध, घोर और काले हैं। डिकेन्स का इंग्लैण्ड एक सुधारवादी इंग्लैण्ड था। सामन्तवाद का नाश एक गृह-युद्ध से ही आरम्भ हो गया था और अनाज-क़ानूनों तथा छोटे-छोटे सुधारों के द्वारा पूँजीवाद निर्विरोध रूप से अपना आसन विस्तृत करता चला था। इसी प्रजातन्त्रीय सुधारवादी काल में डिकेन्स ने निराशान्धकार पूर्ण जीवन के चित्र खींचे। परिणामतः उसमें मध्यमवर्गीय प्रजा-तन्त्रीय भावना के दृष्टिकोण से उन-उन बातों के सुधारों पर ही जोर अधिक था। यही कारण है कि अन्त में डिकेन्स प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग के गिरोह में शामिल हो गया।

यहाँ हम जॉर्ज ईलियट को भूल नहीं सकते, जिसने मध्यम वर्ग का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। अन्त में हार्डी ने भी उसी मध्यम वर्ग के दृष्टिकोण से मध्यम वर्ग के खाके खींचे। उसकी शैली एकदम यथार्थवादी और काव्यपूर्ण है। भाग्यवाद, करुणा, और यथार्थ का मध्यमवर्गीय चित्रण बहुत बढ़िया हुआ है।

मेरेडिथ ने मध्यमवर्गीय व्यक्ति-जीवन के अनेकों मनोवैज्ञानिक पहलुओं को दार्शनिक दृष्टिकोण से देखा। उसका अहवादी नामक उपन्यास बहुत अधिक प्रसिद्ध है।

विक्टोरियन युग के अन्त के साथ ही-साथ मध्य वर्ग का अवनति काल शुरू हो गया। इस काल मे सब दुनिया के मध्य वर्ग की यही स्थिति हो गयी। साम्राज्यवाद के विकास के साथ ही-साथ प्रत्येक पूँजीवादी देश मे एकाधिकार-पूँजीवाद (मोनोपॉली कैपिटलिज्म) अपना आसन जमा बैठा, जिससे मुद्रा वितरण का क्षेत्र सिकुडने लगा जिससे मध्यम वर्ग को बहुत हानि पहुँची।

यहाँ फ्रेंच और अग्रेजी कथा-साहित्य की तुलना कर लेना आवश्यक है। अग्रेजी मध्यम-वर्गीय चित्रण मे अन्यायो और अत्याचारों, शोषणो और दूसरे सामाजिक असामजस्यो का इतना घोर विरोध और चित्रण नही हुआ, जितना फ्रेंच कथा-साहित्य मे। अग्रेजी पूँजीवाद को अपना विकास करने के लिए उतनी कठिनाइयाँ झेलनी न पडी जितनी फ्रेंच पूँजीवाद को। परिणामत, मध्यम वर्ग भी आराम से अपना विकास करता जा रहा था। विक्टोरियन युग के अन्त के पहले जितना भी कथा साहित्य उत्पन्न हुआ उसमे अग्रेजी मध्यम वर्ग का— उसके कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन का—सिर्फ चित्रण है। सामाजिक अन्यायो, असामजस्यो, परस्पर विरोधो का जितना ज्वलन्त चित्रण फ्रेंच साहित्य मे पाया जाता है उतना अग्रेजी कथा साहित्य मे नही।

विक्टोरियन युग की समाप्ति के साथ-साथ विश्व-पूँजीवाद अपने ही आत्म-विरोधों की भँवर मे फँसकर अवनति की ओर चला गया। मध्यवर्ग की जो निश्चिन्त और सुरक्षित स्थिति थी, वह धीरे-धीरे अरक्षित और अवनतिपूर्ण होती हुई चली गयी। पसिफिक और अटलाटिक मे, विशेषकर एशिया मे, अमरीकी और अग्रजी पूँजीवाद की जबरदस्त कशमकश हुई। यूरोपीय महाद्वीप मे फ्रान्स और इग्लैण्ड की अनवरत स्पर्धा के साथ ही-साथ जर्मन और इतालवी पूँजीवाद और तमाम यूरोप की नवीन पूँजीवादी प्रजातन्त्रीय चेतना न पूँजीवादियो के परस्पर विरोधों को और भी तीक्ष्ण और भयकर कर दिया। इसका सबसे बडा सबूत अफ्रीका महाद्वीप पर इग्लैण्ड, फ्रान्स, बेलजियम, जमनी, इटली की कूटनैतिक कशमकश है, जिसका पर्यवसान एल्जेसिरास, कान्फ्रेंस म हुआ, और एल्जेसिरास कान्फ्रेंस का ऐतिहासिक निर्णय पहले विश्व-युद्ध म हुआ।

[आगामी कल, खण्डवा के मई-जून-जुलाई, 1944 अको म प्रकाशित। रचनावली के दूसरे सस्करण म पहली बार सकलित]

धरती : एक समीक्षा

मुझे कहने दीजिए कि **धरती** [त्रिलोचन का काव्य-सग्रह] के गीतो का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है, जिनसे मात्र काव्य सामर्थ्य ही नही प्रकट होता, वरन्

जीवन के विस्तृत दायरे के विभिन्न भागों का काव्यात्मक आकलन करने की क्षमता भी प्रकट होती है। यही कारण है कि जब कवि ने, एक ओर, अनेक सफल प्रयोग किये हैं, तो दूसरी ओर, उसने परम्परागत छन्दों और शैली का सहारा लेकर उस शैली को अपनी निजी मौलिकता भी प्रदान की है। और, इस द्विविध सफलता के लिए कवि बधाई का पात्र है।

कवि की अपनी अनुभूतियाँ बहुत संयम के साथ प्रकट होती हैं। उसमें चीख-पुकार या अट्टहास का आलोडन नहीं है। न वह चीज है जिसे आप अतृप्त वासना कह सकते हैं। इन सब दोषों से मुक्त, विचारों और भावनाओं से आलोकित, काव्य मिलना कठिन होता है। साथ ही कवि की प्रगतिशीलता अट्टहासपूर्ण आन्तरिक क्षति-पूर्ति के रूप में नहीं आयी है, वरन् कवि के अपने जीवन संघर्ष से मँज-घिसकर तैयार हुई है। इसीलिए कवि कह उठा :

मुझमें जीवन की लय जागी
मैं धरती का हूँ अनुरागी,
जड़ीभूत करती थी मुझको
वह सम्पूर्ण निराशा त्यागी

सारी कविताओं में कवि का गहरा आत्मविश्वास और सामाजिक लक्ष्य के प्रति ईमानदारी प्रकट होती है। यह मात्र ईमानदारी ही नहीं, प्रत्युत् उसका जीवन-दर्शन है। उससे जहाँ थोड़ा-सा भी स्खलन होता है, उसे अपने प्रति क्षोभ होता है और वह कहता है :

पथ पर धूल उड़ा करती है
वह भी आखिर कुछ करती है
पर मैं—मेरे मन, तुम बोलो—क्या करता हूँ
क्या मेरा जीवन जीवन है
और नहीं तो तत्त्व मुक्त हैं
वे विराट में प्रभा-युक्त है
मेरे पाँचों तत्त्व लजाओ मैं मरता हूँ
क्या मेरा जीवन जीवन है।

कवि में नैतिक सचाई बहुत प्रबल होने के कारण ही वह सामाजिक लक्ष्य के प्रति उन्मुख है। बहुत काफी लोगों का खयाल है कि नैतिक सचाई से अनुप्रेरित कविता में काव्य कम होता है और कोरा उपदेश अधिक। परन्तु इस विचार में कोई सार नहीं है। कवि ने डायडैक्टिक काव्य के कई अपने उदाहरण रखे हैं, जो शुद्ध काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट चीजें हैं। इसी नैतिक भावना के कारण ही कवि अधिक मानवीय हो गया है। यह मानवीय गुण ही उसके समाजवादी ध्येय और तद्गत काव्य के उद्गम का मूल कारण है।

संघर्षकालीन कवि का व्यक्तित्व साधारण रूप से एकांगी नहीं रह पाता। जीवन की कठोर वास्तविकताएँ बरबस उसे अपनी ओर खींचती हैं। संघर्ष के कारण चेतना विकसित होती है, जिसकी सहायता से वह विपरीत वास्तविकताओं से जूझकर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

ये वास्तविकताएँ और उनके प्रति मानसिक प्रतिक्रियाएँ अब तक काव्य का विषय बन न सकी थीं। परन्तु जब वे कवि के जीवन की अवश्यम्भावनाएँ बन बैठीं,

तो वे काव्य का विषय क्यों न बनती ? यही 'प्रायोगिक' काव्य का मूल उद्गम और प्रेरणा है। कवि का प्रायोगिक काव्य सफल हो या असफल, वह कवि की प्रसरणशील और विकासशील चेतना का चिह्न तो है ही।

आइए, हम कवि के मनोलोक में घुसकर उसके काव्य के विविध पहलुओं का आकलन करने की चेष्टा करें।

धरती पढ़ जाने पर मालूम होता है कि उसके संघर्ष-भाग को निकाल देने पर जो भी काव्य बचता है वह लँगड़ा है, यानी अगर मस्तिष्क और हृदय को नहीं काट दिया गया है तो चरण और भुजाओं को तो अवश्य उच्छिन्न कर डाला गया है। इसीलिए सबसे पहले मैं उस संघर्ष को ही लूँगा। इस संघर्ष की वास्तविकता उसके मन में इतनी गहरी गयी है कि न वह प्रलयवादी रोमैण्टिक स्वप्नों में डूबता है, और न किसी समझौते की भावना से परिचालित हो आदर्शवादी तलैया को अपना समुद्र समझता है। वह संघर्ष इतना यथार्थ है कि उसमें सफलता के लिए धीर गम्भीर व्यक्तित्व की आवश्यकता है, जिसकी परिकल्पना की कसौटी पर वह अपने व्यक्ति को कसना चाहता है, और अपने मन को उसके बारे में उपदेश दिया करता है, समझाता रहता है। इस समझाने के भी उसके अनेक मूड्स हैं। पर एक बात निर्विकार रूप से अपनी रहती है। वह है उसकी नैतिकता-मूलक धारा (डायडैक्टिक स्ट्रेन), जो उसकी सब संघर्ष-सम्बन्धी कविताओं में प्रधान है। इसीलिए वह कहता है

जिनका कदम कदम जीवन की जय-यात्रा का प्रिय प्रतीक है
मैं सगर्व सोल्लास निरन्तर उन लोगों का गुण गाता हूँ।

अथवा

स्नेह-नम्र यह तरु की छाया
तुमने जिसके नीचे बस कर
रात बितायी स्वप्न सजाया
स्वप्नों को चरितार्थ करो अब।

अथवा

जिस समाज में तुम रहते हो
यदि तुम उसकी एक शक्ति हो
उसकी ललकारों में से ललकार एक हो
उसकी अमित भुजाओं में दो भुजा तुम्हारी
चरणों में दो चरण तुम्हारे
आँखों में दो आँख तुम्हारी
तो निश्चय समाज जीवन के तुम प्रतीक हो।

अथवा

सूनापन हो
या निर्जन हो
पथ पुकारता है
गत स्वन हो

पथिक,

चरण-ध्वनि से
दो उत्तर

पथ पर
चलते रहो निरन्तर

इसी से सम्बद्ध वे कविताएँ भी हैं जो उसने मज़दूर-किसानों पर लिखी हैं। ये उद्घोषक कविताएँ हैं और डायडैक्टिव श्रेणी में ही आती हैं। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि इतनी वास्तविक खरी डायडैक्टिक भावना अपने असली रूप में अन्य कवियों में बहुत ही कम मिलेगी। किसानों पर जब वह लिखने लगता है तो वह नीति-प्रधान भाव-स्थिति से उठकर गीति-प्रधान भाव-स्थिति में पहुँच जाता है। जैसे—

उठ किसान ओ, उठ किसान ओ,
बादल घिर आये हैं
तेरे हरे-भरे सावन के
साथी ये आये हैं।
... ...
यह सन्देशा लेकर आयी
सरस मधुर शीतल पुरवाई
तेरे लिए, अकेले तेरे
लिए, कहाँ से चलकर आयी
फिर वे परदेशी पाहुन, सुन,
तेरे घर आये हैं।

जिस भाव से कवि कहता है—

भीतर में जितनी साँसें बाहर आती हैं
वे अपने शक्तिपूर्ण अस्तित्व को ही
उद्घोषित करती हैं

उसी भाव से सम्बन्धित यह भी है—

तन-गिरि में निर्झर-मन
स्वर में संगीत से
सहाय पा गया
अब मैं
राह पा गया
अब मैं।

इसीलिए—

छाती पर पड़ा हुआ अन्धकार का पहाड़ उतर गया
और यह प्रभात हुआ
कंचन बरसाता हुआ सुन्दर प्रभात हुआ।

जीवन के इस पराजयहीन अनुरागपूर्ण, आत्मनिर्भर, तेजोपूरित भाग के प्रतीक-प्रभाव का कवि के मन से अंतरंगी सम्बन्ध है, और प्रकृति के उल्लास-चित्रों

के प्रति प्राकृतिक मोह। यथा—

लहर-लहर परिचय-पराग-पूर्ण
दृश्य-दृश्य अनुरंजित ज्योति-चूर्ण
... ...
खिला यह दिन का कमल
सुन्दर सहस्र दल
अन्धकार कारा से दृग छूटे
दृश्य-देश विचरण को खुल टूटे।

और—

धूप सुन्दर
धूप में जगरूप सुन्दर
सहज सुन्दर।

अथवा—

रूप मे स्वर मे
सुवर्ण तरंग आयी
प्राप्त गति मे प्रीति
जीवन मे मधुर आसक्ति आयी
ढल गया दिन धूप शीतल हो गयी।

और रात—

चाँदनी चर्चित
परम प्रार्थित
समर्पित
स्नेह-सी यह रात
स्तब्ध नीरव रात।

संघर्ष के उपदेशशील कवि से विपरीत, अत्यन्त गीतात्मक काव्य के रचयिता के रूप मे यहाँ लेखक आता है।

प्रकृति उसके मन म एक बाह्य वास्तविकता के रूप में है, मन की इमेज के रूप मे नहीं। वह उस वास्तविकता के चित्रात्मक रूप पर मुग्ध है, परन्तु उसका अन्तर्मुख चित्रात्मक अंकन नहीं करता। उसे देखकर अपने मन मे उमड़े भावो को प्रधानता देता है। इसके बहुत जगह अपवाद भी है। परन्तु प्रधान रूप मे यही बात विद्यमान है। उदाहरणत —

बढ रही क्षण क्षण शिखाएँ
दमकते से अब पेड-पल्लव
उठ पडा देखो विहग-रव
गये सोते जाग
बादलो मे लग गयी है आग दिन की।

अथवा—

पेडो के पल्लव से ऊपर
उठता धीरे धीरे ऊपर
अन्धकार-चन्द्रिका-स्नात

तरुओ पर जैसे पारा
रेखा-प्राय धूम्र घर-घर से
नील-नील नभ चला नगर से
लहराता तरु ऊपर छाता ।
उसके ऊपर तारा ।

और—

बीस क़दम पर उन पेडो को खडे निहारा
जो प्रकाश मे
सहज समीरण की किरणो से खेल रहे थे
देखो, उनकी श्यामल हरियाली मे
हलके धुएँ की तरह
कुहरा
किरणो से परास्त हो
छिपकर रहने का उद्योग अथक करता था
ऐसा लगता था कि
सुविस्तृत आसमान का
नीला-नीला रग छूटकर
पेडो के पत्तो-पत्तो मे
गिरते-गिरते उलझ गया है।

परन्तु प्रकृति कवि के मूड्स की आधार-भूमि भी है—

आज की शाम आयी
आयी और चली गयी
शाम आयी, चली गयी
चारो ओर चिन्ताएँ
चित्र अगणित
सारे रग खो गये
अँधेरा एक रहा शेष
... ...
अगर मन खुला होता
नयन खोजते राह
... ...
बढते अँधेरे मे
एकान्त आज डूब गया
दिन की तरग औ'
उमग सब खो गयी
आज की शाम आयी
आयी और चली गयी ।

अथवा—

वह निशा चली गयी
जो अब तक

रग-रग के सपने देती रही
उड़ो विहग
जिन किरणों ने
कोमल स्पर्श से
तुमको अपना प्रिय परिचय दिया
उनको अब अपना लो
उड़ो विहग—
... ...
दिया,
यह तुम्हारी
सहधर्मिणी है
लक्ष्मी है।
स्वागत कर उसका सम्मान करो
उड़ो विहग—

जिस भव्य भावना का कवि ने अन्तिम पंक्तियों में परिचय कराया है वह अन्यत्र दुर्लभ है, इसमें सन्देह नहीं। वह कवि के अपने व्यक्तित्व से नि सृत है।

नि सगता, रिक्तता आदि की भावनाएँ छायावादी कवियों म बहुधा पायी जाती हैं। परन्तु जिस उत्तमता से अपनी यथार्थ भावनाओं को इस कवि ने रखा है, वह देखिए

आज मैं अकेला हूँ
अकेले रहा नहीं जाता
रहा नहीं जाता।

जीवन मिला है यह
रतन मिला है यह
धूल में
कि
फूल मे
मिला है
तो
मिला है यह
मोल-तोल इसका
अकेले कहा नहीं जाता।
सुख आये दुख आये
दिन आये रात आये
फूल मे
कि
धूल मे
आये
जैसे

जब आये
सुख दुख एक भी
अकेले सहा नही जाता

चरण हैं चलता हूँ
चलता हूँ चलता हूँ
फूल मे
कि
धूल मे
चलता
मन
चलता हूँ
ओखी धार दिन की
अकेले वहा नही जाता ।

ऐसे कितने ही पद्य उदाहरण रूप मे दिये जा सकते हैं। चाहता हूँ कि पाठक उसे स्वय ही पढ़ें। परन्तु फिर भी कुछ बातें विस्तार से कह देना आवश्यक है। उनमे से एक यह है कि कवि सघर्ष कर रहा है। उस सघर्ष को केवल व्यक्तिगत सत्य ही नही, सामाजिक वास्तविकता मानकर उसके प्रति बहुत ईमानदार रहना चाहता है: न अपने सुख की, न अपने दु ख की भावनाओ को, अतिरेकपूर्ण व्यजना दे रहा है, मात्र चाहता है गति, क्योंकि उसे डर है—

पत्ते केवल पतझर आने पर ही नही झरा करते हैं
जीवन का रस जभी सूख जाता है तभी बिना कुछ झिझके
बिना मुहूर्त-प्रतीक्षा के ही झर जाते हैं
इस जीवन का मोल बहुत है मोल कूतना सहज नही है
फिर भी इस जीवन की दुनिया मे अपमान हुआ करता है
इतना जिसका पार नही है ।

इसलिए वह कह उठता है .

अभी तुम्हारी शक्ति शेप है
अभी तुम्हारी सांस शेप है
अभी तुम्हारा कार्य शेप है
मत अलसाओ
मत चुप बैठो
तुम्हे पुकार रहा है कोई

ऐसी ही प्रकृति के मनुष्यो को—

खुले हुए अगो को सहलाकर
अपनी प्रभा से नव प्रकाश भर
बालिका-सी सरदी की धूप यह
तन मन को ताज़ा कर देती है
नीम वांम पीपल लहटोरे के
पेड हरे निर्मल पत्तो वाले

खड़े-खड़े बरसों का प्यार भरे
मुझको अविराम चँवर करते हैं
इतना-सा प्यार यह दुलार यह
पाता हूँ प्रतिदिन मैं बिना कहे बिना सुने
किसी का आभार भी बिना माने
पाता हूँ जैसे पुरस्कार यह ।

इसी संघर्ष के माध्यम से विश्वास पाने के कारण प्रकृति के प्रति उसका दुःख, आत्मरत निबिड़ भावनाओं का न रहकर, अधिक स्वस्थ और आसक्तिपूर्ण हो गया है, जिसके कारण आत्मानुराग के अभिशापों का स्वर नहीं, प्रत्युत अधिक व्यापक मानवीयता का वरद कर उसे प्राप्त है। इस वस्तून्मुख, वाह्यापेक्षी, आत्मोत्सर्गमयी प्रवृत्ति के कारण उसकी भावनाएँ उदार और भव्य हो गयी हैं।

इसी संघर्ष ने उसकी चेतना को मात्र विकसित ही नहीं किया है, उसे प्रसरणशील भी बनाया और जीवन के विविध अंगों को समझने की शक्ति भी दी है। इस वैविध्य के प्रति संघर्षात्मक प्रसरणशील अनुरक्ति ने उसके मन को वस्तून्मुख और बुद्धि-प्रधान भी कर दिया है। इसके कारण ही उसके काव्य में बेचैनी और विह्वलता नहीं है, बल्कि एक विशेष प्रकार की तटस्थता है। हिन्दी की उत्तेजना-प्रिय रुचि को कदाचित् यह अच्छा न लगे, परन्तु ज़रा ध्यान से पढ़ने पर अभिव्यक्ति के पीछे किसी गहराई का अन्दाज़ा हो जाता है, क्योंकि कवि उसी भावना के मनोविज्ञान से लिखता जा रहा है।

यह उत्तेजना-प्रियता ही एक प्रकार की सेंटिमेंटैलिटी को उत्पन्न करती है, जिसमें भावना की गहराई, उसकी मन्थर निश्चयपूर्ण गति न रहकर, मात्र क्षण-स्थायी उभाड़ रहता है। कवि त्रिलोचन में इस सेंटिमेंटैलिटी का लेश भी नहीं है, और न हमेशा इमजेज़ के सहारे चलने की गहरी प्रवृत्ति, जो हमें गिरिजाकुमार माथुर में मिलती है। उसके जीवन में अन्तर्मुखता की ओर ले जानेवाला फ्रस्ट्रेशन कम है। संघर्ष उसे आत्म-ध्वंस की ओर नहीं ले जाता, वरन् निर्माण की ओर ही प्रवृत्त करता है। वही उसे बाह्योन्मुख भी बनाता है। यह फ्रस्ट्रेशन न होने के कारण कुछ अन्य भी है, जो यहाँ महत्त्वपूर्ण नहीं है। पर इतना सही है कि उससे उसका व्यक्तित्व अन्य इसी श्रेणी के कवियों की अपेक्षा अधिक सरल हो गया है।

केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र, आदि नये उठते हुए कवियों में त्रिलोचन का स्थान महत्त्वपूर्ण है, भाव की दृष्टि से और टेकनीक की दृष्टि से। भवानीप्रसाद मिश्र की भावनाओं में जो भव्य व्यापक औदार्य है, और जो गद्य का टेकनीक है, वह त्रिलोचन में भी है, परन्तु अधिक सधे हुए और सँवारे हुए रूप में। शायद इस तटस्थता का कारण कवि पर निराला का प्रभाव हो। भवानीप्रसाद में इतनी तटस्थता न होने के कारण बहुत अच्छे प्रकार से आरम्भ हुई कविता भी अन्त में शिथिल हो जाती है, कभी-कभी। पर त्रिलोचन टेकनीक के प्रति सचेतन अधिक हैं। मैं यह नहीं कहता कि उनके काव्य में शिथिल पंक्तियाँ नहीं हैं। पर सूक्ष्मता यत्र-तत्र प्रत्येक कविता में बिखरी पड़ी है, और यही वह चीज़ है जिसमें बड़ी बड़ी सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं।

प्राच्य क्लासीकल स्ट्रेन और पाश्चात्य प्रोज़ टेकनीक का वे समन्वय किया

चाहते हैं। उसका प्रथम चरण ही धरती का काव्य है, हम केवल इतना कह सकते हैं। साथ ही साथ एक बात यह भी सही है कि भाषा के सुपरिष्कृत रूप और स्वर की गीतात्मकता के पीछे जो गीतात्मक भाव है, वह बुद्धिद्वारा काफी अनुशासित है। यह भी कदाचित् निरालाजी की ही एक विशेषता है, जो त्रिलोचन मे भी मिलती है। परन्तु यह बुद्धि-वृत्ति उनके काव्य को नही बिगाडती, केवल उन्हें इस श्रेणी के कवियो से कुछ भिन्न कर देती है। इसको सयम और अनुशासन भी कह सकते हैं। और इसके दो बहुत बडे लाभ भी हैं एक तो यह, कि जीवन की समग्रता के प्रति कवि की नित्य दृष्टि रहती है; दूसरे, उस भावना मे एक प्रकार की मूक आलोचक दृष्टि भी मिली रहती है। आज के युग का यह एक अनिवार्य सत्य है कि हम उस भावनात्मकता को चरम नही समझते, बल्कि उसे, जो इन क्षणो से बना हुआ वास्तविक जीवन है। अत हमारी भावना *उस क्षण की सीमा मे* रहकर भी अपने आलोचक को खो नही देती, और स्वय के प्रति रहनेवाले आग्रह को यदि पूर्णरूप से खो नही देती तो ढाक जरूर लेती है। इसी आलोचक भावना के कारण यदि हमने छायावादी अतिरेक खो दिया है तो जीवन के ढँक हुए भाग को खोलने का प्रयास भी कर रहे हैं, और शैली-भेद उत्पन्न कर चुके हैं। उसी का एक रूप है मनोवैज्ञानिक काव्य, जो त्रिलोचन मे प्रमुखता से है। उदाहरणत —

जब जिस छन मैं
हारा, हारा, हारा
मैंने तुम्हें पुकारा
तुम आये
मुसकाये
पूछा—
कमज़ोरी है ?

बोला—नहीं, नहीं है
किसने तुमस कहा कि मुझको कमजोरी ?

तुम सुनकर
मुसकाये
मुझको रहे देखते
मुझको मिला सहारा
जब जिस छन मैं
हारा, हारा, हारा ।

अथवा—

सन्ध्या के मौन म
स्वर
दिवाचर के निशाचर के
स्थलचर के जलचर क नभचर के
एक पल को जा समाये
सन्ध्या के मौन मे स्वर

खो गये भय-चेतना-स्वर नयन का रूप धरकर
खो गये
सन्ध्या के मौन मे स्वर
सबने अपना-अपना दिन देखा
एक-एक चित्र एक एक रेखा
सबने देखा समझा फिर देखा
फिर स्थल पर
अवनत शिर
पथ पर प्रति अक देखते हुए
जन जन ने आगामी कल का सौन्दर्य देखा
मन-मन मे क्षण-क्षण की रूप कल्पना करके पहुँचे घर
खो गये सन्ध्या के मौन में स्वर ।

इस प्रकार का काव्य मन-ही मन पढकर रसोत्पादन होता रहता है । कारण यह कि अनुभूति-समानता के आधार पर ही इसका आन्तरिक महत्त्व समझा जा सकता है, अन्यथा नही । और बगैर इस तटस्थता के इस पद्धति का काव्य निर्मित ही नही हो सकता है ।

इस प्रकार के काव्य मे भी त्रिलोचन निराशा और दु ख की कालिमा से दूर हैं। उनकी सक्षिप्त शैली पाठक की कल्पना को उकसाकर उसे अपने समीप ले आती है ।

त्रिलोचन हारना नही चाहते । हारते भी है तो काव्य मे फौरन उसे मानकर (बातचीत मे बिल्कुल ही नही मानते) जय-पथ पर चल देते हैं। इसीलिए कहते हैं :

आज का यह तिमिर करता शक्ति दान
समझने मानव लगा है शक्ति ज्ञान
स्वत्व, जीवन, प्रगति, सामजस्य, मान

हो चला सघर्ष इससे जगत्—
का अधिवास !
छा गये बादल, छिपे तारे, ढँका आकाश
कहाँ शेष प्रकाश !

इसीलिए कवि जन जीवन की ओर अधिक अग्रसर होता है। 'तारको से ज्योति चलकर भूमितल पर आ रही है' वाली कविता तथा किसानो के जीवन का चित्रण इसी के उदाहरण हैं ।

धरती के गीतो मे काव्य-सौन्दर्य सर्वत्र निखर उठा है। जहाँ कवि कहता है—

चाहता हूँ जय,
पराजय की कल्पना मे
होता है भय ।
चाहता हूँ जय
मुझे अभी रूप चाहिए
अभी रग चाहिए
अभी मुझे

आँखो का अर्थ जान पडता है
अभी कहाँ मुझे शान्ति मिली ।

वही यह भी सच है कि—

भस्मावृत लूकी-सा
मैं इस अन्धकार मे
पडा हुआ हूँ
अपनी चेतनता की ज्वाला
परिसीमित,
उठकर।

वही उसे कहना पडता है—

अन्धकार मे देख रहा हूँ
जीवन की बनती रेखाएँ
आयें बाधाएँ सब आयें
पर न मिटेंगी किसी काल मे
ये बनने वाली रेखाएँ।

इसका उसे विश्वास है। इस लेख मे मैंने धरती का परिचय देने की ही कोशिश की है। छद्म काव्य का सम्पूर्ण अभाव जिसमें हो, उसे ही तो मौलिक ईमानदारी कहना चाहिए। मेरा विश्वास है कि धरती का हिन्दी मे उचित आदर होगा। पुस्तक मे प्रेस की भूलें बहुत अधिक हैं। जगह-जगह अशुद्धियाँ हैं।

[हंस, जुलाई 1946 मे प्रकाशित]

सुभद्राजी की सफलता का रहस्य

आधुनिक हिन्दी-काव्य के प्रथम भावोल्लास के काल मे जिन कवि-वाणियो ने जनता को उत्स्फूर्त किया, उसे प्रेम और देशभक्ति के आवेग और आह्लाद मे सराबोर कर दिया, उनमे स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वे दिन जिन्हें याद हैं, राष्ट्रीय आन्दोलन के यौवन का नवीन स्पर्श जिन्हें याद है, साहित्यिक भावोल्लास की नव-नवीन लहरियो का वह आत्मविश्वासपूर्ण सुनहरा प्रभात जिन्हें याद है, वे बतला सकते हैं कि सुभद्राजी के काव्य मे अनूठापन कहाँ है, किस स्थान पर है, और क्यो है।

उनके चमत्कार-वर्जित काव्य मे वह मौलिकता उत्पन्न हुई, वह रस-ग्राहिणी और रस प्रदायिनी शक्ति उत्पन्न हुई, जिसके द्वारा उनके साहित्य के माध्यम से युग का, और युग के माध्यम से उनके साहित्य का, अध्ययन सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

सुभद्राजी के साहित्य मे जो स्वाभाविक प्रवाहमयी सरलता है—जो अहेतुक

गम्भीर मुद्रा का सदवता-सा लगनेवाला अभाव है—उसका कारण है जीवन के उस मौलिक उद्वेग का योग, जिसने समाज में भिन्न-भिन्न रूप धारण किये। राष्ट्रीय आन्दोलन उसका एक रूप था, उसकी एक अभिव्यक्ति थी। स्त्रियों की स्वाधीनता का प्रश्न उसका दूसरा रूप, दलित जातियों का उत्थान तीसरा।

व्यक्ति के धरातल पर आकर इन्हीं रूपों ने देशभक्ति, वीरोत्साह, विश्व-मानवता के प्रति आस्था के साथ मनुष्य-मनुष्य के परस्पर वास्तविक सम्बन्धों, अर्थात् उसके व्यक्तिगत जीवन के प्रधान भावों को सगम करा दिया, और इस प्रकार मानव-चेतना को एक ऐसे लोक के सिंहद्वार के सम्मुख उपस्थित कर दिया जिसको खोलने के उपरान्त मनुष्य अपने जीवन को स्पृहणीय परिस्थितियों में देखे और आँकेगा।

इस सिंहद्वार को धक्का देता हुआ अभी भी अपार जन-यूथ खड़ा हुआ है। परन्तु उस प्रयत्न को प्रारम्भ करनेवाले, उस प्रयत्न के उल्लास को काव्य का रूप देनेवाले, और उस काव्य को उष्माभरी मानवीय गन्ध में बोर देनेवाले, जो कवि-कार्यकर्ता हुए, उनका स्मरण, उनके प्रयत्नों का अध्ययन, और उनके महत्त्व का मूर्तीकरण, अपने-आपमें एक प्रेरणामय उदात्त कर्म है।

यह नि:सन्देह और नि:संकोच कहा जा सकता है कि सुभद्राजी के साहित्य में अपने युग के मूल उद्वेग, उसके भिन्न-भिन्न रूप, अपनी आभरणहीन प्रकृत शैली में प्रकट हुए हैं। यह एक विशेष और भिन्न प्रश्न है कि उनके काव्य-रूप कहाँ तक सफल हुए हैं, जिसके बारे में आगे विचार किया जायेगा।

राष्ट्रीय चेतना की विस्तारशील परिधि के अन्दर पनपनेवाली आत्म-चेतना के जो मनोहर बिम्ब हमें आधुनिक हिन्दी-काव्य में दिखायी देते हैं, वे आज भी हमारे गौरव का विषय हैं। इस काव्य-साहित्य में सुभद्राजी का साहित्य, अपनी भाव-पद्धति और शैली की विशेषताओं के कारण, पृथक् और विशेष स्थान रखता है।

आधुनिक हिन्दी काव्य में छायावाद की सघनताओं से अभ्यस्त पाठक, सूक्ष्म रोमैण्टिक रहस्यात्मक भावच्छायाओं तथा रंगीन निबिड लोकों का निरीक्षण करते हुए, कवि के व्यक्तित्व की भी कल्पना कर लिया करता है। बिना इस व्यक्तित्व-कल्पना के उस कवि की कविताओं का यथेष्ट आनन्द उसे प्राप्त होना असम्भव भी है, यद्यपि कवि के व्यक्तित्व की कल्पना पहले नहीं आती, कविताओं पर मनन की लम्बी प्रक्रिया के उपरान्त वह धीरे-धीरे मन में विकसित होने लगती है।

सुभद्राजी के साहित्य तथा छायावादी साहित्य की तुलना करने पर छायावादी व्यक्तित्व तथा एक दूसरे प्रकार के व्यक्तित्व के बिम्ब हमारी आँखों में तैरने लगते हैं। छायावादी व्यक्तित्व एक विशेष प्रकार की भाव-सघनता लेकर हमारे सामने उपस्थित हुआ। उसका साधारण मनोलोक असाधारण रूप से अन्तर्मुख तथा सर्व साधारण से बहुत दूर जा पड़ा। जिस पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन की परिधि में उसके भाव-विचार बने, वे अपने विषय के लिए उस परिधि की ओर नहीं गये, वरन् उससे बहुत दूर और अत्यन्त मानसिक हो गये। वस्तु भी मानसिक हुई और उस पर प्रतिक्रिया भी मानसिक हुई। इस

मानसिक वस्तु को बाह्य सन्दर्भों से, जहाँ तक बन सका, दूर रखा गया। इस प्रकार उसे वायवीय स्थिति प्रदान की गयी।

इसके विरुद्ध, सुभद्राजी के काव्य-विषय के मूल तत्त्व, अपने प्रकृत रूप में, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय जीवन से लिये गये, जिसके द्वारा उनका रूप-निर्माण हुआ था। सुभद्राजी इस पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय जीवन-परिधि से अधिक परिचित, निकट और उसके प्रति अधिक ईमानदार रही। छायावादियों के कुछ निजी गिने-चुने काव्य-विषय थे जो कि एक विशेष अर्थ में उनकी सीमा भी निर्धारित कर देते थे। वह कवियों का बन्दीगृह भी हो गया था। वे वैविध्य-मय जीवन-क्षेत्र में मानवीय संवेदनशीलता का इतिहास प्रस्तुत न कर पाते थे। वह काव्य कुछ स्थायी भाव-रूपों से इतना आक्रान्त था कि वस्तु-जगत् के प्रति होनेवाली संवेदनात्मक मानसिक प्रतिक्रियाओं को—जो कवियों के मन में भी होती ही थी—काव्य-विषय बन जाने के लिए उपयुक्त सन्तोषजनक महत्त्व प्रदान नहीं कर सकता था।

परन्तु साम्राज्यवाद के अन्तर्गत रहनेवाले भारत में परिवर्तनों का ताँता-सा बँध गया था। उन परिवर्तनों के आघात-प्रत्याघात के कारण जीवन, अपनी सारी कटुताओं के बावजूद, अधिक भाव-सम्पन्न, आदर्श-सम्पन्न हो गया था। जनता के संघर्ष के कारण, उसकी अग्नि-प्रोज्ज्वल चेतना के कारण, जो एक नवीन वातावरण तैयार हो गया था, उसने नवीन मानव-सम्बन्धों को उभारकर, एक स्थायी आवश्यकता की पूर्ति के रूप में आदर्शोज्ज्वल बनाते हुए, उन्हें दुर्निवार महत्त्व प्रदान किया था।

जीवन-संघर्ष में भाग लेनेवाली स्त्री ने (जिसने जन-संघर्ष में भी भाग लिया) अपने पति को सखा के रूप में पाया—अथवा, पाने का आग्रह करने लगी। नवीन परिस्थिति में नवीन मानव-सम्बन्धों की ऊर्जस्वलता और माधुर्य का अनुभव करनेवाले जनों का काव्य ऐकान्तिक न रहकर अधिक मूर्त्त, अधिक सरल, और जन-साधारण-मूलक मानवीय हो गया। उसके काव्य-विषय शुद्ध मानसिक वस्तु, शुद्ध भाव-रूप, नहीं रहे। पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय जीवन-क्षेत्र की स्थिति-परिस्थिति पर, और उससे प्रभावित-परिवर्तित होनेवाले मानव-सम्बन्धों पर, संवेदनात्मक मानसिक प्रतिक्रिया-प्रत्याघात के रूप में वे प्रतिफलित हुए।

घटनाओं और मानव-सम्बन्धों के आघात-प्रत्याघात के इस भँवर में भाव-लहरियों की गति भी मिली हुई थी। भाव-लहरियों की यह गति जिन्होंने ग्रहण की, वे प्रत्यक्ष के अधिक निकट और अधिक मानवीय जनतान्त्रिक हुए।

छायावादी कवि, पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय जीवन से आक्रान्त होते हुए भी, उसे अपना न सके—उसके अन्दर छिपे हुए मानव-सम्बन्धों को वे काव्य-

अभाव की पूर्ति होती है।

जनसंघर्ष में भाग लेनेवाली स्त्री-कवि का संवेदनात्मक जीवन, पारिवारिक-

सामाजिक-राष्ट्रीय परिस्थिति के अन्तर्गत, विविध मानव सम्बन्धो की अनुभूति और उस पर आश्रित विविध भावो का जीवन है। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम आत्मविश्वासपूर्ण उद्रेक स प्रेरित होकर, उन्होने देशभक्ति के उल्लास म, आत्मोत्सर्ग के उत्साह म, अपने जीवन को एक विशेष प्रकार से व्यवस्थित और विकसित किया।

राष्ट्रीय जागरण की स्वर्ण किरणो से जिनका जीवन पुलकित हो उठा था, ऐसे अनेक परिवारो म से सुभद्राजी का भी एक परिवार था। सुभद्राजी के काव्य को हम उनकी पारिवारिकता से अलग नही कर सकते। इस पारिवारिकता ने ही उनके काव्य मे एक विशेष प्रकार की ऋजुता और समीपता का गुण उत्पन्न किया, उसे अधिक मूर्त्तता प्रदान की। उदाहरणत, एक कविता

बहुत दिनो तक हुई प्रतीक्षा,
अब रूखा व्यवहार न हो,
अजी, बोल तो लिया करो तुम
चाहे मुझ पर प्यार न हो।
जरा-जरा-सी बातो पर,
मत रूठो मेरे अभिमानी,
लो, प्रसन्न हो जाओ, गलती
मैंने अपनी ही मानी।
मैं भूलो की भरी पिटारी,
और दया के तुम आगार,
सदा दिखायी दो तुम हँसते,
चाहे मुझसे करो न प्यार।

उपरिलिखित गीत एक निराली चीज है। भारतीय साहित्य मे प्रणय गीतो का बाहुल्य है। 'उन्मद मदन मनोरथ' से लगाकर 'प्राण, तुम लघु-लघु गात' तक, इसके भी पहले स और इसके बाद तक भी, प्रणयगीत हमारे साहित्य म कामुक भाव-भगी के प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न दोनो रूपो मे अवतरित हुए हैं। छायावादी लेखनी द्वारा भी वे अतृप्त काम के चित्र हो उठे। रहस्यात्मक चित्रो, सकेतो, प्रतीको ने प्रत्यक्ष मानव सम्बन्ध को दबा दिया।

हिन्दी साहित्य मे कदाचित् पहली बार प्रणय के मानव-सम्बन्ध को उसकी उचित भूमिका-प्रसग मे रखकर देखा गया है। ऊपर उद्धृत कविता मे यदि प्रसग की भूमिका और उसके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाले एक विशेष मानव सम्बन्ध को न दिखाया गया होता, तो यह कविता अपने इस रूप मे न दिखायी दी होती। साथ ही, पारिवारिक जीवन के माधुर्य का चित्र भी उपस्थित न हो पाता।

मनुष्य-मनुष्य के बीच परस्पर मधुर सम्बन्ध कुछ विशेष प्रसगो की भूमिका मे अधिक उभरते हैं। उनका काव्य के माध्यम से आकलन कवि का एक प्रधान धर्म है। कदाचित् सुभद्राजी को छोडकर और किसी ने इस दिशा मे अधिक प्रयास नही किया (मैथिलीशरण गुप्त को छोडकर)। इससे यह भी सिद्ध होता है कि हमारा छायावादी कवि, जो पूर्ण मानव-सम्बन्धो से बनी हुई मानवता है उससे बहुत दूर जा पडा है। यह उस युग की एक बहुत शोचनीय सीमा है। क्या कारण है कि किसी भी आधुनिक कवि के प्रणय गीतो म गार्हस्थिकता का सन्दर्भ और

पारिवारिकता की भूमिका नहीं रही ?

इसी प्रणय-भाव की वास्तविकता का दूसरा नमूना देखिए

तुम मुझसे पूछते हो जाऊँ,
मैं क्या जवाब दूँ, तुम्हीं कहो,
'जा ' कहते रुकती है जबान
किस मुंह से तुमसे कहूँ 'रहो'।

सेवा करना था जहाँ मुझे,
कुछ भक्ति भाव दरसाना था,
उन कृपा कटाक्षों का बदला,
बलि होकर जहाँ चुकाना था।

मैं सदा रूठती ही आयी,
प्रिय, मैंने तुम्हें न पहचाना,
वह मान बाण सा चुभता है,
अब देख तुम्हारा यह जाना।

एक कवि का आदर करते हुए दूसरे कवि का अनादर करना ठीक न होगा। एक काव्य-शैली को प्रधानता देते हुए दूसरी काव्य शैली की सीमाएँ उभारना भी वांछनीय नहीं है। परन्तु फिर भी यह कहना ही पड़ता है कि जीवन के साक्षात् विविध प्रसंगों की भूमिकाओं और उसके सन्दर्भों का त्याग आखिर क्यों ? क्या काव्य की यूनिवर्सल अपील इससे खत्म होती है ? इतने बड़े हिन्दी काव्य-साहित्य में माँ के ऊपर, पिता के ऊपर, भाई के ऊपर, एक भी कविता देखने में नहीं आती —राखी के प्रसंग में बहन अथवा भाई पर लिखी गयी कुछ कविताओं को छोड़कर।

इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे कवियों का जीवन अनुभव-सम्पन्न और भाव सम्पन्न होते हुए भी, उनकी आत्मबद्ध पिपासाओं ने अभिव्यक्ति के क्षेत्र से उन अनुभवों को हटा दिया। जीवन के असंख्य वास्तविक भावानुभवों को काव्योचित महत्त्व नहीं दिया गया, और उन्हें काव्य रूप प्रदान नहीं किया। आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य की एकरसता में सुभद्राजी की झंकार एक नवीन दृश्य उपस्थित करती है। उनकी कविता से सहज मैत्री का बोध, सामीप्य का भाव, उत्पन्न होता है। हृदय स्नेहमय सामीप्यपूर्ण वातावरण में साँस लेने लगता है।

इसका एक साधारण नमूना नीचे दिया जाता है :

मुझे कहा कविता लिखने को,
लिखने बैठी मैं तत्काल,
पहले लिखा जालियाँवाला,
कहा कि बस हो गया निहाल।
तुम्हें और कुछ नहीं सूझता,
ले-देकर वह सूनी बाग़,
रोने से अब क्या होना है,
धुल न सकेगा उसका दाग़!

भूल उसे जब हँसे मस्त हो,
मैंने कहा—धरो कुछ धीर,
तुमको हँसते देख कहीं फिर,
फायर करे न डायर वीर!

इस कविता की सारी स्पिरिट, सारी आत्मा, एक प्रसग मे है। ऊपर-ऊपर से वह एक तुकबन्दी-सी मालूम होती है। काव्य-शब्दावली का जैसे बहिष्कार-सा है। फिर भी कविता एक मधुर मानव सम्बन्ध को एक विशेष प्रसग की भूमिका मे प्रकट करती है। ऐसा जहाँ-जहाँ हुआ है, सुभद्राजी का काव्य मधुर और वास्तविक हो गया है।

एक विशेष सामाजिक और राष्ट्रीय परिस्थिति की परिधि मे अभिव्यक्त हो उठनेवाले मानव-सम्बन्धो का बडा ही हृदयग्राही अकन सुभद्राजी के काव्य मे हुआ है। यथा—

देखो भैया, भेज रही हूँ,
तुमको—तुमको राखी आज,
साखी राजस्थान बनाकर,
रख लेना राखी की लाज।
हाथ कॉपता, हृदय धडकता,
है मेरी भारी आवाज,
अब भी चौंकाता है जलियाँ—
वाले का वह गोलन्दाज!
बहनें कई सिसकती हैं हा,
सिसक न उनकी मिट पायी,
लाज गँवायी, गाली पायी,
तिस पर गोली भी खायी।
डर है कही न मार्शल-ला का,
फिर से पड जावे घेरा,
ऐसे समय द्रौपदी-जैसा,
कृष्ण सहारा है तेरा।
बोलो, सोच समझकर बोलो,
क्या राखी बँधवाओगे?
भीर पड़ेगी, क्या तुम रक्षा
करने दौडे आओगे?
यदि हाँ, तो यह लो मेरी,
इस राखी को स्वीकार करो,
आकर भैया, बहन 'सुभद्रा'—
के कष्टो का भार हरो।

[illegible]

करते हुए वे उनके द्वारा उसकी विवेक-चेतना को सुषुप्त नही करती, वरन् उसे

जाग्रत करके एक आदर्श की ओर उन्मुख कर देती हैं। यह आदर्श सामाजिक-राष्ट्रीय है। अपनी प्रसिद्ध कविता 'राखी की चुनौती' में वे कहती है .

आते हो भाई, पुन पूछती हूँ ··
कि माता के बन्धन की है लाज तुमको ?
—तो बन्दी बनो, देखो बन्धन है कैसा
चुनौती यह राखी की है आज तुमको।

उनका यह आदर्श बहुत सीधा-सादा है पर महान् गम्भीर है। *अत्यन्त उदात्त* है। केवल आत्मोत्सर्ग का कार्य है। प्रतीक-विधान है, किन्तु वह रहस्य का प्रतीक-विधान नहीं। देवता है, मन्दिर है, पुजारी है। परन्तु काव्य का यह विषय-क्षेत्र कोई रहस्य-क्षेत्र नही, मानव-सम्बन्धों का क्षेत्र है, जिसका दूसरा नाम है जगत्। उनकी अत्यन्त सुन्दर कविता 'मातृमन्दिर' में म अवतरण देने का मोह सवरण *नहीं किया जा सकता :*

वीणा बज उठी, खुल गये नेत्र,
और कुछ आया ध्यान,
मुडने की थी देर, दिख पडा,
उत्सव का प्यारा सामान।
जिसको तुतला-तुतला करके,
शुरू किया, था पहली बार,
जिस प्यारी वोली में हमको,
मिला हमारी माँ का प्यार,
है उसका ही समारोह यह,
उसका ही उत्सव प्यारा;
मैं आश्चर्य भरी आँखो से,
देख रही हूँ यह सारा।

इस हिन्दी भाषा का आदर्श क्या होगा ? कवि के ही शब्दो मे—

असहयोग पर मिट जाना,
यह जीवन तेरा होगा,
हम होंगे स्वाधीन, विश्व का,
वैभव-धन तेरा होगा।
तू होगी व्यवहार देश के
बिछुड़े हृदय मिलाने मे,
तू होगी अधिकार देश भर
को स्वातन्त्र्य दिलाने मे।

और इसी मातृमन्दिर के लिए कवि व्यथित है :

व्यथित है मेरा हृदय प्रदेश
चलूँ उसको वहलाऊँ आज,
बताकर अपना सुख दुख उसे
हृदय का भार हटाऊँ आज।
चलूँ माँ के पद-पकज पकड,
नयन जल मे नहलाऊँ आज;

मातृमन्दिर मे—मैने कहा—
चलूँ दर्शन कर आऊँ आज।

और एक साथी लेखक की मृत्यु पर लिखी ये पंक्तियाँ कितनी सरल भावुकता से भरी हैं

देव ! वे कुजें उजडी पडी
और वह कोकिल उड ही गयी,
हटाई हमने लाखो बार,
किन्तु वे घडियाँ जुड ही गयी !

सुभद्राजी की भावुकता कोरी भावुकता नही है, बाह्य जीवन पर सवेदनात्मक मानसिक प्रतिक्रियाएँ है। यही कारण है कि उनकी कविताओ म भाव मानव-सम्बन्ध से, मानव-सम्बन्ध विशेष परिस्थिति स, विशेष परिस्थिति सामाजिक-राष्ट्रीय परिस्थिति से, एक अटूट सम्बन्ध-शृखला मे बँधी हुई है। भाव क सारे सन्दर्भों का निर्वाह उनके काव्य म हो जाता है। इसस उनकी वास्तविक भाव-सम्पन्नता का, सवेदनशीलता का, चित्र हमारे सामने खिच जाता है।

अपने जीवन की सवेदनशीलता के इतिहास के प्रति चेतन मनुष्य यह स्वीकारेगा कि स्वस्थ साधारण मनुष्य की यही चेतना-शैली है। इससे सुभद्राजी की प्रगतिशीलता का, बाह्य परिस्थितिपर सवेदनात्मक प्रतिक्रिया करने की उनकी शक्ति का, व्यावहारिक सामाजिक जगत् म रहनेवाले मनुष्य—जिसमे प्रत्येक मनुष्य रहता है, छायावादी कवि स्वय रहता है—के भाव-चरित्र का, पता चल जाता है। अत इसमे बडी सफलता क्या हो सकती है कि कोई कवि वास्तविक सवेदनशील मनुष्यता की तसवीर उतारे, अथवा अपनी शक्ति के अनुसार अपने स्वय के भाव-जीवन द्वारा उसका प्रतिनिधित्व करे? सुभद्राजी की सरल भाव-मयी शैली की यह सुन्दरता है।

जिस प्रकार उन्होने एक प्रणयिनी की भाति यह कहा कि—

लगे आने, हृदय धन से—
कहा मैंने कि मत आओ,
कही हो प्रेम म पागल,
न पथ म ही मचल जाओ।
कठिन है मार्ग, मुझको
मजिलें व पार करनी हैं,
उमगो की तरगें बढ पडें—
शायद फिसल जाओ।
तुम्हे कुछ चोट आ जाये,
कही लाचार लौटूँ मैं,
हठीले प्यार से व्रत भग
की घडियाँ निकट लाओ।

उसी प्रकार उन्होने आदर्श भारतीय नारी की भाँति कहा—

पूजा और पुजापा प्रभुवर,
इसी भिखारिन को समझो,

दान-दक्षिणा और निछावर,
इसी भिखारिन को समझो।

किन्तु प्रणय भाव, दाम्पत्य भाव, भाव-जीवन का एक अग मात्र है। वह सम्पूर्ण जीवन कभी नही हो सकता। भाई है, बहन है, परिवार है, समाज है, राष्ट्र है। एक सक्रान्ति काल है। सबको कर्त्तव्य करना है। प्रणयभाव यदि अन्ध नही है तो उसे सारे भावो को जगह देनी चाहिए। स्वय उनकी कविताएँ देखिए। किसी भाई के प्रति—

कृष्ण मन्दिर मे प्यारे बन्धु,
पधारो निर्भयता के साथ,
तुम्हारे मस्तक पर हो सदा,
कृष्ण का वह शुभचिन्तक हाथ।
तुम्हारी दृढता से जग पडे,
देश का सोया हुआ समाज,
तुम्हारी भव्यमूर्ति स मिले,
शक्ति वह विकट त्याग की आज।

अथवा राखी के अवसर पर—

वहिन आज फूली समाती न मन मे,
तडित् आज फूली समाती न घन मे।

इन मानव-सम्बन्धो को सुभद्राजी ने एक राष्ट्रीय परिस्थिति के अन्दर ही देखा है, अत उनका प्रेम अपने आलम्बन को कर्तव्य की ओर ही प्रेरित करता है। यह कर्तव्य वह महान् राष्ट्रीय कार्य है जिससे भारत एक स्वतन्त्र और महान् देश होगा। वे अपने पति, भाई, बहन, स्त्रियों आदि सबको इसी ओर प्रेरित करती हैं। उनके प्रति सुभद्राजी का प्रेम उन लोगो को लगातार उस राष्ट्रीय आदर्श की ओर झोकता है मानो उस स्नेह सम्बन्ध का साफल्य, बिना उस राष्ट्रीय आदर्श की पूर्ति के, असम्भव-सा है।

कुछ विशेष अर्थों मे सुभद्राजी का राष्ट्रीय कार्य हिन्दी मे बेजोड है। क्योकि उन्होंने उस राष्ट्रीय आदर्श को जीवन मे समाया हुआ देखा है, उसकी प्रवृत्ति अपने अन्त करण मे पायी है, अत वह अपने समस्त जीवन-सम्बन्धो को उसी प्रवृत्ति की प्रधानता पर आश्रित कर देती हैं, उन जीवन-सम्बन्धों को उस प्रवृत्ति के प्रकाश से चमका देती है। यही उनके राष्ट्रीय काव्य की सबसे बडाई, ऊँचाई और सफलता है। उनका राष्ट्रीय काव्य मात्र प्रलयवादी वृथा-भावुकता पर आश्रित नही है। वह जीवन के प्रधान कर्तव्य की अभिव्यक्ति के रूप म हमारे सामने आता है। वह कर्तव्य की अभिव्यक्ति भावुकता से भरी हुई है। उस कर्तव्य को जीवन के सन्दर्भों से हटाकर अमूर्त्त रूप मे नही रखा गया बल्कि उसे वास्तविक स्थितियो मे मिलाकर प्रत्यक्ष कर दिया गया है। यथा—

गिरफ्तार होनेवाले हैं,
आता है वारण्ट अभी।
धक्-सा हुआ हृदय, मैं सहमी,
हुए विकल आशक सभी।

किन्तु सामने दीख पडे—
मुसकुरा रहे थे खडे-खडे;
रुके नही आँखो से आँसू,
सहसा टपके बडे-बडे।
'पगली, यो ही दूर करेगी
माता का यह रौरव कष्ट ?'
रुका वेग भावो का, दीखा
अहा, मुझे यह गौरव स्पष्ट।
तिलक, लाजपत, गाधीजी भी,
बन्दी कितनी बार हुए,
जेल गये, जनता ने पूजा,
सकट मे अवतार हुए।
मैं पुलकित हो उठी यहाँ भी,
आज गिरफ्तारी होगी,
फिर जी धडका, क्या भैया की,
सचमुच तैयारी होगी।
सदियो सोयी हुई वीरता
जागी, मै भी वीर बनी,
जाओ भैया, विदा तुम्हे
करती हूँ मैं गम्भीर बनी।
याद भूल जाना मेरी उस
आँसूवाली मुद्रा की,
कर लो अब स्वीकार बधाई,
छोटी बहिन सुभद्रा की।

[illegible] कविताओ मे से नही है, [illegible] को किस प्रकार, किन [illegible] नकी 'झाँसी की रानी' कविता इतनी प्रसिद्ध है कि उसके उद्धरणो की यहाँ कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती। 'जलियाँवाला बाग मे वसन्त' उनकी राष्ट्रीय भावुकता का प्रमाण है। 'यहाँ कोकिला नही, काक है शोर मचाते' से आरम्भ होकर यह कविता वसन्त के प्रति कुछ अप्रतिम उद्गारो को प्रकट करती है

लाना सँग मे पुष्प, न हो वे अधिक सजीले,
हो सुगन्ध भी मन्द, ओस से कुछ-कुछ गीले।
किन्तु न तुम उपहार भाव आकर दरसाना,
स्मृति मे पूजा हेतु यहाँ थोडे बिखराना।
कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खाकर,
कलियाँ उनके लिए गिराना थोडी लाकर।
आशाओ से भरे हृदय भी छिन्न हुए है,
अपने प्रिय परिवार देश से भिन्न हुए हैं।

कुछ कलियाँ अधखिली यहाँ इसलिए चढ़ाना,
करके उनकी याद अश्रु की ओस बहाना।
तड़प-तड़पकर वृद्ध मरे है गोली खाकर,
शुष्क पुष्प कुछ वहाँ गिरा देना तुम जाकर।
यह सब करना, किन्तु बहुत धीरे से आना,
यह है शोक-स्थान यहा मत शोर मचाना।

हिन्दी मे प्रलय-गीतो की कमी नही है। ओज और प्रवाह ही को काव्य-तत्त्व माननेवाले आलोचको को कदाचित् उन कविताओ का शोर-गुल ही उनका प्राण मालूम होगा। उनमे की जो अच्छी कविताएँ है, उनमे नाश स्वप्नो का अन्तर्मुख वर्णन है। सुभद्राजी की राष्ट्रीय कविताओ म न तो उस प्रकार का ओज है, न कल्पना-जगत् मे शान्ति प्राप्त करनेवाली इच्छा से अनुशासित नाश-स्वप्न उनके काव्य मे दिखायी देते हैं।

राष्ट्रीय सग्राम मे सक्रिय भाग लेनेवाली कवयित्री का राष्ट्रीय काव्य जीवन-प्रसगो की भूमिका को लेते हुए मानवीय हो गया है। वह हिन्दी की वीर काव्य-परम्परा—जिसमे उत्साह, भय और ध्वस का वर्णन रहता है—का अनुगमन नही करता, न व्यक्ति के ध्वस-स्वप्नो के इच्छित विश्वासो पर ही चलता है। सुभद्राजी के राष्ट्रीय काव्य का सबसे बडा गुण है उनकी जन-साधारण मानवीयता। यही गुण उनके राष्ट्रीय काव्य को विशेषता प्रदान करता है।

उनके राष्ट्रीय काव्य मे मानवीयता की सरल ऋजु स्वाभाविकता कहाँ मे उत्पन्न हुई ? कहा जा सकता है कि उसका आधार राष्ट्रीय सग्राम के व्यक्तिगत अनुभव हैं ? यह नि सन्देह है कि जिन हिन्दी कवियो ने राष्ट्रीय सग्राम मे भाग लिया, उनका काव्य बहुत प्रौढ हुआ है, तथा उसमे बहुत गहरे भावो की अभिव्यक्ति हुई है। फिर भी सुभद्राजी का राष्ट्रीय काव्य उनसे भिन्न हो जाता है, अपने सारल्य और सीधी अभिव्यक्ति के कारण ही नही, पौरुषप्रधान ओज के अभाव अथवा किसी एक भाव के अन्तर्मुख मनन के अभाव के कारण ही नही, वरन् उस एक गुण के कारण जिसे मैंने जन-साधारण मानवीयता कहा है।

व्यक्तिगत भावो को निर्वैयक्तिकता कई प्रकार से प्रदान की जाती है। भावों को बहुत गहरे रंगो मे उभारकर रखने से भी उसकी व्यक्तिमूलक सीमाएँ टूट जाती हैं, और वह अन्य व्यक्ति द्वारा सवेद्य हो जाता है। सुभद्राजी ने ऐसा नहीं किया है। उनके काव्य की सर्वगम्यता और सहज-संवेद्यता सीधी अभिव्यक्ति के कारण ही नही है, वरन् जीवन-प्रसगो की भूमिका से किसी एक भाव-क्षण को उपस्थित करने के कारण, जीवन के वास्तविक धरातल पर भावो का प्रकट करने के कारण, उनमे वह गुण उत्पन्न हुआ जिसे हम मानवीयता कहते हैं।

अन्य राष्ट्रीय कवियो ने उन देशभक्तिपूर्ण भाव-क्षणो को जीवन-प्रसगो की वास्तविक भूमिका से विच्छिन्न कर, उन्हें एक आत्मसम्पूर्ण रूप देने का प्रयास किया। सुभद्राजी के राष्ट्रीय काव्य मे जीवन का जो ऊष्मापूर्ण सम्पर्क है, उसके द्वारा ही यह 'मानवीयता' उत्पन्न हुई।

पहले कहा जा चुका है कि जीवन के विविध वास्तविक प्रसगो मे सम्बन्धित संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ, सुभद्राजी के काव्य का मूल आधार होने के साथ-ही-साथ, उनके व्यक्तित्व की विशेषताओ पर हमारी दृष्टि ले जाती हैं। हमे ध्यान-

स्थान पर यह अनुभव होता है कि सुभद्राजी अपने भावों को एक वैक्यूम में रखकर फिर उन पर कविताएँ नहीं रचती थीं, वरन् उन ताजा संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को सहज रूप से काव्य-महत्त्व प्रदान कर उन्हें पद्य-बद्ध कर देती थीं।

जीवन के विविध भावमय प्रसंगों के प्रति संवेदनशील आत्मा ने शिशुओं के प्रति भी अपनी अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है। केवल अपने स्वयं के पुत्र-पुत्रियों पर ही नहीं, बाह्य जीवन में सम्पर्कित होनेवालों पर भी। यह विशेषकर उनकी कहानियों में प्रकट होता है। हिन्दी के आधुनिक कवियों में कदाचित् दो ही कवि हैं जिन्होंने वात्सल्य-रस की भी कविताएँ की हैं। मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा में इसके कुछ सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। उनसे कवि की भाव-विदग्धता का परिचय होता है। कवि सहज सहानुभूति और काव्य पात्र में तादात्म्य के द्वारा किन *भाव-चमत्कारों को उपस्थित कर सकता है, उसका एक नमूना वे वात्सल्य-रस की* कविताएँ हैं। परन्तु सुभद्राजी की वात्सल्य-रस की कविताएँ उनके मातृ भाव से उत्पन्न हैं। उनमें उनका मातृ-गर्व झलक उठता है। साथ ही वह निस्पृह आनन्द जो बच्चों को देखकर होता है, जो सौन्दर्य-बोध शिशु-सुलभ भोलेपन के प्रत्यक्षीकरण से होता है, सुभद्राजी की कविताओं में यथेष्ट परिमाण में प्रस्तुत है। शैशव के विविध चित्र भी बहुत स्वाभाविकता के साथ उपस्थित किये गये हैं :

> दादा ने चन्दा दिखलाया,
> नेत्र नीरयुत दमक उठे,
> धुली हुई मुसकान देखकर,
> सबके चेहरे चमक उठे।

अथवा—

> *मैं बचपन को बुला रही थी,*
> बोल उठी बिटिया मेरी,
> नन्दनवन-सी फूल उठी,
> यह छोटी-सी कुटिया मेरी।
> 'माँ ओ' कहकर बुला रही थी,
> मिट्टी खाकर आयी थी,
> कुछ मुँह में, कुछ लिये हाथ में
> मुझे खिलाने लायी थी।
> पुलक रहे थे अंग, दृगों में,
> कौतूहल था छलक रहा,
> मुँह पर थी आह्लाद लालिमा,
> विजय गर्व था झलक रहा।
> मैंने पूछा, 'यह क्या लायी?'
> बोल उठी वह, 'माँ, काओ!'
> हुआ प्रफुल्लित हृदय खुशी से,
> मैंने कहा, 'तुम्हीं खाओ।'

'बालिका का परिचय' नामक कविता गीति-भाव से भरी हुई है। [यह] सुभद्राजी की अत्यन्त सुन्दर कविताओं में है

यह मेरी गोदी की शोभा,
सुख-सुहाग की है लाली,
शाही शान भिखारिन की है,
मनोकामना मतवाली।
सुधा धार यह नीरस दिल की,
मस्ती मगन तपस्वी की,
जीवित ज्योति नष्ट नयना की,
सच्ची लगन मनस्वी की।

अथवा 'इसका रोना' नामक कविता मे

ये नन्हे से ओठ और यह,
लम्बी सी सिसकी देखो,
यह छोटा-सा गला और,
यह गहरी-सी हिचकी देखो।

जीवन के प्रति वास्तविक संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओ को काव्य-महत्त्व प्रदान कर उन्हें पद्य-बद्ध करनेवाली स्त्री कवि की संवेदनशीलता का काव्य अपनी विशेषताओ के द्वारा हिन्दी मे एक बहुत बडे अभाव की पूर्ति करता है।

प्रगतिशील आलोचको तथा लेखको के लिए सुभद्राजी के काव्य मे नवीन सामग्री है, आत्मसात् करने के लिए। विशेषकर उनकी काव्य-शैली म जीवन-प्रसगो की भूमिका तथा कुछ कविताओं के नाटकीय तत्त्व के साहित्यिक महत्त्व का आकलन आवश्यक है। साथ ही सर्वप्रधान वस्तु है, जीवन के वास्तविक धरातल पर बाह्य स्थिति परिस्थितियो से मानसिक संवेदनात्मक प्रतिक्रिया, और उसको काव्योचित महत्त्व-प्रदान का कार्य, जो हिन्दी के बहुत थोडे कवियो ने किया है। प्रगतिशीलता की दृष्टि से इसका महत्त्व जितना अनुभव किया जा रहा है, उससे कही बहुत अधिक है।

सुभद्राजी के काव्य मे भावो के बहुत गहरे रग नही हैं, पर भावो म गहराई है। स्वाभाविकता है, सरलता है। उनका काव्य-गुण जिन स्रोतो से उत्पन्न हुआ है, जिनके द्वारा यह स्वाभाविकता और सरलता काव्य-रस के अगो के रूप मे आयी है, वे स्रोत केवल शैली के गुण नही हैं, भावो मे गहरे रग भरने अथवा हलके स्ट्रोक्स देने के प्रकार पर भी वे अवलम्बित नही हैं। वे स्रोत है जीवन के प्रति संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ जो अपनी ताजगी, नवीनता और जीवन-वस्तु-सम्पर्क के
[illegible] आलोचक
[illegible] अध्ययन
[illegible]

[हंस, अप्रैल 1948 मे प्रकाशित]

साहित्य में नये जनवादी मोर्चे की आवश्यकता

यह निश्चित रूप से मानना होगा कि जिस प्रकार एक ओर जनता की नवीन उग्र शक्तियाँ, राजनैतिक वायुमण्डल में हलचल उत्पन्न करती हुई, देश को एक नये परिवर्तन की तरफ खींच रही हैं, उसी प्रकार, दूसरी ओर, गहरी राजनैतिक आत्मचेतना से युक्त होकर नये-नये क्षेत्रों की जनता और जनता में नये-नये तबके अपने भाग्य-निर्माण और जीवन-निर्माण के लिए दिन-रात छटपटा रहे हैं। इन्सानियत की जायज माँगों, तकाजों और दावों की सिफारिश और वकालत करती हुई, ये जनवादी ताकतें अन्यायपूर्ण व्यवस्थाओं के खिलाफ संघर्ष कर रही हैं। मिल मजदूर, गरीब किसान, प्राथमिक शिक्षक, जनपद द्वारा लगाये गये करों के बोझ से चूर दरिद्र ग्रामवासी, पटवारी, रिक्शा-मजदूर, गाड़ीवान, बिक्री-करों से ग्रस्त गरीब दुकानदार—आज सभी शोषण के खिलाफ न सिर्फ आवाज लगा रहे हैं, वरन् उससे मुक्ति पाने के कार्य में संलग्न दिखायी देते हैं। हमारे कस्बे और छोटे-छोटे गाँव भी इस राजनैतिक चेतना के केन्द्र बन गये हैं और प्रान्त के समाचार-पत्र इन केन्द्रों की हलचलों से भरे रहते हैं।

इन छोटे-छोटे केन्द्रों के शिक्षा प्राप्त मध्यवर्ग में, अलावा राजनैतिक कार्य के, एक दूसरे प्रकार की गतिविधि भी दृष्टिगोचर होती है। वह है साहित्यिक कार्य। यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि जिस प्रकार आज समाज में शोषक और शोषित वर्ग की विभाजन-रेखा गहरी खाई की भाँति एक-दूसरे को पृथक् करती है, उसी प्रकार शोषकों से सम्बद्ध सत्ताधारियों का वर्ग और उनके खिलाफ जनता के बीच की विभाजन रेखा हमारे छोटे-छोटे राजनैतिक केन्द्रों, यानी गाँवों और कस्बों में भी स्पष्ट हो गयी है। वहाँ भी दो प्रकार के दल हो गये हैं। एक वह, जो शोषकों से सम्बद्ध भ्रष्टाचार-पूर्ण तिकड़मी सत्ताधारी वर्ग का समर्थन करता है, दूसरा वह, जो इनके खिलाफ आवाज लगाने से लगाकर उससे मुक्ति पाने के कार्य में संलग्न रहता है।

इस पार्श्वभूमि को ध्यान में रख, हमें छोटे छोटे केन्द्रों की साहित्यिक मण्डलियों का लेखा-जोखा तैयार करना होगा। इस पार्श्वभूमि का महत्त्व और भी गहरा इसलिए हो जाता है कि अन्य हिन्दीभाषा-भाषी प्रान्तों की तुलना में यहाँ के साहित्यिक, राजनीति के न केवल अधिक समीप हैं, वरन् निन्यानवे प्रतिशत किसी-न-किसी तरह उससे सम्बद्ध भी हैं। स्पष्ट है कि जिस प्रकार समाज में दो वर्ग दिखायी देते हैं, उसी प्रकार साहित्यिकों में भी दो दल हैं। एक, जो सत्ताधारियों के समर्थक या उन समर्थकों के पिछलगुए हैं अथवा निजी व्यक्तिगत पदोन्नति के लिए उनके साथ रहते हैं, और दूसरे वे, जो इनके विरोधी अथवा विरोधियों से सहानुभूति रखते हुए जनता के अधिक समीप हैं और जनता की माँगों का समर्थन करते हैं। छोटे-छोटे केन्द्रों से लगाकर बड़े-बड़े शहरों के राजनैतिक-साहित्यिक जीवन में, ये दो दल स्पष्ट अस्पष्ट रूप से कार्य करते हुए दिखायी देते हैं।

किन्तु जनता के समर्थक साहित्यिकों में, चाहे वे गाँव के हों या शहर के—

अभी तक साहित्यिक कर्तव्य-भावना जाग्रत और ज्वलन्त नहीं हो सकी है। इसका प्रमाण है। एक व्यक्ति जो साहित्यिक भी है, राजनीतिज्ञ और सम्पादक भी, वह विरोधी दल में है। तारीफ यह कि वह नौजवान है और अपने अखबार में जनता की आवाज को बुलन्द करता है भ्रष्टाचारियों और सत्ताधारियों का पर्दाफाश करता रहता है। किन्तु यदि आप उसके साहित्य की ओर देखें तो पता चलेगा कि उसमें और उसके विरोधी साहित्यिकों के साहित्य में कोई अन्तर नहीं।

एक तथाकथित साहित्यिक पत्रकार लिखते हैं कि राजनीति कोलाहल-भरी दुनिया की चीज़ है, किन्तु साहित्य एकान्त-साधना है। किन्तु यदि ऐसा होता तो ये साहित्य सेवी गोष्ठियों में, सम्मेलनों में, मण्डलियों में और अपनी बैठक में, उठते-बैठते कविताएँ न सुनते। 'साहित्य एकान्त-साधना है', यह नारा उन लोगों का है जो साहित्य के माध्यम द्वारा समाज में जनता की आवाज के प्रसार को रोकना चाहते हैं। सत्ताधारियों के विरोधी, जनता के समर्थक साहित्यिक अभी तक उन्हीं सिद्धान्तों और घोष-वाक्यों को दुहरा रहे हैं जो शोषकों के सत्ताधारी समर्थक साहित्यिक-राजनैतिक नेता मुफ्त पायी हुई डिग्रियों से अलंकृत होकर समय-असमय दुहराया करते हैं। क्या ही आश्चर्य की बात है कि भ्रष्टाचार के खिलाफ, शोषण के खिलाफ, जनता की आवाज़ बुलन्द करनेवाले साहित्यिक लोग जगदलपुर साहित्य सम्मेलन में (भले ही अपने गुट के आधार पर विरोध प्रदर्शन करें, किन्तु वे) नये साहित्यिक नारों को लेकर वहाँ जनता की आवाज़ बुलन्द न कर सके। प्रतीत होता है, उनमें नवीन साहित्यिक प्रेरणा का अभाव है।

जो लोग, एक ओर, कुशल राजनीतिज्ञ की तरह से बोलते हैं, तो, दूसरी ओर, साहित्य को रस बरसानेवाली कोई अनुपम वस्तु कहकर, उसे 'एकान्त-साधना' के कटघरे में बन्द करते हुए, साहित्य-गोष्ठियों और मजलिसों में उसके गुप्त मर्मों का मज़ा लूटते दिखायी देते हैं, वे जाने-अनजाने न केवल अपने ऐतिहासिक युग-कर्त्तव्यों से च्युत होते हैं, न केवल स्वयं प्रतिक्रिया के जाल में फँसकर गतिहीन हो गये हैं, वरन् वे उन घोर प्रतिक्रिया [-वादियों] के हाथ मजबूत कर रहे हैं, जो एक ओर, भारतीय संस्कृति के नाम पर, राष्ट्रवाद के नाम पर, लोकोन्मुख साहित्य के विरुद्ध जनता का बहिष्कार किये बैठे हैं, तो दूसरी ओर, राजनीतिक तथा साहित्यिक शासन-स्थानों पर अधिकार करके, वर्तमान साहित्यिक गतिरोध को जन्म देकर, जीवन की गति कुण्ठित किये बैठे हैं।

उदाहरणतः, मा. मिश्रजी को लीजिए। मन्त्रीजी ने आज तक सिवाय कृष्णायन के अपनी ज़िन्दगी में एक भी कविता नहीं लिखी, किन्तु महाकाव्य लिख डाला। मिश्रजी के उपकार के बोझ से लदे हुए उनके रखैल कवियों और आलोचकों ने—जैसे, उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध अवसरवादी कवि 'अचल' और पुराने प्रतिभाहीन आलोचक विनय मोहन शर्मा ने—लम्बी-लम्बी आलोचनाएँ लिखीं। विरोधी क्षेत्रों से यह नारा उठाया गया कि वह पुस्तक मिश्र-कृत है ही नहीं। चाहिए यह था कि विरोधी आलोचकगण कृष्ण को नये जनवादी आदर्शों में न्यस्त करने के आग्रह के आधार पर, कृष्णायन के कृष्ण का पर्दाफाश करते हुए, मिश्रजी के साहित्यिक प्रतिक्रियावाद का रहस्योद्घाटन करते। किन्तु विरोधी-समुदाय तो स्वयं उन्हीं

नारो, उन्ही पुरानी प्रेरणाओ से ग्रस्त होकर जाने-अजाने साहित्य मे जनता की आवाज कुण्ठित किये बैठा है। *तुलसी के राम का आदर्श चाहे जितना ऊँचा हो,* यह हमारे युग के महाकाव्य का यदि प्रधान नायक होना चाहता है, तो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे उसे जनवादी आदर्शों से प्रेरित होना होगा। तभी वह महाकाव्य हमारे युग का प्रतिनिधि हो सकेगा। यही चीज कृष्णायन के बारे मे भी सही है। किन्तु इस प्रकार की उसकी आलोचना न हो पायी। प्रान्त के जनवादी नेता अपने साहित्य मे सच्ची जिन्दगी की तसवीर न उतारते हुए प्रेम के आध्यात्मीकरण की गलियो से पुराने छायावादी मन्दिर मे फूल-बेल चढाने जाते हैं। क्या आश्चर्य कि, एक ओर, जब हिन्दुस्तान जन विरोधी प्रतिक्रियावाद का अड्डा बन रहा है, तो दूसरी ओर, भुखमरी और अत्याचार की परछाइयो मे सँवलाये मध्यवर्ग की आध्यात्मिकता उधार किये हुए भावो के छायावादी मरुस्थल मे पथ-भ्रष्ट हो गयी है।

यह देखकर कि छोटे-छोटे *केन्द्रो मे भी साहित्य-गोष्ठियाँ स्थापित* हो रही हैं, और मात्र प्रेम-गीतो की अन्यायी बहार और दकियानूसी खयालो के जीवन-विरोधी, जन-जीवन-विरोधी उभार मे खो रही है, आवश्यकता प्रतीत होती है कि मध्यप्रदेश मे नये साहित्यिक नेतृत्व का जन्म हो।

इस प्रान्त मे मौलिक जीवनदर्शी साहित्यिक प्रतिभाओ की कमी नही है,किन्तु सही नेतृत्व और प्रेरणा के अभाव मे कोई ब्योहार राजेन्द्रसिंह की छाया मे महत्त्व-पूर्ण बनना चाहता है, तो कोई सेठ गोविन्ददास का चरण-चुम्बन करके। कोई मिश्रजी के पैर सहला रहा है, तो दूसरा पैर सहलानेवाले के हाथ दाब रहा है। गोया, हरेक साहित्यिक एक सरक्षक, एक पैट्रन, चाहता है।

परिणाम यह होता है कि साहित्यिक क्षेत्रो मे जिन लोगो के नाम प्रधान रूप से आते है (कुछ अपवादो को छोडकर), उनम से करीब-करीब सभी लोग उन्ही तथाकथित *साहित्यिक* नेताओ—जैसे, प रविशकर शुक्ल, प द्वारिकाप्रसाद मिश्र, ब्योहार राजेन्द्रसिंह, इत्यादि-इत्यादि— के पथानुयायी होते हैं। मध्यप्रदेश के साहित्यिक ह्रास का बहुत बडा कारण यह है। प्रहरी साप्ताहिक ने प्रान्त के साहित्यिको की आलोचना छापी है। उनमे से कितने जनवादी साहित्यिक हैं? सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्वय प्रहरी ने श्रेष्ठ जनवादी साहित्य (कविताएँ भी) प्रकाशित की हैं। निस्सन्देह इस नवीन परम्परा का विकास अत्यन्त आवश्यक है।

थोडा बहुत ही सही, जनवादी साहित्य-सृजन करनेवाले लोग मध्यप्रदेश मे काफी है। उनमे से प्रधान है, प भवानीप्रसाद मिश्र, प सत्यनारायण तिवारी, ज्योतिर्मय, श्री के के श्रीवास्तव, श्री रामकृष्ण श्रीवास्तव, श्र रामेश्वर गुरु, श्री गोविन्द व्यास, श्री हरिशकर परसाई, स्वामी कृष्णानन्द सोख्ता, इत्यादि। (बहुतो के नाम मुझे याद नही आ रहे हैं, क्षमा चाहता हूँ)। आवश्यकता इस *बात की है कि अधिक जागरूक और सच्चे होकर हम प्रतिक्रियावादी-अवसरवादी* साहित्यिको और उनकी परछाईं मे पलनेवाले अनुयायियो का पर्दाफाश करते हुए, नवीन जनवादी साहित्यिक सिद्धान्तो और नारो को जन्म देकर, मध्यप्रदेश मे नवीन जनवादी सांस्कृतिक परम्परा को जन्म दें। और उसके लिए लगातार आन्दोलन करते रहें, उसका प्रचार करते रहें। यदि ऐसा न करेंगे, तो साहित्यिक ठगो, गलक्टो, लाल-बुझक्कडो, तथा इनका अनुगमन करनेवाले निर्बुद्धि-जनो

और इन सबके उस्तादों और सरदारों के हवाले हमारे प्रान्त का साहित्यिक भाग्य लगाकर, हम स्वयं साहित्य-गतिरोध के जन-विरोधी कार्य में पातक के भागी बनेंगे।

प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन में विरोधी गुट बनाकर प्रतिक्रियावादियों को पराजित नहीं किया जा सकता। यह असम्भव है। उनके पास अपरिमित साधन हैं। अतः यह आवश्यक है कि जनवादी साहित्यिक परम्पराओं का समर्थन और उसका आन्दोलन करनेवाली नयी प्रान्तव्यापी साहित्यिक संस्था को जन्म दिया जाय और उसको समुन्नत करने की चेष्टा की जाय।

जनवादी धारा के विरोधी बहुत हैं। जब तक कि साहित्य-सृजन, साहित्य-सिद्धान्त, तथा उसका प्रचार—इन सब क्षेत्रों में प्रतिक्रियावादियों के खिलाफ संघर्ष और मोर्चेबन्दी न की जायगी, तब तक नयी धारा का विकास नहीं हो

. . . .

[नया खून, दीपावली विशेषांक 1950 में अग्निमित्र मालवीय के नाम से प्रकाशित]

शेक्सपियर से एक मुठभेड़*

शेक्सपियर के विभिन्न महान् पात्रों की दु:खान्त परिणति के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जाने या अनजाने, लेखक के लिए, पात्र का व्यक्तित्व ही वह गतिमयी शक्ति है जो उसके भाग्य का निर्माण करती है। पात्र का चरित्र ही उसका भाग्य या भवितव्य है। कैरेक्टर इज डेस्टिनी।

शेक्सपियर का ज़माना आज के हमारे युग से अधिक सुखी और समृद्धिशाली हो, ऐसी कोई बात नहीं। व्यापारिक पूंजीवाद के प्रारम्भिक विकास की स्थिति का वह ज़माना था। सामन्ती रईस समाज में काफी शक्तिशाली और प्रभावशाली थे। उनकी जिन्दगी की कहानियाँ, किंवदन्तियाँ, और लोक-कथाएँ समाज में प्रचलित थीं। एक राजा था, उसकी दो रानियाँ थीं, इत्यादि-इत्यादि। शेक्सपियर ने इटली, डेनमार्क आदि देशों की कहानियाँ लीं (स्वदेश की कहानियाँ भी लीं) और नाटकीय चित्र खड़े किये। किन्तु, पात्रों का विकास उसने जिस ढंग से किया उससे यही साबित हुआ कि लेखक के अनुसार चरित्र ही पात्र का भवितव्य है। अर्थात् व्यक्ति का भाग्य उसके अपने चरित्र से उत्पन्न होता है।

शेक्सपियर यह नहीं जानता था कि वह एक क्रान्तिकारी विचार सामने रख

* शीर्षक सम्पादक द्वारा।

रहा है। शॉ के समान वह 'विचारक' नहीं था। उन दिनों मनुष्य-सत्ता के बाहर किसी शक्ति की कल्पना की जाती थी जो व्यक्ति का भाग्य-निर्णय करती हो। ऐसी स्थिति में, शेक्सपियर का यह विचार कि मनुष्य के भवितव्य की निर्णायिका शक्ति उसके भीतर है, निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है।

एक बात यहाँ स्पष्ट हो जानी चाहिए, वह यह कि शेक्सपियर ने वैचारिक शब्दावली में प्रस्तुत सिद्धान्त नहीं रखा है, वरन् पात्रों के द्वारा, उनके चरित्र के विकास और उपसंहार के द्वारा, उसे बिम्बित किया है। अर्थात् इस विचार में अनुभव का स्वरूप है।

यदि चरित्र ही भाग्य की निर्णायक शक्ति है तो, अनुमानतः, हम इस बात पर आते हैं कि जिसका चरित्र अच्छा और शक्तिशाली है उसका भाग्य भी ऊँचा होना चाहिए।

विचारों की दुनिया में, हम शेक्सपियर को बहुत पीछे छोड़ चुके हैं। आज हम व्यक्ति के भाग्य को समाज के मत्थे मढ़कर छुटकारा पा लेते हैं। स्थिति-परिस्थिति पर लाछन लगाकर, हम व्यक्ति के भाग्य की अन्तिम व्याख्या कर डालते हैं। क्या हमारी यह व्याख्या गलत है?

यहीं शेक्सपियर से मेरी बहस छिड़ जाती है।

मैं—तुम्हारा सिद्धान्त गलत है। हैमलेट की ट्रैजिडी का मूल कारण उसके आपमें निहित नहीं—जैसा कि तुम कह रहे हो, वरन् उस स्थिति-परिस्थिति में निहित है जिसने उसके व्यक्तित्व को छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न किया, उसके सारे आनन्द को छीन लिया और उसे लक्ष्य की वक्रता प्रदान की।

शेक्सपियर—लेकिन, यह क्यों नहीं सोचते कि स्वयं हैमलेट के गुण-अवगुण, उसकी विशेषताएँ, उसकी स्थिति का ही अंग हैं। और यह स्थिति समस्त परिस्थिति का अंग है। दूसरे शब्दों में, इसे यह भी कहा जा सकता है कि स्थिति-परिस्थिति हैमलेट का ही एक विस्तार है। अर्थात् वे एक-दूसरे के अंगीभूत हैं।

मैं—इससे क्या हुआ?

शेक्सपियर—इससे यह हुआ कि हमने हैमलेट के दुःखान्त प्रकरण के गति-स्रोतों को केवल हैमलेट के बाहर की परिस्थिति-रूपी दुनिया पर नहीं मढ़ा, वरन् हैमलेट का चरित्र-विश्लेषण करते हुए यह बतलाया कि उसने बहुत-सा स्थिति परिस्थिति-निर्माण स्वयं अपने हाथों किया है।।

मैं—तो क्या हुआ? यदि हैमलेट की माँ अपने पति के भाई से शादी न करती तो हैमलेट का दुःखान्त प्रकरण सम्भव ही न होता। इस घटना में हैमलेट का क्या हाथ है?

शेक्सपियर—हर व्यक्ति एक-न-एक परिस्थिति विरासत के रूप में पाता है, वह स्थिति परिस्थिति उसके अनुकूल होती है या प्रतिकूल। यदि अनुकूल हुई, यानी वह व्यक्ति भी अपनी परिस्थिति के अनुकूल हुआ तो उसे 'महान', 'तेजस्वी' आदि शब्दों से अगर बाहर दुनिया ने विभूषित न भी किया तो उसे उसके घरवाले 'प्रतिष्ठित', 'मेधावी' तो कह ही सकते हैं, बशर्ते कि उस 'अनुकूलता' की वृद्धि होती रहे। यानी, हैमलेट ने एक परिस्थिति विरासत में पायी, आपने दूसरी, मैंने तीसरी। सवाल यह है कि इस अच्छी

या बुरी विरासत को हम किस ढग से स्वीकार करते हैं।।
मैं—तो क्या आप हैमलेट मे कोई बुराई देखते हैं ?
शेक्सपियर—नही, मैं यह कह रहा हूँ कि यह आप पर निर्भर है कि आप किस ढग से उसको स्वीकार करते हैं। असलियत यह है कि हजारो ऐसी योरोपीय स्त्रियाँ हैं जिन्होने पति से बुराई करके उसके मरने के पहले ही दूसरा पति कर लिया। ध्यान रखिए, मैंने 'बुराई' शब्द कहा है। हैमलेट ही ऐसा है, जिसने इस 'बुराई' का माता से बदला लेना चाहा। हैमलेट की सच्ची ट्रैजिडी तो वही हो गयी जब उसने दिल मे यह अनुभव किया कि उसकी माँ ने उसके पिता की हत्या करवायी। शेष जो परिस्थितियाँ हैं, क्या वे हैमलेट के हाथो नही हुई ? अगर हैमलेट बदले की भावना से प्रेरित न होता तो कोई झगडा ही नही था। उसको खाने-पीने, रईसी करने का मौका कम नही था। ऑफीलिया से उसकी शादी हो जाती। लेकिन, नहीं, हैमलेट की भीतरी अच्छाई सक्रिय हुई, उसने घनघोर रूप धारण किया और उसके परिणामस्वरूप वह मर गया। कोई दूसरा होता तो वह राजा के अधीन ड्यूक बन जाता। राजघरानो मे राजा का विष देकर मारा जाना आम घटना है। वह एक आम घटना हैमलेट के साथ भी हुई, लेकिन उसने दूसरे ढग की प्रतिक्रिया की। अन्यों ने नही।
मैं—नतीजा क्या निकला ?
शेक्सपियर—नतीजा यह निकला कि यद्यपि आप एक स्थिति-परिस्थिति विरासत के रूप मे पाते है, फिर भी उस पर आपकी प्रतिक्रिया कैसी होगी है यह आप पर, आपके व्यक्तित्व की विशेषताओ पर, गुण-अवगुणो के समुच्चय पर, प्रवृत्तियो पर, निर्भर है। इसीलिए कहता हूँ कि कैरेक्टर इज डेस्टिनी।
मैं—इस अग्रेजी वाक्य का केवल आलकारिक-अर्थ ही स्वीकार किया जाना चाहिए।
शेक्सपियर—नही, बिलकुल नही।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1950-51। रचनावली के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित]

सुमित्रानन्दन पन्त*

यद्यपि पन्त का युग समाप्त हो गया है, किन्तु उसके काव्य-साहित्य की यथार्थ-दर्शी आलोचना का स्तर अभी बहुत ऊँचा नही हो पाया है। इसका एक कारण यह भी है कि आदर्शवादी धारा के बहुत-से आलोचक, कवि की भाव धारा और

* विश्वम्भर मानव की पुस्तक 'सुमित्रानन्दन पत' की समीक्षा।

काव्य से अभिभूत होकर आलोचना की ओर प्रवृत्त होते हैं, तो कुछ लोग काव्य-सत्य या उद्घाटन करने के पूर्व अपने मत-मतान्तरों के दृष्टिकोण से उन काव्य-सत्यों की व्याख्या और आलोचना करने लगते हैं, जिनका सर्वप्रथम उद्घाटन और मनन आवश्यक होता है। दोनों ही प्रकार की आलोचनाएँ अवैज्ञानिक और अशुद्ध हैं, तथा ये आलोचक के अपने व्यक्तित्व की विचित्रताओं और संस्कारजन्य अभिरुचियों से प्रभावित हैं। हर्ष का विषय है कि श्री विश्वम्भर 'मानव' की आलोचना-पुस्तक इन दोनों दोषों को साफ बचा गयी है। इस ग्रन्थ में पन्त के काव्य-सत्यों का तटस्थ किन्तु मार्मिक उद्घाटन हुआ है और उनकी भाव-धारा के विविध अंगों और उपांगों की गम्भीर और आदर्शवादी दृष्टिकोण से वैज्ञानिक समीक्षा उपस्थित की गई है। साथ ही, इस समीक्षा की कुछ ऐसी मौलिक विशेषताएँ भी हैं, जिनके कारण पन्त सम्बन्धी आलोचना-साहित्य में प्रस्तुत ग्रन्थ को अपना निराला महत्त्व प्राप्त हो गया है।

ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) अन्य आलोचक (ग़ैर-मार्क्सवादी) बन्धुओं के छायावाद-सम्बन्धी दृष्टिकोण की उचित, न्यायपूर्ण और तर्क-संगत समीक्षा हुई है। छायावादी आलोचना की भावात्मक अराजकता के प्रति छायावादी आलोचना के क्षेत्र से यह पहला महत्त्वपूर्ण विद्रोह है। डाक्टर देवराज और नगेन्द्र के मतान्तरों का उचित खण्डन किया गया है।

(2) अपनी मत-प्रस्थापना में वैज्ञानिक स्पष्टता का प्रयोग किया गया है और वायवीय अतिव्यापक साधारणीकरणों के स्थान पर सुनिश्चित शब्द-योजना द्वारा यथार्थदर्शी विश्लेषण का सहारा लिया गया है।

(3) पुस्तक का पहला अध्याय 'व्यक्तित्व और साहित्य' अत्यन्त मूल्यवान है। उसके द्वारा पन्त के व्यक्तित्व पर विशेष प्रकाश पड़ता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

(4) पन्त के विभिन्न तत्त्वों का विशद विश्लेषणात्मक निरूपण हुआ है।

(5) प्रगतिवाद और प्रगतिवादी लेखकों के प्रति मन की समरसता का अभाव और स्पष्ट विरोध होते हुए भी उस धारा की अनिवार्यता को निश्छल और मुक्त भाव से स्वीकार किया गया है। लगता है आलोचक उन्हें (गालियाँ देते

प्रथम श्रेणी

न्त क्या ?'

'छायावाद क्या ?' 'रहस्यवाद क्या ?' आदि प्रश्नों पर तो विचार किया गया है, किन्तु, उनके 'क्यों ?' और 'कैसे ?' को तो इस तरह टाल दिया गया है मानो वह आलोचक का क्षेत्र ही न हो। फलतः विश्लेषण में सब जगह गहराई नहीं आ पायी है। बहुत बार वह विवरण-मात्र होकर ही रह गया है।

(2) प्रगतिवादियों के उज्ज्वल पक्ष का उसे अधिक अध्ययन ही नहीं है। यदि हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य को सचमुच पढ़ता तो उसे सिर्फ कचरा ही नहीं मिलता, हीरे-मोती भी मिलते। आलोचक की काव्याभिरुचि बेहद छायावादी है।

(3) रहस्यवाद की उसकी परिभाषा मे अव्याप्ति-दोष है। जब लेखक यह लिखता है कि 'आत्मा और परमात्मा की पारस्परिक प्रणयानुभूति को रहस्यवाद कहते हैं', तब सहसा ऐसे रहस्यवादी साहित्य पर भी पाठक की दृष्टि जाती है, जिसमे और कोई भी अनुभूति भले ही हो, किन्तु प्रणयानुभूति नहीं है। उसे आप क्या कहेंगे ? दूसरे, पन्त के काव्य मे रहस्यानुभूति है यह कहना मुश्किल है। रहस्यवादी विचारधारा (भाव-धारा कहिए) जरूर है। आशा है, आलोचक भाव और अनुभूति (अनुभव) का भेद समझता है। रहस्यानुभव और रहस्यवादी भाव मे घपले का परिणाम यह हुआ कि छायावाद और रहस्यवाद को परस्पर सम्बन्धहीन दो श्रेणियो मे रख दिया गया है। यदि वास्तविक रहस्यानुभव की कविता होती तो यह श्रेणी-विभाजन भी उचित होता, अन्यथा नहीं। छायावाद और रहस्यवाद आज की स्थिति मे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

(4) आलोचक के मत सब जगह विवेकपूर्ण और ग्राह्य नहीं है। उन्हें केवल व्यक्तिगत कहकर टाला जा सकता है, जैसे हिन्दी मे बच्चन की स्थिति को अंग्रेजी मे शैले और कीट्स-जैसी कहना अथवा ब्रजभाषा के माधुर्य पर अनावश्यक आक्रमण करना।

(5) पुस्तक मे से बहुत-सा गैर-जरूरी हिस्सा निकाला जा सकता था। इस प्रकार उसमे सुसूत्रता आती और किताब की कीमत भी कम हो जाती।

लेकिन इन दोषो के बावजूद यह निस्सकोच भाव से कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर यह ग्रन्थ पन्त-सम्बन्धी (गैर-मार्क्सवादी) आलोचना-साहित्य मे मील का पत्थर है। लेखक का स्पष्ट काव्य-विवेक, निर्भीक मत-स्थापना और उदार बुद्धि इस बात को सूचित करती है कि हिन्दी की आलोचना तरक्की कर रही है और वह दिन दूर नहीं जब इस क्षेत्र मे हमे किसी प्रखर नक्षत्र के दर्शन होगे।

[आलोचना, अप्रैल 1952 मे प्रकाशित। रचनावली के दूसरे सस्करण मे पहली बार सकलित]

जनवादी सांस्कृतिक गोष्ठियों की एक रूप-रेखा

नर्मदा के गीत प्राचीन कवियो ने गाये है। और आधुनिक कवि भी यदा-कदाचित् नर्मदा का स्मरण कर लिया करते हैं। इस पुनीत सरिता का निर्द्वन्द्व दुर्निवार वेग स्फटिक शिलाओ की घाटियों से बहे या न बहे, (स्फटिक शिलाएँ तो धूल ही रही हैं,) हमारे नये कवियो के हृदय और कण्ठ मे से उसकी ओजमयी वाणी फूट रही है।

नर्मदा की घाटियो मे किसी कल्पक पुरातत्त्वशास्त्री ने मोहनजोदड़ो और

मिस्र के ज़माने की सभ्यता खोज निकालने की प्रतिज्ञा की। लेकिन जो एक नयी सभ्यता उसकी घाटियों में और उसके चतुर्दिक बढ़ रही है, उसको अंकित करने की चेष्टा का विचार अभी नहीं हुआ है। वास्तविकता तो यह है कि हमारे नगरों और कस्बों के साहित्यिक केन्द्रों के वातावरण में नये बोल गूँज रहे हैं। इन गूँजों का ऐतिहासिक चित्रण मोहनजोदड़ो के सभ्यता-अन्वेषण से अधिक महत्त्व रखता है। लेकिन किसे इतनी फुरसत है कि वह इस ओर भी ध्यान दे।

साहित्य-सम्मेलन के कर्ता धर्ता यह जानते हैं कि सम्मेलनों के पहले साहित्यिक समृद्धि और विकास के चिह्न सर्वत्र दृष्टिगोचर होने चाहिए। किन्तु जिस प्रकार आज कांग्रेस को जन-कार्य से कोई मतलब नहीं—सिवाय चुनाव लड़ने के—ठीक उसी तरह साहित्य सम्मेलन का साहित्य से सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा, वह तो आनुषंगिक है, गौण और अप्रत्यक्ष है।

लेकिन संस्थाओं से साहित्य का प्रचार भले ही हो, साहित्यिक अभिव्यक्ति का सम्बन्ध तो व्यक्ति और उसकी परिस्थिति से है। पत्र-पत्रिकाओं के अभाव में, तथा उचित मार्ग-दर्शन के स्थान पर, हमारे नौजवान अपने ही दिमाग से ऐसे कई साधन खोज चुके हैं, जो कई अभावों की पूर्ति करते हैं। वे साधन आज, हमारे मतानुसार, बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए कि उनका आधार श्रोता समुदाय है। ये साधन हैं (1) गोष्ठी, (2) कवि सम्मेलन।

निश्चय ही, अन्य प्रान्तों की भाँति हमारे प्रान्त में सभी साहित्यिकों को पत्र-पत्रिकाओं में स्थान नहीं मिल सकता। यह तब तक असम्भव ही रहेगा जब तक ऐसे साधनों की संख्या में वृद्धि न हो। दूसरे, हमारी पत्र-पत्रिकाओं में न इतना उत्साह है, न आस्था न दृष्टि, कि वे बड़े नामों की ओर से अपना मुँह मोड़कर प्रान्त की साहित्यिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। और यह हालत तब तक कायम रहेगी जब तक साहित्यिक समाज-परिवर्तन में अपना योग नहीं देते, और समाज-परिवर्तन नहीं हो जाता। अतएव वर्तमान परिस्थिति में, यह बहुत ज़रूरी है कि (1) गोष्ठी और (2) कवि-सम्मेलन-जैसी संस्थाओं का विकास और प्रसार किया जाय।

इस बात से कौन इनकार करेगा कि हमारे नौजवान साहित्यकारों की आत्मा बड़ी बलशाली है। पुराने साहित्यिक दद्दा अब नये लेखकों से प्रेम भले ही निभायें, और नौजवान लोग भी भारतीय संस्कारों के अनुसार उन्हें अवनत-हृदय प्रणाम करें, किन्तु जहाँ तक प्रेरणा की स्रोतस्विनी का सम्बन्ध है, उसने अपना नया हिमालय खोज लिया है। राजनाँदगाँव और बुरहानपुर, होशंगाबाद और रायगढ़, दुर्ग और इटारसी, सागर और अकोला, ऐसे स्थान हैं जहाँ हमारे नौजवान अपने नये अनुभवों के आधार पर नये कदम बढ़ाते जा रहे हैं। यह बात ज़रूर है कि, इन नये तजुर्बों के खून और नयी अनुभूतियों के दूध से पोषित, हमारे नौजवान फ़िलहाल अपनी अभिव्यक्ति का कोई नया व्याकरण, नया अलंकार-शास्त्र और नवीन छन्दस् नहीं बना सके हैं। किन्तु शीघ्र ही वह दिन भी आनेवाला है, जब उनके अनजाने ही उनकी रचना उस ओर विकास करती जायेगी। अपनी नवीन अनुभव-धरित्री के अनुसार नवीन रूपाकाश बनाने के लिए लेखक को संघर्ष करना पड़ता है। अभी उस संघर्ष की क्रिया प्रारम्भिक रूप में ही है। ध्यान रहे कि तत्त्व के अनुसार ही रूप होता है। सवाल यह है कि ये अनुभव क्या हैं जिन्हें शब्दांकित

करने के लिए हमे पुरानो से ज्यादा मदद नही मिल पाती ? ये अनुभव, निश्चय ही, हमारे व्यक्तिगत होते हुए भी, अपनी कठोरता और उग्रता का गुण उन्होने सामाजिक स्थिति-परिस्थितियो से पाया है—भयानक शोषण, बेहद गरीबी, राजनैतिक सघर्ष, प्रतिक्रियावादी शक्तियो की जिघासा, अवसरवाद, और इनके विरुद्ध नयी शक्तियोकी चुनौती। इन नयी शक्तियो की इच्छा-आकाक्षाएँ आज सारी मानवता की इच्छा-आकाक्षाएँ हैं। और ये शक्तियाँ सब जगह हैं। ग्राम, नगर, कस्बे, टोले और मुहल्ले उनसे आबाद हैं। मध्यप्रदेश मे उन्हे अभी सगठित होना है। सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्र मे, फिलहाल, उन्होंने वैज्ञानिक आँखें और युग-परिवर्तन की ऐतिहासिक कर्त्तव्य-चेतना प्राप्त कर ली है। वे उस ओर लगातार कदम भी बढाती जा रही हैं। किन्तु अभी ऐसा कहा नही जा सकता कि पुराने के विरुद्ध, प्रतिक्रियावादियो के खिलाफ, वे जिहाद बोल सकती है। जिहाद बोलने के लिए जो वैज्ञानिक बुद्धि और सामाजिक-राजनैतिक आत्मगत चेतना की आवश्यकता है, वह अपने प्रारम्भिक रूप मे ही हममे विराजमान है। इस प्रारम्भिक अवस्था को शीघ्र-से-शीघ्र पार करने का सतत उद्योग होना चाहिए।

स्पष्ट है कि मध्यप्रदेश की पत्र-पत्रिकाएँ मुख्य रूप से हमारे विकास की साधक नही हो सकती। उसके लिए तो हमे गोष्ठियो और लेखक तथा कवि-सम्मेलनो को ही विकसित करना पडेगा। उन्हे इस प्रकार बनाना होगा कि वे हमारी सभी नयी साहित्यिक-सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

गोष्ठी का रूप उसके कार्यों पर अवलम्बित है, उसके कार्य उसकी सदस्यता पर निर्भर है, उसके सदस्यों पर अवलम्बित हैं। अगर सदस्यो मे काव्य के साथ-ही-साथ अध्ययन का उत्साह है, और विविध साहित्य-रूपो के प्रति अनुराग है, तो निश्चय ही गोष्ठी के कर्तव्य बढ जाते हैं। उसके लिए अध्ययन, अध्यवसाय, उत्साह और बचकानेपन से तुरन्त बाहर निकलने की बेचैनी, ज़रूरी है। गोष्ठी को अध्ययन-मण्डल का भी रूप दिया जाना चाहिए, तथा कार्य-मण्डल का भी।

जब तक गोष्ठी अध्ययन-मण्डल नही होती, तब तक उसमे वैचारिक एकता और कर्तव्यो की एकता का निर्माण नही हो सकता। और जब तक गोष्ठी के सदस्य राजनैतिक अथवा सामाजिक क्षेत्र मे सक्रिय कार्य नहीं करते तब तक अनुभवो की वृद्धि नही हो सकती। इसीलिए यह ज़रूरी है कि साहित्यिक वर्ग और साहित्य-प्रेमी जन जो गोष्ठी मे भाग लेते हो, वे अपने कार्यों की दिशा का निर्णय गोष्ठी के अन्दर ही करें। अगर इस प्रकार कार्य, विचार, और साहित्यिक अभिव्यक्ति को एकीभूत कर सगठित किया गया, तो निश्चय ही गोष्ठी साहित्य तथा जनता की चेतना के विकास का साधन बन सकेगी।

कवि-सम्मेलन अथवा लेखक-सम्मेलन का धर्म निश्चय ही दूसरा है, यद्यपि उसका मूल सूत्र-सचालन गोष्ठी के हाथो मे ही रहना चाहिए। गोष्ठी को चाहिए कि वह ऐसे सम्मेलन करती रहे जिसमे पास-पडोस के स्थानो के साहित्यिक पधार सकें। साथ ही बाहर से उनका ऐसा कोई प्रमुख साहित्यिक प्रवक्ता आये, अथवा उनकी वाणी गुंजानेवाले ऐसे प्रधान साहित्यिक नेता पधारें, जिनकी कविताओ और वक्तव्यों का जनता पर व्यापक रूप से प्रभाव हो सके। यदि प्रान्त के प्रधान नगरो और कस्बो मे ऐसी गोष्ठियाँ और सम्मेलन हो सकें, तो हमारा खयाल है कि वह दिन दूर नहीं जब साहित्यिक चेतना और जीवन-विकास के क्षेत्र मे मध्य-

प्रदेश हिन्दी भाषा-भाषी विश्व मे *अग्र-स्थान ग्रहण करेगा।*

गोष्ठियो और सम्मेलनो आदि मे साधारण रूप से जो विचार-विनिमय होता है, उसका स्वरूप सामूहिक और परस्पर-सामजस्य के आधार पर रहने के कारण, उसमे गहराई, और सूक्ष्मता, लाभ और निर्णय पत्र-पत्रिकाओ मे से होनेवाली प्राप्ति से अधिक होते हैं। इस प्रकार की गोष्ठियाँ अमूल्य सिद्ध होती हैं, बशर्ते कि इनका मूलाधार परस्पर-सामजस्य बना रहे। परस्पर-सामजस्य मे जहाँ गडबड हुई कि सब खेल बिगडा, यह समझ जाइए।

परस्पर-सामजस्य की आवश्यकता गोष्ठियो मे सर्वाधिक है। चूँकि इस प्रकार की गोष्ठी अध्ययन-मण्डल, कार्य-मण्डल और साहित्य-केन्द्र भी होते हैं, इसलिए अगर उनके सदस्यो मे सद्भावना, मैत्री और उद्देश्य की एकता न हो, तो काम नही चल सकता। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार की गोष्ठी उसी प्रकार दृढ सुसगठित इकाई हो जायेगी, जैसे, अणु के भीतर मूल शक्ति-केन्द्र। सक्रिय कार्यक्षम गोष्ठी अपने सदस्यो मे बौद्धिक, हार्दिक और क्रियात्मक अनुभवो का भार स्पन्दित करेगी, साथ ही समाज और देश के प्रत्येक जीवन-पक्ष के प्रति उत्तरदायी बनाती चलेगी। पत्र-पत्रिकाओ के अभाव के कारण हमारी जो दुरवस्था है, उसकी पूर्ति साक्षात् जीवन-अनुभव के द्वारा गोष्ठियो के माध्यम से हजार गुना ज्यादा हो सकती है। निश्चय ही इस प्रकार की गोष्ठियो को चलाने के लिए हम जाग्रत नेतृत्व की भी आवश्यकता है।

जाग्रत नेतृत्व से हमारा मतलब दादागिरी से नही है। राजनैतिक क्षेत्र की अवसरवादी प्रवृत्तियो के फलस्वरूप हमारे यहाँ एक नयी जाति पैदा हुई है जिसे हम दादाओ की जाति कह सकते है। हमे दादाओ की आवश्यकता नही, भाइयों की जरूरत है। दादागिरी से हमारा मतलब ऐसे लोगो से है जो अपने नेतृत्व के लिए जीते हैं।

सच्चा जाग्रत नेतृत्व मध्यप्रदेश मे पैदा हो रहा है। रायगढ के आनन्दी सहाय शुक्ल से लगाकर लो सागर के शिवकुमार श्रीवास्तव तक एक सिलसिला है। जबलपुर मे गोविन्द तिवारी और उनके अनुज के के. तिवारी, (सबके नाम गिनाना वाछनीय नही), नागपुर के रामकृष्ण श्रीवास्तव, प्रमोदकुमार वर्मा, आदि लोग मिलकर मध्यप्रदेश मे सगठित तरुण नेतृत्व पैदा कर सकते है। हमे आशा है कि वह दिन शीघ्र आयेगा जब ये लोग इकट्ठे होकर जनवादी साहित्यिक प्रकृति के व्यापक विकास का नेतृत्व कर सकेंगे।

[नया खून, 26 दिसम्बर 1952 मे प्रकाशित। लेखक का नाम नही दिया हुआ।]

लू सुन की कहानियाँ

बैठक के छोटे-से कमरे मे घर का सारा सामान निकाला जा रहा था। एक कोने मे, छोटी-सी फटी दरी पर लेटा हुआ सैंतीस साल का एक व्यक्ति कहानियों की

एक पुस्तक पढ रहा था। धीरे-धीरे एक ओर जहाँ जूते निकाले जा रहे थे, सारा सामान जमा हो गया। घर की पुनाई हो रही थी।

कभी-कभी वह व्यक्ति पुस्तक से निगाह हटाकर जब अपने सामान को देखने लगता तो वह आकुल हो उठता। निराशा से भर जाता। उसे लगता जैसे किताब मे लिखे हुए अक्षर और वाक्य इसी सामान के सम्बन्ध मे, उसके घर-बार के सम्बन्ध मे, ही कोई बात कह रहे हैं।

कहानियाँ पढनेवाला व्यक्ति कभी-कभी एकदम उठ बैठता। बेचैनी से सारे कमरो मे घूम आता। गली की धूल मे खेलते हुए बच्चो को पुचकार लेता, और न मालूम क्या बुदबुदाने लगता। चूँकि आज उसकी मन स्थिति की ओर देखने की किसी को फुर्सत न थी इसलिए कुशल थी। इस प्रकार उसके घूम लेने मे दिमाग का घुमाव था। फिर तुरन्त वह अपने कोने मे चला जाता। पुस्तक हाथ मे लेकर लेट जाता। कहानी मे कोई प्रसग आता तो चुपचाप फिर बेचैन हो उठता। फिर उसी तरह घर मे घूमने लगता।

[illegible]

उसके दिमाग मे सवेदनाओ और भावो के अजीब रास्ते और गलियाँ और पगडण्डियाँ एक-दूसरे से मिलती, फिर समानान्तर चलने लगती, फिर एक-दूसरे की ओर दौडती हुई, परस्पर को काटती हुई, भिन्न दिशाओ की ओर निकल जाती। खयाल जब बहुत तेज़ हो जाते हैं तो वे वेदनाओ का रूप धारण कर लेते है। ठीक यही हालत उस व्यक्ति की थी।

पुस्तक मे सग्रहीत एक कहानी उस पाठक से कह रही थी—क्या यह हालत तुम्हारी भी नही है!

'पागल आदमी की डायरी' ही तो वह कहानी थी, जिसमे उसके मुख्य पात्र को 'परसीक्यूशन कॉम्प्लेक्स' हो गया था। लोग उसको पागल कहते थे, किन्तु जिस विक्षिप्तावस्था मे उसने अपनी डायरी लिखी, वह अवस्था उस स्थिति मे किसकी नही हो जाती—जब लोग तुम्हारे पेट पर लात मारने, तुम्हें और तुम्हारे बच्चो को रास्ते पर खडा कर देने के लिए उतावले हो जाते हैं, तुम्हारी जान के ग्राहक हो जाते हैं, इसलिए कि तुम मूलभूत सामाजिक अन्याय के विरोध मे अपना स्वर उठाते हो, प्राइवेटली ही क्यो न सही, अपने दोस्तों के बीच बैठकर ही क्यो न सही! उनके लेखे तुम्हारे चेहरे पर यह लिखा हुआ है कि तुम उस किस्म के नही हो, जिस किस्म के वे हैं—पान-चबाऊ सन्तुष्ट मुख-मुद्रावाले बडे अधिकारी,

लिए पहले तुम्हारे पेट पर लात मारी जायेगी, या अवश्य तुम्हारा सोचना बन्द कर दिया जायेगा। तुम्हारा गला नहीं, आत्मा घोंट दी जायेगी।

क्या यह वास्तविकता नहीं है? यह उन लोगों से पूछो जो इसके शिकार हैं। जो बेचारे कुछ भी नहीं करते, लेकिन उनके चेहरे पर लिखा हुआ है कि वे बेजा आदमी हैं।

उक्त कहानी के मुख्य पात्र का पागलपन दूर हो जाता है। और वह अन्त में माचू साम्राज्य का एक सरकारी अफसर बन जाता है।

हिन्दुस्तान के एक कोने में बैठा हुआ एक साधारण ईमानदार मनुष्य उक्त वास्तविकता से बेचैन हो उठता है, वह कभी अपनी टूटी-फूटी गिरस्ती के सामान को देखने लगता है, अपने फटेहाल बच्चों की सूरत की ओर देखने लगता है, दिन-भर घर की चिन्ता में घुलनेवाली अपनी स्त्री की ओर देखकर करुणा से भर उठता है, और कभी अपने स्वदेश के कर्तव्य-मार्ग पर चलने के लिए स्वयं के बलिदान की बात सोचने लगता है! जी हाँ, शायलॉक ने बैसोनियो से सिर्फ एक पौण्ड गरम गरम जीवित देह-मांस माँगा था, लेकिन आज के हिन्दुस्तानी शायलॉक तो पूरी-की-पूरी देह माँग रहे हैं!

उक्त निवेदन में अतिरंजना उन लोगों को प्रतीत होगी जिनके गले में ऐसे मूलभूत प्रश्न नहीं अटकते जिनसे दूसरे लोग छटपटाते हैं इसलिए जिनका गला नहीं दबाया जाता, क्योंकि गला उन्हें है ही नहीं, सिर्फ भोंपू है। ऐसा भोंपू, जिसको बजानेवाला कोई और है। ऐसे लोगों का 'परमावयूशन' होने की स्थिति और उससे उत्पन्न मानसिक विक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठता।

'पागल आदमी की डायरी' चीनी लेखक लू सुन की एक कहानी है जो सन् 1918 में लिखी गयी थी। यह उसकी सबसे पहली कहानी है। किन्तु मजा यह है, उस कथा ने एक खलबली मचा दी। माचू साम्राज्य के सामन्ती जीवन-मूल्यों के विरुद्ध सांस्कृतिक क्रान्ति का वह पहला शंखनाद था।

लेकिन वह ऐसा शंखनाद था जो बजता नहीं था, बोलता था। शोर-गुल, चीख पुकार तो उसमें है ही नहीं। इसके विपरीत, पूरी कहानी मनोवैज्ञानिक है। वह इस प्रकार मनोवैज्ञानिक है जैसे आपके हमारे अनुभव। उसका आधार ठोस सामाजिक व्यक्तिगत अनुभव है। मन का सारा सूक्ष्म इस प्रकार से रचा गया है कि वह सामाजिक-व्यक्तिगत जीवन के स्थूल के आधार का चित्र बन जाये। किन्तु यह तो सिर्फ टेकनीक हुआ। कथा का मुख्य आघात तो उन जीवन मूल्यों पर है जो अन्याय और शोषण को सामाजिक नियम या कानून का जामा पहना देते हैं।

'दवा' नामक कहानी की नाटकीयता अद्भुत है। इसी नाटकीयता के कारण उसकी गहरी उदासी इतनी खलती नहीं है। कहानी में प्रतीकात्मकता और मनोवैज्ञानिकता भरपूर है। जनता की मोह निद्रा के बीच एक क्रान्तिकारी नेता को गोली से उड़ाये जाने की वह कथा है, जिसमें जनता का चित्रण ही प्रधान है। और इस कहानी का अन्त बहुत ठाठदार है।

प्रेतों के गाड़े जाने की जो एक भूमि है, वहाँ दो माताएँ मिलती हैं। दोनों अपने-अपने बच्चों को वहाँ गाड़ चुकी हैं। वहाँ वीरानी है, सुबह का वक्त है। एक माता के पुत्र ने अपने प्राण देश के लिए दे डाले। दूसरी माता के पुत्र को क्षयरोग से बचाने के लिए जीवित मनुष्य के खून का एक छोटा सा डोज़ दिया गया था, किन्तु

वह फिर भी मर गया। क्षयरोगी पुत्र और क्रान्तिकारी पुत्रों ने अपनी जान एक ही सामाजिक परिस्थिति के अन्दर गँवायी। एक ही समाज ने एक को क्षयरोगी बनाया, दूसरे को अपने विरुद्ध पलट दिया। और फिर दोनों को मार डाला। ये दो माताएँ श्मशान भूमि से क्षितिज की तरफ तेजी से उड़ते हुए एक कौए को देखती हुई लौटती हैं। यह वह काग है, जो उनकी लोक-कथाओं में स्त्रियों का मित्र और आत्मा का प्रतीक है और क्षितिज भविष्य का प्रतीक।

लू सुन की कहानी 'मेरा पुराना मकान' और 'नये साल का बलिदान' [में] किसान जनता की मर्मस्पर्शी ईमानदारी और रुला देनेवाली गरीबी का ऐसा वैविध्यपूर्ण चित्र है कि जिसका सानी नहीं। उसी तरह 'कुग-इ-चि' निम्न मध्य-वर्गीय बुद्धिवादी व्यक्ति की लावारिस मौत को उद्घाटित करती है। इन तीनों कहानियों में जो पात्र खड़े किये गये हैं, वे हमारे रोजमर्रा के आदमी हैं। महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति नहीं हैं, सीधे-सादे लोग हैं, जो मनुष्योचित जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। किन्तु उनको यह भी नसीब नहीं है। जीवन में भयानक दारिद्र्य, गरीबी की विद्रूपता, हृदय की महानता, किन्तु मार्गावरोध—ऐसा मार्गावरोध, जो मनुष्य को चटनी बनाकर खा जायेगा।

'शराब की दूकान' और 'मनुष्य द्वेषी' कहानियों के पात्र बुद्धिवादी हैं। उन्होंने अपनी जिन्दगी तो इस आशा से आरम्भ की कि वे देश की संस्कृति में स्वयं कुछ प्रदान कर सकेंगे, किन्तु परिस्थितियों के घेरे ने उनकी रीढ़ की हड्डी तोड़ दी। उदास, कालिख के अँधेरे से तमोमय, और भीतरी कड़ुआहट के ज़हर से भरा हुआ, उनका मन है। 'मनुष्य द्वेषी' कहानी का अन्तिम वाक्य देखिए

"मैं क़दम तेजी से बढ़ाने लगा मानो मैं एक भीत को, एक व्यवधान को, तोड़ने जा रहा हूँ, किन्तु मैंने इस कार्य को असम्भव पाया। मेरे कानों में शब्द गूँजने लगे और फिर एक लम्बे समय बाद वे घनघोर होकर फूट पड़े। वह एक सुदीर्घ चीख-भरी चिंघाड़ थी। एक ऐसे घाव भरे भेड़िये की चिंघाड़, जो रात के वीरान सुनसान-भरे अँधेरे में चीख रहा हो और उसकी चिंघाड़ में वेदना, दुःख और भयानक क्रोध हो।"

अँधेरे भरी जिन्दगी में वह एक बुद्धिवादी की चिंघाड़ थी। क्या यह स्थिति आज हमारे भारतीय बुद्धिवादी नौजवानों की वास्तविकता नहीं है जिनके जीवन के सारे मार्ग बन्द हो गये हैं?

यद्यपि लू सुन के जमाने और हमारे आज के हिन्दुस्तानी ज़माने में देश और काल का अन्तर है, [पर वे] आज की हमारी गरीब श्रेणियों की वास्तविकता के अत्यन्त निकट हैं। उदाहरणत, 'सुखी परिवार' तथा 'अतीत के लिए दुःख' हमारे बुद्धिवादियों (बिलकुल हमारे, साहब! ऐसा लगता ही नहीं कि लू सुन हिन्दुस्तान के बाहर बोल रहा है। नाम बदल दीजिए और कुछ रिवाज बदल दीजिए, कहानी बिलकुल हमारे आज के ज़माने की हो जायेगी!)—के सपने हैं, उनकी स्वप्न-शीलता है उनके स्नेह सम्बन्ध हैं, उनका प्रणय है।

एक कहानी 'तलवार बनायी जा रही है' हज़ार साल पुरानी किसी लोककथा पर आधारित है। लू सुन ने इस कथा को जनता के संघर्ष-स्वरूपों का एक रूपक बनाया है। इस कथा में, लेखक ने जनता के दुश्मनों के विरुद्ध सामान्य-जनों और विद्यार्थियों से यह आग्रह किया कि वे शोषण-सत्ता का अन्त करें।

लू सुन की ये चन्द कहानियाँ मैंने पढ़ी। या यूँ कहिए कि जिस व्यक्ति का ज़िक्र मैंने लेख के आरम्भ मे किया, उसके आग्रह के बाद अपनी सुविधानुसार मैंने पढी। मुझे ऐसा कहीं नही मालूम हुआ कि लू सुन मे कोई 'प्रचारवाद' है। (उससे और मैक्सिम गार्की से कहीं अधिक 'प्रचार' प्रेमचन्द मे है। वस्तुत, प्रेमचन्द से अधिक मनोवैज्ञानिक रूप—कथा के इस क्षेत्र मे—हमें लू सुन मे मिलता है)।

खेद है कि मैंने बहुत थोडी लू सुन की कहानियाँ पढी हैं। जितनी पढी हैं, उनका थोडा-सा आभास हिन्दी के पाठक को देने की कोशिश की। आशा है कि वे लू सुन की कहानियो की तरफ जायेंगे और यदि उनकी आज्ञा हुई तो किसी समय लू सुन के जीवन की एक झलक देने का यत्न करूँगा, क्योंकि उसकी मातृभूमि के ऐतिहासिक विकास के साथ साथ उसके साहित्यिक लक्ष्यो का विकास हुआ। साथ ही, यह ध्यान म रखने की बात है कि लू सुन की वाणी ने चीन का सास्कृतिक-साहित्यिक स्वर बदल दिया। इसलिए लू सुन आज चीन म नये युग का वाल्मीकि माना जाता है।

[सारथी, 30 नवम्बर 1954 मे 'यौगन्धरायण' छद्मनाम से प्रकाशित।]

समकालीन रूसी उपन्यास

रूसी उपन्यास साहित्य हिन्दी-भाषी जनता मे हमेशा लोकप्रिय रहा है। किन्तु नवीन सोवियत उपन्यास के सम्बन्ध म हिन्दी म न कोई प्रचार हुआ है, न वे इतने पढे ही गये है कि चर्चा का विषय बन सकें। पुरानी पीढी के सोवियत लेखको म, मेरे खयाल मे, ज्येष्ठतर लेखको म से शोलोखोव और इलिया एहरेनबर्ग ही ज्यादा पढे गये है। किन्तु हिन्दी पत्र-पत्रिकाआ म उनके सम्बन्ध मे भी कोई विशेष चर्चा नही हुई। इसका पहला कारण तो यह है कि हमारे यहाँ उपन्यासो का अनुवाद आजकल बहुत ही कम होता है। फलत, शिक्षित जनता का एक बहुत बडा भाग वचित रह जाता है। दूसरे, यह भी है कि हिन्दी के चोटी के आलोचक बाल की खाल निकालकर उसका लम्बा बनाने म लगे हुए हैं। शायद उनको यह मालूम नही है कि उनकी महान आलोचनाओ का [प्रभाव] सत्साहित्य की अपेक्षा अत्यन्त क्षीण रहा है।

नवीन सोवियत उपन्यास के सम्बन्ध म एक बाधा और भी है। वह है हमारे शिक्षित वर्ग की अभिरुचि की। साधारण रूप से, कॉफी-हाउस की टेबिल पर गप मारनेवाले फैशनेबल साहित्यिक विचारको को अलग करके, अगर हम अन्य सन्त्रस्त वर्गों की शिक्षित श्रेणी के विज्ञ पाठको को लें, तो हम पाते है कि विदेशी उपन्यास साहित्य के क्षेत्र मे उनकी दृष्टि क्लासिकल उपन्यासो से प्रभावित है। फलत, वे अपने अनजाने ही नये सोवियत उपन्यास म पुरानी आत्मा खोजने लगते हैं, और

उसके न मिलने पर वे अप्रसन्न हो जाते हैं।

वास्तविकता यह है कि पुराने प्रकार के व्यक्तिगत सामाजिक संघर्ष, (जो आज भी हमारे यहां हैं), उनसे ग्रस्त रहनेवाले प्राणो की संपीडित आदर्शवादिता, उस संघर्ष में फंसे हुए पात्रो के चरित्रो की उठान (उनकी गिरावट) का मार्मिक चित्र जो हमे क्लासिकल उपन्यासो मे मिलता है, वह हमारी आज की वस्तुस्थितियो और मन स्थितियो से मेल खाता सा प्रतीत होता है। फलत, इस प्रकार के पात्रो से हमारा हार्दिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह हार्दिक सम्बन्ध उस विशिष्ट अभिरुचि को जन्म देता है जो नये सोवियत उपन्यासो में एक विशिष्ट साहित्यिक पैटर्न को ही अपने लिए खोजती रहती है। वर्ग विभाजित समाज की अनेक-विध विषमताओ से ग्रस्त वातावरण को प्रस्तुत करनेवाले साहित्य में यदि हमारा पाठक अपनी वास्तविकता के बिम्ब-चित्र का आभास प्राप्त कर ले, तो उसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। गलती तो तब होती है जब वह नवीन सोवियत उपन्यास मे अपना पैटर्न न पाकर मन-ही-मन अप्रसन्न हो जाता है, और अपनी अप्रसन्नता को बौद्धिक और साहित्यिक जामा पहनाने लगता है। ध्यान मे रखने की बात है कि प्रसिद्ध हगेरियन पण्डित-आलोचक लुकाच ने क्लासिकल उपन्यास की दृष्टि से नये सोवियत उपन्यास की आलोचना की थी। वे नवीन सोवियत साहित्य का मर्म ग्रहण नही कर सके थे।

इस पुराने वर्ग-विभाजित समाज के उलझन-भरे संघर्षो मे, बाह्य परिस्थिति-मूलक तथा आन्तरिक मानसिक आघात प्रत्याघातो के बीच, मनुष्य के जीवन की जो उठान (अथवा गिरावट) होती है, उसी के बिम्ब-चित्रो के रूप में उपन्यास के अन्तर्गत चरित्र पाया जाता है। क्लासिकल उपन्यासो की यही सबसे बडी विशेषता है। क्लासिकल रूसी उपन्यासो का यही सबसे बडा गुण है।

अर्थात्, दूसरे शब्दो मे, क्लासिकल उपन्यासो मे सत् और असत् का संघर्ष अनेक स्तरो पर तथा अनेक क्षेत्रो में इतना वृहद् और व्यापक होकर निर्णयकारी हो जाता है कि हम स्थायी रूप से उसका प्रभाव ग्रहण करते हैं। हम प्रमुख पात्र से तदाकार होकर बुरो से घृणा करने लगते है, स्वय अपने को हम दुष्प्रवृत्तियो के शत्रु के रूप में पाते हैं, पीडा और दुख को देखकर हम करुणा से आक्रान्त हो जाते है, और बुरे का जो टाइप, जो चेहरा, हमे उपन्यास मे दिखायी देता है, उसको हम वास्तविक जीवन मे अपने इर्द-गिर्द देखने लगते हैं। सौजन्य के विरुद्ध मानसिक सन्तुलन, और स्वास्थ्य तथा विवेक के विरुद्ध मानव-महत्ता, और गरिमा के विरुद्ध बुराई का जो व्यापक सुविस्तृत षड्यन्त्र है, उसे हम मानव-चरित्र की अहकारमूलक स्थितियो मे परस्पर-सगठित-गुम्फित रूप मे उपन्यास मे देख पाते हैं। बुराई का यह व्यापक षड्यन्त्र अपने लिए वर्ग-विभाजित समाज की ऐसी निर्णयकारी नियन्त्रणशील पीठिका रखता है, जिसमे बडे के द्वारा छोटे के निगले जाने के साथ ही, जिसका प्रभाव मन के भीतर भ्रष्टाचारी और अत्याचारी वृत्तियों के गहरे आत्मप्रश्न विकास और विस्तार के रूप मे हमारे सामने आता है। सत् और असत् के संघर्ष का यह स्वरूप नयी समाज रचना मे आमूलाग्र बदल जाता है। संघर्ष के स्वरूप मे रूपान्तर नये सोवियत उपन्यास की बहुत बडी विशेषता है।

जिस समाज की जनता को यह मालूम हो जाता है कि पुराने शोषक

मालिकों का अन्त हो गया है, और ये नदियाँ, ये झीलें, यह प्राकृतिक सभार, यह विद्युत्-शक्ति, यह जल-शक्ति, खेत और कारखाने उसके हैं, और अब उसको विभिन्न सामूहिक संगठनों में गुम्फित होकर प्रकृति से अपने लिए आवश्यक वैभव छीनना शेष है, तो उस समय उसके आध्यात्मिक बाँध खुल जाते हैं, और वह अपनी सामूहिक विधायक प्रतिभा के द्वारा देश का पुनर्निर्माण करता है। जब वह यह पहचानने लगता है कि अब उसे अपने बाल-बच्चों के उदर-पालन की, शिक्षा-दीक्षा की, पारिवारिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में, चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, और अब केवल उसका इतना ही काम है कि वह सम्पूर्ण स्वार्पण-भावना से अपना बौद्धिक शारीरिक श्रम सामाजिक लक्ष्य में केन्द्रित कर दे, तो ऐसी स्थिति में उसकी सम्पूर्ण कारयित्री प्रतिभा, सृजन शक्ति और विधायक वृत्तियाँ जाग उठती हैं, और वह निर्णायक तल्लीनता के साथ अपने कार्य में जुट पड़ता है।

मनुष्य के मन का यह रूपान्तर इतने व्यापक पैमाने पर और इतनी तीव्र गति से होता है कि उसकी सारी आध्यात्मिक शक्ति सक्रिय हो जाती है। फलतः, लक्ष्य के पथ के बीच विघ्न उपस्थित करनेवाली स्वार्थवादी वृत्तियों, अहग्रस्त विक्षेपों और अवसरवादी रुझानों के पुंज को या तो नष्ट-भ्रष्ट हो जाना पड़ता है, या रात में उड़ते हुए चिमगादड़ों के समान लोगों की आँखों को बचाकर, इक्के-दुक्के, अपने शिकार के लिए भटकना पड़ता है।

फल यह होता है कि बुराइयों का जो व्यापक, विस्तृत और संगठित षडयन्त्र हमें वर्ग-विभाजित समाज में देखने को मिलता है, वह नये समाज में दुष्प्राप्य हो जाता है। नये समाज में संघर्ष के स्वरूप में परिवर्तन का यह एक प्रधान कारण है। किन्तु यह भी वस्तु-सत्य है कि पुराने कुसंस्कारों के प्रभाव के कारण, या पूर्वतर वर्ग-विभाजित समाज के मानसिक ध्वंसावशेषों की क्रियाशीलता के कारण, सीधे सादे, ईमानदार, भोले-भाले व्यक्तियों, सुजनों में अनेक विक्षेप उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे लोगों के लिए आलोचन और आत्मालोचन का अस्त्र होता है, जिसके प्रयोग के द्वारा [उन्हें] आत्म-शुद्धि और समाज-शुद्धि के निर्णायक रास्ते पर खड़ा कर दिया जाता है। मतलब यह कि मनुष्य की आत्म-शक्ति पर भरोसा रखते हुए उसके साथी तथा अनुकूल परिस्थिति असंगति-पूर्ण मनुष्य को सीधे रास्ते पर ले आती है। संघर्ष का यह रूप हमें सोवियत उपन्यास में पर्याप्त मिलता है। अत्यन्त करुण तथा हृदय को छूनेवाले दृश्यों को उपस्थित करनेवाला उपन्यास हार्वेस्ट इसका एक साधारण उदाहरण है।

असलियत यह है कि नये समाज में बुराइयों को विकसित और संगठित करनेवाली सामाजिक आधार-भूमि के न होने के कारण, वे जल्दी उघार दी जाती हैं और तुरन्त उनका इलाज कर दिया जाता है चाहे वे किसी भी श्रेणी की बुराइयाँ क्यों न हों। थोड़े-से नकारात्मक व्यक्तित्व बहुत ही विरल और बहुत ही छुपे-छुपे रहते हैं। किन्तु किसी संकट की स्थिति में, युद्ध की परिस्थिति में, वे सक्रिय हो जाते हैं। तब उनके उन्मूलन की बृहत् शक्तियाँ सक्रिय हो उठती हैं। सोवियत के विशाल, अनगिनत युद्ध-उपन्यासों में कई बार ऐसे चरित्र भी दिखायी देते हैं। नात्सी शत्रु के विरुद्ध संघर्ष के अन्तर्गत इन चरित्रों से संघर्ष एक ही लक्ष्य की एक ही क्रिया को सूचित करता है। निष्कर्ष यह कि समाज में

बुराई का व्यापक विशाल षड्यन्त्र न होने के कारण संघर्ष आलोचन, आत्मा-लोचन के स्तर पर रहता है, असत् के उद्घाटन और परिहार तक सीमित रहता है। मात्र व्यक्तिगत संघर्ष भी इसी श्रेणी के अन्दर आता है। और जनता के शत्रु के साथ संघर्ष भी बहुत बार दिखायी देता है। वास्तविक बात यह है कि नये समाज में संघर्ष होता है उच्च से उच्चतर का, पुरानी मानसिक प्रवृत्तियों से नवीन उत्साह का, जिज्ञासा का, सृजन का, श्रम का, पुरानी कार्य-शैली से नयी शैली का, पुराने व्यक्तित्व से नये व्यक्तित्व का, जबकि पुराना व्यक्तित्व आज की स्थिति की आवश्यकताओं के अनुसार सक्रिय न हो। नये सोवियत उपन्यास में संघर्ष का प्रमुख रूप यह है।

क्लासिकल उपन्यासों और नवीन सोवियत उपन्यास में चरित्र-चित्रण की कल्पना में भेद है। आधुनिक पाश्चात्य औपन्यासिकों की अति-मनोवैज्ञानिकता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। क्लासिकल उपन्यास में विरोधी स्थिति-परिस्थितियों के विरुद्ध आत्म-सत्ता की स्थापना की दृष्टि से पात्रों का विकास होता है। दूसरे शब्दों में, क्लासिकल उपन्यास पात्र के निजी जीवन का चित्रण करता है, उसके ज़रिये सामाजिक विषमताओं का उद्घाटन किया जाता है। पात्र के निजी व्यक्तित्व की विशेषताओं की प्रक्रियाओं के बीच परिस्थितियों को, और परिस्थितियों के बीच व्यक्तित्व की विशेषताओं को रखकर सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया जाता है। फल उसका यह होता है कि व्यक्ति ही प्रधान होता है, और हम उसकी वैयक्तिक गतिविधियों के, उसके भाग्य के, दर्शन करते हैं। व्यक्ति का चित्रण इस प्रकार होता है कि जिससे उसके जीवन के माध्यम से हम सारे समाज

अतएव उसके माध्यम से कल-कारखानों, खेतों, वैज्ञानिक अनुसन्धानों के मानवीय पक्ष का, जीवन के और जनता के अभ्युत्थान का, चित्रण किया जाता है। फल यह होता है कि सोवियत उपन्यास में पात्र का निजी जीवन सामाजिक जीवन में घुला-मिला होता है, उससे पृथक् होकर स्वतन्त्र रूप से उसकी अलग धारा नहीं बहती। व्यक्ति को उसके सामाजिक कार्य से, उसके श्रम से, निजी शैक्षणिक-सांस्कृतिक विकास की आकांक्षाओं से, अलग नहीं किया जाता। अतएव, वहाँ अति-मनोवैज्ञानिकता नहीं होती। किन्तु साथ ही, मनुष्य के स्वस्थ सामाजिक जीवन के क्षणों में उसका मन जिन ऊँचाइयों को छूता है, जिस बन्धुत्व-भावना का अनुभव करता है, जिन लक्ष्य-स्वप्नों में लीन रहता है, प्रकृति के साथ जिस तन्मयता का अनुभव करता है, प्रेम के जिस आवेग में बहता है, तथा लोगों की विपरीत प्रवृत्तियों से जिस प्रकार जूझता है—उसका सूक्ष्म और विस्तृत चित्रण उपन्यास में किया जाता है। किन्तु प० रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे व्यक्ति-वैचित्र्य-वाद कहा है, *उसको सोवियत उपन्यास में बिलकुल प्रधान* नहीं बताया जाता। पात्र के चित्रण के साथ उसकी विशेषता तो आयेगी ही। किन्तु व्यक्ति की जीवन-धारा में उसका उतना ही योग होता है, जितना कि वास्तविक जीवन में पाया जाता है। उसकी विचित्र विशेषताओं को उसके वर्तमान और भविष्य के लिए निर्णयकारी के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत नहीं किया जाता कि मानो वही उपन्यास

प्रत्याघातों में, उपन्यास की रुचि का मानवीय केन्द्र तैरता रहता है। नये सोवियत उपन्यास में मानव-जीवन के सामाजिक सृजनशील पक्ष पर, कार्य-श्रम समन्वित मनुष्य के जीवन-चरित्र पर, सामाजिक निर्माण के मानवीय पक्ष पर दृष्टि जमी रहती है।

किन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि पात्र का कोई निजी जीवन होता ही नहीं? निजी जीवन न होता तो व्यक्ति समाज का चेतना केन्द्र ही न होता। वह मात्र एक मृत्पिण्ड होता। किन्तु उसके निजी जीवन के प्रत्येक क्षण में सारे समाज की दिलचस्पी रहती है। उसकी आन्तरिक बाधाओं, विघ्नों, पारिवारिक समस्याओं को सुलझाने तक में सारे समाज का योग होता है। हम उदाहरण के लिए पाठकों को केवल हार्वेस्ट नामक उपन्यास पढ़ने की सिफारिश करेंगे। तब उन्हें समझ में आयेगा कि निजी जीवन में सारा समाज कितनी निर्णायक, कितनी विधायक, रुचि और दिलचस्पी रखता है।

नये सोवियत उपन्यास पर यह आक्षेप लगाये गये हैं कि उसके पात्र आदर्शीकृत व्यक्ति होते हैं, मानो उनमें दोष ही न हो। एक तो यह दोषारोपण गलत है, इस अर्थ में कि सोवियत उपन्यास में जगह-जगह कमजोर पात्रों की सृष्टि हुई है। यह सही है कि उसमें दुष्ट और दुष्प्रवृत्तियोंवाले लोगों का चित्रण अल्प है। वस्तुस्थिति यह है कि जबकि वहाँ पारस्परिक सहयोग से और मानवीय सहानुभूति से ऐसी कमजोरियों को निकाल दिया जाता है, तब उन कमजोर प्रवृत्तियों को चरित्र के विकास और आगामी घटनाओं या दुर्घटनाओं का नियन्त्रक कारण नहीं बनाया जाता। न उसका बनाया जाना कोई मानी भी रखेगा।

पाश्चात्य आलोचकों को नये सोवियत उपन्यास के सम्बन्ध में जो बात खटकती है, वह यह है कि कुछ कमजोर पात्रों को छोड़कर शेष पात्र बड़ी खुशी-खुशी अपनी सारी वृत्तियों को सामाजिक लक्ष्यों में अर्पित कर देते हैं। पाश्चात्य आलोचकों को यह अस्वाभाविक मालूम होता है। किन्तु सुबह से लगाकर शाम तक, विभिन्न संगठनों में काम करनेवाले, आलोचन और आत्मालोचन के शस्त्र से अपने [आप] नित्य अपना संस्कार करनेवाले, लोग यदि ऐसा नहीं करते, तो वे अपने देश को तीस चालीस साल के भीतर दुनिया का एक महान् देश न बना देते। उनका कार्य-उत्साह, उनका उल्लास, उनका आनन्द, उनके स्वार्थशून्य श्रम से जनित है। जिन लोगों ने अपने सामाजिक लक्ष्यों के अधीन अपनी वृत्तियों को कर लिया है, उनमें अहबद्ध मन, आत्मग्रस्त वृत्तियाँ और आत्मकेन्द्री दृष्टि का आपेक्षिक अभाव पाकर, पाश्चात्य आलोचक उन्हें आदमी समझने के लिए तैयार नहीं। वह उन्हें वायवीय समझता है। कितनी गलत धारणा है यह। सोवियत जनता का इससे बड़ा कोई अपमान नहीं हो सकता।

किन्तु क्या सोवियत समाज में समस्याएँ नहीं होतीं? क्या वहाँ पारिवारिक समस्याएँ नहीं होतीं? होती हैं, और उनका चित्रण भी किया जाता है। किन्तु पाश्चात्य समीक्षकों के दुर्भाग्य से, उन समस्याओं का निराकरण सारा समाज करता है। युद्ध में किसी की टाँग टूट गयी है तो, कोई पति अपनी मूर्खता के

कारण अमानवीय दृष्टि ग्रहणकर अपनी पत्नी की उपेक्षा करता है तो, कोई व्यक्ति अपने उत्पादन का झूठा कोटा देकर स्ताखनोवाइट बनना चाहता है तो, विद्यार्थी की कोई मानसिक समस्या हुई तो—जब सारा समाज इस प्रकार काम करता है तो, उसका चित्रण भी उपन्यास मे होता है। पाश्चात्य समीक्षक को यह अस्वाभाविक मालूम होता है। पात्र की कमजोरियाँ समस्याओ को नाटकीय दुर्घटना का रूप नही दे पातीं। किन्तु पात्र की विशेषता और सामर्थ्य भी कोई नाटकीय विकास उत्पन्न नहीं करती, क्योकि वस्तुत वह एक बडी भारी सामाजिक सत्ता का अग-मात्र है। और उसकी यह आगिकता अक्षुण्ण रखी जाती है। इसका सबसे बडा नमूना डानबास नामक उपन्यास है, जिसमे विक्टर नामक पात्र अपने अतुल शारीरिक बल से तथा ध्यान के केन्द्रीकरण से कोयला खोदने का सबसे बडा कोटा पूरा कर डालता है। और यह क्षण-भर के लिए समझा जाता है कि वह अतुल पराक्रमी वीर है, कि उसी दौरान मे आन्द्रे सारी घटनाओ का विश्लेषण करता हुआ कुछ अपने नतीजों पर पहुँचता है। श्रम के मनोहर काव्य के रूप मे डानबास उपन्यास के अध्याय-के-अध्याय प्रस्तुत किये जा सकते हैं। सारी नाटकीयता और काव्य विक्टर के उद्योग मे समाहित है। किन्तु, प्रधान विक्टर नही, आन्द्रे हो जाता है। इसलिए कि आन्द्रे लोकनायक की भाँति सारी परिस्थिति का विचार करता है। चरित्र-चित्रण की सबसे बडी विशेषता यह है कि पात्र के चरित्र-चित्रण के बहाने उसका समाज चित्रित होता है, प्रत्यक्ष रूप से जिसका कि [वह] स्वय एक अग है। पुराने ढग का चरित्र-चित्रण, जिसमे मात्र व्यक्ति ही प्रधान होता है, वह सोवियत उपन्यास मे नही पाया जाता।

इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि उपन्यास की मुख्य दिलचस्पी, उसका प्रधान विषय, पात्र का चरित्र न होकर, वह सम्पूर्ण जीवन होता है, जिसमे कि पात्र रहता है। अतएव बहुत बार यह कहना कठिन हो जाता है कि उसका मुख्य पात्र कौन-सा है। कोई भी प्रधान न बनते हुए कई पात्र एक साथ एक खेत मे या एक कारखाने मे काम करते हैं। खेत या कारखाने का मानव जीवन और मानव-जीवन के अनुपग से खेत-कारखाने भी उतने ही प्रधान हो जाते हैं जितने कि पात्र स्वय। लेकिन साहित्यिक दिलचस्पी सबमे समान रूप से रहती है।

नये सोवियत उपन्यास की सबसे बडी विशेषता है उसके लेखकों की आयु। वे लोग सब नौजवान हैं। युद्ध-क्षेत्र, खेत, कल-कारखाने और प्रयोगशालाएँ, उनका विषय रही हैं। जो जीवन वे जी रहे हैं, उसे चित्रित करने की उन्हें अत्यधिक उत्कण्ठा है। अपने उपन्यासो मे वे नवयुवकोचित उत्साह, विकास की दुर्दम आकाक्षा, श्रम के द्वारा प्रकृति के रूप-परिवर्तन की लालसा, प्रणय प्रकृति के प्रति सूक्ष्म और प्रगाढ सवेदनशीलता और प्रचण्ड देश प्रेम प्रकट करते हैं। सामाजिक श्रम के द्वारा अपने देश के अभूतपूर्व उत्थान की प्रक्रिया को वर्तमान उच्चतर स्तर पर उठाते हुए, भविष्य के उच्चतम तक ले जाने का सकल्प कार्यान्वित किये जाते हुए, दिखलाते हैं। इस सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया की प्रचण्ड धारा मे तैरते हुए व्यक्ति की सृजनशील आकाक्षाओ और उस धारा के अभ्यन्तर के महत्त्व को प्रकट करते है। निश्चय ही यहाँ हम सफल उपन्यासो की चर्चा कर रहे हैं। सोवियत जगत् मे किसी भी नयी साहित्यिक पुस्तक के बारे मे प्रत्येक स्तर पर इतनी बहस होती है, इतना विचार विनिमय होता है कि उसके फलस्वरूप जब यह

निर्णय कर लिया जाता है कि अमुक उपन्यास यथार्थ का कलात्मक चित्रण नहीं करता, तब, ऐसी स्थिति मे, खुले तौर पर मीटिंगों मे, संगठनो मे, लेखकों की यूनियनों मे, प्रस्तावो द्वारा उसकी निन्दा की जाती है, भले ही उसका लेखक ऊँचा-से-ऊँचा क्यों न हो। अभी ही, एकाध साल पहले, इस प्रकार के निर्णय लिये गये थे, और बड़े उपन्यास-लेखकों के उपन्यासों को इस अर्थ मे निषिद्ध ठहराया गया था कि वे यथार्थ का चित्रण भली प्रकार से कर नहीं पाते।

[2]

इस भूमिका के उपरान्त अब हम नवीन सोवियत-उपन्यास की उन विशिष्ट बातो पर आते हैं जिनके बारे मे सोवियत आलोचकों द्वारा बहुधा आलोचना होती आयी है।

पहली बात जो हम भारतीय पाठकों को समझने की है, वह यह है कि नवीन सोवियत तरुण लेखक बहुत बार अपनी सामाजिक वास्तविकताओं के बारे मे, उसके मानव-पक्ष के विषय मे, बहुत ही उचित रूप से और बहुत सुसंगत होकर उत्साहशील होता है। किन्तु, उपन्यास-कला एक कला होने के कारण और उसके नाते, लेखक से यह अपेक्षा रखती है कि वह अपनी वास्तविकता के सम्बन्ध मे अपने उत्साह को रोमैण्टिक धरातल पर न ले जाये। यदि इस प्रकार का उत्साह, यथार्थ के द्वारा जितना उचित माना जाना चाहिए उससे अधिक हुआ, तो उसका आघात भारी कला पर होगा, और वह पात्र एकपक्षीय चित्रण के रूप मे अवतरित होकर, यथार्थ के बिम्ब चित्रों की जो सुसंगत व्यवस्था होनी चाहिए, उसमे बाधा, *असंगति और विघ्न उत्पन्न करेगा। (निश्चय ही ऐसी स्थिति मे, मतभेद की बहुत गुंजाइश रहती है)*। कुछ सोवियत आलोचकों को एलेक्जाण्डर गोचेर का स्टैण्डर्ड-बेअरर्स आदि उपन्यास अतिरंजित, अतिचित्रात्मक मालूम होते हैं। यह तो उसकी शैली की विशेषता है, जिसके द्वारा वह साधारण जन के वीरत्व, बन्धु-भाव और बलिदान शक्ति पर पाठक का ध्यान आकर्षित करता है। असलियत यह है कि यथार्थ के मर्म, मनुष्य के मर्म, का प्रकटीकरण अनेक शैलियों से हो सकता है। दिक्कत तो तब होती है जब यथार्थ के मर्म का स्पर्श करना तो दूर रहा, वह उसके रूप को पकड़कर स्वरूप का गलत अन्दाज लगाता है।

वास्तविकता यह है कि रूस मे आत्म-प्रकटीकरण का राष्ट्रीय माध्यम कथा है। *साहित्य-सृजन केवल व्यावसायिक लेखकों के जिम्मे ही नहीं छोड़ दिया* जाता। फलस्वरूप, कलात्मक वृत्तिवाले शिक्षित लेखक, साहित्य तथा पत्रकारिता का अध्ययन करने के उपरान्त, अपने उन स्थानों पर उपन्यास लिखने लगते हैं जहाँ उन्होंने काम किया था और जिसके पुनर्निर्माण मे उन्होंने योग दिया था। मत्स्य-व्यवसाय, खदानें, जहाजरानी, आर्कटिक पुनर्निर्माण इत्यादि क्षेत्रों के चित्रण के रूप मे असंख्य उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। वे सब सिद्ध कलाकारों के ही हैं, यह नहीं कहा जा सकता।

[अपूर्ण। रचनाकाल अनिश्चित। सम्भवत 1951-52]

समीक्षा की समीक्षा*

साहित्य समीक्षा की समस्याएँ जितनी विविध हैं उतने ही उनसे सम्बन्धित दृष्टिकोण भी। दृष्टिकोण के उस वैविध्य के भीतर बहुधा मात्र वैयक्तिक रुचि और संस्कार की शक्ति ही दिखाई देती है, तो कभी यथार्थदर्शी मौलिक चिन्तन भी प्रकट होता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि समीक्षा के क्षेत्र में विभिन्न मन्तव्यों को प्रकट करनेवाला साहित्य भी समीक्ष्य वस्तु के रूप में ग्रहण किया जाय। इसी दिशा की ओर, हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक श्री प्रभाकर माचवे कृत **समीक्षा की समीक्षा** एक ऐसा प्रयास है जिस पर विद्वानों तथा साहित्य के विद्यार्थियों का ध्यान जाना जरूरी है। हिन्दी समीक्षा की सीमाओं और उसकी समस्याओं पर उन्होंने न केवल अपनी टिप्पणी प्रस्तुत की है, वरन् सम्बन्धित प्रश्नों को इस प्रकार रखा है कि पाठक को बरबस उन सबके सम्बन्ध में सोचने-विचारने के लिए उद्यत होना पड़ता है।

समीक्षा के क्षेत्र में इतने मत-मतान्तर हैं कि वस्तुत यह विचारों, निर्णयों और निष्कर्षों का दण्डकारण्य है। **समीक्षा की समीक्षा** का महत्त्व यही है कि वह इस जगल में कई पगडण्डियाँ बना देती है। पाठक की गन्तव्य दिशा के ज्ञान पर यह निर्भर करता है कि वह अपने लिए इनमें से कौन सा पथ चुने।

कला के क्षेत्र में इतने मतभेदों से माचवेजी स्वय सुपरिचित है, अतएव उन्होंने इस वैचारिक दण्डकारण्य में अनेक पगडण्डियों के जाल का रूप ग्रहण करना ही स्वीकार किया है। इसका एक कारण यह भी है कि उनका दृष्टिकोण विद्यार्थियों को भी दृष्टि में रखना है। फलत वह अनेक वादों और मत-मतान्तरों से उन्हें परिचित कराना चाहता है। इसलिए, माचवेजी ने प्रभूत सामग्री एकत्र तथा व्यवस्थाबद्ध कर दी है। कला-समीक्षा-सम्बन्धी मूल परिकल्पनाओं का उन्होंने पर्याप्त विस्तार से निरूपण किया है तथा मतों का विस्तृत विवरण देने का प्रयास किया है। अगर हम माचवेजी की पुस्तक को विविध मतों का सग्रह अथवा कोष कहे तो अनुपयुक्त न होगा।

प्रस्तुत समीक्षक इस बात के लिए आतुर जान पडता है कि पाठक स्वय अपने विवेक से किसी भी तथ्य, मत अथवा निष्कर्ष को अपना ले। इसी बात को ध्यान में रखकर, उसने दूसरों के लेख-के-लेख अवतरित किये हैं, जो उसके मतानुसार मूल्यवान हैं तथा जिनका अनुशीलन पाठक के लिए आवश्यक है। प्रस्तुत समीक्षक पाठक का सतत मार्गदर्शी न बनकर उसका सहचर रहने में ही अपने को कृतकार्य समझता है। इसका फल यह होता है समीक्षा की समीक्षा की उपादेयता और भी बढ़ जाती है।

हर क्षमता की अपनी सीमा है। इसलिए, इस कार्य-शैली का भी एक दूसरा पक्ष है, जिसे हम उसकी सीमा कह सकते हैं। पहली बात तो यह है कि इस शैली

*प्रभाकर माचवे की पुस्तक 'समीक्षा की समीक्षा' की समीक्षा।

के अपनाने का एक स्वाभाविक परिणाम तो यह हुआ कि माचवेजी किसी भी एक सिद्धान्त-प्रणाली की विस्तृत रूपरेखा, उसके मूलाधारों की विस्तृत व्याख्या, किसी दृष्टिबिन्दु का विशद निरूपण और किसी निष्कर्ष का ऊहापोह नहीं कर सके हैं। उन्हें मात्र अपनी टिप्पणियों से ही सन्तोष करना पड़ा है। किन्तु, विषय ऐसा है कि जिसके प्रति योग्य न्याय करने के लिए टिप्पणियों की विशदता आवश्यक है। फल उसका यह होता है कि माचवेजी के मतों का औचित्य मात्र विश्वास का विषय हो जाता है, वैज्ञानिक विवेक का विषय नहीं। कदाचित्, इसका मूल तथा सर्वप्रधान कारण यह है कि इस समीक्षक को अपने मतों का विशेष आग्रह भी नहीं है, अपने व्याख्यानों से वे पाठक की बुद्धि को अनुशासित करना नहीं चाहते। इस बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि इस समीक्षा-कार के लिए कोई भी बात मूलभूत अथवा अन्तिम नहीं है, जिसे दोष भी कहा जा सकता है।

इस कार्य शैली से दूसरी कमजोरी भी आ जाती है जिसकी तरफ हमारा ध्यान जाना जरूरी है। वह यह है कि यदि लेखक किसी भी प्रश्न पर विविध मतों और अनेक निष्कर्षों की झाँकियाँ प्रस्तुत करता है, तो दूसरी ओर वह, अपने अनजाने ही, ऐसे निष्कर्षों और मतों को अपनी स्वीकृति प्रदान कर देता है जो उसे अच्छे तो लगते हैं, किन्तु जिनका निरूपण और विश्लेषण वह सम्यक् रूप से नहीं कर पाता है। बहुत बार इसका परिणाम यह होता है कि वे मत परस्पर-विरोधी-से प्रतीत होते हैं। हम यहाँ एक उदाहरण लेंगे। रामचन्द्र शुक्ल पर लिखे निबन्ध में वे कहते हैं, 'शुक्लजी इस कारण परम्परा को, छायावाद की पलायनवादी वृत्ति को नहीं देख सके।" (पृ० 23)। दूसरी ओर वे यह कहते हैं - "वस्तुत छायावादी काव्य, नैतिक धरातल पर जनतान्त्रिक समत्व भावना और व्यक्ति की महत्त्व घोषणा का काव्य है।" (पृ० 26)। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि श्री माचवे के अनुसार छायावादी व्यक्ति की महत्त्व घोषणा का काव्य है तो उसमें, पूर्वोल्लिखित मन्तव्य के अनुसार, पलायन वृत्ति कैसे है और कहाँ है, और यदि उसमें 'पलायन वृत्ति' है तो उसमें 'नैतिक धरातल पर जनतान्त्रिक समत्व भावना' कैसे आई। स्पष्ट है कि माचवेजी को अपने विचारों की विशद व्याख्या करनी चाहिए थी। हुआ यह है कि छायावाद के सम्बन्ध में यदि एक ओर उन्हें एक विचार भला मालूम हुआ है, तो दूसरी ओर उन्हें अन्य विचार भी अच्छा लगा है। फलत, उन पर उन्होंने अनजाने ही अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी है। यदि व विस्तृत ऊहापोह करते, सम्यक् व्याख्या करते, तो यह दोष न आता। उनका तरीका मुख्यत इम्प्रेशनिज्म का तरीका है, जिससे बहुत बार बहुत-से महत्त्वपूर्ण तथ्य भी वे सामने रख देते हैं (जैसा कि उनकी भूमिका से स्पष्ट है, जो बहुत अच्छी लिखी गई है) तो उसमें ऐसी असंगतियाँ भी रह जाती हैं। असल बात यह है कि माचवेजी की वृत्ति गुणग्राहक-सर्वग्राहक ही अधिक है।

हम उनकी इस वृत्ति का एक दूसरा उदाहरण भी लेंगे। प्रगतिवादियों की आलोचना की प्रारम्भिक प्रस्तावना म उन्होंने हिन्दी के प्रगतिवाद को ऐसी गाली दी है, जिसे हम उनकी अन्धता कह सकते हैं। किन्तु जब वह व्यक्तिगत प्रगति-

वादी आलोचकों की तरफ मुड़े हैं तब उन्होंने इतनी अनुदारता नहीं बतलाई है। दूसरे, रामविलास शर्मा पर वे काफी बिगड़े हैं। किन्तु उनकी शक्ति, उनकी प्रमुख महत्त्वपूर्ण पुस्तकों (जो हमारे समीक्षा-साहित्य की निधि है) पर वह मौन है। ऐसा क्यों? इतना पक्षपात क्यों? ध्यान में रखना चाहिए कि यदि डाक्टर रामविलास शर्मा ने लोगों को काटा है तो यह भी सच है कि प्रगतिशीलों के विरोधियों ने प्रगतिवादियों की भयानक रूप से विचित्र भर्त्सनाएँ भी की हैं। ऐसी स्थिति में, सैद्धान्तिक दृष्टि से, माचवेजी को यह चाहिए था कि रामविलासजी की क्षमताओं का भी विशद निरूपण करते, जैसा कि उन्होंने नहीं किया।

जहाँ माचवेजी प्रसिद्ध समीक्षा-पुस्तकों की आलोचना को छोड़कर व्यक्तिगत आलोचकों पर उतरते हैं, वहाँ वे बहुत अच्छी तरह अपनी बात कहते हैं। उनकी समीक्षा वहाँ खूब अच्छी तरह गले उतरती है। इसका सबसे बड़ा नमूना उनका लेख है शान्तिप्रिय द्विवेदी पर। समीक्षा की समीक्षा में रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दर दास, गुलाबराय, शचीरानी गुर्टू लक्ष्मीनारायण सुधांशु तथा हिन्दी के अन्य आलोचकों पर लिखा गया है। प्रथम पाँच बड़े निबन्ध हैं। इनमें सर्वोत्कृष्ट निबन्ध रामचन्द्र शुक्ल और लक्ष्मीनारायण सुधांशु पर हैं। इन दो में माचवेजी ने साहित्य के विविध प्रश्नों की चर्चा की है। इससे माचवेजी के ज्ञान, पाण्डित्य तथा समीक्षा-बुद्धि की शक्ति का पता चलता है। मुक्तछन्द पर माचवेजी के विचार जानने योग्य हैं। शचीरानी गुर्टू और गुलाबराय के सम्बन्ध में माचवेजी ने जल्दबाजी की है। गुलाबराय पर उनका लेख, उस लेखक पर न होकर, अपने ज्ञान-सामग्री का संग्रह-प्रकोष्ठ मात्र ही रह गया है। इन पाँच निबन्धों में माचवेजी साहित्य के मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्यशास्त्रीय और दार्शनिक पहलुओं पर उतरे हैं। किन्तु समीक्षा की समीक्षा इतनी संक्षिप्त पुस्तक है कि उसमें सम्बन्धित प्रश्नों का विस्तृत विवेचन होना असम्भव-सा ही था। माचवेजी के समीक्षा-सम्बन्धी मन्तव्यों पर यह कहा जाता है कि उनका झुकाव रसवादी मनोवैज्ञानिक आलोचना की मूलभूत विचारधारा की ओर ही अधिक है, यद्यपि उन्होंने यत्र-तत्र प्रगतिवादियों द्वारा व्याख्यात मतों और निष्कर्षों को भी राह चलते अपना लिया है।

समीक्षा की समीक्षा साहित्य के विद्यार्थी के लिए कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और उपयोगी पुस्तक है। यदि एक ओर माचवेजी नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी से मतभेद रखते हैं, तो दूसरी ओर, इधर-उधर से घूमघाम कर, उनकी पंक्ति में बहुत बड़े मध्यान्तर में बाद बैठते-से दिखाई देते हैं। उनमें और माचवेजी में अन्तर यह है कि प्रस्तुत समीक्षक की उन आलोचकों से साहित्य के वस्तुवादी सामाजिक पक्ष का आग्रह अधिक है। किन्तु, उनके मूल दार्शनिक विचार क्रोचे आदि मायावादी सौन्दर्यवादी चिन्तकों के समीप ही जा पहुँचते हैं, नगेन्द्र और नन्ददुलारे में नहीं। माचवेजी भी प्रगतिवादियों के उतने ही विरुद्ध हैं, कदाचित अधिक विरुद्ध हैं, जितने कि ये लोग।

अन्त में, हम यही कहेंगे कि माचवेजी की समीक्षा की समीक्षा पुस्तक अपनी जगह मूल्यवान तो है ही, यह उनके लेखक से अपेक्षणीय है कि वे स्वयं एक स्वतन्त्र साहित्यिक व्याख्याकार के नाते हमारे सामने समीक्षा-सम्बन्धी एक मूल-

भूत ग्रन्थ उपस्थित करेंगे, जिससे वि लोगों के सामने उनकी कला-चिन्तना का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत हो सके।

[आलोचना, जनवरी 1954 में प्रकाशित। रचनावली के पहले संस्करण में इसका एक अधूरा अंश पृष्ठ 74-78 पर प्रकाशित हुआ था। उस समय तक यह लेख पूरा नहीं मिला था। अब इस दूसरे संस्करण में वह अंश छोड़ दिया गया है और यह सम्पूर्ण लेख यहाँ संकलित है।]

मध्यप्रदेश की 'कहन' शैली

मध्यप्रदेश की साहित्यिक प्रवृत्तियों की कुछ अपनी विशेषताएँ रही हैं, जो अन्य क्षेत्रों में नहीं पायी जातीं। प्रचलित साहित्यिक शैलियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रकट होता है कि यहाँ की शैली में 'कहन' अधिक और अलंकरण कम है। *छायावादियों की उपमालंकृत शैली का यहाँ प्रचार न हो, ऐसी कोई बात नहीं।* फिर भी, कहन की तारीफ यहाँ की विशेषता है। कवि-स्वभाव-भेदानुसार, कहन-कहन में भी फर्क है। *श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव की काव्य-शैली*, जहाँ वह वस्तुतः मौलिक है स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान और श्री माखनलाल चतुर्वेदी की शैलियों से पृथक् है। अपनी व्यक्तिगत शैली की महत्ता को कम करके नहीं आँका जा सकता। जो कवि अपने भाव-विचारों के लिए अपनी स्वयं की शैली पा लेता है, वह सिद्ध कवि है। ऐसे ही कवियों में श्री भवानीप्रसाद मिश्र भी हैं।

कहना न होगा कि इन सब कवियों का अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर आया जा सकता है कि मध्यप्रदेश की एक विशेष काव्य-शैली रही है जिसमें 'कहन' की प्रधानता है। ऐसी शैली उत्तरप्रदेश, मध्य-भारत तथा बिहार में नहीं पायी जाती। *कहन-प्रधान इस काव्य शैली के अन्तर्गत विभिन्न कवियों की अपनी-अपनी व्यक्तिगत* शैलियाँ हैं, जिनके कारण वे अनूठे हो उठे हैं।

इस निवेदन की आवश्यकता इसलिए है कि शैली के मामले में हिन्दी में हमेशा उत्तरप्रदेश का अनुकरण किया गया, आगे चलकर भले ही उस अनुकरण *के जरिये* उसी शाखा की कोई और शैली निकली हो, (जैसे बिहार में)। किन्तु उत्तरप्रदेश की शैली से सर्वथा पृथक् और मौलिक मध्यप्रदेश की शैली रही है। मध्यप्रदेश के जिस कवि में इसका अभाव है, वहाँ उसके व्यक्तित्व पर बाहरी प्रभाव भी आच्छन्न रहता है जिसे तुरन्त ही चीन्हा जा सकता है।

शैली व्यक्तित्व का प्रकाश है, जो उसकी स्वाभाविकता को सिद्ध करती है। इसी अर्थ में मैंने ऊपर 'सिद्ध कवि' शब्दों का प्रयोग किया था।

मैं जब उत्तरप्रदेश से मध्यप्रदेश आया, तब इस प्रदेश की इन विशेषताओं से मैं परिचित हो चुका था। साथ ही यह भी सही है कि मैं यह सोचता *था कि इस* कहन-भरी शैली की अपनी विशेषताएँ होते हुए भी उसकी *अपनी* सीमाएँ हैं, जो

उत्तरप्रदेश में नहीं है। दूसरे शब्दों में सहित अनुभूति, अनुभव या भाव प्रकट करने में इस शैली में सहितत्व की, सम्पूर्ण व्यक्तित्व की, गरिमा तो झलकती है, किन्तु अनुभूति, अनुभव या भाव को विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति और शक्ति प्रकट करने के लिए जिस मनोवैज्ञानिक भूमिका की आवश्यकता होती है, उसका अभाव ही प्रकट होता है। आज भी, बहुत हद तक, मुझे अपनी यह राय साधार प्रतीत होती है। किन्तु इस सत्य को पहला धक्का तब लगा जब श्री रामकृष्ण श्रीवास्तव ने (उन दिनों अप्रसिद्ध या कम-प्रसिद्ध किन्तु अब विख्यात) अपनी सर्वप्रथम रचना 'चट्टान की आँखें' बतायी। इस कविता की प्रमुख विशेषता ही यह थी कि उसकी मूल अनुभूति विश्लेषणात्मक थी और उसके समस्त उपमा-प्रतीक चित्र उसी केन्द्र से प्रस्फुरित हुए थे।

किन्तु, मध्यप्रदेश में जिस साहित्यिक प्रवृत्ति का जन्म हो रहा था, उसके अन्य तत्त्व भी श्री रामकृष्ण की उस कविता में प्रकट हुए। इसलिए अपने साहित्यिक अनुभव के तौर पर मुझे उसको महत्त्वपूर्ण मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। आगे चलकर अन्य अनुभवों ने भी मेरे उन निष्कर्षों को मजबूत बनाया जो मैंने उस कविता को देखकर निकाले थे। वे यह थे कि जिन दिनों पूरे हिन्दी भारत में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद नाम की जिन दो अलग-अलग और परस्पर-विरोधी मानी जानेवाली प्रवृत्तियों को विभिन्न और परस्पर-विरोधी दृष्टियों से ठोका-पीटा जाता था, उन दिनों दोनों ही प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे की पूरक होकर एक ही कविता में प्रकट हुई थीं। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी प्रवृत्तियों की परस्पर-पूरकता मध्यप्रदेश के नये कवियों की विशेषता है, इसमें कोई शक नहीं। यह विशेषता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

कहना न होगा कि श्री रामकृष्ण श्रीवास्तव की महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान कविताओं में कहन की प्रधानता के साथ ही अन्य चित्रात्मक तथा आत्मपरक गुण झलकने लगे। उनकी साहित्यिक प्रवास-यात्रा में उन्हें यद्यपि उद्बोधनात्मक कविताओं का रास्ता भी मिला, किन्तु शीघ्र ही उसने अपना मार्ग बदला, और प्रगतिशील दृष्टि के साथ, सहित-भाव-स्थापनामूलक कहन और विश्लेषणात्मक मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म-दृष्टि (या अनुभूति कह लीजिए) या आत्मपरक स्वर परस्पर मिल जुलकर प्रकट होने लगे। उद्बोधनात्मक कविताओं में भी उन्होंने नये-नये प्रयोग किये। 'ईश्वर करे ऐसा न हो' उनकी एक अत्यन्त कीमती चीज है।

मध्यप्रदेश की नयी साहित्यिक गतिविधियों में श्री रामकृष्ण श्रीवास्तव का स्थान कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। वे शुद्ध अर्थों में यहाँ के सर्वप्रथम प्रगतिशील कवि हैं, जिन्होंने स्वयं जिस नये कवि में प्रतिभा देखी उसे आगे लाने की कोशिश की। इस प्रकार, इस प्रदेश में उन्होंने नये कवियों के लिए उपयुक्त वातावरण बनाया। उनके पूर्व यहाँ की कविता पुराने रोमैण्टिक घेरों में ही पड़ी हुई थी। श्री श्रीवास्तव की प्रगतिशीलता कभी इतनी संकुचित नहीं रही कि उन्होंने नयी कविता—जिसे प्रयोगवादी भी कहते हैं—के विकास में बाधा डाली हो। वस्तुतः, उन्होंने उसे खूब प्रोत्साहन दिया। हाँ, यह सच है कि उनकी स्वयं की कल्पना बहुत हद तक बहिर्मुखी है और भावना अन्तर्मुखी। जिस कविता में इनकी सम-शीलता या तुल्य-बलता स्थापित हो जाती है, वहाँ उनकी कविता विलक्षण हो

उठती है। ऐसी कविता उनकी वहाँ होती है जहाँ वे एक ही रूपक को लेकर चलते हैं। यों कहना चाहिए कि बहिर्मुखता उनके लिए आदत के रूप में है, अन्तर्मुखता नहीं।

श्री रामकृष्ण की कविता का इस प्रकार का विश्लेषण आवश्यक है। इसलिए कि कविता, चाहे वह वस्तुन्मुख ही क्यों न हो, मनुष्य की भीतरी प्रतिमाओं और प्रश्नों के समाधान के रूप में प्रकट होती चलती है। इस प्रकार वह स्वयं के अनुसन्धान और प्राप्ति के प्रयत्नों का बाहरी प्रकाश मात्र है।

किन्तु, मध्यप्रदेश के बाहर श्री श्रीकान्त वर्मा ज्यादा पहुँचे हुए हैं। प्रयागवाद और प्रगतिशीलता का जितना अच्छा समन्वय वर्माजी में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कल्पना और उत्तेजना और संवेदना उनकी निधि है। उनका सामाजिक दर्शन प्रगतिवाद का है।

[अपूर्ण। सम्भावित रचनाकाल 1953-54। सुभद्राकुमारी चौहान की मृत्यु के बाद। रामकृष्ण श्रीवास्तव के कविता-संग्रह के सिलसिले में]

रथ के दो पहिये—साहित्य और राजनीति

प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने हाल ही में कहा कि आज के टेक्नॉलॉजिकल रेवॉल्यूशन के इस जमाने में, जब देश अपने विकास मार्ग में आगे बढ़ रहा है, तब इस विशाल निर्माण-कार्य में जिन जीवन-मूल्यों का उन्मेष हो रहा है, उनका आविर्भाव साहित्य में भी होना चाहिए। प्रधानमन्त्री के वक्तव्य की ध्वनि यह थी कि ऐसी स्थिति में ही साहित्य देश के सांस्कृतिक विकास में अपना योगदान दे सकता है।

प्रधानमन्त्री के इस महत्त्वपूर्ण वक्तव्य की चर्चा हिन्दी पत्र पत्रिकाओं में मुझे आज तक देखने को नहीं मिली। शायद, चर्चा के योग्य यह विषय नहीं समझा गया अथवा पण्डित जवाहरलाल नेहरू से उलझने का साहस कम होने से (एक जमाना था जब हिन्दी के नाम पर पण्डितजी से उलझा जा सकता था, किन्तु अब की स्थिति दूसरी है, हिन्दी के साहित्यिक पार्लामेंट में, रेडियो विभाग में, पुरस्कार-वितरण समितियों में, और प्रकाशन विभागों में डटे हुए हैं) शायद इस सम्बन्ध में चर्चा नहीं हुई। बहस के अभाव का एक कारण यह भी हो सकता है कि साहित्यिकों का मत यह है कि (पण्डित नेहरू द्वारा उल्लेखित) देश के विकास के स्वप्न से साहित्य का कोई भीतरी सम्बन्ध है नहीं। शायद, इस मत ने पण्डित नेहरू के मन्तव्य को सुना-अनसुना कर दिया।

जिन लोगों को विभिन्न हिन्दी-भाषी-प्रान्तों के सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से छोटे-बड़े और मझोले साहित्यकारों का व्यक्तिगत अनुभव है, वे यह कह सकने

की स्थिति मे [है] कि अधिकाश साहित्यिक राजनीति से परहेज के नाम पर इतनी योग्यता रखना भी अनुचित समझते हैं कि देश के सामने प्रस्तुत आर्थिक-सामाजिक-सास्कृतिक समस्याओ पर चलनेवाली बहस मे सक्रिय दिलचस्पी लेने की स्थिति अपने लिए गवारा कर सकते हो। इसीलिए, अधिकाश साहित्यिक अखबारो को पढना नापसन्द करते है। जो बडे हैं, वे अखबारो को टटोलने की प्रवृत्ति सिर्फ इसलिए रखते है कि फलाँ तारीख को दिया गया उनका भाषण उसमे प्रकाशित हुआ है या नही। बहुधा अखबारी सम्पादको से उनके सबध का आधार भी लगभग यही होता है। नि सन्देह, मनुष्य जीवन इतना गौरवमय है कि इसके अपवाद भी बहुतेरे है। किन्तु एक प्रवृत्ति के रूप मे, इस तथ्य को स्वीकार करना ही पडेगा।

देश की ऐतिहासिक विकास-प्रवृत्तियो द्वारा प्रस्तुत घटनाओ और समस्याओ से बेखबर रहने के पीछे सिद्धान्त भी है। वह सिद्धान्त है मानवता की सेवा। अधिकाश साहित्यिक मानवता और राजनीति को अलग-अलग करके देखते हैं। राजनीति हेच है, विज्ञान, शायद, उससे कुछ अच्छा है लेकिन वह तो नाश का भी कारण हो सकता है। इसलिए, मानवता की सेवा 'साहित्य-साधना' द्वारा ही की जा सकती है। हमारे साहित्यिक जिस 'साहित्य-साधना' द्वारा जिस ढग से 'मानवता की सेवा' कर रहे हैं, वह सब पर प्रकट है, और कुछ बडे साहित्यिकों को छोडकर शेष का नैतिक तथा बौद्धिक प्रभाव समाज पर उलटा है। मगर पडित जवाहरलाल नेहरू अपने सम्पर्क मे आनेवाले हिन्दी के साहित्यिकों की आकृति-प्रकृति तथा उनके द्वारा सुनाई गई रचनाओ से प्रभावित होकर उनके बारे मे बनाये गये अपने मतो के आधार पर, हिन्दी साहित्य के सबध मे स्वय के अनुमानो को मत का रूप देकर गुस्से मे कुछ प्रकट करने लगें, और उन मतो से हिन्दी साहित्यिको का जी दुखे, तो प्रधानमत्री के विरुद्ध प्रतिक्रिया करने के पहले वे जरा अपने को तथा हिन्दी साहित्य की मौजूदा हालत को टटोलें, तो उनका और देश का भला होगा।

राजनीति की परिभाषा दुनिया मे चाहे जो होती हो, 'मानवता की सेवा' करनेवाले साहित्यिकों की उसकी अपनी परिभाषा है। देश के विकास के लक्ष्य के लिए कई दृष्टिकोणो मे कई मार्गों द्वारा किये जानेवाले वैचारिक और जनतान्त्रिक सघर्ष किसी समस्या के सभी पहलुओ को उदघाटित करते हैं। यहाँ तक कि राजसत्ता भी अन्य दलो द्वारा किये गये इस सघर्ष से फायदा उठाती है। उदाहरण के लिए, दूसरे पचवर्षीय आयोजन की आलोचना के तीन पक्ष हैं: (1) व्यक्तिगत उद्योगो के क्षेत्र के विकास की ओर सरकार ध्यान दे, (2) करवृद्धि तथा डेफिसिट फिनेंसिग का इतना भार जनता पर न हो कि वह भयकर कष्ट मे पड जाये, उसका अधिक से अधिक भार धनी वर्गों पर डाला जाये; (3) सरकार आयोजन की अमलदराजी ठीक ढग से करे, यानी इस क्षेत्र मे भ्रष्टाचार न हो। इस रग की आलोचना की गई है, और बराबर सरकार ने उससे फायदा उठाया है, और जनता ने भी इस आलोचना से लाभ प्राप्त किया है। इसीलिए जनतत्र मे विरोधी पक्ष को सवैधानिक मान्यता प्राप्त होती है। उसके द्वारा जनता तथा सरकार के सामने विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत होते हैं और जनता तथा सरकार दोनों उससे फ़ायदा उठाकर अपना-अपना मत

निर्धारित करते हैं। किसी भी ढंग के जनतंत्र में यह वैचारिक संघर्ष अनिवार्य है, और यहाँ तक कि सामूहिक तानाशाहियत के ढंग का देश रूस भी कदम-ब-कदम, इस संघर्ष को संवैधानिक मान्यता देने की ओर मजबूर होता जायेगा।

कहने का तात्पर्य यह कि सक्रिय राजनीति से अलग रहना एक बात है, किन्तु अपनी अज्ञता के वशीभूत होकर राजनीति के कल्याणकारी धर्म से इन्कार करना दूसरी बात है, और, राजनीतिक कल्याणकारी दृष्टि से, राजनीति के क्षेत्र में काम करनेवाली हीन प्रवृत्तियों की आलोचना करना तीसरी बात है। दुनिया में महात्मा गांधी, पण्डित नेहरू, अब्राहम लिंकन और लेनिन से लेकर उनके अनेक बुद्धिमान बहादुर अनुयायी आज भी दुनिया में किसी लक्ष्य के लिए मर-खप रहे हैं। इस तथ्य को और इस मानव दृश्य को भूल जाना खतरनाक मूढ़ता के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

समझ में नहीं आता कि यदि उखाड़-पछाड़ के तथ्य की बुराई को ध्यान में रख राजनीति की आलोचना की जाती है, तो साहित्य में फैली हुई बेईमानी, कीचड़-उछाल और छिछालेदर और गुटबन्दी को ध्यान में रख साहित्य को हेय क्यों नहीं ठहराया जाता।

भय हो उठा है, तथा महत्त्वपूर्ण दृश्य यह है, कि साहित्य की प्राइवेट बैठकों और ड्राइंगरूमों में जो बात बड़ी मुस्तैदी से कही जाती है, उसे सार्वजनिक रूप से कहने की प्रवृत्ति साहित्यकारों में लगभग नहीं के बराबर है, जबकि राजनीति में सार्वजनिक रूप से अपने विश्वास की शक्ति प्रकट की जाती है। श्रद्धा की बात करने से कुछ नहीं होता। साहित्यकारों को स्वयं के आत्म संवेदित सत्यों की शक्ति पर भी भरोसा है या नहीं इसमें कभी-कभी सन्देह हो उठता है। निजी तौर पर गन्दगी और सार्वजनिक क्षेत्र में भद्रता का यह विद्रूप दृश्य, साहित्य का भी गला घोंटता है, उसमें खरापन और सचाई नहीं आने देता।

साप्ताहिक हिन्दुस्तान में हाल ही में किन्हीं केदारनाथ का एक लेख निकला है, जिसमें यह दुःख प्रकट किया गया है कि आजकल साहित्य राजनीति के पीछे चल रहा है और वह राजनीति का नेतृत्व नहीं कर रहा है। यदि उनके लेख का मतलब यह है कि साहित्य पर राजनीतिक प्रभाव है, और राजनीति पर साहित्य का प्रभाव नहीं, तो लेखक से हमारी कुछ सहानुभूति हो सकती है। साहित्य पर राजनीति का प्रभाव हमेशा बुरा नहीं होता। जो राजनीतिक विचारधारा देश में चलती है, उसका एक सांस्कृतिक पक्ष भी होता है जो साहित्य में निखरता है। हिन्दी में गांधीवाद और मार्क्सवाद के प्रभाव रहे हैं। उससे हमारा साहित्य सम्पन्न भी हुआ है। उनके अभाव में साहित्य गरीब हो जाता। रहा यह कि साहित्य राजनीति का नेतृत्व क्यों नहीं करता, तो इसका मूल कारण यह है कि हमारे हिन्दी साहित्य ने अपने युग तथा देश की प्रगट विवेक चेतना के महाप्रभावशाली चित्र प्रस्तुत ही नहीं किये। तो इसमें, साहित्य के नाम पर रोने की जरूरत है, राजनीति के नाम पर नहीं। राजनीति ने तो हिन्दुस्तान को आज़ादी दिलवाई और आज भी वह देश को आगे बढ़ा रही है।

इस प्रकार की प्रवृत्तियों से ग्रस्त साहित्य ने यदि पण्डित जवाहरलाल नेहरू की बात सुनी-अनसुनी कर दी हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी साहित्य में इस बारे में खुली चर्चा हो तथा सभी छोटे-बड़े

साहित्यिक इस सार्वजनिक बहस में भाग लें। आगे के अंक में हम पण्डित नेहरू के मन्तव्य की व्याख्या करते हुए उसके साहित्य सम्बन्धी पक्ष प्रस्तुत करेंगे।

[सारथी, 20 मई 1956, में 'यौगन्धरायण' छद्मनाम से प्रकाशित। रचनावली के दूसरे संस्करण में पहली बार सम्मिलित]

मध्यप्रदेश का जाज्वल्यमान कथाकार : हरिशंकर परसाई

श्री हरिशंकर परसाई मध्यप्रदेश के उन कथाकारों में से हैं जिनकी कृतियों की आज तक हिन्दी साहित्य में काफी चर्चा होनी चाहिए थी। इसका कारण यह नहीं है कि श्री परसाईजी महान् हैं और उनकी कृतियाँ महान् हैं, वरन् यह कि उनकी कहानियाँ खरी हैं। इस खरेपन में खुरदुरापन है, जो मौजूदा यथार्थ का एक गुण है, किसी आत्मग्रस्त सब्जेक्टिव वृत्ति का लक्षण नहीं। यदि संस्कृति का अर्थ मौजूदा यथार्थ से भागना है, या उस पर मुलम्मा चढ़ाकर उसे नकली सौन्दर्य प्रदान करना है, तो वह संस्कृति बेकार है। इस संस्कृति के जाने-अनजाने ज्योतिर्धरों का प्रकाश अँधेरा फैला रहा है, और उसकी छायाएँ खरे लेखकों पर फैलकर, साहित्य के विस्तीर्ण क्षेत्र में उन्हें चर्चा का विषय भी नहीं बनने देती। लेकिन बहस जरूरी है—साहित्य के विकास के लिए।

साफ कह दूँ कि विदेशों में जिन मौजूदा भारतीय लेखकों की कृतियों का ठाठ से प्रकाशन हुआ है, उन लेखकों में से कइयों से अत्यन्त साधारण हैं। श्री परसाई कलात्मक दृष्टि से प्रगतिशीलता के क्षेत्र में, उनसे कहीं अधिक समर्थ हैं। परसाई-जी बड़े आदमी नहीं हैं कि जिन्हें खुश करने के लिए यह लिखा जा रहा हो, किन्तु उनकी कृतियों में प्रकाशित दिशाकाश की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मानदण्डों का प्रयोग बहुत सावधानी से किया जाना चाहिए। यदि परसाईजी की तुलना, रोम्याँ रोलाँ, गोर्की और तॉल्स्तॉय से करने लगें, तो हमारी बुद्धि की दिक्काल-संवेदना लुप्त हो गयी समझिए। किन्तु कौन जानता है कि भारतीय धरती की उर्वरता श्री परसाईजी के कला-हृदय से फूटनेवाली हो? यह सही है कि बीज आज भव्य वृक्ष नहीं है। किन्तु कौन कह सकता है कि वह सघन-छाय नहीं होगा? शायद ऐसा न भी हो, और श्री परसाई आगे उन्नति न कर सकें, और अनेक प्रख्यात किन्तु मन्द लेखकों में ही उनका स्थान बना रहे। किन्तु आलोचक का यह धर्म है कि वह कृतियों के भीतर से सूचित सामर्थ्य-सम्भावनाएँ लेखक तथा पाठक के सामने रखे।

श्री परसाईजी के मामले में यह और भी जरूरी है। इसलिए कि उनकी कृतियों में प्रकट खरेपन का एक व्यक्तित्व है, उसका एक उद्देश्य है, और गुण-समन्वित उसकी एक पृथक् शैली है। इतनी उपलब्धि के लिए भी बहुत तपस्या लगती है।

जो पाठक तब की बात और थी पढ़ेंगे, उन्हें परसाईजी की क्षमता का पता लग जायेगा। मेरे खयाल से, उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी 'एक घण्टे का साथ' है, जो वस्तुतः हिन्दी की उच्च कोटि की कहानियों में से है। परिस्थितियों के फलस्वरूप

चरित्र में विपर्यासपूर्ण असन्तुलन का जो चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया है वह बहुत ही ट्रैजिक है, किन्तु करुण नहीं। वह विद्रूप है। हाँ, अलबत्ता, कुल मिलाकर इस विद्रूप का उद्घाटन मानव-सुलभ करुण सहानुभूति से किया गया है। उनकी इस क्षमता का दूसरा, किन्तु साधारण, नमूना 'स्मारक' कहानी है। बड़ी-से-बड़ी बात उड़ते-उड़ते कहने की सहज-सुलभ बहिर्मुख वृत्ति के कारण, वह कहानी अपनी पूरी ऊँचाई पर पहुँच नहीं सकी। किन्तु उसमें जो कुछ भी है वह परफैक्ट है। किन्तु, वह परफैक्टपन हमेशा ऊँचाई नहीं होती, यद्यपि हो सकती है। हो सकने और होने के बीच का फर्क महत्त्वपूर्ण है। जो हो, उनकी कुल चीज़ें पढ़ जाने पर यही लगता है कि चरित्र की आन्तरिकता के प्रति श्री परसाईजी का ध्यान कम है। ध्यान दिया जाये तो क्या कहना।

किन्तु परसाईजी का सबसे बड़ा सामर्थ्य संवेदनात्मक रूप में यथार्थ का आकलन है, चाहे वह राजनैतिक प्रश्न हो या चरित्रगत। हमारे यहाँ की साहित्यिक संस्कृति ने सचाई के प्रकटीकरण पर जो हदबन्दी कर के रखी है, उसे देखते हुए श्री परसाईजी की कला सहज ही वामपक्षी हो जाती है। समाज और जनता से दूर, अभिजातवर्गीय 'शिष्टता', 'भद्रता' और 'सौजन्य' ने जो मानसिक सेंसर लगा रखे हैं, वे सबसे पहले हमारे जीवन के सामाजिक और राजनैतिक यथार्थ पर लागू किये जाते हैं। इस सेंसर से ग्रस्त कलात्मक अभिरुचि मौजूदा यथार्थ को ठीक-ठीक ढंग से प्रकट नहीं होने देती। यह तो श्री परसाईजी की व्यक्तिमत्ता है कि वे इस प्रकार के साहित्यिक सौन्दर्य के झमेले में नहीं पड़े। उग्र और तीव्र प्रतिक्रियाओं को काट-छाँटकर उन्हें 'सौम्य' बनाने, यानी शेर को बकरी बनाकर उससे घास चरवाने, का उद्देश्य इस अभिरुचि की विशेषता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि श्री परसाई भौंडे ढंग से प्रगतिशील हैं, नारेबाज हैं। यह बिल्कुल नहीं। किन्तु असलियत को छुपाने के लिए उसे बिगाड़ देने की कला उनके पास नहीं है। उनकी कला यथार्थ प्रकट करने के लिए अनेक मार्गों, यहाँ तक कि दन्तकथाओं तक का प्रयोग करती है। 'भेड़ें और भेड़िये' एक ऐसी ही महत्त्वपूर्ण दन्तकथा है। श्री परसाई इनमें, वस्तुतः, मौजूदा तरुण पीढ़ी की राजनैतिक, सामाजिक तथा मानवीय दृष्टि प्रकट करते हैं। लेखक की कमज़ोरियाँ तथा सामर्थ्य, दोनों की विशेषताएँ प्रातिनिधिक हैं।

परसाईजी की और भी वृहत् सफलताओं के हम आकांक्षी हैं। हम उनके आगे के विकास को देखते रहेंगे।

[(सम्भवत) नया खून के दीपावली विशेषांक, 1956, में प्रकाशित]

मेरी माँ ने मुझे प्रेमचन्द का भक्त बनाया

एक छाया-चित्र है। प्रेमचन्द और प्रसाद दोनों खड़े हैं। प्रसाद गम्भीर सस्मित। प्रेमचन्द के होंठों पर अस्फुट हास्य। विभिन्न विचित्र प्रकृति के दो धुरन्धर हिन्दी

कलाकारो के उस चित्र पर नज़र ठहरने का एक और कारण भी है। प्रेमचन्द का जूता कैनवस का है, और वह अँगुलियों की ओर से फटा हुआ है। जूते की कैद से बाहर निकलकर अंगुलियां बड़े मजे मे मैदान की हवा खा रही हैं। फोटो खिचवाते वक्त प्रेमचन्द अपने विन्यास से बेखबर है। उन्हे तो इस बात की खुशी है कि वे प्रसाद के साथ खड़े हैं, और फोटो निकलवा रहे हैं।

इस फोटो का मेरे जीवन मे काफी महत्त्व रहा है। मैंने उसे अपनी मां को दिखाया था। प्रेमचन्द की सूरत देख मेरी मां बहुत प्रसन्न मालूम हुई। वह प्रेमचन्द को एक कहानीकार के रूप मे बहुत-बहुत चाहती थी। उसकी दृष्टि से, यानी उसके जीवन मे महत्त्व रखनेवाले, सिर्फ दो ही कादम्बरीकार (उपन्यास-लेखक) हुए हैं - एक, हरिनारायण आप्टे, दूसरे, प्रेमचन्द। आप्टे की सर्वोच्च मराठी कृति, उनके लेखे, पण लक्षान्त कोण घेतो है, जिसमें भारतीय परिवार म स्त्री के उत्पीडन की करुण कथा कही गयी है। वह क्रान्तिकारी करुणा है। उस करुणा न महाराष्ट्रीय परिवारो को समाज-सुधार की ओर अग्रसर कर दिया। मेरी मां जब प्रेमचन्द की कृति पढती, तो उसकी आंखो मे बार-बार आंसू छल-छलाते से मालूम होते। और तब—उन दिनो मैं साहित्यका एक जडमति विद्यार्थी मात्र मैट्रिक का एक छोकरा था—प्रेमचन्द की कहानियो का दर्द भरा मर्म मां मुझे बताने बैठती। प्रेमचन्द के पात्रो को देख, तदनुसारी-तदनुरूप चरित्र मां हमारे पहचानवालो म से खोज-खोजकर निकालती। इतना मुझे मालूम है कि मां ने प्रेमचन्द का नमक का दारोगा' पिताजी मे खोजकर निकाला था। प्रेमचन्द पढते वक्त मां को खूब हँसी भी आती, और तब वह मेरे मूड की परवाह किय बगैर मुझे प्रेमचन्द कथा प्रसूत उसके हास्य का मर्म बताने की सफल-असफल चेष्टा करती।

प्रेमचन्द के प्रति मेरी श्रद्धा व ममता को अमर करने का श्रेय मेरी मां को ही है।

मैं अपनी भावना मे प्रेमचन्द को मां से अलग नही कर सकता। मेरी मां सामाजिक उत्पीडन के विरुद्ध क्षोभ और विद्रोह से भरी हुई थी। यद्यपि वह आचरण मे परम्परावादी थी, किन्तु धन और वैभवजन्य संस्कृति के आधार पर ऊँच-नीच के भेद का तिरस्कार करती थी। वह स्वय उत्पीडित थी। और भावना द्वारा, स्वय की जीवन अनुभूति के द्वारा, मां स्वय प्रेमचन्द के पात्रो मे अपनी गणना कर लिया करती थी। मेरी ताई (मां) अब बूढी हो गयी है। उसने वस्तुत भावना और सम्भावना के आधार पर मुझे प्रेमचन्द पढाया। इस बात को वह नही जानती है कि प्रेमच द के पात्रो के मर्म का वर्णन विवेचन करके वह अपने पुत्र क हृदय मे किस बात का बीज बो रही है। पिताजी देवता हैं, मां मेरी गुरु है। सामाजिक दम्भ, स्वांग, ऊँच-नीच की भावना, अन्याय और उत्पीडन से कभी भी समझौता न करते हुए घृणा करना उसी ने मुझे सिखाया।

लेकिन मेरी प्यारी श्रद्धास्पदा मां यह कभी न जान सकी कि वह किशोर-हृदय म किस भीषण क्रान्ति का बीज बो रही है, कि वह भावात्मक क्रान्ति अपने पुत्र को किस 'उचित-अनुचित' मार्ग पर ले जायगी, कि वह किस प्रकार अवसर-वादी दुनिया के गणित से पुत्र को वचित रखकर, उसके परिस्थिति-सामजस्य को असम्भव बना दगी।

आज जब मैं इन बातों पर सोचता हूँ तो लगता है कि यदि मैं, माँ और प्रेमचन्द की केवल वेदना ही ग्रहण न कर, उनके चारित्रिक गुण भी सीखता, उनकी दृढ़ता, आत्म-संयम और अटलता को प्राप्त करता, आत्मकेन्द्रित प्रवृत्ति नष्ट कर देता, और उन्हीं के मनोजगत की विशेषताओं को आत्मसात् करता, तो शायद, शायद मैं अधिक योग्य पात्र होता। माँ मेरी गुरु थीं अवश्य, किन्तु, मैं उनका शायद योग्य शिष्य न था! अगर होता तो कदाचित् अधिक श्रेष्ठ साहित्यिक होता, केवल प्रयोगवादी कवि बनकर न रह जाता।

मतलब यह कि जब कभी मैं प्रेमचन्द के बारे में सोचता हूँ, मुझे अपने जीवन का खयाल आ जाता है। मुझे महान् चरित्रों से साक्षात्कार होता है, और मैं आत्म-विश्लेषण में डूब जाता हूँ। आत्म-विश्लेषण की मन:स्थिति बहुत बुरी चीज है।

जब मैं कॉलेज में पढ़ने लगा तो मेरे कुछ लेखक-मित्रों के पास प्रेमचन्दजी के पत्र आये। *मैं उन मित्रों के प्रति ईर्ष्यालु हो उठा। उन दिनों मैं उन लोगों को* 'जीनियस' समझता था, और प्रेमचन्द को देवर्षि। अब सोचता हूँ कि दोनों बातें गलत हैं। मेरे लेखक-मित्र जीनियस थे ही नहीं, बहुत प्रसिद्ध अवश्य थे और अभी भी हैं। किन्तु वे प्रेमचन्द के लायक न तब थे, न अब हैं।

और यहाँ हम हिन्दी साहित्य के इतिहास के एक मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण मोड़ तक पहुँच जाते हैं। प्रेमचन्दजी भारतीय सामाजिक क्रान्ति के एक पक्ष का चित्रण करते थे। वे उस क्रान्ति के एक अंग थे। किन्तु अन्य साहित्यिक उस क्रान्ति का एक अंग होते हुए भी उसके सामाजिक पक्ष की संवेदना के प्रति उन्मुख नहीं थे। वह क्रान्ति हिन्दी साहित्य में छायावादी व्यक्तिवाद के रूप में विकसित हो चुकी थी। जिस फोटो का मैंने शुरू में जिक्र किया, उसमें के प्रसादजी इस व्यक्तिवादी भाव-धारा के प्रमुख प्रवर्तक थे।

यह व्यक्तिवाद एक वेदना के रूप में सामाजिक गर्भितार्थों को लिये हुए भी, प्रत्यक्षत:, किसी प्रत्यक्ष सामाजिक लक्ष्य से प्रेरित नहीं था। जैनेन्द्र में तो फिर भी मुक्तिकामी सामाजिक छवि-अर्थ थे, किन्तु आगे चलकर 'अज्ञेय' में वे भी लुप्त हो गये। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेमचन्द उत्थानशील भारतीय सामाजिक क्रान्ति के प्रथम और अन्तिम महान् कलाकार थे। प्रेमचन्द की भाव-धारा वस्तुत: अग्रसर होती रही, किन्तु उसके शक्तिशाली आविर्भाव के रूप में कोई लेखक सामने नहीं आया। यह सम्भव भी नहीं था, क्योंकि इस क्रान्ति का नेतृत्व पढ़े-लिखे मध्यम-वर्ग के हाथ में था, और वह शहरों में रहता था। बाद में वह वर्ग अधिक आत्म केन्द्रित और अधिक बुद्धि-छन्दी हो गया तथा उसने काव्य में प्रयोग-वाद को जन्म दिया।

किन्तु, क्या यह वर्ग कम उत्पीड़ित है? आज तो सामाजिक विषमताएँ और भी बढ़ गयी हैं। प्रेमचन्द का महत्त्व पहले से भी अधिक बढ़ गया है। उनकी लोकप्रियता अब हिन्दी तक ही सीमित नहीं रह गयी है। अन्य भाषाओं में उनके *अनुवादकर्ताओं के बीच होड़ लगी रहती है।* प्रेमचन्द द्वारा सूचित सामाजिक सन्देश अभी भी अपूर्ण है। किन्तु हम जो हिन्दी के साहित्यिक हैं, उसकी तरफ विशेष ध्यान नहीं दे पाते। एक तरह से यह यथार्थ से भागना हुआ।

उदाहरणत:, आज का कथा-साहित्य पढ़कर पात्रों की प्रतिच्छाया देखने के लिए हमारी आँखें आस पास के लोगों की तरफ नहीं खिंचतीं। कभी-कभी तो

ऐमा लगता है, जैसे पात्रो की छाया ही नही गिरती, कि वे लगभग देहहीन हैं। लगता है कि हमारे यहाँ प्रेमचन्द के बाद एक भी ऐसे चरित्र का चित्रण नहीं हुआ, जिसे हम भारतीय विवेक-चेतना का प्रतीक कह सकें। शायद, अज्ञान के कारण मेरी ऐसी धारणा होगी। कोई मुझे प्रकाश-दान दे।

किन्तु, कुल मिलाकर मुझे ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द की जरूरत आज पहले से भी ज्यादा बढ़ी हुई है। प्रेमचन्द के पात्र आज भी हमारे समाज म जीवित हैं। किन्तु वे अब भिन्न स्थिति मे रह रहे हैं। किसी के चरित्र का कदाचित् अध पतन हो गया है किसी का शायद पुनर्जन्म हो गया है। बहुतेरे पात्र सम्भवत नये ढग से सोचने लगे हैं। यह भावना साधार है कि ये सब पात्र अपने सृजनकर्त्ता लेखक की मे खोज भटक रहे हैं। उन्हें अवश्य ऐसा कोई-न-कोई लेखक शीघ्र ही प्राप्त होगा।

प्रेमचन्द की विशाल छाया मे बैठकर आत्म-विश्लेषण की मन स्थिति मुझे अजीब खयालो मे डुबो देती है। माना कि आज व्यक्ति पहले-जैसा ही जीवन-संघर्ष मे तत्पर है, किन्तु अब वह अधिक आत्म-केन्द्रित और आत्म-ग्रस्त हो गया है, माना कि इन दिनो वह समाज-परिवर्तन की, समाजवाद की, वैज्ञानिक विकास की, योजनाबद्ध कार्य की, अधिक बात करता है। किन्तु एक चरित्र के रूप मे, एक पात्र के रूप मे, वह सघन और निबिड आत्म-केन्द्रित होता जा रहा है। माना कि आज वह अधिक सुशिक्षित-प्रशिक्षित है, और अनेक पुराणपन्थी विचारो को त्याग चुका है, तथा जीवन-जगत् से अधिक सचेत और सचेष्ट है किन्तु मानो ये सब बातें, ये सारी योग्यताएँ, ये सारी स्पृहणीय विशेषताएँ, उसे अधिकाधिक स्वय-ग्रस्त बनाती गयी हैं। कदाचित् मेरा यह मन्तव्य अतिशयोक्तिपूर्ण है, किन्तु यह भी सही है कि वह एक तथ्य की ही अतिशयोक्ति है।

आश्चर्य मुझे इस बात का होता है कि आखिर आदमी को हो क्या गया है! उसकी अन्तरात्मा जो एक जमाने मे समाजोन्मुख सेवाभावी थी, आज आदर्शवाद की बात करते हुए भी इतनी अजीब क्यो हो गयी? एक बार बातचीत के सिल-सिले मे, एक सम्माननीय पुरुष ने मुझे कहा कि व्यक्ति जितना सुशिक्षित-प्रशिक्षित होता जायेगा, उतना ही बौद्धिक होता जायेगा, और उसी अनुपात मे उसकी आत्मकेन्द्रिता बढती जायेगी, उतने ही उसके मानवोचित गुण (वर्च्यूज) कम होते जायेंगे, जैसे, करुणा, क्षमा, दया, शील, उदारता आदि। मेरे खयाल से उसने जो कहा है, गलत है। किन्तु यह मैं निश्चय नही कर पाता कि उसका मन्तव्य निरा-धार है। शायद, मैं गलती कर रहा हूँगा। जीवन के सिर्फ एक पक्ष को (अधूरे ढग से और अपर्याप्त निरीक्षण द्वारा) आकलित कर मैं इस निराशात्मक मन्तव्य की ओर आकर्षित हूँ।

किन्तु, कभी-कभी निराशा भी आवश्यक होती है। विशेषकर प्रेमचन्द की छाया मे बैठ, आज के अपने आस-पास के जीवन के दृश्य देख, वह कुछ तो स्वाभाविक ही है। साराश यह, कि प्रेमचन्दजी की कथा-साहित्य पढकर आज हम एक उदार और उदात्त नैतिकता की तलाश करने लगते हैं, चाहने लगते हैं कि प्रेमचन्दजी के पात्रो के मानवीय गुण हममे समा जायें, हम उतने ही मानवीय हो जायें जितना कि प्रेमचन्द चाहते हैं। प्रेमचन्दजी का कथा-साहित्य हम पर एक बहुत बडा नैतिक प्रभाव डालता है। उनका कथा-साहित्य पढते हुए उनके विशिष्ट

ऊँचे पात्रों द्वारा हमारे अन्त करण में विकसित की गयी भावधाराएँ हमें न केवल समाजोन्मुख करती हैं, वरन् वे आत्मोन्मुख भी कर देती हैं। और जब प्रेमचन्द हमें आत्मोन्मुख कर देते हैं, तब वे हमारी आत्म-केन्द्रिता के दुर्ग को तोड़कर हमें एक अच्छा मानव बनाने में लग जाते हैं। प्रेमचन्द समाज के चित्रणकर्त्ता ही नहीं, वरन् वे हमारी आत्मा के शिल्पी भी हैं।

माना कि हमारे साहित्य का टेक्नीक बढ़ता चला जायेगा, माना कि हम अधिकाधिक सचेत और अधिकाधिक सूक्ष्म बुद्धि होते जायेंगे, माना कि हमारा वृद्धिगत ज्ञान संवेदनाओं और भावनाओं को न केवल एक विशेष दिशा में मोड़ देगा, वरन् उनका अनुशासन-प्रशासन भी करेगा। किन्तु क्या यह सच नहीं है कि मानवीय सत्यों और तथ्यों को देखने की सहज भोली और निर्मल दृष्टि, हृदय का सहज सुकुमार आदर्शवाद, दिल को भीतर से हिला देनेवाली कर्त्तव्योन्मुख प्रेरणा, भी हमारे लिए उतनी ही कठिन और दुष्प्राप्य होती जायेगी ?

ओह! काश, हम भी भोली कलों से खिल सकते! पराये दुःख में रोकर उसे दूर करने की भोली सक्रियता पा सकते! शायद मैं विशेष मन स्थिति में ही यह सब कह रहा हूँ। फिर भी मेरी यह कहने की इच्छा होती है कि समाज का विकास, अनिवार्यतः, मानवोचित नैतिक-हार्दिक विकास के साथ चलता जाता है, यह आवश्यक नहीं है। सभ्यता का विकास नैतिक विकास भी करता है यह जरूरी नहीं है।

यह समस्या प्रस्तुत लेख के विषय से सम्बन्धित होते हुए भी उसके बाहर है। मैं केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि प्रेमचन्द का कथा साहित्य पढ़कर हमारे मन पर जो प्रभाव होते हैं, वे धीरे-धीरे हमारी चिन्तना को इस सभ्यता-समस्या तक ले आते हैं। क्या यह हमें प्रेमचन्द की ही देन नहीं है ?

[राष्ट्रभारती (1953-57 के बीच) में प्रकाशित]

शमशेर : मेरी दृष्टि में

शमशेर का काव्य अनेक दृष्टियों से मुझे आकर्षित करता रहा है—शिल्प के कारण, काव्य-व्यक्तित्व के कारण। प्रश्न यह है कि काव्य-व्यक्तित्व के भीतर की वह कौन-सी सक्रिय आवश्यकता है, जिसने अपनी अभिव्यक्ति के शिल्प का विकास किया ? शमशेर के काव्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न और भी सही है। कहना न होगा कि शिल्प की दृष्टि से शमशेर हिन्दी के एक अद्वितीय कवि हैं।

अपने स्वयं के शिल्प का विकास केवल वही कवि कर सकता है, जिसके पास

वाला मौलिक-विशेष आत्मचेतस् भी होना चाहिए। यदि यह मौलिक-विशेष आत्मचेतस् न हुआ, तो उसका तो यह आग्रह नहीं रहेगा कि उसके मनस्तत्त्वों की अभिव्यक्ति उसी के आकार और काट की हो। ऐसा कवि नये शिल्प का विकास न कर सकेगा।

इस मौलिक-विशेष के दो आयाम हैं—एक, मनोरचना अर्थात् आत्मा का भूगोल, और दूसरे, मनस्तत्त्व अर्थात् आत्मा का इतिहास। इस भूगोल और इतिहास से मौलिक-विशेष का निर्माण हुआ है। यह मौलिक-विशेष आत्मचेतस् होकर अपनी सत्ता स्थापित करता है। उसकी आत्म-प्रस्थापना का एक रूप शिल्प का विकास है। दूसरे शब्दों में, शिल्प का विकास काव्य व्यक्तित्व से, अटूट रूप से जुड़ा हुआ है, और उस शिल्प में व्यक्तित्व की क्षमता और सीमा, भाव और अभाव, सामर्थ्य और कमजोरी, ज्ञान और भ्रम, सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होते हैं।

मनोरचना की शैली-विशेष जिस प्रकार कवि के काव्य-व्यक्तित्व को एक रूप देती है, उसी प्रकार कवि के जीवन और चरित्र का विकास उसके आग्रहशील अनुरोधपूर्ण काव्यमनस् और उसके तत्त्वों को निर्धारित करता है। इस दिक् और काल, भूगोल और इतिहास, के परस्पर प्रतिक्रियान्वित रूप का अध्ययन काफी मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इस मार्ग पर चलने से शमशेर के काव्य के विश्लेषण का कर्तव्य बहुत लम्बा हो जायेगा, और, सम्भवत, उस कर्तव्य को सफलतापूर्वक पूरा कर भी न सकूंगा।

अतएव, शमशेर के सम्बन्ध में मैं अपनी कुछ बुनियादी प्रतिक्रियाओं को ही यहाँ रखना चाहूंगा। शमशेर एक समर्पित कवि हैं। उन्होंने अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग और प्रदीर्घ काव्यक्षण काव्यसाधना में बिताये हैं—नि स्वार्थ भाव से, यश प्रार्थी न होकर। शमशेर की आत्मा ने अपनी अभिव्यक्ति का एक प्रभावशाली भवन अपने हाथों तैयार किया है। उस भवन में जाने से डर लगता है—उसकी गम्भीर प्रयत्नसाध्य पवित्रता के कारण! भाषा के विकास-स्तर का नीचापन, अपने अनुकूल सिद्ध हो सकनेवाली और सहायता दे सकनेवाली किसी परम्परा का अभाव, रसज्ञ आलोचकों और मर्मज्ञ पाठकों के स्थान पर विरोधी वातावरण, आदि अनेक असुविधाओं और कठोर उपेक्षाओं के बीच, जिस आत्मा ने दुर्निवार रूप से, दुनिया की परवाह न करते हुए, सस्ती ख्याति के चक्कर में न पड़कर, जो अभिव्यक्ति शिल्प तैयार किया वह हिन्दी साहित्य को एक अनूठी देन है। शमशेर, नि सन्देह, एक अद्वितीय कवि हैं। उनकी काव्य-आत्मा नितान्त स्वाभाविक है, बिलकुल खरी है, साथ ही वह रसमय होते हुए उलझी हुई है—उतनी ही उलझी हुई, जितनी कि, और जैसी कि, प्रत्येक वास्तविकता, अपनी मौलिक विशिष्टता में, उलझी हुई होती है।

शमशेर की मूल मनोवृत्ति एक इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार की है। इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार अपने चित्र में केवल उन अंशों को स्थान देगा जो उसके संवेदना-ज्ञान की दृष्टि से, प्रभावपूर्ण संकेत-शक्ति रखते हैं। वह दृश्य-चित्र में उन्हीं अंशों को स्थान देता है, कि जो उसके संवेदना-ज्ञान की दृष्टि से उस दृश्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, अत प्रगाढ़, प्रभावपूर्ण, अंग हैं। केवल कुछ ही ब्रशेज़ में वह अपना काम करके दृश्य के शेष अंशों को दर्शक की कल्पना के भरोसे छोड़ देता है। दूसरे शब्दों में, इम्प्रेशनिस्ट चित्रकार दृश्य के सर्वाधिक संवेदनाघात करनेवाले अंशों

को प्रस्तुत करेगा, और यह मानकर चलेगा कि यदि यह संवेदनाघात दर्शक के हृदय में पहुँच गया तो दर्शक अचित्रित शेष अंशों को अपनी सृजनशील कल्पना द्वारा भर लेगा।

शमशेर ने अपने हृदय में आसीन चित्रकार को पदच्युत कर कवि को अधिष्ठित किया है। इससे एक बात यह हुई है कि कवि का कार्यक्षेत्र (स्कोप) बढ़ गया है। इम्प्रेशनिस्टिक ढंग का चित्रकार जीवन की उलझी हुई स्थितियों का चित्रण नहीं कर सकता—वह उसके किसी दृश्य-खण्ड को ही प्रस्तुत कर सकता है। उस विचित्र दृश्य-खण्ड में भी, वह दृश्य के सूक्ष्म पक्षों को प्रस्तुत नहीं कर सकता। किन्तु कवि वैसा कर सकता है।

शमशेर ने अपने कवि को यही टेक्नीक प्रदान किया है, मनोवृत्ति प्रदान की है, शैली प्रदान की है। और इस प्रकार उसे न्यस्त करते हुए, जीवन का अथाह समुन्दर मापने के लिए उसे छोड़ दिया है। दूसरे शब्दों में, पदच्युत चित्रकार के जिस सिंहासन पर कवि विराजमान है, वह सिंहासन अपनी जादुई शक्ति से कवि को बाध्य करता है कि वह इम्प्रेशनिस्टिक टेकनीक और मनोवृत्ति अपनाये, और इस प्रकार इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकला के मूल नियमों को काव्यकला में गुप्त रूप से संस्थापित करे। किन्तु चित्रकार से कवि का कार्यक्षेत्र बड़ा है। केवल इम्प्रेशनिस्टिक कला उसके लिए अधूरी है। फिर भी, चूँकि वह पदच्युत चित्रकार के सिंहासन पर बैठा है, इसलिए उसका टैक्स तो देना ही होगा, फीस तो चुकानी ही होगी, उस सिंहासन की परम्परा को आगे बढ़ाना ही होगा। संक्षेप में, इम्प्रेशनिस्टिक कला ने शमशेर से त्याग करवाया है, साथ ही उन्हें बहुत कुछ मौलिक और विशिष्ट गुण भी दिये हैं, जो किसी अन्य कवि में नहीं पाये जाते।
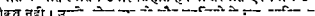
कभी कभी पदच्युत चित्रकार के सिंहासन और उस पर विराजमान कवि में झगड़ा हो जाता है। कवि चाहने लगता है कि सिंहासन के चंगुल से छूटकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करे। और तब शमशेर, एकदम कुलाँट खाकर, क्लासिकल पूर्णता की तरफ अग्रसर होते हैं, और बहुत बार वे सफल होते-से नजर आते हैं। उनकी 'शान्ति' कविता इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सफल उदाहरण है। वे अपने से कितना अधिक हट सकते हैं, इसका वह एक प्रभावशाली प्रमाण है। यह बिल्कुल निश्चित है कि शमशेर क्लासिकल पूर्णता के प्रति हमेशा आकर्षित रहेंगे

. . .

का निर्माण किया है और उसे अभिनव सफलताओं से ज्योतिर्मान बना दिया है। किन्तु साथ ही, उसने शमशेर की सीमाएँ भी निर्धारित कर दी हैं। क्षमता और सीमा का यह मनोहर योग शमशेर को अत्यन्त मौलिक और अद्वितीय कवि के रूप में प्रस्तुत करता है। शमशेर का निरालापन बहुत ही स्वाभाविक और अन्यत्र दुर्लभ है।

सबसे बड़ी बात यह है कि इम्प्रेशनिस्टिक स्वभाव ने शमशेर को 'विशिष्ट' के प्रति प्रेरित किया है। ऐसा चित्रकार वस्तु-दृश्य को प्रस्तुत करता है। किन्तु शमशेर बाह्य-दृश्य के भीतर, भाव-प्रसंग को उपस्थित करते हैं। अन्य कवि केवल भावना व्यक्त करते हैं। यह भावना अनेक भावनाओं की, वस्तुतः, एक श्रेणी

अर्थात् एक सामान्यीकृत भावना होती है। इसके विपरीत शमशेर वास्तविक भाव-प्रसग मे उपस्थित सवेदनाओ का चित्रण करते हैं। सवेदनाएँ वास्तविकता का एक भाग हैं—जो एक वास्तविक परिस्थिति के अन्तर्गत वास्तविक भाव-प्रसग मे उद्बुद्ध होती हैं। वे सवेदनाएँ वास्तविक अर्थात् जीवन-प्रसग से बद्ध हैं। यह जीवन-प्रसग वास्तविकता का एक मूर्त और शक्तिशाली भाग है।

इसके विपरीत, अन्य कवियो मे होता यह है कि मन के कोने म पड़ी हुई प्रसुप्त भावनाएँ जाग्रत होकर एक भाव-तरग बन जाती हैं। ये भावनाएँ मन के कोने मे पडे हुए सचित अनुभव से जुडी रहती हैं। कविता लिखते समय, उन अनुभवो का सामान्यीकरण होकर, भावनाएँ भी सामान्योकृत हो जाती हैं। दूसरे शब्दो मे, यह आवश्यक नियम नही है कि वे भावनाएँ अपने-अपने विशिष्ट वास्तविक प्रसगो के ताने-बाने मे बिंधी हुई ही प्रकट हो, प्रसगबद्ध रूप मे उपस्थित हो। सचित अनुभव के अगरूप मे होने के कारण, वे प्रसग के बजाय, एक रुख (एटीटयूड) के साथ प्रकट होती हैं। यह रुख भावनाओ का सामान्यीकरण कर देता है। वे विशिष्ट प्रसगबद्ध भावनाएँ नही हैं, वरन् सामान्यीकृत भावनाएँ हैं। सामान्यीकरण से मेरा मतलब रस-सिद्धान्त के साधारणीकरण से नही है। यह नही कहा जा सकता कि ऐसी भावना अमुक विशेष प्रसग मे उपस्थित वास्तविक भावना है।

परिस्थिति के भीतर प्रसग उपस्थित होते हैं। परिस्थिति एक विशिष्ट चीज है, सामान्यीकृत नहीं। उ[illegible]
और परिस्थिति के सूत्र,
जीवन प्रसग विशिष्ट हो[illegible]
अनेक तत्त्व आपस मे उलझे हुए होते हैं। इन प्रसगो के विभिन्न तत्त्व एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया करते रहते हैं। प्रसग एक वास्तविक जीवित चीज़ हैं। वे प्रसग आत्मप्रेरक कवि के लिए भाव प्रसग हो उठते हैं। बाह्य जीवन प्रसगो की भाँति ये भाव प्रसग वास्तविक होते हैं। ये भाव प्रसग, जीवन-प्रसग क अन्तर्गत उनका एक अटूट अग हैं। वे वास्तविकता का अखण्डनीय भाग हैं। वास्तविकता के ताने बान मे व बिंधे हुए हैं। वास्तविकता हमेशा, अनिवार्य रूप से अटूट नियम की भाँति उलझी हुई होती है। उसमे दिक् और काल, भूगोल और इतिहास, व्यक्ति और समाज, चरित्र और परिस्थिति, आलोचक मन और आलोचित आत्म-व्यक्तित्व, आदि-आदि घनिष्ठ रूप से बिंधे हुए होते हैं।

वास्तविकता एक फार्मूला नही है। जीवन प्रसग अनेक सूत्रो से, अनेक तत्त्वो मे, उलझे हुए होते हैं। उनके अन्तर्गत, भाव प्रसग उलझे हुए सूत्रो और परस्पर प्रतिक्रियाशील तत्त्वो से बने हुए ज्वलन्त अग्निखण्ड हैं। उनमे स्वपक्ष और परपक्ष के परस्पराघात से एक मन स्थिति और परिस्थिति बन जाती है। ये भाव प्रसग शमशेर के काव्य-विषय हैं। ये भाव-प्रसग विशिष्ट हैं। ये काव्य विषय विशिष्ट है। भाव प्रसग की मौलिक विशिष्टता के भीतरी ताने-बाने शमशेर को अकुलाते रहत हैं। शमशेर सामान्यीकृत भावनाओ, और सामान्यीकृत रुखा के कवि नही है।

शमशेर पर लगाया गया यह दोषारोप कि वे उलझे हुए हैं और उनकी बात समझ म नही आती, उस आदत को सूचित करते है, जिसे हम सामान्यीकरण की आदत कह सकते हैं। चिन्तन के अनुशासन से विहीन व्यक्ति भी बहुत आत्म-

विश्वास के साथ सामान्यीकरण करता रहता है। सामान्यीकरणों की इस आदत को ही हम यान्त्रिक विचार-शैली कहते हैं। यान्त्रिक विचारणा विशिष्ट के आन्तरिक ताने-बाने, उसकी मौलिक विशेषताओं, और उसके समृद्ध रूप-तत्त्व की उपेक्षा करके चलती है। यान्त्रिक विचारणा से अनेक हानियाँ हुई हैं। साहित्य-चिन्तन में यान्त्रिक विचारणा की कमी कभी नहीं रही। विशिष्ट की मौलिकता की कीमत पर, अर्थात् उसकी मौलिकता की उपेक्षा करते हुए, जो सामान्यीकरण होगा, वह छिछला, सतही और यान्त्रिक होगा।

कविता, विशेषकर आत्मपरक कविता, ने हिन्दी साहित्य चिन्तन-धारा को अत्यधिक प्रभावित किया है। हिन्दी की आत्मपरक कविता, व्यक्तिनिष्ठ भले ही हो, उसमें वास्तविक भाव प्रसंगों की मौलिक विशिष्टता का बहुत कम चित्रण किया गया है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी काव्य में वास्तविक प्रणय भावना बहुत थोड़ी जगह और बहुत अल्प मात्रा में है। प्रणय-जीवन के वास्तविक मनोवैज्ञानिक चित्रण की कमी बहुत खेदजनक है। प्रणय-जीवन के सर्वोत्तम कवि आज भी मीरा और सूर हैं। उनके उद्‌गार हमें भीतर से हिला देते हैं, इसलिए कि वे विशिष्ट भाव प्रसंगों का सहारा लिये हुए हैं। विशेष भाव-प्रसंगों की रूपरेखाओं की विस्मृति और प्रणय जीवन के वास्तविक मनोवैज्ञानिक चित्रों की कमी यह सूचित करती है कि विशुद्ध व्यक्तिनिष्ठता अपने ही उद्देश्य को पराजित कर देती है। वास्तविक भाव प्रसंगों में क्रमबद्ध और सक्रिय संवेदनाओं के चित्रण के अभाव में, केवल सामान्यीकृत भावना, प्रकृति पर मन के रंगों का आरोप, केवल एक मूड और एक भावनात्मक रुख, और लगभग गणितशास्त्रीय यान्त्रिक शिल्प—यही तथाकथित आधुनिक रोमैंटिक कविता की उपलब्धि हैं। वास्तविक प्रणय-जीवन काव्य का 'ह्यूमैनाइजिंग इफेक्ट' हमें आधुनिक रोमैंण्टिक कविता में अधिक प्राप्त नहीं होता। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

ऐसे काव्य साहित्य ने साहित्य-चिन्तन-धारा को बहुत अधिक प्रभावित किया है। फलत, 'चिन्तकों' को सामान्यीकृत भावनाएँ चट से समझ में आ जाती हैं—चाहे वे दुरूह छायावादी शैली में ही क्यों न लिखी गयी हों। किन्तु, प्रसंग विशिष्ट संवेदनाएँ, जो एक कथानक और नाटक उपस्थित करती हैं, वे उन्हें समझ में नहीं आतीं। इसीलिए कहा जाता है कि शमशेर के काव्य में उलझन है। वह अस्पष्ट

किया गया और कहा गया कि वह दुरूह है।

'शमशेर की संवेदनशील दृष्टि भाव-प्रसंग के 'विशिष्ट' पर टिकती है। यह 'विशिष्ट' वास्तविकता का अटूट अंग है। वास्तविकता के सूत्रों में वह गुम्फित और ग्रथित है। इस विशिष्ट में एक नाटक है, एक कथानक है, कुछ पात्र हैं, एक पार्श्वभूमि है।

शमशेर इस भाव प्रसंग की वास्तविकता पर अपने मन का रंग नहीं चढ़ाते। वे मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी हैं। उनकी मनोवैज्ञानिकता भाव-प्रसंग के चुनाव में, तथा अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं और बाह्य के संवेदनाघातों के चित्रण में, है। उनकी यथार्थवादिता भाव प्रसंग में, मानसिक प्रतिक्रियाओं की प्रसंग-

बद्धता के निर्वाह में है। ऐसी स्थिति में, यदि मानव-प्रसंग भीतर से बहुत हिला देनेवाला और महत्त्वपूर्ण हुआ, तो शमशेर की प्रतिक्रियाएँ भी तीव्र व्याख्यात्मक रूप से प्रकट होती हैं। शमशेर की प्रतिभा वहाँ अत्यन्त मौलिक और उज्ज्वल रूप में प्रकट होती है। किन्तु यदि वास्तविकता ने भाव-प्रसंग ही कम महत्त्वपूर्ण पेश किया तो वहाँ शमशेर का काव्य भी फीका हो जायेगा। कवि-स्वभाव की दृष्टि से ही यह निश्चित होगा कि कौन-सा भाव-प्रसंग उनके लिए विशेष महत्त्वपूर्ण और कौन सा कम महत्त्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में, विषय की प्रेरणा-शक्ति पर, काव्य की ऊँचाई-निचाई निर्भर करती है। कई कवियों के सम्बन्ध में यह बात सही है। अतएव, शमशेर की मामूली कविताओं को लेकर, उनके विरुद्ध आघात करने से कुछ नहीं होगा। हर कवि साधारण और साथ ही असाधारण कविताएँ लिखता है।

शमशेर मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी कवि होते हुए भी आत्मपरक हैं। उनकी आत्मपरकता उन्हें भाव-प्रसंग के भीतर उपस्थित अपनी संवेदनाओं के चित्रण के लिए बाध्य करती है। उनकी संवेदना वास्तविक है। वह प्रसंगबद्ध है। प्रसंग उस संवेदना के रूप को निर्धारित करता है। शमशेर संवेदनाओं के प्रसंग-विशिष्ट गुणों का बहुत सफलतापूर्वक चित्रण करते हैं। इस चित्रण के बिना इस भाव-प्रसंग का ताना-बाना प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। सामान्यीकृत भावनाएँ प्रकट करना बहुत आसान है, किन्तु भाव-प्रसंग में साक्षात् संवेदनाओं के वास्तविक चित्रण के लिए अनेक नये प्रयोग अत्यन्त आवश्यक हो उठते हैं।

इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार तथा अन्य चित्रकारों की भाँति, शमशेर संवेदनाओं के गुण आत्मचेतस् रूप में जानते हैं। वे न केवल रूप, स्पर्श, रस, गन्ध की संवेदनाएँ पहचानते हैं—यह मामूली बात है—वरन् वे संवेदनाओं के रूप-स्पर्श, रस-गन्ध का चित्रण करते हैं। वास्तविक संवेदनाओं का चित्रण हिन्दी में बहुत ही कम हुआ है। एक भाव प्रसंग में विभिन्न संवेदनाओं के प्रभावकारी गुणों के चित्र प्रस्तुत करना शमशेर ही का काम है। वे एक संवेदना की कोमलता को दूसरी संवेदना की कोमलता से पृथक् कर दोनों की विभिन्न कोमलताओं के चित्र प्रस्तुत करते हैं। शमशेर का संवेदन ज्ञान और संवेदन चित्रण अद्वितीय है।

शमशेर संवेदन-चित्रण मुख्यतः दो प्रकार से करते हैं। संवेदन की तीव्रता बताने के लिए वे बहुत बार नाटकीय विधान प्रस्तुत करते हैं। संवेदन के विभिन्न गुण-चित्र प्रस्तुत करने के लिए वे मन प्रतिमाओं का इमेजेज का, सहारा लेते हैं। ये इमेजेज उनके अवचेतन-अर्धचेतन से उत्पन्न होती हैं। उन इमेजेज में उनके अवचेतन का गहरा रंग होता है। इसके अलावा, शमशेर का शब्द-संकलन अत्यन्त सचेत, और संवेदनानुगामी होता है।

लोगों को शमशेर का काव्य शिल्पग्रस्त प्रतीत होता है तो इसका एक कारण शमशेर के कथ्य की नवीनता है। अभी तक पाठकों और आलोचकों की अन्तश्चेतना इतनी विकसित नहीं हुई है कि वे अपने जीवन में प्राप्त विभिन्न भावना-प्रसंगों के अन्तर्गत स्वयं द्वारा भोगी गयी संवेदनाओं के विभिन्न उलझे हुए रूप, गुण और प्रभाव पहचान पायें। एक चित्रकार होने के नाते, शमशेर की संवेदना-शक्ति और संवेदना ज्ञान अत्यन्त विकसित है। उन्हें बारीक-से-बारीक संवेदनाओं के सूक्ष्म प्रभावों की पहचान है। प्रसंग-विशिष्टता के कारण संवेदनाओं की

भिन्नता और विशिष्टता का चित्रण कर वे यह सोच लेते हैं कि संवेदनाओं की इस विशिष्टता के चित्रण से प्रभावित होकर, पाठक तथा आलोचक उन संवेदनाओं के प्रेरक भाव-प्रसंगों का पूर्ण चित्र मन-ही-मन तैयार कर लेंगे। किन्तु पाठक और आलोचक अभी तक सक्षम और समर्थ नहीं हैं कि संवेदनाओं की विशिष्टता से प्रसंगों की विशिष्टता का आसानी से अनुमान कर सकें। हमारे पाठकों और आलोचकों की आत्म-चेतना अभी काफी कुहरिल है। उनकी आत्म-चेतना के भौगोलिक प्रदेश पर कुहरा होने से, उन्हें अपने मन के ही पहाड़ और घाटियाँ, जंगल और मैदान, धुन्ध के रूप में ही दिखायी देते हैं। कलाकारों का यह कर्त्तव्य है कि वे उस आत्म-चेतना को अधिक भिन्नीकृत स्पष्ट और मूर्त्त बनायें। पाठकों और आलोचकों की वैसी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही है।

इस आत्म-चेतना को विकास के प्रश्न की दृष्टि से देखा जाये, तो यह कहना होगा कि शमशेर आत्मपरक साहित्य की यूरोपीय परम्परा से काफी प्रभावित हैं। इस प्रकार, वस्तुतः, वे नयी कविता के साहित्य की श्रीवृद्धि में बड़ा योग दे रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी कला या उसके मनस्तत्त्व, प्रतिमाएँ और मुहावरे, कथन की शैली अथवा चित्रण की भंगिमा, यूरोप से उधार ली गयी है। इसका अर्थ यह है कि उनकी आत्मा पर, उनकी भावात्मक संस्कृति पर, यूरोपीय आत्मपरक उपलब्धियों का रचनात्मक और प्रशंसनीय प्रभाव पड़ा है। और अगर, शमशेर के काव्यशिल्प से किसी को आपत्ति हो सकती है, या होगी, तो उसका कारण यूरोपीय प्रभाव में नहीं खोजना चाहिए, वरन शमशेर की मनो-रचना के भीतर चित्रकार के सिंहासन पर आसीन कवि [की] सीमाओं में ही खोजना होगा।

शमशेर के आभ्यन्तर सिंहासन से पदच्युत चित्रकार, इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकार है। वह एक विशेष प्रकार का, विशेष स्वभाववाला, विशेष सीमाओंवाला चित्रकार है। इम्प्रेशनिस्टिक चित्रकला के अनुसार, शमशेर पार्श्वभूमि को महत्त्व नहीं देते। वे केवल उन्हीं संवेदनाघातों का चित्रण करते हैं, जो अत्यन्त प्रभावकारी तो हैं ही, साथ ही जो कवि की समझ से विशेष संकेत-महत्त्व रखते हैं।

किन्तु, इम्प्रेशनिस्टिक कला की कुछ अपनी ऐसी विशिष्ट सीमाएँ हैं, जो समुद्र मन्थन के सारे अनुभूत सत्यों को एक साथ प्रकट नहीं होने देतीं। कवि का कार्य क्षेत्र चित्रकार से अधिक विस्तृत है। इसलिए शमशेर चित्रकार के सिंहासन पर बैठकर, उस सिंहासन की जादुई शक्ति से संचालित होकर, अर्थात चित्रकला से प्राप्त संस्कारों के वशीभूत हो, कवि कर्म करते हुए, उन विशेष क्षेत्रों में विचरण करने जाते हैं, जहाँ उनकी चित्रकलात्मक संवेदना और दृष्टि अधिक कारगर साबित नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए शब्द-ध्वनि रंग-शक्ति नहीं है। केवल

भी हो, चाहे दर्शक मन का मनस्तत्त्व हो सही) और प्रकृति में प्राप्त संवेदनाएँ

वह मूलभूत सूचनाओं की सूचना है। यह सूचना प्रथम की तुलना में काफी अमूर्त है, ऐब्स्ट्रैक्ट है। इसलिए, जब तक विशेष और विस्तृत तथा जटिल उपाय अमल में न लाये जायें, तब तक द्वितीय संकेत-व्यवस्था द्वारा दी गयी सूचनाएँ प्रथम संकेत-व्यवस्था का उद्दीपन और उत्तेजन नहीं कर सकतीं। अतएव, चित्रकला में, रंग-संकेत जितने कारगर हो उतने केवल शब्द-संकेत काम न कर सकेंगे, जब तक कि विशेष उपाय अमल में न लाये जायें। फलत, केवल रंगों अथवा केवल ध्वनियों द्वारा सूचित और संकेतित अर्थों को उत्तेजित करने के लिए, जटिल उपाय अमल में लाना आवश्यक हो जाता है। केवल एक-एक शब्द को एक-एक वाक्य का अर्थ देकर संक्षेपीकरण करते रहने से बहुत बार बात नहीं बन पाती। मेरा खयाल है कि शमशेर शब्द संकेत को रंग-संकेत का स्थानापन्न मान बैठते हैं। कवि को चित्रकार का स्थानापन्न बना देने से, और उस स्थानापन्न कवि के सम्मुख कार्यक्षेत्र विस्तृत कर देने से, शमशेर की रचनात्मक प्रतिभा ने बहुत बार घोटाला कर दिया है—ऐसा मेरा खयाल है। शायद यह अनुमान गलत हो। गलत हो तो अच्छा ही है। इस सम्बन्ध में मैं भी अपना समाधान करने का इच्छुक हूँ।

दूसरे, शमशेर के शिल्प के सम्बन्ध में यह बात भी मुझे कहनी है कि प्रसंगबद्ध भावना की प्रसंग विशिष्टता सुरक्षित रखकर, प्रसंग को पार्श्वभूमि में हटाते हुए उसको बिलकुल ही उड़ा देने से, काव्य के रसास्वादन में कुछ तो बाधा होती ही है। जीवन विभिन्न प्रसंग उपस्थित करता है। केवल संवेदना-चित्रों के सहारे पाठक को प्रसंग-कल्पना करनी पड़ती है। वह बहुत बार, सुनिश्चित मूर्त्त संकेत-चिह्नों के अभाव में, प्रसंग-कल्पना ठीक-ठीक ढंग से नहीं कर पाता। यदि पार्श्व-भूमि कुछ अधिक रेखांकित [न] हो तो पाठक को कवि की संवेदना, जो बिलकुल विशिष्ट है सामान्यीकृत नहीं, सहज रूप में हृदयगम्य नहीं होती है। यदि प्रसंग अत्यधिक विशिष्ट है तो पार्श्वचित्र और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं। पार्श्व-भूमि के सहारे, पाठक प्रसंग कल्पना बहुत आसानी से कर सकता है। किन्तु शायद शमशेर बेपर्दगी बरतना नहीं चाहते।

शमशेर, मुख्यत प्रणय-जीवन के प्रसंगबद्ध रसवादी कवि हैं। शायद इसी-लिए, वे आधुनिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप बेपर्दगी नहीं कर सकते। सम्भवत, संक्षेपीकरण की उनकी प्रवृत्ति विशेष तत्त्वों के बारे में अधिक सक्रिय है। यह संक्षेपीकरण सामाजिक, राजनैतिक तथा प्रणय जीवन से हटे हुए अन्य विषयों के क्षेत्र में अधिक सक्रिय नहीं रहता। वहाँ वे कलात्मक पूर्णता की ओर अधिक झुकते हैं। ऐसे क्षेत्रों में, यदि उन्होंने संक्षेपीकरण किया भी, तो भी वह युक्ति-युक्त होता है।

इसका अर्थ केवल यह है कि शमशेर के सृजन-प्रक्रियात्मक सेंसर्स काफी महत्त्वपूर्ण हैं। जो बातें वे नहीं कहते, वे सन्दर्भ की दृष्टि से प्रधान हैं। उनकी प्रधानता गोपन रखने के लिए संक्षेपीकरण की व्यवस्था है।

किन्तु इन कमियों की पूर्ति शमशेर बहुत कुशलता से करते हैं। संवेदनाओं की तीव्रता बताने का उनका नाटकीय विधान और इमेजेज (प्रतिमाएँ) तथा अत्यन्त सचेत, शब्द संकलन प्रभावशाली रूप से सफल होना है।

असल में, शमशेर की आत्मा एक रोमैण्टिक क्लासिकल प्रकार की है। किन्तु

इम्प्रेशनिस्टिक होने के कारण, उनका जोर सवेदन विशिष्टता और सवेदनाघात [पर]—और केवल इसी पर—होने से, वे नयी कविता के एक अद्वितीय कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। महत्त्व की बात यह है कि यह इम्प्रेशनिज्म केवल कुछ ही विषयो—प्रणय-जीवन सम्बन्धी बातो—के सम्बन्ध में अधिक तीव्रता से सक्रिय रहता है।

प्रश्न यह है कि शमशेर की प्रधान उपलब्धियाँ कौन सी है? मेरे मत से, प्रणय-जीवन के जितने विविध और कोमल चित्र वे प्रस्तुत करते है उतने चित्र शायद, और किसी नये कवि में दिखायी नहीं देते। उनकी भावना अत्यन्त स्पर्श-कोमल है। प्रणय-जीवन में भाव-प्रसगो के आभ्यन्तर की विविध सूक्ष्म सवेदनाओ के जो गुण चित्र वे प्रस्तुत करते है, वे न केवल अनूठे हैं, वरन अपने वास्तविक खरेपन के कारण प्रभावशाली हो उठे है। सूक्ष्म सवेदनाओ के गुण चित्र उपस्थित करना बडा ही दुष्कर कार्य है। किन्तु शमशेर उसे अपनी सहानुभूति से सम्पन्न कर जाते हैं। विशिष्ट भाव-प्रसगो की मौलिक विशिष्टता के अन्तर्गत, इन सूक्ष्म, कोमल किन्तु महत्त्वपूर्ण सवदनाओ के ये वास्तव चित्र कहीं ढूँढने पर भी नहीं मिलेगे। बाख के सगीत की स्वर-लहरियो द्वारा उत्तेजित सवदनाओ का चित्रण जो शमशेर ने किया है, वह उनके अनुपम काव्य-सामर्थ्य तथा वास्तवो-मुख भावना का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। शमशेर न सवदनाओं के गुण-चित्र उपस्थित करने के क्षेत्र मे जो महान् सफलताएँ प्राप्त की हैं, कि वे उस क्षेत्र म अन्यत्र दुर्लभ हैं।

मैं यहाँ शमशेर की उन कविताओ को नही भूल सकता जिन्हे हम, व्यापक अर्थ मे सामाजिक, और सकुचित अर्थ मे राजनैतिक, कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिक वस्तुवादी कवि जब सामाजिक भावनाओ तथा विश्व-मैत्री की सवेदनाओ से आच्छन्न होकर मानचित्र प्रस्तुत करता है, तब वह उसी प्रकार अनूठा और अद्वितीय हो उठता है, जैस कि किसी क्षेत्र म भिन्न तथा अन्य कवि कदापि नही। 'शान्ति' पर लिखी शमशेर की कविता क्लासिकल ऊँचाइयो की उपलब्धि कर चुकी है। इससे यह सिद्ध होता है [कि] शमशेर की वास्तवो-मुख दृष्टि और वास्तव-प्राप्त सवेदनाएँ और भी अधिक साहित्यिक उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकती है। सच तो यह है कि शमशेर के पास जादुई कीमियागिरी नहीं है, वास्तव का सवेदनात्मक ग्रहण है। इन वास्तव सवेदनाओ के सूक्ष्म की पकड इतनी जबर्दस्त है कि उनकी शक्ति को देखते हुए यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि शमशेर आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय प्रगतिशील चेतना के और भी उत्तमोत्तम भाव-प्रसग प्रस्तुत करेंगे। शमशेर का काव्य एकदम खरा है, अपने विशेष गुणो क कारण मौलिक है, अपन शिल्प के कारण अद्वितीय है, और य ही बाते उन्हे श्रेष्ठ कवि सिद्ध करती है।

[कृति, अक्तूबर 1958, मे प्रथम बार प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसघर्ष म सकलित]

ओ अप्रस्तुत मन : एक समीक्षा

भारतभूषण की कविता सन्तोष नहीं असन्तोष उत्पन्न करती है, और मन किसी ज्ञात-अज्ञात अधूरेपन की भावना से भर उठता है। यह अधूरेपन की भावना जीवन-जगत् की अपूर्णता और व्यक्तित्व विकास की बाधाओं से सम्बन्धित है, न कि भारतभूषण की काव्य-कला से। उस भावना का लगाव अजनबी चोगा पहने हुए उस सत्य से है जिसे भारतभूषण ने अपने काव्य में उदघाटित करना चाहा है। लेखक पर्दाफाश करना जानता है। जो अजीब सत्य उनकी काव्य-कला में प्रकट हुए हैं, उनके अजनबीपन को उद्घाटित करके यह बता दिया गया है कि असल में वह सत्य बहुत पुराना साथी है, एक पुराना रोग।

ओ अप्रस्तुत मन की कविताओं में कोई पोज नहीं है, कोई चमत्कारपूर्ण भंगिमा नहीं है, कोई मसीहाई ठाठ नहीं है, कोई कवि-सुलभ स्वप्निलता भी नहीं है। रास्ता चलते जो कुछ मिल जाता है, या जो कुछ खुल जाता है उसी ने भारतभूषण के काव्य का रूप धारण कर लिया है।

असल में, ये मामूली आदमी की कविताएँ हैं, हमारे देश का एक सचेत मामूली आदमी अपनी जिन्दगी के रास्ते पर चलते हुए जो तजुर्बे हासिल करता है और नतीजे निकालता है, वही काव्य-रूप में यहाँ सामने आया है।

इसी मामूलियत के कारण ही, भारतभूषण ने अपने इस छोटे-से संग्रह में इस समय हिन्दी में प्रचलित सभी शैलियों को अपनाया है। अपनाया ही नहीं उन्हें नयी चमक भी दी है—यहाँ तक कि उन्हें आधुनिक कर डाला। अब कोई यह नहीं कह सकता कि नयी कवितावाले पुरानी शैलियों का तिरस्कार करते हैं।

लेकिन, भारतभूषण ने छन्दों के अभ्यास अथवा छन्दात्मक प्रयोगों के लिए ये शैलियाँ नहीं अपनायीं, वरन् लेखक के पास वे अन्तर्तत्त्व थे, जिन्हें काव्य सिंहासनाधिष्ठित करने के लिए उसी तरीके का, उसी ढंग का, उसी प्रकार का सिंहासन आवश्यक था। हाँ, यह जरूर है कि कवि ने इन शैलियों में पुरानी मीनाकारी हटाकर उन्हें एक नयी सादगी, नयी कठोरता, और साथ ही एक निरपेक्ष कोमलता भी दी है।

ऐसा क्यों आवश्यक हुआ? इसलिए कि आज का कवि प्रश्न कर सकता है, उसका अपने ढंग से समाधान भी कर सकता है, किन्तु उपदेश नहीं दे सकता। [illegible] त्य की अवतारणा की आवश्यकता [illegible] आवश्यक हुए, जिन्हें पुराने कवि

ओ अप्रस्तुत मन की कविताएँ यह सिद्ध कर देती हैं कि पुराने क्लासिकल साहित्य की उपयोगिता इस युग में और बढ़ेगी, घटेगी नहीं।

तो मतलब यह कि जीवन-यथार्थ के दर्शन से मन में जो आलोचनात्मक *अर्थात् ज्ञानात्मक या रसात्मक प्रतिक्रियाएँ उठती हैं, उन्हीं प्रतिक्रियाओं को* प्रतिक्रियाओं के ढंग में ही प्रस्तुत किया गया है—भले ही इन प्रतिक्रियाओं का स्वर आत्म सम्बोधनात्मक हो या आलोचनात्मक, अथवा उनमें मात्र चित्रण ही क्यों न किया गया हो। ये सारी प्रतिक्रियाएँ एक ऐसे कवि ने की हैं, जिसके पास

कोई आभास-स्वप्न नहीं है, वरन् उसके स्थान पर मात्र सामान्य-बोध है—ऐसा सामान्य-बोध जो पैना और अन्दर की बात बाहर उजागर करने की निर्लज्जता रखता है। भारतभूषण की उपलब्धियाँ खोटी नहीं हैं, न व छोटी है। छन्द, लय, तुक आदि उनके वशीभूत होकर चलते है। भाषा स्वच्छ और अमिश्रित, वाक्य सुथरे, लघु और पूरे, अभिरुचि दोषहीन। दूसरे शब्दों मे, उनका काव्य-शिल्प एकान्तपूर्ण कुटीर नहीं है, सार्वजनिक सस्था है।

इसके बावजूद, इस सार्वजनिक सस्था मे चिर-परिचित अनूठा आत्मपरक स्वर है, तटस्थ निर्वैयक्तिकता होते हुए भी। यही उसका सौन्दर्य है।

भारतभूषण की बहुतेरी कविताएँ आत्म-समीक्षात्मक हैं। किन्तु, इस समीक्षा मे दिल मे उठते हुए धुएँ का रग नहीं, अपने का धोखे मे न रखने की सफाई है। यह आत्म-समीक्षा काली नहीं, सियाह नहीं। उनकी आत्म-समीक्षा दो तरह की है एक वह जो आत्मसम्बोधनात्मक है, दूसरी वह, जहाँ अपने सम्बन्ध मे बात खुलकर कही जाती है। आत्मसम्बोधनात्मक स्वर की कविताएँ खुद को हिम्मत दिलाने का एक तरीका है। ये कविताएँ अच्छी तरह नहीं बन पडी। आत्म-समीक्षात्मक कविताएँ नि सन्देह अच्छी है। उसम अस्वस्थ आत्मनिन्दा नहीं है, वरन् कठोर आलोचना है। स्वय से ही मुठभेड करने का अच्छा दाँव-पेच है। तब बात खुलकर सामन आती है, छोट छन्दो म, सक्षेप म, किन्तु सघन रूप म। पुरानी उपदेशवादी कविता का यह एक नया आत्मपरक सस्करण है। उदाहरणत —

> रस तो अनन्त था, अजुरी भर ही पिया
> जी मे वसन्त था, एक फूल ही दिया
> मिटने के दिन आज मुझको यह सोच है
> कैसे बडे युग म कैसा छोटा जीवन जिया !

किन्तु, अस्वस्थ आत्म-निन्दा न होन से कवि ने अपने मे स्थित जीवन-सामर्थ्य को वाणी भी दी है। 'क्रोध तो अभिव्यक्ति है', 'तुक की व्यर्थता' कर्कश का आवरण' 'कागज की नाव' देवता सावधान !' आदि कविताएँ इसी सामर्थ्य को लेकर प्रकट हुई है। आलोचना का स्वर फिर भी सर्वत्र विराजमान है। कभी वह नाटकीय विधान को लेकर प्रस्तुत होता है। तब कविता बहुत ही मर्मभेदी हो जाती है। इसका उदाहरण है परिणति', जो इस सग्रह की महत्त्वपूर्ण कविताओ मे से है। व्यग्य और जीवन आलोचना इन कविताओ का प्रधान उद्देश्य है। सारी मनोहर बिम्बमालाएँ, प्रभावशाली नाटकीय विधान, चातुर्यपूर्ण वाक् भगिमाएँ, और उकसानेवाली फुसलानेवाली कान म बात करनेवाली लय इसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन मात्र है।

किन्तु यह जीवन-आलोचना किसने की है ? एक ऐसे मध्यवर्गीय जन न जो साफ साफ देखता तो है, और जो दिखायी देता है उसकी सत्यता पर विश्वास भी करता है, लेकिन जो उस सत्यता के आग्रहो की पूर्ति करने की बेवकूफी नहीं करता, अगर वह बेवकूफी करेगा तो अपनी जिन्दगी के तरीके को खड्ड म डाल देगा। दूसर शब्दो म, न वह मार्क्स है, न अलबर्ट श्वाइट्जर ! इस तथ्य को उसने कई बार कई जगह, कई तरीको म, सामने रखा है। यह सही है कि उसकी कई पुरानी श्रद्धाएँ उसकी दृष्टि मे झूठी सिद्ध हुई है। किन्तु इसका कारण ही यह था

कि उनकी श्रद्धा उसके आन्तरिक आग्रह का प्रतिरूप न होकर मात्र बौद्धिक थी।' पुराना बौद्धिक ढांचा टूट गया, नया आया नहीं। यही अगति है। अगतिसूचक जीवन-स्थितियाँ भारतभूषण के काव्य में कई जगह परिलक्षित होती हैं। किन्तु यह अगति वास्तविक है, केवल मनोवैज्ञानिक नहीं। इस अगति से भारतभूषण सचेत हैं। यह उनके काव्य से दृष्टिगोचर होता है।

इस अगतिकता को उन्होंने रहस्यात्मक आभा में नहीं लपेटा है। वह अगतिकता उनकी तटस्थता से सम्बन्धित है। यह तटस्थता उग्र और क्रुद्ध वास्तविकता के आक्रमण से बचने का भी एक खासा तरीका है। कौरवों और पाण्डवों की लड़ाई में, वे पाण्डवों को भी उतना ही गलत मानते हैं जितना कि कौरवों को। शायद पाण्डव ज्यादा गलत हैं, क्योंकि भारतभूषण भी कभी उनके बारे में भावुक रहे थे। मतलब यह कि दुनिया में चलती हुई ठण्डी लड़ाई के बीच उनकी जो तटस्थता है, वह उनकी अगति से सम्बन्ध रखती है। हाँ, भारतभूषण इस जगह आकर अपने को कर्त्ता के रूप में नहीं, द्रष्टा के रूप में उपस्थित करते हैं।

किन्तु अगतिकता आत्मजन्य नहीं, परिस्थितिजन्य है। अर्थात्, उसके कारण-स्रोत मनोवैज्ञानिक न होकर सामाजिक हैं। या यूँ कहिए कि आत्मबाह्य कारक शक्तियों ने मन की वृत्तियों को एक शैली प्रदान की।

किन्तु इस अगतिकता ने कवि के मन में अपनी स्थिति के प्रति खीझ उत्पन्न की, चिढ़ पैदा की। झखमार और क्षोभ की दबी हुई लकीर-सी बनायी। आलोचनात्मक स्वर अधिक प्रखर हो उठा, तटस्थता और बढ़ गयी, निर्वैयक्तिकता ने आत्मपरकता अपनाकर भी अपने प्रति कठोरता का त्याग नहीं किया। भारतभूषण अपने-आपको क्षमा नहीं करते। 'इतिहास का कलक' नामक उनकी कविता इस बात का प्रमाण है। वे जीवन-यथार्थ में तटस्थ नहीं हैं, वरन् उसके योक्ता और भोक्ता हैं। वे उसके सामने जल्दी झुकते भी नहीं हैं। इसीलिए वे कहते हैं :

> लौटकर दुख ग्रीष्म आन दो,
> किरण का हम को तनिक वरदान पाने दो
> उफन जाने दो
> हम अहम को भूलकर
> मेटकर अपनी बनावट
> तोड़ सीमाएँ सभी
> एक दिन फिर से मिलेंगे ज्वार में
> समवेत जीवन के अपरिमित ज्वार में

इसी प्रकार के उद्गार यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। भारतभूषण ने समवेत-जीवन का तिरस्कार नहीं किया है, वरन अपनी विवशताओं की दृष्टि से उसे कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया है। भारतभूषण की आत्म-सम्बोधनात्मक, आत्म-समीक्षात्मक अथवा जीवन आलोचनात्मक कविताओं में एक अजीब व्यक्तिगत स्वर है, जो हमें फुसलाकर-बहलाकर उनके साथ ले जाता है। शब्दों में और बिम्ब-मालाओं में भले ही भावातिरेक का आघात हो, किन्तु स्वर में आघात नहीं, फुसलाने बहकाने की नरमियत है।

उनके काव्य ने अनेक जीवन-सत्यों को उद्घाटित किया है, जीवन की कई असंगतियों का पर्दाफाश किया है। उनके ये उद्घाटन महत्त्वपूर्ण हैं, इसीलिए

आलोचना केवल व्यक्तित्व और व्यक्ति-मानव की शुभेच्छात्मक संवेदनाओं के नैतिक दृष्टिकोण को त्याग नहीं पाती। यह प्रकट करता है कि श्री भारती का वैचारिक अन्तरंग छायावादी है। सभ्यता या समाज अनेक श्रेणियों में सूत्रबद्ध मानव का समुदाय है, जिसके भीतर एक ढाँचा है। इस ढाँचे का एक इतिहास है। इस इतिहास में एक विकास सूत्र है। इस विकास सूत्र के कुछ नियम हैं। इन नियमों के प्रति सच्ची समाजशास्त्रीय जिज्ञासा आवश्यक है। श्री भारती के पूरे मनोलोक में समाजशास्त्रीय जिज्ञासा का नितान्त अभाव है। इस अभाव पर हमें खेद है। खेद इसलिए कि सभ्यता और समाज की प्रचण्ड उपस्थिति श्री भारती के मन में होते हुए भी, वे उस सभ्यता और समाज के स्वरूप के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि से सोचने के लिए तत्पर नहीं हैं, जबकि आज विज्ञान किसी भी फिलॉसॉफी के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो उठा है।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि प्रस्तुत फैण्टेसी यथार्थ की कुछ प्रमुख विशेषताओं को रूपक से प्रकट करती है। यदि श्री भारती में यह समाजशास्त्रीय जिज्ञासा होती, तो इस फैण्टेसी का रूपायन किसी और ढंग से होता, और उसका मूल्य और भी बढ़ जाता।

फिर भी, श्री भारती ने अपनी फैण्टेसी के अन्तर्गत व्यक्तियों द्वारा उभारे गये (उन्हीं के शब्दों में) जिन निष्क्रिय सत्यों, तटस्थ सत्यों और अर्ध-सत्यों को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है, वे सत्याणु, वस्तुतः, कुछ प्रवृत्तियाँ सूचित करते हैं—ऐसी प्रवृत्तियाँ जो संस्कृति और समाज के नेतृ-वर्ग की हैं।

इस वर्ग के शासन-प्रशासन-अनुशासन में चलनेवाली सभ्यता ह्रास-ग्रस्त है। उसका नाश भी अवश्यम्भावी है। किन्तु, सामाजिक रूपान्तरों के घटना-क्रम निक्रमित करनेवाली शक्तियाँ कौन-सी हैं, इसका क्रम-उल्लेख प्रस्तुत काव्य में नहीं है। इसका कारण यह है कि लेखक के मनोलोक में ऐसी किन्हीं शक्तियों की स्थिति की जानकारी या ज्ञान-संवेदना का अभाव है। इस अभाव के फलस्वरूप, मानव-सुलभ आशात्मक भविष्यवाद का एकमात्र आधार वे क्षण हैं जहाँ मनुष्य मनुष्य हो जाता है। यह संवेदना-मग्न व्यक्ति-मानव अपनी संवेदनाओं के सामान्यीकरण के द्वारा ही मुक्ति और दायित्व (उन्हीं के शब्दों में) के प्रयास करेगा।

श्री भारती को यह जानना चाहिए था कि भिन्न-भिन्न वर्गों में मुक्ति या दायित्व की कल्पनाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। दायित्व की जो कल्पना एक श्रमिक की है, वह धनिक की नहीं। जो मजदूर की है वह पूँजीपति की नहीं। मौजूदा जनतन्त्रात्मक प्रणाली द्वन्द्व-प्रणाली है। कामायनी में इडा अपने आत्मनिवेदन में, रहस्यात्मक शब्दावली में ही क्यों न सही, इसे स्पष्ट रूप से प्रकट करती है। इस द्वन्द्व में 'दायित्व' और 'मुक्ति' और 'मर्यादा', यहाँ तक कि 'मानवता' की कल्पना भी भिन्न-भिन्न है।

इसलिए, जिस 'दायित्व' और 'मुक्ति' की कल्पना को सभ्यता के अवलम्ब के रूप में श्री भारती प्रकट करते हैं, वह व्यक्ति-मानव की एक शुभेच्छा में एकरूप, किन्तु विभिन्न वर्गावस्थाओं में भिन्न स्वरूप है। श्री भारती का आशात्मक भविष्यवाद एक बहलावा है। वह बहलावा इसलिए है कि उसमें सामाजिक रूपान्तर के किसी ठोस वैज्ञानिक आधार का अभाव है।

डॉ. देवराज को अन्धा युग पढ़कर, कामायनी की याद आयी। यह स्वाभाविक

है, किन्तु अन्धा युग का लेखक दार्शनिक नहीं है। कामायनी में विचारों और अनुभवों के सामान्यीकरणों का दर्शन है। उसकी आलोचना एक दार्शनिक की समीक्षा-बुद्धि प्रकट करनी है।

श्री भारती की आलोचना एक उत्पीडन-विवेक का विस्फोट है। प्रकृति, दिशा और जीवन-अनुभवों की दृष्टियों से ये दो कवि भिन्न भिन्न क्षेत्रों और स्तरों के हैं।

अन्धा युग नयी साहित्यिक पीढ़ी का एक अत्यन्त मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण प्रयास है—ऐसा प्रयास जिस पर व्यापक बहस होना आवश्यक है। हम इस कृति के लिए श्री भारती का अभिनन्दन करते हैं।

[वसुधा, दिसम्बर 1958, में प्रकाशित]

सुमित्रानन्दन पन्त : एक विश्लेषण

यद्यपि पन्तजी आज हिन्दी के ज्येष्ठतम कवियों में से हैं, मुझे प्रतीत होता है कि वे अभी भी तरुण हैं। तरुण व्यक्तित्व म कृतित्व का जो साहस होता है, और अपने को सतत विकासमान बनाये रखने के लिए जो संवेदनशील जागरूकता रहती है, वह पन्तजी म भरपूर है। इसका मुख्य कारण यह है कि पन्तजी में ऐतिहासिक अनुभूति है, जो हिन्दी के वर्तमान काव्य-क्षेत्र म कम दिखायी देती है। ऐतिहासिक अनुभूति वह कीमिया है जो मनुष्य का सम्बन्ध सूर्य के विस्फोटकारी केन्द्र से स्थापित कर देती है। यह वह जादू है जो मनुष्य को यह महसूस कराता है कि विश्व-परिवर्तन की मूलभूत प्रक्रियाओं का वह सारभूत अंग है। ऐतिहासिक अनुभूति के द्वारा मनुष्य के अपने आयाम असीम हो जाते हैं—उसका दिक और काल उन्नत हो जाता है। ऐतिहासिक अनुभूति के कारण ही, पन्तजी विश्व-परिवर्तन के वर्तमान क्षणों को 'ब्रह्म अहम्' की संज्ञा दे सके। उनके लिए ऐतिहासिक प्रक्रिया एक कास्मिक प्रोसेस हो गयी। किन्तु, पन्तजी की इस ऐतिहासिक अनुभूति के पीछे उनकी मनोरचना सम्बन्धी कौन सी मूलभूत प्रवृत्ति छिपी हुई है?

पन्तजी म वास्तव के प्रति विशेष उन्मुखता रही आयी। प्राकृतिक सौन्दर्य उन्हें केवल उपमाएँ और रूपक ही नहीं देता रहा, वह पूरे रूपाकार के साथ उनके सम्मुख उपस्थित होता आया। उनके यौवनोन्मेषकाल में, प्राकृतिक सौन्दर्य उनके लिए एक वातावरण स्थिति और परिस्थिति लेकर आया। निःसन्देह, पन्तजी में कोमल संवेदनाओं में आप्लुत एक विशेष प्रकार की अन्तर्मुखता थी। शायद, यह कल्पना-वृत्ति की कोमल और आत्यन्तिक तीव्रता के कारण रही हो, अथवा बाह्य से संवेदनाएँ प्राप्त कर, फिर उन्हें मात्र मनोमय बनाकर, उनमें लीन रहने की वृत्ति के कारण रही हो—कहा नहीं जा सकता। किन्तु यह सत्य है कि संवेदनाओं के मूल बाह्य स्रोतों के प्रति वे उन्मुख थे। जिस विशेष अर्थ में पन्तजी प्रकृति-सौन्दर्य के कवि हैं, उस अर्थ म, उदाहरणतः, प्रसादजी नहीं। प्रसादजी प्रकृति के

रूप-सौन्दर्य को आत्मसात् करते है, किन्तु मुख्यत, मानव-प्रसगो के बीच उद्भूत भावनाओ के वर्णन मे व उन प्रकृति-रूपो को खोचकर ले आते है, क्योकि 'प्रकृति-सौन्दर्य' मुख्यत उनका कार्य-विषय नही, मानव-भाव कार्य-विषय है। प्रकृति-सौन्दर्य, साधारणत, प्रसादजी के लिए काव्य का उपादान है। पन्तजी के लिए सर्वत्र ऐसा नही है। प्रसादजी, वस्तुत, अन्तर्मुख कवि हैं। वे भावो को इस प्रकार अनुभूत करते है, इस तरह पहचानते है, जैसे हम अपने घर की भीत, टेबिल, दवात, छडी, आदि वस्तुएँ अच्छी तरह जानते हैं। भाव मानव-प्रसगो के बीच पैदा होते हैं। जिस प्रकार मानव प्रसग उलझे हुए होते हैं, उस तरह भाव भी। भाव चाहे जितने ग्रन्थिल क्यो न हों, प्रसाद म ऐसी विश्लेषणप्रधान मर्म-दृष्टि थी कि जो उन भावो को, सारी जटिलता और समग्रता के साथ, किन्तु फिर भी जहाँ तक बने वहाँ तक सरलीकृत रूप मे, विश्लेषित और सश्लेषित रूप मे, चित्रित करती थी। प्रसादजी की अन्तर्मुखता इतनी गहन थी कि वे अपन अन्तर्जगत् मे उपस्थित भावो को, उनके भेद और अभेद को, रूपो और गुणो को बहुत अच्छी तरह पहचानते थ। इसलिए वे समष्टि-चित्रो द्वारा उन्हे सश्लेषित रूप मे, अथवा उपमा-विधान, प्रतीक-विधान द्वारा विश्लेषित रूप मे अकित कर सकते थे।

मैं प्रसादजी और पन्तजी की तुलना इसलिए कर रहा हूँ कि मेरी बात स्पष्ट हो, और इन दो प्रभावशाली कवियो के काव्य-स्वभावो की विशेषताएँ सामने आ जायें। मैं दोनो के काव्यगुणो के उत्कर्ष-स्तर की बात नही कर रहा हूँ। काव्य मे प्रकट कवि-स्वभावो पर प्रकाश डालने का यह प्रयास है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि प्रसादजी जिस अर्थ मे अन्तर्मुख कवि है, उस अर्थ मे पन्तजी नही। अन्तर्मुखता के बिना अपने ही भावो का स्पष्ट दर्शन, उनकी जटिलता और समग्रता का आकलन, तथा उनकी विश्लेषित और सश्लेषित अभिव्यक्ति असम्भव है। ऐसी अभिव्यक्ति प्रसादजी के पास है, जो पन्तजी के पास नही। पन्तजी अन्तर्मुख कवि नही है—अथवा उनकी अन्तर्मुखता बहुत क्षीण है। पन्तजी अपने भावो को न केवल सरल रूप मे रखते है, वरन उनकी मात्रा भी बहुत कम होती है, और साथ ही उनका आवग भी। पन्तजी के काव्य म हम सयम-असयम दिखायी ही नही देता। हाँ, कही-कही कल्पना का अतिरेकपूण आवग हम अवश्य प्राप्त होता है। वे मात्र निवेदन करते है। उनका काव्य अधिकतर निवेदनात्मक है। सच तो यह है कि पन्तजी अन्तर्तम के गहन भाव-दृश्यो के चित्रकार नही हैं। वैसी अन्तर्मुखता और विश्लेषण-मयी दृष्टि उनके पास है ही नही। वे प्रकृति चित्रो के अतिरिक्त मनोदशाओ और मन स्थितियो के गीतकार रहे है। व साकेतिक-सूचक अर्थप्रवण शब्दो और प्रतीको द्वारा उन स्थितियो और दशाओ को इस प्रकार प्रेषित करते हैं कि पाठक उन्ही मन स्थितियो और मनोदशाओ की सवेदनमय धुन्ध म खो जाता है, उस सवेदनमय धुन्ध को आत्मसात् करता है। ऐसी कविताओ का स्वर, नि सन्देह, मन स्थितियो का सवाहक होता है। प्रसादजी ने कभी स्वर नही साधा। स्वर द्वारा मन स्थिति अन्यो म संक्रमित होती है। अन्तर्तम के गहन भाव-दृश्यो म उलझने की क्षमता और फुर्सत हर एक मे नही होती। पाठक, भाव दृश्यो का विशेषज्ञ पण्डित नही होना चाहता। पन्त उसे सहज रूप से विश्लेषित और सश्लेषित भाव-दृश्य नही देते, वरन् मन स्थिति और मनोदशाएँ प्रदान करते है। वह उनमे अभिभूत हो जाता है। पन्तजी की लोकप्रियता का यही रहस्य है। अपनी

मन स्थिति और मनोदशा को अन्यों में संक्रमित करने की उनमें अद्भुत क्षमता है। प्रसादजी की बहुत-सी कविताओं के लिए (निःसन्देह कुछ को छोड़) साहित्य-विशेषज्ञों की सहायता लेना आवश्यक है। इसीलिए आजकल, शायद, यूनिवर्सिटियों में प्रसादजी को ज्यादा महत्त्व दिया जा रहा है।

पन्तजी के काव्य का यौवनोन्मेष काल प्रदीर्घ है। उनकी कविताओं में ताजगी और नवीन भंगिमा रही आयी। किन्तु दसियों साल बाद, राष्ट्रीय स्वाधीनता के अनन्तर के काल में, उनकी कई कविताओं में पुरानी गूँजें दिखायी दीं। पुराने भाव संशोधित परिवर्तित रूप में आये, और उनके साथ जुड़ी हुई पुरानी शैली और पुराने चित्र भी कुछ फेरफार के साथ अवतरित हुए। हाँ, यह सच है कि उन्होंने बहुतेरे नये प्रयोग किये, उनमें ताजगी है। प्रयोगों में कवि का साहस और अग्रसर होनेवाली प्रतिभा की सूचना भी मिलती है। किन्तु प्रकृति-चित्रों मन-स्थितियों और मनोदशाओं को प्रकट करने की क्षमता रखनेवाला उनका पुराना शिल्प नये का भार वहन न कर सका। सच तो यह है कि विशेष प्रकार के भावों को प्रकट करते रहने से उन भावों में अभिव्यक्ति की आदत पड़ जाती है। उन भावों से जुड़े हुए चित्र, भंगिमा तथा शब्द-सम्पदा आप ही-आप आवृत्त और पुनरावृत्त होने लगती है। तब उनमें ताजगी नहीं रह जाती। वे भाव और उनकी अभिव्यक्ति कण्डीशण्ड रिफ्लेक्स का रूप धारण कर लेती है। अभिव्यक्ति में यान्त्रिकता आ जाती है।

चिदम्बरा में संकलित बहुत-सी मनोदशात्मक या प्रकृति चित्रात्मक कविताओं में वह पुरानी प्रभाव क्षमता नहीं है। तब यह प्रतीत होता है कि मन स्थिति-व्यंजक कविताओं में भी, भावों की केवल रूपरेखा उपस्थित करने के बजाय कुछ और चाहिए। केवल निवेदनात्मक शैली से काम नहीं चलने का। **चिदम्बरा** में एक मजेदार बात और हुई। भाव कई स्थानों पर मात्र एक दृष्टि, एक रुख एक झुकाव को प्रकट करने लगे। भावों से सम्बद्ध जो चित्रावली बहुत पहले से चली आयी, वह थोड़े हरफेर के साथ (भावना से अधिक अर्थात् अन्त समृद्धि से अधिक) केवल झुकाव प्रकट करने लगी। फलत पन्त का बहुत-सा काव्य झुकाव का काव्य बनकर रह गया। वह मात्र दृष्टि-काव्य हो उठा, मर्म-काव्य नहीं। जहाँ-जहाँ इस प्रकार दृष्टि-काव्य प्रकट हुआ, वहाँ-वहाँ जीवन-तत्त्वों की रिक्तता-सी प्रकट होने लगी। **चिदम्बरा** में ऐसी बहुत सी कविताएँ हैं, जो इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। इस श्रेणी की बहुत-सी कविताओं में मात्र शुभेच्छाएँ और कल्याण-कामनाएँ हैं, जो कवि द्वारा विकसित अपनी पुरानी सांस्कृतिक शब्दावली में प्रकट हुई हैं। इस श्रेणी में हम बहुत-सी उद्बोधनात्मक कविताएँ भी डाल सकते हैं। इन्हीं कविताओं को देखकर लोग यह कहते हैं कि विचारों की जो उच्चता है, वह काव्य की भी उच्चता है, यह नहीं कहा जा सकता। ध्यान देने की बात है कि इन्हीं कविताओं में छन्दों का अनुरणन, चमत्कारपूर्ण भावसंगीत प्रस्तुत करने के बजाय, उबानेवाली एकस्वरता उत्पन्न करता है। मैं यहाँ काव्य-प्रभाव की दृष्टि से बात कर रहा हूँ।

अन्तर्मुखता के आपेक्षिक अभाव की पूर्ति के रूप में पन्तजी में वास्तव के प्रति सहज संवेदन-क्षमता है। शुरू में, प्रकृति-सौन्दर्य के चित्रण में तो वह प्रकट हुई ही, उस वास्तव अनुरोध ने कवि को बाह्य जीवन-जगत् के प्रति प्रेरित किया।

प्रसादजी, एक अन्वेषक के रूप मे, अपने ही उलझे मनोभावों के बाह्य सन्दर्भों को खोजते हुए, जीवन-जगत् के उलझाव का अध्ययन करते, चिन्तन द्वारा बाह्य-विश्लेषण और आत्म-विश्लेषण करते। जीवन-जगत् का अध्ययन करनेवाले अन्तर्मुख प्रसादजी के मन पर अपना खुद का बोझ था। पन्तजी वास्तव के प्रति सवेदनशील होकर, जब-जब तत्प्रति उन्मुख हुए, उनके मन पर अपना खुद का बोझ कभी नही रहा। प्रसादजी अपने खुद के बोझ के सन्दर्भ से ही जीवन-जगत् की तह मे घुसने का प्रयत्न करते। प्रसादजी की सवेदन-प्रणाली ही भिन्न थी। अत्यधिक अन्तर्मुखता, तथा उस अन्तर्मुख लोक म विलासितापूर्ण गहन शृगारिकता, और इसके एकदम विरुद्ध और विपरीत, आर्य सास्कृतिक अद्वैतवादी दर्शन, और उसस अनुप्राणित जीवन-मूल्य थे। उनके हृदय मे इन दोनो प्रवृत्तियों की द्वन्द्व-स्थिति वर्तमान थी। वाह्य स प्राप्त उसकी सवेदनाएँ भी इतनी अधिक तीव्र थी कि सवेदना स्वय उनके लिए वस्तुत एक समस्या बन जाती थी। फलतः, अपनी सवेदना और सवेदनात्मकता पर उन्हे सोचना पडता था। अपनी मूलभूत चिन्तन-प्रवृत्ति के द्वारा, वे उन तीव्र सवेदनाघातो को समस्यात्मक रूप देते थे। इसीलिए प्रसादजी की काव्याभिव्यक्ति उलझी हुई सी लगती थी।

इसके विपरीत, पन्तजी पर अपने निज का इतना जबर्दस्त बोझ नही रहा। फलत, वास्तव से उद्भूत सवेदनाएँ और वास्तव के प्रति उनकी प्रतिक्रियाएँ अधिक सरल और सीधी थी। वास्तव का (मान लीजिए, प्रकृति-सौन्दर्य का) पन्त-कृत चित्रण भावो और सवेदनाओ के उलझाव के कारण उलझा हुआ न होकर, वास्तव के रग-बिरगेपन के कारण उलझा हुआ हो सकता है। वास्तव की पूरी ताजगी, इसीलिए, पन्तजी के काव्य मे है, चाहे वे सोनजुही के बारे म लिखें या हिमालय के सम्बन्ध मे। यह ठीक है कि मनोदशा को व्यक्त करने के लिए पन्तजी तरह-तरह की कल्पनाएँ लाते है अथवा वे प्रकृति के रूपों द्वारा सकेतित भावो को व्यक्त करने के लिए अनेकानेक कल्पना चित्र प्रस्तुत करते है। बहुत सम्भव है कि ऐसी कुछ कविताओ मे पाठक को उलझाव मालूम हो। किन्तु काव्याभिव्यक्ति की साकेतिकता का यह अर्थ नही है कि कवि-मन मे उपस्थित जो जटिल भाव-समुदाय है, वह सारा-का-सारा दृश्यमान होना चाहता है। इसके विपरीत, पन्तजी सकेतो द्वारा बात करके छुट्टी पा लेते है।

सच तो यह है कि निज का बोझ कम होने से, तथा अन्तर्मुखता के सापेक्षिक अभाव के फलस्वरूप, पन्तजी को, शायद, अन्त स्थित भावो का आकलन-अध्ययन कम ही है। फलत, जहाँ-जहाँ उनके काव्य म सवेदन की ताजगी कम है, वहाँ-वहाँ भाव-दृश्य भी दुर्बल हैं। किन्तु जहाँ-जहाँ उनके काव्य मे सवेदना की ताजगी है, वहाँ उनके शब्द बोलने लगते हैं, छन्द नाचने लगते है, भाव चमकने लगते है। ऐसे क्षणो मे, जब वे छन्द की चौखट मे सारभूत जीवन-तथ्य भी जमा देते है, तब भी उस कविता मे एक खास काट का ज्यॉमितिक सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है—इसलिए कि उसमे भी एक ताजगी होती है। मुझे बार-बार लगता है कि पन्तजी की सवेदन-क्षमता, अर्थात् नव नवीन सवेदनाओ को उनकी अपनी प्रफुल्लता और ताजगी मे ग्रहण करने की उनकी ताकत, ही ऐसी है जो उन्हे वास्तव की तरफ ले जाती है—बाह्य वास्तव की ओर। वे जब बाह्य वास्तव की ओर जाते है और जब वे उसका अध्ययन करने लगते है, तब उनके मन पर उनका

अपना कोई बोझ नहीं होता। वे वास्तव के सौन्दर्य अथवा उसके प्रभावकारी रूप की ओर निरहम् तथा मुक्त भाव से जाते हैं और उस वास्तव द्वारा दी गयी संवेदनाओं को खूब ग्रहण करते हैं। इसीलिए मैं कहता हूँ, पन्तजी बुनियादी तौर पर एस्थीट हैं।

यदि यह सच है तो क्या कारण है कि पन्तजी ऐकान्तिक से प्रतीत होते हैं। यद्यपि उनके काव्य में प्रगतिशील भाव-धारा दृष्टिगत होती है, और वास्तवोन्मुखता भी प्रकट होती है, किन्तु साथ ही ऐकान्तिक वातावरण दिखायी देता है। यदि मान लिया जाय कि पन्तजी में वास्तवोन्मुख रहने की प्रवृत्ति है, तो उनका व्यक्तित्व अधिक सार्वजनिक और सक्रिय होना चाहिए। किन्तु, उक्त निष्कर्ष निराधार है। पहली बात तो यह है कि पन्तजी की वास्तवोन्मुखता की जितनी भी, जो भी, प्रवृत्ति है, वह लालन-पालन, परिवार, वर्ग, स्वयं के जीवनानुभव परिस्थिति आदि-आदि से सीमित तो है ही, साथ ही वह मनोरचना से भी सीमित है। जीवन-अस्तित्व की रक्षा तथा विकास के घनघोर संघर्ष में पड़कर यह मनोरचना अधिकाधिक वास्तवोन्मुख हो भी सकती थी। प्रसाद और उनसे अधिक निराला को जीवन-संघर्ष के अपने-अपने ढंग के अनुभव हैं। प्रसाद-जैसा गहन अन्तर्मुख कवि भी ज़िन्दगी में पाये जानेवाले उतार-चढ़ाव के द्वारा, और अपने व्यवसाय के अनुभवों द्वारा, जीवन-जगत् से अधिकाधिक सम्बद्ध होकर, अपने युग के सारभूत मनोभावों की ओर सारभूत विशेषताओं को प्रकट कर गया। प्रसादजी का जीवन-चिन्तन उनके अपने ठोस अनुभवों पर आधारित है। जीवन के विविध क्षेत्रों का और अनन्तानेक मानव-प्रसंगों का जितना अनुभव प्रसादजी को था, उतना पन्तजी को प्राप्त नहीं हो सका। फलतः, प्रसादजी की बुद्धि विश्लेषणप्रधान और कल्पना संश्लेषणप्रधान होती चली गयी। इन अनुभवों के ठोस आधार पर ही उनके अन्तःकरण में एक ज्ञान-व्यवस्था निर्मित हुई, यद्यपि इस ज्ञान-व्यवस्था के निर्माण में उनकी मूलभूत दार्शनिक जिज्ञासा का भी बहुत कुछ हाथ था। संक्षेप में, अत्यन्त अन्तर्मुख मनोरचना, जो प्रसादजी ने पायी थी वह विशद होती गयी।

इससे पृथक्, पन्तजी में वास्तव के प्रति जो संवेदन-क्षमता है, उस पर, मूलतः अपना निज का बोझ नहीं होने से वह वास्तव के प्रति अधिकाधिक उन्मुख होती गयी। वास्तव की संवेदना न ही पन्तजी के मनोजगत् को विशदतर किया। किन्तु, वास्तव का उनके अन्तःकरण से जो सम्बन्ध रहा, वह अधिकतर मनोमय ही है। वास्तव से उनका सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक संघर्षात्मक नहीं रहा। इसके विपरीत, निराला और प्रसाद को अपने अपने ढंग से, अपनी अपनी दिशा में, द्वन्द्वात्मक स्थिति में आना पड़ा। वास्तविक जीवनानुभव की जितनी सम्पन्नता निराला और प्रसाद में है (महादेवी में भी), उतनी उस हद तक उस मात्रा में पन्तजी के पल्ले नहीं पड़ी। कर्म ही में बौद्धिक विश्लेषण-शक्ति बढ़ती है, इसमें सन्देह नहीं। प्रसादजी ने सारस्वत सभ्यता का निर्माण करनेवाली इडा को बुद्धिवादी बताया है। मुझे कहने दीजिए कि इस प्रकार के संघर्ष की, अर्थात् जीवन-संघर्ष की, आपेक्षिक अल्पता ने तथा स्वाभाविक एकान्तप्रियता ने, बाह्य वास्तव से पन्तजी के सम्बन्धों के आस-पास एक गोल सीमा-रेखा खींच दी। पन्तजी के काव्य का जो विकास हुआ है, उस विकास की अपनी एक निश्चित सीमा है। उस सीमा के घेरे के भीतर, पन्तजी ने वास्तव के प्रति जो प्रतिक्रियाएँ कीं, और उस वास्तव ने उन्हें जो संवेदनाएँ प्रदान

की, उनमे ऋजुता मजुलता तथा एकरैखिकता है, जटिलता नही, वक्र-तिर्यक् रैखिकता नही, ग्रन्थिलता नहीं। बगैर झगडे के, वह सीधा-साधा आमना-सामना है, परस्पर-उन्मुखता है।

व्यक्तिगत जीवन के भयानक उतार-चढाव और पीडादायक सघर्षों द्वारा मन बुझ जाता है। बाहर के उलझाव भीतर के उलझाव बन जाते है। यद्यपि जीवन एक ओर अधिक अनुभवसम्पन्न हो जाता है, साथ ही बौद्धिक-शक्ति भी बढ जाती है, किन्तु आत्मजगत् ज्यादा उलझ जाता है। इसका कारण यह है कि ये व्यक्तिगत जीवन-सघर्ष सोद्देश्य, सहेतुक, आत्मविकास के सघर्ष नही होते। प्रगतिमूलक प्रगतिकारक सघर्ष और होते हैं, स्थिति-रक्षा के सघर्ष मे जीवन-शक्ति का अपव्यय होता है। निराला का सघर्ष स्थिति-रक्षा का सघर्ष है। प्रसाद को अपने जीवन-क्षेत्र मे जो सघर्ष करना पडा वह भी इसी प्रकार का है। पूँजीवादी समाज मे व्यक्ति को अपनी स्थिति-रक्षा का सघर्ष करना ही पडता है। साम्यवादी समाज मे ऐसा नही होता। स्थिति-रक्षा-सम्बन्धी सघर्ष की उग्रता से, अन्तर्जगत् मे तीव्रभावनाओ, इच्छाओ, उद्वेगों, मनस्तापो और ज्ञान-तत्त्वो का ऐसा अद्भुत सम्मिश्रण हो जाता है कि बाह्य वास्तव के प्रति मन की प्रतिक्रियाएँ तीव्र किन्तु सम्मिश्र, आवेगात्मक किन्तु ग्रन्थिल, अनुभवात्मक किन्तु बौद्धिक, ज्ञान-सम्पन्न किन्तु कल्पनायुक्त, होने लगती हैं। वास्तव-रूप को निरपेक्ष भाव से देखने, और निरपेक्ष भाव से तदद्वारा उत्सर्जित सवेदनाएँ ग्रहण करने के स्थान पर, मन उस वास्तव पर लद जाता है, थुप जाता है, अथवा उन सवेदनाओ को उनके यथार्थ रूप मे ग्रहण करने के बजाय उन्हे सम्पादित और सशोधित करके स्वीकार करता है। चिन्तन तथा अनुभव के फलस्वरूप हृदय मे जो ज्ञान व्यवस्था निर्मित हो गयी होती है, वह ज्ञान-व्यवस्था भी, सवेदना-ग्रहण मे हस्तक्षेप करती है, अर्थात् वह ज्ञान-व्यवस्था भी बाधास्वरूप बन जाती है। सक्षेप मे, मन को उलझा देनेवाली परिस्थितियाँ पन्तजी के जीवन मे भी आयी हों, तब भी उन परिस्थितियों ने अपनी एक सतत परम्परा कायम नही की थी। फलत, पन्तजी पर निज का बोझ कम था। वास्तव के प्रति उनकी उन्मुखता अधिक मुक्त और स्वच्छ थी। इसका फल यह हुआ कि जहाँ-जहाँ सवदनाएँ ताज़ी हैं, यानी जहाँ कवि ने उन सवेदनाओ को सीधे-सीधे उतारा है, वहाँ उनकी कविताओ मे एक ताज़गी पैदा हो जाती है, हो गयी है। किन्तु इसके साथ ही एक बात और हुई है। वह यह कि व्यापक जीवन-जगत् के अनुभवप्रसूत आकलन मे कवि पर छाये अपने निज के बोझ मे जो ग्रन्थिलता उत्पन्न हो जाती है—चाहे आप उसे चिन्तनप्रधान दार्शनिकता का नाम दीजिए, चाहे और कुछ—वह ग्रन्थिलता भी पन्तजी मे नही है, न तत्सम्बन्धी दार्शनिक ज्ञान-व्यवस्था का बोझ। दूसरे शब्दो मे, मुक्त और निरहकार भाव से, निर्मल और नि स्वभाव से, वास्तव की ओर जाने के जो फायदे हो सकते है, वे सारे लाभ पन्तजी को मिले।

जिस प्रकार पन्तजी एक ओर ऐस्थीट हुए, उसी प्रकार, दूसरी ओर, पन्तजी मार्क्सवादी विचारो के प्रभाव मे आये। वास्तव के अपने रूपाकार से मोहित पन्त, वास्तव ही का तकाज़ा सुन भी सकते थे—अन्यमनस्क होकर नही, तन्मनस्क होकर। हाँ, ये दो वास्तव अलग-अलग श्रेणियो और स्तरो के वास्तव थे। अन्यमनस्क वह होता है जो अपने मे खोया हुआ हो। अपने मे गहरे अथाह खोये रहने का गम्भीर सामर्थ्य जो प्रसाद मे था वह पन्त मे नही—यह स्वय दोनो का काव्य

ही सूचित करता है। वास्तव का जो तकाजा था, उसे पन्त ने पूरा करना चाहा। पन्तजी की सहज व विमुलभ सहानुभूति थी जनगण के प्रति। पन्तजी का राष्ट्रवाद इसी प्रकार प्रकट हुआ। 'भारतमाता ग्रामवासिनी' से लेकर, तो आगे 'तुम हँसते-हँसते कृष्ण वन गये मन मे, जनमंगल हित है' तक जो जनोन्मुख भावनाएँ पन्तजी ने प्रकट की, वे उनकी सहज सहानुभूति ही का विस्तार थी। वास्तव की संवेदना में पन्त ने अपनी ओर से कुछ नहीं मिलाया, उसका कोई रासायनिक घोल तैयार नहीं किया, उसका कोई मन पूर्वक सम्पादन-संशोधन नहीं किया, और फिर उनकी यथामति यथावृत्ति यथाइच्छा व्याख्या और पुनर्व्याख्या करने नहीं बैठे, और तदनन्तर व्याख्याओं के कूटस्थ शीर्ष पर बैठकर उन संवेदनाओं की काट-छाँट करने का खटराग उन्होंने नहीं किया। उन्होंने निर्मम और मुक्त भाव से वे संवेदनाएँ ग्रहण की, और इस प्रकार अपने हृदय का विस्तार किया। फलत, वे कई दार्शनिक पूर्वग्रहों म बच गय। या यों कहिए कि वास्तव के प्रति उनकी सहानुभूति के मार्ग मे आने लायक उनके पास कोई दार्शनिक सम्भार नहीं था। यद्यपि पन्तजी के पास शुरू ही से अद्वैतवादी भावधारा थी, किन्तु, वस्तुत, वह उनके भीतर बौद्धिक ज्ञान-व्यवस्था के ऐसे रूप म नहीं थी जो उनके दिमाग के दरवाजे बन्द कर सके, और दिमाग की सन्दूकची म दिन को दबा दे। संक्षेप म, पन्तजी का अद्वैतवादी रहस्य, मूलत, एक दार्शनिक भावुकता का ही रूप हो सकता था।

वास्तव से पन्तजी का जो हार्दिक सम्बन्ध था, वह दार्शनिक कुण्ठाओं म रहित था। फलत, वे मुक्त-मन और मुक्त-हृदय होकर वास्तव मे समागम कर सके। इसीलिए मार्क्सवाद का पन्थ उनके लिए ऋजु पथ था। उन्हे चीज साफ दीखती थी। मार्क्सवाद के विरोध म तर्कों के चक्रव्यूह और दृष्टियों के विवर जो औरों को दीखते थे, उन्हे नहीं, क्योंकि वे वस्तु देख रहे थे। वस्तु स्वत प्रमाणित है। वह है आज की पूँजीवादी सभ्यता, जिसका नाश आवश्यक है, तभी जन-मुक्ति सम्भव है। पन्तजी मार्क्सवाद के प्रति बौद्धिक ढंग से आकर्षित नहीं हुए, वरन् संवेदनात्मक मार्ग से चलकर, अर्थात् भावानुभूति द्वारा, आकर्षित हुए। भौतिक जीवन का पक्ष मार्क्सवाद द्वारा, और अन्तर्जीवन का पक्ष उच्च नैतिक-आध्यात्मिक गुणों द्वारा, अध्यात्मवाद द्वारा, निष्कण्टक और समृद्ध होगा, ऐसा उनका विश्वास रहा आया। पन्तजी का अध्यात्मवाद, वस्तुत, आध्यात्मिक-गुणसम्पन्नतावाद है, उच्च मानवीय गुणसम्पन्नतावाद है। वह बौद्धिक दार्शनिक ज्ञान-व्यवस्था का कोई शिकंजा नहीं है। उनका मार्क्सवाद जनगण के प्रति उनकी सहज सहानुभूति ही का वास्तववादी विस्तार है।

[illegible] त, बुद्धि प्राण
इससे एक ओर
विचरण नहीं
पन्त मे नहीं।

प्रसादजी की वह क्षमता नि सन्देह महत्त्वपूर्ण है। किन्तु दूसरी ओर, पन्तजी को यह लाभ भी हुआ कि वे वास्तव के आग्रह को तर्कों द्वारा झुठला नहीं सकते। सत्य और अहिंसा के नाम पर फूलनेवाले वर्गीय स्वार्थों को वे अपनी आँखों से ओझल नहीं कर सकते। प्रसादजी कामायनी म मनु के अन्याय और अत्याचार से पीड़ित जनता के मुँह से ऐसे शब्द कहलवाते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि

जनता की माँगों के सम्बन्ध में प्रसादजी के क्या खयाल थे। प्रसादजी की सहानुभूति शोषितों के पक्ष में बहुत कम थी। यद्यपि उन्हें शोषण को बुरा तो कहना ही पड़ता था, फिर भी शोषितों के पक्ष में उनकी सहानुभूति इतनी गहरी न थी कि वे उनके जीवन का भी चित्रण करें, अथवा भावुक होकर उनकी दीन-दरिद्रावस्था पर प्रकाश डालें। इसके स्थान पर, वे तो यह कहते थे

श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें
अपने बल का है गर्व उन्हें।

प्रसादजी दार्शनिक थे। उनकी दार्शनिक ज्ञान-व्यवस्था ही ऐसी थी जो वर्तमान सभ्यता-स्थिति की विषमताएँ कम करने का उपाय तो बताती थी, किन्तु आमूल क्रान्तिकारी परिवर्तन का ध्येय नहीं रख सकती थी। यह ठीक है कि प्रसादजी की मृत्यु बहुत पहले हुई। किन्तु यह भी सही है कि उनके ज़माने में रूसी क्रान्ति हो चुकी थी, भारतीय साहित्यिक क्षेत्रों में तॉलस्तॉय का प्रभाव था, प्रेमचन्द मौजूद थे, राष्ट्रीय क्षेत्र में वामपन्थी समाजवादी विचार-धारा चल चुकी थी ... रवीन्द्र की कविताओं में कृषक-श्रमिकों ... न्तु मेरा अपना खयाल है कि प्रसादजी ... कठोर हो गयी थी कि वास्तव की ताज़ी संवेदनाओं, ताज़े भावों और प्रतिक्रियाओं में वह हस्तक्षेप करती थी। प्रसादजी की दृष्टि में, बाह्य वास्तव के तकाज़े से अपने भीतरी ज्ञान का तकाजा अधिक महत्त्वपूर्ण और निर्णयात्मक था।

इसके विपरीत, पन्तजी के भीतर की तत्त्व व्यवस्था, बाह्य संवेदनाओं का सम्पादन संशोधन न कर उन्हें उनके वास्तविक रूप में सारी ताज़गी के साथ ग्रहण करती थी। वह उनके हृदय में विस्तार भरती चलती [थी]। हृदय के विस्तार का दूसरा नाम सहानुभूति है। पन्तजी में अद्भुत सहानुभूति-क्षमता है। जनगण के प्रति उनकी सहानुभूति बौद्धिक नहीं है, छिछली नहीं है, सतही नहीं है। वह बहुत गहरी है। उसी की यह शक्ति थी कि उसने पन्तजी को नये मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। पन्तजी की अपनी वर्ग-स्थिति तथा जीवन-यापन-पद्धति के फलस्वरूप, उनके और जनता के बीच में जो दूरी है वह उस सहानुभूति शैली में भी व्यक्त होती है। किन्तु उनकी सहानुभूति में निर्णय-क्षमता है, विवेक है, हार्दिक गुण है। उसी सहानुभूति के फलस्वरूप पन्तजी को वह दृष्टि मिली जिसे मैं ऐतिहासिक अनुभूति कहता हूँ। प्रसाद में, ऐतिहासिक नाटकों की रचना के बावजूद वह ऐतिहासिक अनुभूति नहीं थी। ऐतिहासिक अनुभूति बदलते हुए जगत् के विकास-क्रम तथा उसकी दिशा की अनुभूति है, जनता के पक्ष-समर्थन की अनुभूति है। पुस्तकों के अध्ययन के कारण पन्तजी में यह ऐतिहासिक अनुभूति उत्पन्न नहीं हुई, वरन् इस ऐतिहासिक अनुभूति के कारण उन्होंने मार्क्सवाद के निकट रहना पसन्द किया। उनकी ऐतिहासिक अनुभूति उनकी सहानुभूति ही का विस्तार है, जो विश्व घटनाओं के आकलन और मनन के फलस्वरूप और भी विशद हुई।

यह सहानुभूति तथा उसी का ही विशद विस्तार, अर्थात् ऐतिहासिक अनुभूति पन्तजी को जीवन के वैविध्यपूर्ण क्षेत्रों की ओर ले गयी। व्यापक जगत्-जीवन के विभिन्न प्रश्नों पर उन्हें मनन करना पड़ा। ऐसे प्रश्नों की ओर भी उनका ध्यान गया जो उनके अपने समाज-क्षेत्र में प्रचलित विचारधाराओं का अंग बन गये थे।

ग्राम्या मे उनकी बहुत-सी कविताएँ वैचारिक थी। परवर्ती विकास-दशा मे ऐसी अनेक कविताएँ लिखी गयी, जिन्हें हम वैचारिक कह सकते हैं। इनमे से कुछ में इस बात के दर्शन मिलते हैं कि पन्तजी अनेक दृष्टियो म से एक दृष्टि अपनाने के मिलसिले मे, उन दृष्टियो मे, वैचारिक धरातल पर, उलझ रहे हैं। रूपकों [illegible] गा कि काव्य [illegible] वस की वात [illegible] प्रस्तुत किये जा सकते हैं। किन्तु प्रश्न है विचारो की काव्य-प्रभावोत्पादकता का ही। सच बात तो यह है कि पन्तजी मे कविस्वभावोचित चिन्तन है, जो वस्तुत उस चिन्तन से पृथक् होता है, जिसे हम विश्लेषणमूलक बौद्धिक चिन्तन कहते है। पन्तजी के कवि-स्वभावोचित चिन्तन को हम भाव-दृष्टि ही कह सकते हैं।

जहाँ जिस क्षेत्र मे, जीवनज्ञान मे युक्त भावना का प्रकाशपूर्ण आधार है, वहाँ विचारात्मकता प्रभावोत्पादक हो उठती है। उस परिस्थिति मे कि जब भावना का प्रत्यक्ष रसार्द्र आधार नहीं है, किन्तु सुस्पष्ट जीवन-तथ्यो के ठोस सन्दर्भ प्रधान और मूर्तिमान कर दिये गये हैं, वहाँ उन प्रभावोत्पादक सन्दर्भों से निष्कर्षित विचारात्मकता भी प्रभावोत्पादक हो जाती है। किन्तु जहाँ जीवन-तथ्यो के ठोस और प्रभावोत्पादक सन्दर्भों की मूर्तिमानता प्रत्यक्ष नही है, और जहाँ केवल वैचारिक ऊहापोह हो रहा है, वहाँ वैचारिकता काव्यरहित हो जायेगी। काव्य रूप मे थीसिस लिखना बहुत बडी कला है। सन्त ज्ञानेश्वर की ज्ञानेश्वरी ऐसा ही एक थीसिस है विस्तृत निबन्ध है। उसमे बौद्धिक दार्शनिक भाव विश्लेषित होकर बारीक-से बारीक तत्त्वों मे विघटित हो जाते हैं, और उन सूक्ष्म तत्त्वों को कल्पना के माध्यम से विशाल से विशालतर बनाया जाता है। आध्यात्मिक भावना मे सयुक्त होकर वे रसोत्सर्जक हो उठते हैं। किन्तु इससे उनकी स्पष्टता और मूर्तिमानता फीकी नहीं पडती। बौद्धिक विश्लेषण-शक्ति भावनानुभूति से एकरस और एकरूप होकर जहाँ काम करती है, वहाँ भावना की अथाह गम्भीरता के साथ-ही-साथ, विश्लेषित भाव, तथा सश्लेषित भाव-दृश्य, सभी कुछ एक साथ प्राप्त होते हैं। सक्षेप मे, पन्तजी मे विचारात्मकता अधिक है, विश्लेषण-प्रधान दृष्टि (जिसे मैं बौद्धिकता कहता हूँ) बहुत कम। विचारात्मक भाव-दृश्यों के चित्रण के लिए, गहन गम्भीर जीवनानुभूति की सक्रिय सूक्ष्म आकलन-शक्ति और विश्लेषण-प्रधान बौद्धिकता चाहिए। विचार जब तक स्वानुभूति के अगार मे कुन्दनवत् न चमकें, तब तक उनमे वह शक्ति उत्पन्न नही हो सकती, जिसके बिना वे न केवल श्रीहीन हो जाते हैं वरन् पगु भी।

कविता विचारात्मक भी हुआ करती है, पन्तजी ने स्वयं इसके उत्कृष्ट प्रभावोत्पादक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उस विचारात्मकता मे जीवन-मर्म झलक उठते हैं। विचार नही, वरन् वे जीवन-मर्म कवि की भाव-दृष्टि के रूप म अवतरित होते हैं। चिदम्बरा म से ऐसे दसियो उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमे काव्य प्रभावशाली विचारात्मकता है। उदाहरणत, 'मृत्युंजय' नामक कविता लीजिए। 'ईश्वर को मरने दो, हे, वह फिर जी उठेगा, ईश्वर को मरने दो।' इस कविता मे जो विचारात्मकता है वह, वस्तुत, एक भाव-दृष्टि की विचारात्मकता है। विचार स्वय एक अनुभूति बनकर एक समष्टिचित्र प्रस्तुत

कर रहा है। उस कविता में एक वैचारिक कल्पना है, जिसके भीतर एक भाव-दृष्टि झलकती है। सच तो यह है कि जहाँ-जहाँ भी पन्तजी ने सहानुभूति के क्षेत्र का विस्तार किया है, वहाँ-वहाँ उनकी वैचारिकता भी काव्य-गुण-सम्पन्न हो उठी है। पन्तजी की सहानुभूति का जिस क्षेत्र में सहज विस्तार है, उस क्षेत्र में पाये जानेवाले विचारों को पन्तजी चमकीले मूल्यवान मणियों की भाँति एकत्र कर लेते हैं। वे विचार उनके लिए कान्तिमान रंग-बिरंगे मनोहर मणि हैं, जिनमें से जीवन की नव-नवोन्मेषमयी किरणें विकीरित हो रही हैं। जो काव्य जहाँ कहीं गद्यात्मक प्रतीत होता है, वहाँ-वहाँ प्रकट होनेवाले विचारों में जीवन का ऐसा प्रचण्ड सन्दर्भ है कि वह सन्दर्भ ही दृश्यमान होकर उन विचारों में एक चमक भर देता है। किन्तु इस विचारात्मकता के बावजूद, पन्तजी में वह गहन बौद्धिक विश्लेषणप्रधान प्रवृत्ति नहीं है, जो अनुभूति के साथ एकप्राण एकरस होकर काव्य-दृश्यों के चमत्कार उपस्थित करती हो। *संक्षेप में, पन्तजी की विचारात्मकता खतरे से खाली नहीं है।*

यह कहना ही पड़ेगा कि बहुत-सी, विशेषकर प्रदीर्घ कविताओं में जो विचारात्मकता है, उसने काव्य-सौन्दर्य पर आघात किया है। खास तौर से उन कविताओं के साथ यह हुआ है, जिनमें पन्तजी किसी-न-किसी तरह ऊहापोह करने बैठ जाते हैं। पिछली बार, पन्तजी ने अपना काव्य-मार्ग बदला और नया टेकनीक अपनाया। जहाँ-जहाँ उनकी सहानुभूति उन्हें ले गयी, उनकी गद्यात्मकता चमक उठी, छन्द नाचने लगे, भाव गूंज उठे, और विचार जगमगाने लगे। उनमें नयी ताज़गी आ गयी। [illegible] वहाँ अपार बुझने लगे, शिल्प में झोल [illegible] [illegible]मी भी हो गयी। उपमाएँ, [illegible] होकर रह गये। काव्य की घड़ी टल गयी, मुहूर्त निकल गया, किन्तु काव्य चलता रहा, यूँही, यूँही।

साहित्य-विशेषज्ञों की प्रतिष्ठित भद्र श्रेणी से पृथक्, साहित्य मर्मज्ञ पाठकों का दल भी हुआ करता है, जो काव्य का रस प्राप्त करने के लिए साहित्य-विशेषज्ञों की राय पूछने नहीं जाता, न कवि महोदय ही से राय पूछता है। ऐसा साहित्य-मर्मज्ञ वर्ग हिन्दी में बढ़ता जा रहा है। यह वर्ग साहित्य के भीतर से न केवल रस खींचना चाहता है, वरन् विवेक दीप्ति भी। मेरा ऐसा खयाल है कि पन्तजी का काव्य जीवन-विवेक प्रदीप्त करता है। उससे हम सीख ले सकते हैं, कुछ प्राप्त कर सकते हैं—रस के अतिरिक्त, रस से कुछ अधिक ठोस और स्पष्ट। संक्षेप में, पन्तजी हमें दृष्टि प्रदान करते हैं। *उनके काव्य में सशक्त* भाव, प्रबुद्ध प्रेरणा और ज्वलन्त ऐतिहासिक अनुभूति है। इसके अतिरिक्त, कुछ ऐसी जीवन-समस्याएँ उन्होंने उठायी हैं जो हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हैं। पन्तजी का काव्य हमारे जीवन को समृद्ध बनाता है। क्यों बनाता है?

इसलिए कि उसमें न केवल *ऐतिहासिक जागरूकता है, वरन् सामान्य मानव* तक उठने की ऐसी क्षमता है कि जिस क्षमता में मानवी सुगन्ध है—व्यक्ति की नहीं, मनुष्य की। यह मनुष्य व्यक्ति नहीं है, व्यक्ति का सामान्यीकरण भी नहीं है, समष्टि भी नहीं है। यह मनुष्य है साक्षात् जनगण, जो इस पृथ्वी पर सब क्षेत्रों में साहस और पराक्रम कर रहे हैं। जहाँ पन्तजी इस *जनगण से एकीभूत होकर* भावना-स्तर पर बात करने लगते हैं, तब जिस प्रकृति-सौन्दर्य का वे चित्रण करते

है उस सौन्दर्य मे भी जन-जन के मुख झलकने लगते हैं। पन्तजी मानवतावादी नही। मानवतावाद एक अरूपवाद है, एक ऐब्सट्रैक्शन है। पन्तजी मनुष्यवादी है, जनवादी हैं। उनका काव्य इस नयी भावना से उद्दीप्त हो उठा है।

ध्यान रखिए कि छायावाद के कवि-चतुष्टय मे से, प्रसादजी समाज और सभ्यता की व्याख्या करते हुए अरूप आध्यात्मिक सामरस्यवाद की ओर निकल गये, समारातीत रहस्यवाद की आनन्दमयी भूमि मे विचरण करने लगे। महादेवीजी समाज और सभ्यता के प्रश्नो के चक्कर मे ही नही पडी, काव्य द्वारा। केवल निरालाजी सघर्षानुभवा द्वारा आज की जनस्थिति की ओर उन्मुख हुए। एक पन्तजी ही हैं (निरालाजी के अतिरिक्त) जो अपनी विशुद्ध ऐतिहासिक अनुभूति के फलस्वरूप जनता के साथ है। आज जबकि नयी प्रयोगवादी कविता के कुछ क्षेत्रो मे 'जनवाद' शब्द काव्याभिरुचि के बाहर समझा जाता है, पन्तजी दृढता, धैर्य और साहस के साथ नये मार्ग पर अपने कदम बढा रहे है। मेरा अपना यह खयाल है कि पन्तजी को बहुत कुछ कहना और लिखना बाकी है। उनकी विकास-धारा अभी रुकी नही है। वह सतत प्रगतिमान है। ऐसी स्थिति मे, मुझे कोई आश्चर्य नही होगा यदि वे अनवरत रूप से और और लिखते चल जायें। क्योकि यह सही है कि युग की पुकार उनके लिए अपनी आत्मा की ही पुकार है। वे हम प्रयोगवादियो से अधिक दूर तक देखते है। वे भविष्य के स्वप्नद्रष्टा है इसलिए कि, वस्तुत, पन्तजी तरुण हैं, अपनी आयु के बावजूद। उनका तारुण्य, नि सन्देह, उन्हे नये मार्गों पर ले जायेगा, और आज वे जहाँ, वस्तुत, द्वैत या द्विपक्षत्व देखते है, जहाँ वे द्विधा-पथ देखते है, वहाँ वे कल चलकर केवल एक पथ का ही अनुसरण करेंगे। और वह पथ मात्र जन-मार्ग होगा, इसमे सन्देह ही क्या है। आज का युग चमत्कारपूर्ण युग है, वह भव्य है, प्रेरणाप्रद भी। उसकी शक्ति और चमत्कार की विद्युत्-धाराओ मे ऐतिहासिक अनुभूतिवाले पन्त जैसे कवि बच ही नही सकते, यह सन्देह के परे है।

[कृति, जुलाई 1960, मे प्रकाशित। नयी कविता का आत्मसंघर्ष मे सकलित]

जो कुछ भी देखती हूँ : एक समीक्षा

यदि कोई लेखक पाठक के मनोजगत मे एक मायालोक उत्पन्न कर दे तो आप क्या कहियेगा? यही न, कि लेखक चाहे अच्छा हो चाहे बुरा वह प्रभावोत्पादक अवश्य है? किन्तु अपनी एकाध रचना के द्वारा उक्त प्रकार का प्रभाव पाठक के मन पर छोड जानेवाले लेखक विरले ही होते हैं। पूरी रचनाएँ एक जगह सग्रथित होने पर पाठक को समग्र के निकट पहुँचने का अवसर मिलता है। ज्यो-ज्यो पाठक समग्र के निकट आता जाता है, उसके अन्त करण मे आँधियाँ बढने लगती है, और वे आगे-आगे अधिकाधिक आकर्षक होकर झलमलाने लगती है, तथा, अन्त मे,

पाठक उनकी सहायता से कवि के पूर्ण अन्तर्व्यक्तित्व का एक स्व-कल्पित मानसिक चित्र बनाने में सफल हो जाता है। यदि पाठक सचमुच ही, अन्त में, ऐसा चित्र बनाने के लिए आकुल हो, और सचमुच बना सके, तो आप उसे *क्या* कहियेगा? यही न कि लेखक ने पाठक के मन में एक ऐसा मायालोक उत्पन्न कर दिया है, जिसकी कोमलता और मिठास के, अथवा अन्य गुणों के, वशीभूत होकर पाठक कवि के अन्तर्व्यक्तित्व की कल्पना-मूर्ति खड़ी करने के लिए बाध्य हो जाता है। मुझे कहने दीजिए कि कान्ताजी का **जो कुछ भी देखती हूँ** नामक कविता-संग्रह इसी कोटि में आता है। किन्तु ऐसा क्यों?

प्रस्तुत संग्रह में एक विशेष जीवन-दशा के अन्तर्गत अनेक मनोदशाओं और उन मनोदशाओं के अन्तर्गत अनेक जटिल क्षणों के रेखाचित्र उपस्थित किये गये हैं। उनमें एक विशेष अवस्था में सुलभ-भावों को द्योतित किया गया है, उनके पूरे भूगोल खगोल के साथ। उनमें रंगीनी है, रोमैण्टिक स्वर है, संयम और तटस्थता है, फिर भी रेखाएँ उतनी पुष्ट हैं कि बात स्पष्ट हो सके। किन्तु ये तो साधारण बातें हैं।

किसी भी देश के साहित्य में इस प्रकार का काव्य नये-नये रूप लेकर प्रकट होता आया है। जो चीज़ महत्त्वपूर्ण है वह यह कि इस काव्य में एक ऐसा खरापन है जो हमें बरबस खींच लेता है। वह खरापन पाठक को उसके अपने संवेदनात्मक अनुमानों को सक्रिय करने के लिए बाध्य कर देता है। इन संवेदनात्मक अनुमानों को सक्रिय किये बिना वह उन जटिल क्षणों के भूगोल को, उनकी गुँथाई बुनाई को जान नहीं सकता। कविताएँ स्वयं उसे तह तक पहुँचाने को प्रेरित कर देती हैं। दूसरे शब्दों में उस खरेपन में एक लिरिकल क्वालिटी है।

लेकिन इस बात को इतना महत्त्वपूर्ण क्यों माना जाय? इस बात पर ज़ोर क्यों दिया जाय? यह हमें इसलिए करना पड़ता है कि प्रस्तुत कविताओं में उस प्रकार के सामान्यीकरणों के सामान्यीकरण नहीं हैं, जो हमें साधारणतः कविताओं में मिलते हैं। सामान्यीकरण से मतलब भावों और अनुभवों के सामान्यीकरण से है। लोग एक विशेष क्षण में उपलब्ध विशिष्ट भावानुभव का चित्र प्रस्तुत करने के बजाय उन भावानुभवों के अनेकशः-प्राप्त क्षणों का सामान्यीकरण प्रस्तुत करते हैं। फलतः वे सिर्फ़ एक मूड, मात्र एक वायवीय मनःस्थिति चित्रित करके कार्य समाप्त कर देते हैं। वे विशिष्ट अनुभव-क्षण के विशिष्ट तत्त्वों की बुनावट-गुँथावट को प्रस्तुत करने के बजाय, उस प्रकार के अनुभव-क्षणों के उस प्रकार के वातावरण मात्र को सचित्र कर देते हैं। दूसरे शब्दों में किसी अनुभव-क्षण की जो प्रसंगबद्धता है, और *उस प्रसंगबद्धता* के कारण अनुभव-क्षण की जो अपनी विशिष्टता है, उस विशिष्ट का चित्रण नहीं हो पाता। कान्ताजी में उसी विशिष्ट का चित्रण है।

किन्तु, यह भी देखा जाता है कि विशिष्ट का चित्रण कभी-कभी इस प्रकार से प्रतीकात्मक और दुरूह हो जाता है कि हम उस विशिष्ट के सार स्वरूप को तह तक न जा पायें। वह विशिष्ट, विशिष्टता का निर्वाह करने के लिए, अद्वितीय बनने के लिए, जान-बूझकर अपने को सामान्य से सम्बद्ध नहीं करता, *वह आत्मग्रस्त बनने में, आत्मग्रस्त बनकर असामान्य घोषित करने में*, अपने-आपको कृतार्थ समझता है। ऐसा कान्ताजी के साथ नहीं हुआ है। जब कोई विशिष्ट और अद्वितीय अपने-आपको सामान्य से सम्बद्ध और तदात्म कर लेता है, तब उसकी

अद्वितीयता की रक्षा होकर भी उस विशिष्ट का सामान्य में परिस्फुटन होता है।

दूसरे शब्दों में, काव्य में दो प्रकार के अतिरेक देखे गये हैं (1) भावानुभवों के अनेकश-प्राप्त क्षणों का इस प्रकार का सामान्यीकरण कि जिससे उन क्षणों की विशिष्ट प्रसंगबद्धता नष्ट होकर, केवल एक मानसिक वातावरण ही का, मात्र एक दृष्टि या मन स्थिति के अन्तर्गत किसी धुन्ध या कुहरे का, चित्रण करके बात समाप्त कर दी जाती है, अथवा (2) भाव इतना अधिक प्रसंगबद्ध होकर विशिष्ट और विशिष्ट होकर इतना आत्मग्रस्त हो जाता है कि पाठक को, अपने संवेदनात्मक अनुमानों का बार बार प्रयोग करने पर भी उस यथार्थ का आकलन नहीं हो पाता। कान्ताजी के काव्य में ये दोनों प्रकार के अतिरेक नहीं है। फलत, वह काव्य पाठक के संवेदनात्मक अनुमानों को असफल नहीं होने देता और पाठक अपने संवेदनात्मक अनुमानों द्वारा रस ग्रहण करता जाता है।

इसी बात से और एक तत्त्व सामने आता है जिसका सम्बन्ध प्रस्तुत काव्य के स्वरूप से है। वह यह कि उक्त काव्य की रचयिता, केवल मनोमय संवेदनों के स्तर से बात करती है अर्थात काव्य रचना के अन्तर्गत विभिन्न मानसिक वस्तु-तत्त्वों के संकलन तथा सम्पादन-संशोधन-सम्बन्धी जो एक बौद्धिक प्रक्रिया चलती रहती है वह प्रक्रिया (सक्रिय होते हुए भी) दिखायी नहीं देती। लेखिका की दृष्टि जीवन दशा-बद्ध प्रसंगबद्ध विशिष्ट के रंग-रूप को चित्रित करने में लग जाती है। और पाठक पाता है कि उसके अपने संवेदनात्मक अनुमान अधिकाधिक तिरिकल हुए जा रहे हैं। काव्य के वस्तु-तत्त्व के खरेपन के सहारे, वह देखना चाहता है कि कवि का अन्तर्व्यक्तित्व क्या है। उसे निराश नहीं होना पड़ता।

लेकिन, चूँकि प्रस्तुत विशिष्ट अधिकतर प्रसंगबद्ध है, इसीलिए उसमें प्रसंग-बद्धता पर पर्दा डालकर केवल विशिष्ट की कुछ ही मारभूत विशेषताओं को कल्पना के कुशल प्रयोग द्वारा प्रकट किया गया। लेकिन शुरू में यह लगता जरूर है कि जो बात खुलकर सामने आने के लिए है, उस पर शायद ज्यादा कैंची चल रही है। यह तो प्रारम्भ ही से स्पष्ट हो जाता है कि लेखिका प्रेम-सम्बन्धी अनेकानेक मनोदशाओं को चित्रित करना चाह रही है। किन्तु पाठक का यह प्रारम्भिक भय निराधार सिद्ध हो जाता है। रचयिता प्रकृति रूपों के मनोहर आत्मीय चित्रण के द्वारा मन स्थिति के विशिष्ट स्तर तक पाठक को पहुँचा देती है और उस विशिष्ट की ऐसी दो चार मार्मिक विशेषताएँ प्रकट कर देती है कि जिसके फलस्वरूप पाठक अपने स्वय के संवेदनात्मक अनुमानों द्वारा मन में पूरा खाका खींच लेता है।

पाठक के संवेदनात्मक अनुमान सक्रिय होकर जटिल मन स्थितियों को भी सहज रूप से आत्मसात करते हुए, स्वय एक मनोमय रूप चित्र बनाते हुए, आगे बढ़ते जाते हैं। संवेदनात्मक अनुमानों को परिचालित करते रहने की प्रेरणा बराबर बनी रहती है, और वह पाता है कि कवि का अन्तर्व्यक्तित्व विशिष्टता-बद्ध तो है ही, साथ ही वह, स्वप्नशील, प्रेम लोभी, संवेदना-क्षम और प्रकृति के रूपों से सहज सम्बद्ध है। किन्तु केवल इतना ही होता तो कोई खास बात न होती। सच बात तो यह है कि उसमें मानव कल्याण की संवेदनात्मक गतियाँ हैं। वह लगातार पढ़ता जाता है, और विविध भावानुभवों के बीच से गुजरते हुए पुस्तक के अन्त के कुछ पहले तक आकर वह रुक जाता है, और तब तक वह कवि के अन्तर्व्यक्तित्व का एक आनुमानिक चित्र बना लेता है। उसे पता चलता

है कि यद्यपि कविता आत्मपरक है, वह आत्मग्रस्त नहीं। साथ ही कवि बाह्य जीवन-जगत् से मानव-सुलभ स्वाभाविक अन्त सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भी आतुर है। उसकी वे भावनाएँ, जो बाह्य से आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आतुर हैं, अधिक मानवीय हो जाती हैं। प्रतीत होता है कि यद्यपि कवि का जीवन-क्षेत्र संक्षिप्त है फिर भी उससे बाहर निकलने की मानवीय भावनाएँ भी उसके पास है।

फलत उसका अभिव्यक्त मन उदास है ऐसा प्रतीत होने लगता है। वे

रहनेवाली इस मनोगति का चित्रण भी कोमल, स्वाभाविक और मानवीय हो जाता है। किसी विशेष प्रसगबद्धता से ऊपर उठकर बाह्य जीवन जगत से मानव सम्बन्ध स्थापित करने की उसकी इच्छा की ओर पाठक का ध्यान जाता है। साथ ही तथाकथित छिछले सतही सामाजिक जीवन के घेरे म उत्पन्न होनेवाले अकेलेपन की स्वप्नजीवी स्थिति सम्बन्धी काव्योद्गारो पर पाठक मुग्ध हो जाता है। *इसके अतिरिक्त, उस कविता से भी प्रभावित हो जाता है जिसम साँझ की उदासी* कवि के अन्त करण म प्रकृति म उस अन्त सम्बन्ध को जाग्रत कर देती है, कि जो अन्त सम्बन्ध उसमे (कवि म) अपनी स्वय की किसी विशेष जटिल करुणा की अवस्था के कारण विचित्र भाराक्रान्त क्षण उपस्थित कर देते है। उस क्षण की अभिव्यक्ति देखने लायक है।

सक्षेप म इन रचनाओ म हृदय के सूक्ष्म तन्तुओ द्वारा अनुभूत किय गय जीवन क्षणो और जीवन दशाओ का सुकुमार चित्रण है। फलत उसम ऐसी खरी और सच्ची लिरिकता दीप्ति है जो पाठक को प्रभावित करने से नही चूकती। साथ ही, प्रकृति पर आरोपित मन स्थितियो के चित्रण म प्रारम्भ करके कवयित्री जब अपने प्रसगबद्ध विशिष्ट की कुछ ही किन्तु सारभूत और मार्मिक रेखाएँ प्रस्तुत कर देती है, तो पाठक को यही कहना होता है कि कलाकृति नि सन्देह प्रभावोत्पादक है। किन्तु, यदि वह अपने से पूछ कि वे रचनाएँ किस प्रकार प्रभावोत्पादक है, तो उसे यही उत्तर देना पड़ता है कि चूँकि वे सब एक साथ सग्रहीत है इसलिए उनके सामूहिक प्रभाव के कारण, पाठक पुस्तक पढकर कवि का अन्तर्व्यक्तित्व बनाने लगता है। पुस्तक की इक्की दुक्की कविताएँ इस या उस पत्र मे प्रकाशित देखे तो नि सन्देह उस पर उतना तीव्र और गहरा प्रभाव नही होगा, इसलिए कि अधिकतर कविताएँ टेकनीक की दृष्टि से रेखाचित्रात्मक है, *मनोमय सवेदनो के विशिष्टीभूत रेखाचित्र हैं। अपने सारे विशिष्ट के बावजूद,* वे रेखाचित अपने आपम सरल है, ऋजु हैं, और स्पष्ट पथ पर अग्रसर होते रहते है। उनम कृत्रिमता का अभाव है। अतएव उनम चौंकानेवाली या चौंधियानेवाली विलक्षणता का अभाव है। *वैसे भी आजकल नयी कविता म इतनी* विलक्षणता बढ़ी हुई है कि पाठक ने विलक्षणता से चौंकना *या प्रभावित होना* छोड दिया है। नयी कविता की ऐसी विद्यमान स्थिति म जब वह उक्त पुस्तक को पढ़ता है तो उसको सचमुच सन्तोष हो जाता है।

पाठक के सामने एक ऐसा कवि व्यक्तित्व आता है जिसम, सारे उत्पीड़न

और दुख के बावजूद, कुण्ठा और निराशा के काले रंग नहीं हैं, जिसमें प्रकृति के सुकुमार संवेदनों को ग्रहण करने की शक्ति है, ताज़गी है, आनन्द है, स्वप्न-जीवित्व है, कुण्ठा नहीं है। और साथ-ही-साथ ऐसे स्थानों पर स्पष्टवादिता है, जहाँ शायद कोई अन्य रचयिता स्पष्टता को बुरा समझे। पाठक के संवेदनात्मक अनुमानों का पूर्ण प्रतिफलन हो जाता है। यह ठीक है कि अन्त की कुछेक कविताओं में वह नयी कविता जो पुरानी हो गयी है, [उसकी छायाएँ मिलती हैं।] रेखाचित्रों में कहीं-कहीं संकेत भी अपर्याप्त हैं।

[सम्भावित रचनाकाल 1960 61]

एक टिप्पणी[1]

'पूर्वा' हिन्दी की पुरानी कविताओं का संग्रह है। उसमें विद्यापति से लेकर तो घनानन्द तक की कविताएँ हैं। उसकी भूमिका को नयी हिन्दी कविता के विरुद्ध एक अस्त्र के रूप में बनाया गया है। पुरानी हिन्दी कविता के एक संग्रह में नयी हिन्दी कविता पर आक्रमण क्यों? भूमिका कुछ इस ढंग से लिखी गयी है, मानो लेखक की मुख्य दृष्टि पुरानी हिन्दी कविता की अपेक्षा नयी हिन्दी कविता पर ही अधिक है। इस प्रकार की भूमिका द्वारा विश्वविद्यालयों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों में नयी कविता के विरुद्ध ज़हर फैलाया जा रहा है। क्या यह उचित है?

दूसरे, नयी कविता पर यह प्रत्यक्ष आरोप किया गया है कि 'उसने पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा निषेध वृत्ति अपना ली है।' यह भी आरोप लगाया गया है कि 'भारतीय काव्य-परम्परा का सम्पूर्ण विस्मरण एकांगी अनीप्सित और केवल नव्यापेक्षी मनोदृष्टि का परिणाम ही कहा जायेगा।' क्या नयी कविता, भारतीय संस्कृति, परम्परा और काव्य-परम्परा के बिलकुल विरुद्ध है?

'कृति' के सम्माननीय सम्पादकों को इसका उत्तर देना होगा।

इस नोट के साथ रखी हुई, भूमिका की प्रतिलिपि, बिलकुल शुद्ध है। उसमें शब्दों का हेरफेर नहीं है। नक़ल असल में मिला ली गयी है।

'पूर्वा' बी० ए० के कोर्स में चलती है। सागर विश्वविद्यालय की बी० ए०।

1 [शीर्षक सम्पादक द्वारा। सम्भावित रचनाकाल 1960 61। 'रचनावली' के दूसरे संस्करण में पहली बार प्रकाशित। यह टिप्पणी सागर विश्वविद्यालय के बी० ए० के पाठ्यक्रम के लिए नन्ददुलारे वाजपेयी एवं कमलाकान्त पाठक द्वारा सम्पादित और 1955 में प्रकाशित काव्य-संकलन 'पूर्वा' के प्राक्कथन के सन्दर्भ में है और सम्भवत: कृति के सम्पादकों को भेजी गयी थी। रमेश मुक्तिबोध के अनुसार इसे मुक्तिबोधजी ने राजनांदगाँव के कालेज में अध्यापन शुरू करने के बाद ही देखा और अपनी प्रतिक्रिया ज़ाहिर की।—स०]

स्कन्दगुप्त—कुछ नोट्स

1 इतिहास का आधार

(1) 'कामना' और 'एक घूंट' छोडकर सभी नाटको का आधार ऐतिहासिक।

(2) महाभारत युद्ध के बाद से हर्षवर्धन तक के राज्यकाल को अपना लक्ष्य बनाया है।

(3) इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श सगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढकर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नही इसमे मुझे पूर्ण सन्देह है मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अश मे से उन प्रकाण्ड घटनाओ का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है। विशाख—प्रथम सस्करण की भूमिका।

असुनिश्चित और असुलिखित सामग्री को एक सूत्र मे पिरोने की तर्कसगत चेष्टा।

ऐतिहासिक वृत्तो का व्यापक विस्तार अत कल्पना का प्रयोग।

कल्पना का एक प्रयोग

एक दूसरे से दूर पड गयी ऐतिहासिक सामग्री को एक सूत्र मे बाधा। कल्पना द्वारा जैसे भटार्क का योग अनन्तदेवी के साथ करके विरोध बलिष्ठ किये। स्कन्दगुप्त की राजधानी मालव मे स्थापित होने की बात इतिहास सिद्ध न होने पर भी जो वस्तुस्थिति को देखने मे तर्कविहीन प्रतीत नही होती। भीमवर्मा बन्धुवर्मा का भाई था या नही इस विषय मे कोई प्रमाण नही। फिर भी वह स्कन्दगुप्त के एक प्रान्त का शासक अवश्य था। खिगिल इतिहास का हूण नेता था परन्तु वह स्कन्दगुप्त से पराजित भी हुआ था ऐसा इतिहास ने स्वीकार नही किया है। शर्वनाग, चक्रपालित और मातृगुप्त की नाटकीय स्थिति का अनुमोदन कल्पना के आधार पर आश्रयित है।

कल्पना का दूसरा प्रयोग

नाटकीय प्रसग मिलाने के लिए अथवा पात्रो के कुल-शील का सुसम्बद्ध चित्र उपस्थित करने के लिए। नामकरण और चरित्र दोनो कल्पित—जयमाला विजया, देवसेना इत्यादि स्त्री पात्रो की कल्पना अधिक, पुरुष पात्रो की कम।

2 परिस्थिति योजना

(अ) विधान सौष्ठव के लिए परिस्थिति योजना आवश्यक। परिस्थिति एव घटना मे कार्य-कारण सम्बन्ध आवश्यक।

(1) स्कन्दगुप्त मे विहार के श्रमण ब्राह्मण वाक् सघर्ष चतुर्थ अक का अतिम दृश्य।

(2) स्वगत भाषण।

सूचना से ही काम चल जाता। स्कन्दगुप्त के प्रथम अक मे पथचारी का चरित्र।
दृश्यो-अको के विभाजन मे अव्यवस्था। अभिनय के व्यावहारिक विचार से दृश्यो का क्रम निश्चित होना चाहिए। कुछ दृश्य अत्यन्त लघु, कुछ दीर्घ।
नायक, प्रतिनायक, धीरोदात्त, धीरोद्धत···

स्त्री नायक

भावुकता, त्याग, सेवा के साथ मर्यादापूर्ण आत्मसम्मान—देवसेना। हृदय मे अपमान का आघात सहने की रचमात्र भी शक्ति नही।
प्रसाद ने स्त्री को हृदय का प्रतिनिधि माना है। प्रसग निकालकर मातृगुप्त धातुसेन सवाद द्वारा स्त्री-पुरुष के मौलिक एव दार्शनिक वैषम्य की व्यावहारिक मीमासा की गयी है। इस अन्तर के स्पष्टीकरण के प्रति उनका विशेष आकर्षण है।

[सम्भावित रचनाकाल 1961-62। रचनावली के दूसरे सस्करण मे पहली बार प्रकाशित।]

उर्वशी : मनोविज्ञान

दिनकर-कृत **उर्वशी** एक विलक्षण काव्य है। दैहिक काम सवेदनाओ की परिपूर्ति मे परमतत्त्व के साक्षात्कार का प्रयत्न ही इस विलक्षणता को जन्म देता है। कृत्रिम मनोविज्ञान ही इस विलक्षणता का प्राण है। **उर्वशी** का कामात्मक अध्यात्म एक अत्यन्त कृत्रिम मनोवैज्ञानिक व्यापार पर स्थित है।

यदि मानव-समाज इस समय मोहेन-जो-दडो सभ्यता के स्तर का अथवा उसकी पूर्वकालिक अवस्था के स्तर का होता तथा प्रजनन के तथ्य और उसकी ओर ले जानेवाली काम-सवेदनाओ मे (समाज की अविकसित अवस्था के परिणाम-स्वरूप) अति-प्राकृतिक चमत्कार की तथा धर्म की भावना सन्निहित होती, तो यह समझा जा सकता था कि काम-सवेदनाओ-सम्बन्धी उनकी धार्मिक आध्यात्मिक भावना स्वाभाविक है।

मध्ययुग के आरम्भ और प्राचीन युग के अन्त के बीच की सदियो मे, भारत के कुछ क्षेत्रो मे विचरण करनेवाली सिद्धो के 'महासुखवाद' मे गुह्य लीलाओ द्वारा परम-तत्त्व के साक्षात्कार के मनोविज्ञान को समाज के अन्धविश्वासपूर्ण पिछडेपन से, अति-प्राकृति शक्तियो मे आस्था रखने की प्रवृत्ति से, तत्कालीन समाज की अवनत दशा से, जोडा जा सकता है। जिस पन्थ या जिन पन्थो मे मानव-शरीर को ही रहस्यवादी अन्ध-श्रद्धात्मक दृष्टि से देखा गया, (उसमे इडा-पिंगला से लेकर सहस्रार चक्र तक के दर्शन किये गये), उन पन्थ या उन पन्थो की अवनत दशा मे काम-सवेदनाओ की परिपूर्ति को यदि परम-तत्त्व की प्राप्ति का माध्यम माना जाय, तो ऐसी स्थिति मे उसका काम-रहस्य और काम-रहस्यात्मक मनोविज्ञान समझ मे आ सकता है, उसे स्वाभाविक भी कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी पीठिका अन्धश्रद्धा और अवैज्ञानिक भावना से बनी हुई है।

यात्रा के जो खतरे होते है वे भी उसमे हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा के ज़ोर मे साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के जो आडम्बरपूर्ण दृश्य हमें यत्र-तत्र दिखायी देते हैं, उनसे विचलित होकर वह आलोचना प्रस्तुत की गयी है। इसीलिए भगवतशरणजी के लेख का अपना अतिरिक्त महत्त्व है।

लेख अत्यन्त रोचक, पाण्डित्यपूर्ण और प्रखर है। उसकी मूल आत्मा से मेरी अनायास सहमति हो जाती है। किन्तु अपने विचारो को या अभिमत को सिद्ध करने के लिए जो उदाहरण या प्रमाण उन्होने प्रस्तुत किये है, वे सब जगह सही नही मालूम होते। वे अनुचित भी मालूम होते हैं। भगवतशरणजी बाहर से भीतर की यात्रा के पूर्व या अनन्तर यदि सावधानी से भीतर से बाहर की यात्रा भी कर लेते तो उनकी आलोचना मे कमजोरियाँ न आ पाती।

उदाहरण के लिए, **उर्वशी** के कथा-तत्त्व या, कहिए, ऐतिहासिक पक्ष को हम लें। माना कि दिनकर ने बहुत समारोहपूर्वक अपनी कृति **उर्वशी** के चारो ओर एक ऐतिहासिक-सास्कृतिक आलोकवलय स्थापित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु इससे **उर्वशी** ऐतिहासिक काव्य नही हो जाता। दिनकर का प्रयत्न यह है कि वह एक पुरानी सास्कृतिक परम्परा से अपने को जोडें। किन्तु वेद-पुराण-कालिदास आदि के पास उस काम-रहस्य (मेरा मतलब रहस्यवादी दर्शन से है) के सूत्र नही है जो **उर्वशी** म पाये जाते है। नि सन्देह प्राचीन सस्कृति के सम्बन्ध मे मेरा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। किन्तु जहाँ तक मुझे मालूम है प्राचीन आध्यात्मिक, सास्कृतिक और कलात्मक जगत् मे, परम-तत्त्व के साक्षात्कार के लिए काम-मार्ग नही चुना गया, और यह सिद्धो और तान्त्रिको की और उनसे प्रभावित अन्य मार्गों की देन है। दिनकर ने कालिदास की कृतियो, पुराणो और वेदो से न केवल कथा-तत्त्व या ऐतिहासिक पक्ष लिया, वरन् एक काव्य-सस्कृति ग्रहण करने का आभास उत्पन्न किया, और उस प्राचीन सौन्दर्यपूर्ण सास्कृतिक उन्मेष के साथ-ही साथ, मध्ययुग के सूर्योदय काल मे उपस्थित सिद्धो-तान्त्रिको की काम-साधना ली, और फिर इन दोनो को एकीभूत करने का प्रयत्न किया। सिद्ध और तान्त्रिक ऐश्वर्य नही चाहते थे। दिनकर ऐश्वर्यपूर्ण विलास चाहते है जिसका सम्मोहक आलोक-मण्डल उन्हे प्राचीन काव्य-सस्कृति म दिखायी दिया। किन्तु उन्हे प्राचीन कवि मनीषियो के पास साधना का कोई काम-मार्ग नही मिला। सिद्धो और तान्त्रिको मे उन्हे वह दिखायी दिया। इसलिए कवि-स्वभावानुसार उन्होने दोनो को मिलाकर **उर्वशी** का रूप-स्वरूप तैयार किया।

ऐसा उन्हे क्यो करना पडा? कौन-सी वह मूल वृत्ति है, जिसके फलस्वरूप उन्हे प्राचीन और मध्ययुगीन उत्सो की ओर जाना पडा? वह है दुर्दम ऐश्वर्य-पूर्ण काम-विलास की व्याकुल
की आकाक्षा। चूँकि इस प्रक
आध्यात्मिक-रहस्यवादी ही हो
का पल्ला पकडा।

पुरूरवा-उर्वशी के कथानक ने लेखक की कल्पना को झकझोर दिया। उस कथानक ने एक वृहद् कल्पना-स्वप्न प्रदान किया, जिसमे दिनकर की मूल इच्छा-वृत्तियो का परितोष होता था। **उर्वशी** एक वृहद कल्पना-स्वप्न है, जिसके द्वारा और जिसके माध्यम से लेखक अपनी कामात्मक स्पृहाओ का आदर्शीकरण करता

है, और उन्हे एक सर्वोच्च आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करता है। कथानक की ऐतिहासिकता केवल एक भ्रम है।

यहाँ यह आपत्ति की जायेगी कि पुरूरवा उर्वशी की कथा वस्तुत एक चौखटा है, एक ढाँचा है। उसे कल्पना-स्वप्न कहना निराधार है। किन्तु मै अपने पाठको का ध्यान इस तथ्य के प्रति आकर्षित करना चाहता हूँ कि कोई भी कथा—अपन कथा-रूप म—लेखक को (अपने विशेष उपयोग के लिए) आकर्षण तब प्रतीत होती है जब वह एक कल्पना-स्वप्न बनकर उसके मनश्चक्षुओ के सामने तैर उठती है—एक ऐसा कल्पना स्वप्न जिसमे उसकी (लेखक की) आत्म वृत्तियो को तृप्ति और सन्तोप प्राप्त होता हो। इस विशेष अर्थ म, मैं किसी भी कथा को—विशेषकर आत्मपरक काव्य के रचयिता द्वारा अपने उपयोग के लिए चुनी गयी कथा को—एक बृहद् कल्पना स्वप्न कह देता हूँ भले ही कामायनी [की] कथा हो, या पुरूरवा, उर्वशी की। हाँ, यह सही है कि काव्य म उसी कथा को उपस्थित करते हुए उस स्व बाह्य वस्तुपरक रूप और आभा प्रदान की जा सकती है, की जाती है। किन्तु मूल रूप म, वह केवल एक कल्पना स्वप्न ही रहता है जिसम लेखक की आत्म वृत्तिया का परितोप और परिपोष तथा विश्व-बोध प्रकट होता है। और, लेखक उस कल्पना-स्वप्न (या कथा) के द्वारा अपना अन्तर्जगत् और उस अन्तर्जगत् मे सचित विश्व-बोध प्रकट करता है।

उर्वशी की रचना इतिहासशास्त्रीय दृष्टिकोण से नही की गयी है। उसका उद्देश्य प्राचीन आनन्द जीवन के वस्तु-तथ्यो के भूगोल इतिहास को, दिक्काल को, उपस्थित करना नही है। वह एक ऐसा काव्य है जिसम प्राचीन जीवन के मनोहर वातावरण की कवि-प्रणीत कल्पना को बृहद् रूप देने का प्रयत्न किया गया है।

ऐसी स्थिति म भगवतशरणजी की यह आपत्ति कि उसमे 'अयस्कान्त' और 'शरभ' जैसे शब्द, जो उस समय प्रचलित नही थे, प्रयुक्त क्यो किये गय, हमे युक्तियुक्त प्रतीत नही होती। इस आपत्ति का आधार केवल यही हो सकता है कि **उर्वशी** का कवि, **संस्कृति के चार अध्याय** नामक पुस्तक का लेखक होन के कारण, अपने को इतिहासशास्त्री बनान का आडम्बर भी तो करता है। **उर्वशी** म स्वाभाविकता के स्थान पर शब्द-जाल और आडम्बर होन के कारण दिनकर के प्रति इस प्रकार के सन्देह की पुष्टि होती है। सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रभाव के परिचालन द्वारा साहित्यिक प्रतिष्ठा और प्रभाव के विकास और प्रसार के दृश्य हिन्दी मे खूब ही है रहे है। ऐसी स्थिति मे, दम्भ और आडम्बर का उद्घाटन और निराकरण करना भी एक कार्य हो जाता है। मैंने सुना है, **उर्वशी** किसी विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम मे भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करने जा रही है। अगर यह सच है तो उसे ऐतिहासिकता की दृष्टि से सुसगत काव्य माननेवाले भी कम नही रहेंगे। इस सम्भावना को ध्यान मे रखकर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि **उर्वशी** के तथाकथित ऐतिहासिक पक्ष की भगवतशरणजी ने जो आलोचना की है वह महत्त्वपूर्ण और अत्यन्त उपयोगी है।

उर्वशी का मूल दोष यह है कि वह एक कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित काव्य है। कामात्मक इन्द्रिय सवेदनाओ के जाल मे खो जाने के क्षणो म उनका आध्यात्मिकीकरण नही किया जा सकता। न किसी दार्शनिक भावना का, न ही

धर्म-भावना का, बोध हमें उस समय होता है। हमारा समाज इस समय न मोहन-जो-दड़ो के युग में है, न वज्रयानियों के युग में, जहाँ यौन-अनुभव के क्षणों को धार्मिक-मनोवैज्ञानिक रूप दिया जा सके। हाँ, यह सही है कि एक फ्रांसीसी उपन्यासकार ज्यूल रोमें के बॉडीज़ रैप्चर (अंग्रेज़ी में अनुवादित) नामक उपन्यास की नायिका सम्भोग की नग्नावस्था में पुरुष की नग्नावस्था के प्रतीक को (भारतीय) शिव-लिंग मानकर रति-विधान करती है। किन्तु, एक क्षण-भर के लिए, उसका वह रहस्यवाद जीवशास्त्रीय प्रगाढ़ सुख का साधन है, न कि साध्य, लक्ष्य या आदर्श। क्षण-भर के लिए उसकी कल्पना का वह खेल था।

किन्तु, यहाँ बात उल्टी है। लेखक ने यह स्थापित करना चाहा है कि कुछ 'प्रज्ञावान भोगियों के लिए' ऐन्द्रिक सुख के चरम क्षणों की परिणति अतीन्द्रिय सत्ता की उपलब्धि में होती है। क्या उनका मतलब सिद्धों और तान्त्रिकों से है? इस समय वे कहाँ हैं? क्या इस प्रकार की उपलब्धि पुरूरवा और उर्वशी को हुई थी? क्या सचमुच हुई थी? और यदि हुई थी तो उससे दिनकरजी ने क्या ग्रहण किया? वे क्या स्थापित करना चाहते हैं?

और, यदि ऐसी उपलब्धि सचमुच हुई होती, तो भारत के विभिन्न मार्गों (धर्मों) में जितेन्द्रियत्व का इतना महत्त्व न होता। फिर, प्रश्न यह उठता है कि आखिर दिनकर इस 'लाइन'-की पैरवी क्यों कर रहे हैं? क्या उनकी मंशा पर शक करना गलत है? कौन हैं वे प्रज्ञावान भोगी, जिन्हें रति-सुख की चरम परिणति में अतीन्द्रिय सत्ता से साक्षात्कार होता है? क्या वे इस समय भारत में उपलब्ध हैं? और, क्या उनके लिए काव्य का सृजन किया जाना चाहिए, किया जा सकता है? राष्ट्रकवि दिनकर जवाब दें।

रति-सुख की समुत्तेजित कल्पना द्वारा, पुरूरवा और उर्वशी कामात्मक संवेदनाओं में पुनः-पुनः खो जाते-से, उन संवेदना-जालों में बार-बार उलझते से, उद्दीप्त कल्पना के आकाश की रंगीनियों में उड़ते-से, (वे प्रतीकों में भी बात करते हैं) वाग्आडम्बर द्वारा, शब्द-मुख द्वारा, रति-सुख का पुनः-पुनः बोध करते-से, सांस्कृतिक ध्वनियों और प्रतिध्वनियों का निनाद करते हैं, मानो पुरूरवा और उर्वशी के रति कक्ष में भोंपू लगे हों, जो शहर और बाज़ार में रति-कक्ष के आडम्बरपूर्ण कामात्मक संलाप का प्रसारण-विस्तारण कर रहे हों।

वैसे तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि रति-सुख की विविध संवेदनाओं की बारीकियाँ और गहराइयाँ नर और नारी के बीच चर्चा का विषय हो सकती हैं। यही क्या, नर भी सम्भवतः उन्हें भूल जाता होगा। फिर भी, अगर यह मान भी लें कि रति-सुख के स्मरण-चित्र उसके मन में उपस्थित होते हैं, तो उसके साथ यह भी जोड़ना होगा कि उन स्मरण-चित्रों में उसे अतीन्द्रिय सत्ता की प्रतीति नहीं हो सकती। वह उन स्मरण-क्षणों में रत रहते हुए इतना विरत नहीं हो सकता कि ऐन्द्रिक सुख के चरम क्षणों के चित्र उपस्थित होते ही उसको अतीन्द्रिय सत्ता की उपलब्धि का मार्ग दिखायी दे। संक्षेप में, न वास्तविक कामोत्कर्ष के क्षणों में, न रति-मुख के स्मरण-चित्रों में डूबे होने की अवस्था में, अतीन्द्रिय सत्ता—परम-तत्त्व—का बोध हो सकता है। यह कहना, कि कुछ प्रज्ञावान भोगियों के लिए ऐसा होता है या हो सकता है, कोई मतलब नहीं रखता, क्योंकि सामान्य मनुष्य के लिए आज जो स्थिति अप्राकृतिक है वह सम्भवतः केवल अस्वस्थ मनोदशावाले

के लिए ही प्राकृतिक हो सकती है।

दूसरे, काम-सुख के उद्दीप्त स्मरण चित्र इतने सतत्-गति, इतने प्रदीर्घ, इतने विस्तृत नहीं रह सकते, उनका अयन-क्रम इतना नहीं रह सकता, कि उनमें उमड़े भाव-समुदायों पर घण्टों बात की जा सके। किन्तु पुरूरवा और उर्वशी समुत्तेजित कल्पना द्वारा रति सुख के क्षणों की ऐन्द्रिक संवेदनाओं पर प्रदीर्घ वार्तालाप करते रहते हैं, मानो वाक्-सुख द्वारा देह सुख प्राप्त करते हुए अदेह होना चाह रहे हों। यह कैसी विचित्रता है!

लेखक का संवेदनात्मक उद्देश्य यह बताना है कि (कुछ प्रज्ञावान भोगियों के लिए ही क्यों न सही) काम-संवेदनाओं का चरम उत्कर्ष अतीन्द्रिय सत्ता के बोध में सप्रशमित होता है। अतएव, उर्वशी की रचना के दौरान उसे इन्द्रिय-संवेदनाओं की आतिशयिक सुखात्मकता और तीव्रता के स्तर पर, विधायक कल्पना के स्वर्गीय जगत् में, टिके रहना पड़ता है। किन्तु क्या इस तरह कामात्मक प्रसंगों के मनश्चित्रों की दीर्घकालीनता सम्भव है? क्या वे चित्र बार-बार खो नहीं जाते?

और चूँकि वे बार बार खो जाते हैं, इसलिए लेखक कल्पना-शक्ति को बलात् समुत्तेजित करता है। किन्तु, इस प्रकार बलात् उत्तेजित कल्पना अधिकाधिक वायवीय और आकाश-विहारी बनती है। कल्पना का आकाश विहारी होना लेखक के संवेदनात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक भी है क्योंकि उस काम-संवेदनाओं को दिव्य स्पर्श भी तो देना है। नतीजा यह होता है कि कल्पना कभी-कभी इतनी समुत्तेजित हो जाती है कि वह जड़ होकर मात्र अलंकरण बन जाती है। भावोच्छ्वास बार-बार समाप्त हो जाता है, अतएव पुन:-पुन: प्राप्त उस अभाव की पूर्ति के लिए सांस्कृतिक शब्दों के आडम्बर और मनोरत्यात्मक प्रवचन का सहारा लिया जाता है।

सच तो यह है कि लेखक को, सिर्फ एक बात को छोड़कर, और कोई खास बात कहनी नहीं है। उसके पास कहने के लिए ज्यादा कुछ है ही नहीं। और जो कहना है वह यही, कि कामात्मक अनुभवों के माध्यम से आध्यात्मिक प्रतीति सिद्ध हो सकती है। किन्तु यह कहने के लिए उसने व्यापक आयोजन किया है, वह उसे पूरे समारोह के साथ, अपना समय लेते हुए कहना चाहता है।

किन्तु काव्य-कृति के रूप में यह प्रस्तुत करने के लिए, काम-संवेदनातिरेकों के चित्रों द्वारा, उनके माध्यम से ही, वह यह कह सकता है। इसीलिए उसे अतिरेक के स्तर पर खड़ा रहना पड़ता है। कोई भी सामान्य मनुष्य अतिरेक के स्तर पर अधिक काल तक रह नहीं सकता। पर लेखक ने तो दीर्घ समारोह का आयोजन किया है और, इसीलिए उसे बलात् मनोरति का श्रम करना पड़ता है। कल्पना को बलात् समुत्तेजित करना पड़ता है। भावों की पुनरावृत्ति होती है, और प्रतीत होता है कि लेखक किसी मनोवैज्ञानिक काम-ग्रन्थि से पीड़ित है। कामात्मक अनुभवों द्वारा आध्यात्मिक अनुभव की सिद्धि को प्रस्थापित करने के लिए लेखक को जिस अतिरेक के स्तर पर रहना पड़ता है, वही अतिरेक अस्वाभाविक होने के कारण (क्योंकि इस प्रकार का कोई भी मनोरत्यात्मक अतिरेक दीर्घकालीन स्थिति नहीं रख सकता), प्रयास सिद्ध होने के कारण, वह भाषा को भी आयास-सिद्ध और जड़ बना देता है। कवि दिनकर के प्रथम उत्कर्ष काल में उनकी काव्य-भाषा ऐसी जड़ नहीं थी। उसमें स्वाभाविक रूमानी चपलता थी, स्वाभाविक

गीतात्मक स्वर था।

भगवतशरणजी ने लेखक की इस मूलभूत मनोवैज्ञानिक कृत्रिमता पर ध्यान नहीं दिया है, यद्यपि उन्होंने कुछ स्थानों पर उसके कुछ भावों का उल्लेख अवश्य किया है। उन्होंने **उर्वशी** की तथाकथित दार्शनिकता की भी कठोर आलोचना की है। किन्तु वे इस बात पर प्रकाश नहीं डाल सके कि आखिर दिनकर को दर्शन की आवश्यकता क्यों पड़ गयी। आतिशयिक कामात्मक अहं अपनी औचित्य-स्थापना के लिए दर्शन का सहारा ले रहा है। इस प्रकार वह दार्शनिक भाव क्रम, वस्तुतः, औचित्य स्थापना का मनोविज्ञान है।

सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात जो भगवतशरणजी ने की, वह **कामायनी** के सम्बन्ध में है। उन्होंने राह चलते **कामायनी** की निन्दा कर डाली। उन्होंने कहा कि **कामायनी** में काव्य-सौन्दर्य नहीं है, उसमें तो केवल दर्शन है। और दर्शन के ग्रहण के लिए कोई भी **कामायनी** की तरफ नहीं जायेगा। उनके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं 'कामायनी काव्य की दृष्टि से घटिया कृति है, और जहाँ तक दर्शन की बात है, मुझे ऐंगेल्स की बात दुहरानी पड़ेगी। वैसे, दर्शन पढ़ने के लिए **कामायनी** की अपेक्षा दर्शन की दिशा में सर्वथा शून्य व्यक्ति ही करेंगे।'

इसके पूर्व भगवतशरणजी ने यह मान्यता प्रस्तुत की थी कि मुझे लगता है कि काव्य यदि दर्शन के कारण विशिष्ट है, तो निश्चय ही उसका काव्यत्व निकृष्ट है। वैसे ही यदि दार्शनिक कृति अपने काव्य गुण के कारण विशेष प्रशंसित है तो निश्चय ही उसका दर्शन निकृष्ट है। दर्शन की ही तथाकथित विशिष्टता प्रसाद की **कामायनी** का मानदण्ड बन गयी है, उसके दर्शन की अधिक, काव्य की कम, चर्चा हुआ करती है।' इसलिए, भगवतशरणजी के मत से, **कामायनी** काव्य की दृष्टि से घटिया कृति है।

उपर्युक्त सारी स्थापनाएँ असंगत, अनुचित निराधार एवं दुर्भाग्यपूर्ण हैं। वे दर्शन और कला इन दोनों को परस्पर पृथक् परस्पर-असम्पृक्त श्रेणियों में बाँटकर चलती हैं, और इन दोनों के बीच पारस्परिक प्रभाव के तथ्य को दृष्टि से ओझल करती हैं।

हाँ, यह सही है कि शास्त्रीय दर्शन जो कि तर्क के सहारे मूल सत्ता का व्याख्यान करता है, अन्य दार्शनिक धाराओं का खण्डन करता है, मनुष्य के परम लक्ष्य का बोध करता है तथा मूल्य व्यवस्था प्रस्तुत करता है—वह शास्त्रीय दर्शन अपनी शास्त्रीय दृष्टि के कारण शास्त्रीय रूप में काव्य में प्रस्तुत नहीं हो सकता। काव्य में किसी भी प्रकार की शास्त्रीयता शास्त्रीय रूप में, चल नहीं सकती। किन्तु उस दर्शन के तात्त्विक निष्कर्ष तथा मूल स्थापनाएँ काव्य में ग्रहण कर ली जाती हैं। मध्ययुगीन भारतीय साहित्य का एक भाग इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इस सम्बन्ध में मैं एक बात भगवतशरणजी के सामने रखना चाहता हूँ। वे इस पर सोचें।

ज्ञानेश्वरी मराठी का एक प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ है। वह असल में गीता की टीका है। और, इसलिए, उसमें (एक हद तक) शास्त्रीयता भी है। किन्तु वह न केवल दार्शनिकता के लिए, वरन् रसमय काव्यात्मकता के लिए भी प्रसिद्ध है। यदि सम्भव हो सके तो मराठी के साहित्य-मर्मियों से वे इस विषय पर चर्चा करें, और इस विषय की थाह लगायें।

किन्तु, यह सही है कि ऊहापोहपूर्ण तर्क-प्रधान शास्त्रीयता काव्य नहीं बन

प्रकती। (भगवतशरणजी शायद यही कहना चाहते हैं)। काव्य मे जो दर्शन प्रस्तुत होता है, वह इस प्रकार शास्त्रीय पद्धति से नही होता। दर्शन की कुछ स्थापनाएँ कवि अपनी मूल भाव धारा मे अनायास ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार वह कवि के आभ्यन्तर सवेदनात्मक ज्ञान का अग बन जाती हैं। अथवा, यह भी होता है कि जीवन-समस्याओ का काव्यात्मक चित्रण करते हुए, लेखक अनायास उन समस्याओ के निराकरण का मार्ग बताता है—यह निराकरण का मार्ग ही उसका दर्शन है। (कामायनी म ऐसा हुआ है)। यह भी सम्भव है कि अपनी किसी विशेष प्रवृत्ति की औचित्य स्थापना के लिए लेखक दर्शन का सहारा ले (जैसा कि उर्वशी म हुआ है)। यह भी सम्भव है कि कोई दर्शन कवि को विशाल विश्व-स्वप्न प्रदान करे, और वह विश्व स्वप्न उसकी अनुभूति का अग बन जाये। इस प्रकार का दर्शन कवि की भावना के नेत्र बन जाता है। दूसरे शब्दो म दर्शन तरह-तरह स काव्य मे प्रकट होता है—एक काव्य कृति मे दर्शन एक विशेष बात की पूर्ति के लिए, तो दूसरे मे केवल औचित्य-स्थापना के लिए, तीसरे मे किसी भिन्न रूप मे।

किन्तु सबम एक बात सामान्य है, और वह यह कि दर्शन जीवन ही के आयाम के रूप मे, जीवन ही की एक अनुभूति के रूप म, एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप मे, प्रकट होता है। वह ऊहापोहपूर्ण खण्डन-मण्डन प्रधान तर्क-सचालित शास्त्रीयता के रूप म प्रकट नही होता। कामायनी मे भी वह शास्त्रीय ढग से प्रकट नही हुआ है। जीवन-समस्याओं के निराकरण के रूप मे ही उसे स्थापित किया गया है। वह मनोवैज्ञानिक रूप से, अनुभूति के ढग पर, सत्य स्पर्शी भावना के रूप म, प्रकट किया गया है, बौद्धिक ऊहापोह के रूप मे नही।

हाँ, यह सही है कि दार्शनिक भावना भी एक विशेष प्रकार की भावना होती है। और बहुतो को उसम नीरसता दिखायी देती है। यदि भावना सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदनाओ का प्रकाश-रूप है, तो वह हृदयस्पर्शी होगी ही, बशर्ते कि पाठक उसके ज्ञान-तत्त्व को वास्तविक ज्ञान मानकर चले। यदि ऐसा नही हुआ तो उस दार्शनिक भावना म (उस पाठक के लिए) हृदयस्पर्शी गुण का अभाव होगा।

हिन्दी के साहित्य-पण्डित भले ही कामायनी की दार्शनिकता के कारण उसे महत्त्व दें, इसम यह सिद्ध नही होता कि कामायनी उत्कृष्ट काव्य न होकर 'निकृष्ट', 'घटिया' काव्य है। (भगवतशरणजी के उक्त कथन को मैं अत्यन्त दुर्भाग्य-पूर्ण समझता हूँ)।

कामायनी अपनी काव्यात्मकता के लिए, जीवन-समस्याओ के काव्यात्मक चित्रण के लिए, हमेशा प्रसिद्ध रहेगी। उसमें उत्कृष्ट काव्यात्मकता है। उसका दर्शन जीवन समस्याओ पर अनवरत चिन्तन के फलस्वरूप है। अतएव वह जीवन-समस्याओं के निराकरण के रूप मे प्रस्तुत हुआ है। उस दर्शन मे, उस दर्शन के चित्रण मे, कोई दोष नही है। उसमे आडम्बर नहीं है। उसम दार्शनिक दम्भ नही है। और बहुत स स्थानो पर आधुनिक सभ्यता की कुछ मूल विषमताओं पर कठोर और प्रखर काव्यात्मक आक्रमण है। सक्षेप मे, प्रसादजी की दार्शनिक अनुभूति उनकी भावना के नेत्र हैं।

प्रसादजी की कामायनी का दोष यह नही है कि उसमे दार्शनिकता प्रधान है।

दोष यह है कि जीवन-समस्याएँ जिस स्तर और क्षेत्र की है, उस स्तर और क्षेत्र का उसका दार्शनिक समाधान नही है। (उसकी दूसरी कमज़ोरियो पर प्रकाश डालने का यहाँ स्थान नही है)। किन्तु, यह कहना कि **कामायनी** मे काव्यात्मकता नही है, तत्सम्बन्धी अपने घनघोर अज्ञान का ही प्रदर्शन करना है।

उर्वशी का दर्शन वस्तुत. काव्यात्मक सवेदनाओ की आध्यात्मिक परिणति के द्योतन के लिए उपस्थित एक दार्शनिक आडम्बर है। वह काव्यात्मक अह की गति-विधियो की औचित्य-स्थापना का प्रयास है। भगवतशरणजी कहते है कि वह अप्रासगिक है। वह अप्रासगिक नही, पूर्णत प्रासगिक है। वह ऐश्वर्यवान् सम्पन्न श्रेणी की अनर्गल काम-स्पृहाओ को आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करना चाहता है। यह आकस्मि[illegible]

उपदेश दिया •

यदि हम

आखिर दिनकर की भाषा विचित्र और बोझिल क्यो है। वे काव्यात्मक मनोरति और सवेदनाओ मे डूबना-उतराना चाहते है। साथ ही, इस गतिविधि को सास्कृतिक-आध्यात्मिक श्रेष्ठत्व प्रदान कर, उस श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन—हाँ प्रतिपादन—करना चाहते हैं। अतएव, उन्हे काव्यात्मक स्थिति के बाहर जाकर भी सोचना पडता है। इसलिए भाषा मे बोझिल गुण है, विचित्र-विचित्र प्रयोग है, शब्दो की तोड-मरोड है, ठूँसठाँस है। भाषा का अनायाम प्राजल, निर्मल, सरल, चपल प्रवाह देखने को भी नही मिलता। भाषा भी समारोहपूर्वक चलती है वृहत् आयोजन के साथ। इसीलिए उनकी प्रदीर्घ पक्तियो मे सास्कृतिक ध्वनियो और प्रतिध्वनियो का निनाद है, और बहुत-से स्थानो पर अर्थ की वायवीय शून्यताएँ है। काव्यात्मक ऐकान्तिक क्षणो की आत्मीयता का स्वर तो भाषा मे है ही नही। वहाँ तो हर चीज़ प्रदर्शनीय है, भडकीली है।

भगवतशरणजी के आलोचनात्मक लेख मे, **उर्वशी** मे दिये चित्रो पर जो टिप्पणी की गयी है, उसके बारे मे मैं कुछ नही कह सकता। मुझे मूर्तिकला और चित्रकला का विशेष ज्ञान नही है। व्यक्तिश मुझे वे चित्र निर्जीव और जडवत् प्रतीत हुए। किन्तु देवदत्तजी (पाण्डिचेरी) के इस दृष्टिकोण से मैं सहमत नही हो पाता कि **उर्वशी** मे 'भारतीय सीमाओ के पूर्ण विलास का आनन्दमय दृष्टिकोण' प्रस्तुत हुआ है। काव्यकृति मे आनन्दमय दृष्टिकोण प्रस्तुत होना एक बात है, काव्यकृति मे स्वाभाविक सौन्दर्य होना बिलकुल दूसरी बात।

श्री गोपालराय (पटना) की *टिप्पणी मुझे बडी मजेदार लगी। भगवतशरण* उपाध्याय ने कठोर व्यग्य-भाव से, 'एक घाट पर किस राजा का रहता बँधा प्रणय है', अथवा 'रोमाचित सम्पूर्ण देह पर विगत चिह्न चुम्बन के', अथवा 'भरी चुम्बनो की फुहार' की जो आलोचना की है, वह सिर्फ उन्हे पसन्द नही आयेगी जिन्हें व्यग्य-भाव ही पसन्द नही है, अथवा जो दिनकर के अन्ध भक्त है। उसी प्रकार, 'ओ शून्य पवन मे मुझे देख चुम्बन अर्पित करनेवाली' की जो आलोचना भगवतशरणजी ने की, वह मुझे सार्थक प्रतीत होती है। श्री गोपालराय लिखते हैं कि वह आलोचना भगवतशरणजी का अनर्गल प्रलाप है। मुझे तो उक्त काव्य पक्ति मे दिनकरजी का ही प्रलाप दिखायी देता है। 'चट्टान-सी मेरी भुजाएँ' वाली पक्तियो को लेकर भगवतशरणजी ने दिनकरजी की जो हँसी उडायी है, वह मुझे

योग्य मालूम होती है। इसलिए कि पुरूरवा की इस आत्मश्लाघापूर्ण उक्ति का समर्थन करनेवाले प्रबल तथ्यात्मक आधार का कोई प्रभाव पाठक के मन मे उत्पन्न नही होता, क्योकि वैसा ठोस तथ्यात्मक प्रमाण उर्वशी मे अनुपस्थित-सा है। हाँ, गोपालरायजी के इस मत मे मैं सहमत होता हूँ कि 'अयस्कान्त' और 'शरभ' जैसे शब्दो के बारे मे भगवतशरणजी की टिप्पणी युक्तियुक्त प्रतीत नही होती।

श्री शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने भगवतशरणजी की स्वय की गद्य-भाषा पर जो टिप्पणी की है, वह मुझे बिलकुल सही मालूम होती है। भगवतशरणजी ने हिन्दी मे जो बहुत सी पुस्तकें लिखी है, उनको पढना बहुत बार सिर्फ इसीलिए मुश्किल मालूम होता है कि उनकी भाषा बडी अजीब और ऊबड-खाबड है। उनके शब्द-प्रयोग बहुत विलक्षण है। मैं शैलेन्द्रनाथजी की पूरी टिप्पणी के साथ अपनी सहमति प्रकट करता हूँ। किन्तु एक स्थान पर मेरा मतभेद है। 'सन्नारी' शब्द का प्रयोग कुछ उचित नही जान पडता। वह काव्य म प्रयोग करने लायक है, यह मुझे नही लगता। फिर भी, शैलेन्द्रनाथजी की टिप्पणी मुझे बहुत न्यायोचित मालूम होती है।

मैं विष्णुकिशोरजी बेचन (भागलपुर) के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करता हूँ कि उन्होंने दिनकर के **परशुराम की प्रतीक्षा** नामक नवीन काव्य ग्रन्थ की ओर हमारा ध्यान खीचा है। भारतीय जनतन्त्र क विकास के लिए, परशुधर की प्रतीक्षा की मनोवृत्ति घातक ही कही जायेगी।

अन्त मे, मैं भगवतशरणजी के प्रति अपना ऋण भी स्वीकार करूँगा। उनके लेख के तीखे व्यग्यात्मक स्वर के अतिरिक्त उनकी ज्ञानसम्पदा हमे बहुत कुछ दे जाती है। यदि उनके पास इतनी प्रभावशाली सम्पदा न होती तो उर्वशी की आलोचना अधूरी ही रह जाती। उनके लेख के प्रकाशन के लिए मैं **कल्पना** क सम्पादको को धन्यवाद देता हूँ।

[कल्पना, जनवरी 1964, मे प्रकाशित]

अन्तरात्मा की पीड़ित विवेक-चेतना

आज मनुष्य को अपने जीवन का वृहत् अश अर्थोपार्जन के अथवा उससे सम्बन्ध रखनेवाले या उसके आधार पर खडे होनेवाले विस्तृत व्यवहार क्षेत्र को समर्पित कर देना पडता है। इस व्यवहार-क्षेत्र मे मनुष्य की शक्ति का अपार व्यय होना है, जो सवेदनशील, आत्मचेतन कवि के लिए आत्म-क्षय के बराबर है। बाजारो, दुकानो, दफ्तरो और कल-कारखानो से बने हुए इस व्यवहार-क्षेत्र का मूल नियम है—स्व-हित, या कहिए स्वार्थ। किसी व्यापक, उदात्त और महत्त्वपूर्ण मानव-उद्देश्य मे इस स्व-हित का यदि योग हो पाता, तो व्यवहार-क्षेत्र म आत्म-पूर्ति की

वास्तविक मानवीय सम्भावनाएँ थी। किन्तु, आज की इस सभ्यता के अन्तर्गत, गति का मूल प्रेरक तत्त्व मात्र स्व-हित होने से, इस व्यवहार-क्षेत्र मे कवि अपने को 'अजनबियो' से घिरा पाता है। कवि के अन्त करण की तृषा की पूर्ति इस व्यवहार-क्षेत्र मे काम करने से नही हो पाती।

फिर भी, आज की स्थिति मे इस व्यवहार-क्षेत्र से छुटकारा भी नही है। जीवन-यापन पद्धति की जो एक लीक पहले से चली आयी है, वह इसी व्यवहार-क्षेत्र मे से गुजरती है। जीवन-यापन के लिए स्व-हित को त्यागा भी नही जा सकता। लेकिन, चूँकि इस स्व-हित का योग व्यापक मानव उद्देश्यो से हो नही पाता, अतएव एक छिछली सतही जिन्दगी जीनी पडती है और इस सतहीपन म रहते हुए *स्थिति-परिस्थितियो, व्यक्तियों और शक्तियो स समझौता करना पडता* है। यदि वैसा न किया जाय, तो जीवन यापन-पद्धति, जिसकी गति का प्रेरक तत्त्व सबके लिए स्व-हित ही है, असम्भव हो जाये। सक्षेप मे, इस व्यवहार-क्षेत्र मे व्यापक मानव-उद्देश्यो मे मिलन नही है, हृदय का हृदय स सम्पर्क नही है। फिर भी अपने मूल्यवान दिवस का दैहिक और मानसिक ऊर्जा का एक वृहत अश उसी व्यवहार क्षेत्र को समर्पित कर दना पडता है। यह व्यवहार-क्षेत्र हमारी जिन्दगी घेर लेता है। आत्म चेतन, सवेदनशील कवि उसम यदि अपन को नि सग अनुभव करे, तो इसमे आश्चर्य ही क्या है! *आधुनिक युग की इसी समस्यात्मक बाधा* को कवि ने बहुत स्पष्टता से और सुन्दरतापूवक उभारा है—*वेमजब जीना या सुकरात की तरह जहर पीना। यही दो विकल्प है, तीसरा नही।*

महत्त्व की बात यह है कि आज जबकि साधारणत लखक और कवि इसी *व्यवहार क्षत्र मे कार्यकुशल होकर* अपने को अधिकाधिक सफल और प्रभावशाली बनाने के प्रयत्न मे लीन रहते है और इसके लिए बिक तक जात है, कुँवर नारायण ऐसा कवि है जो उसी व्यवहार क्षेत्र के विरुद्ध तीव्र सवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करता हुआ, जीवन के क्षण क्षण को तन्मिय और सवेदनमय बनाने के लिए अकुलाता हुआ, पीडित अन्तरात्मा के स्वर को उभारता है। उसे वास्तविक मानवीय सार्थकता की तलाश है। वह वास्तविक मानवीय सार्थकता उसे कहीं नही मिल पाती। इसलिए उसका चित्त खिन्न हो जाता है। पर वह केवल दुख के काले रगो म घिरकर खुद डूब नही जाता, वरन मानव के हृदय विस्तार की क्रिया म जो एक मूल समस्यात्मक बाधा है, उस बाधा के वस्तुगत रूप का भी *स्पष्ट चित्रण करता है। उसका स्वर उदात्त और नैतिक महत्त्व धारण कर लेता* है। कुँवर नारायण, मूलत, आदर्शवादी कवि है।

फलत उसके हृदय मे एक अनबन है, एक तनाव है—*व्यवहार-क्षेत्र के* घिराव से छुटकारा न होने के कारण। किन्तु साथ ही, उस वातावरण की निरर्थकता का भी उसे पूर्ण भान है। उसकी कविताएँ उस विशेष तनाव से उत्पन्न है जो आत्म और बाह्य के परस्पर द्वन्द्व के कारण उपस्थित होता है। कवि कुँवर नारायण केवल मनुष्य बनना चाहता है। यही उसका रोग है, यही उसकी समस्या है। इसी समस्यापन्न स्थिति ने उसके अन्त करण मे तरह-तरह की महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न की।

कवि *कुँवर नारायण* ने अपना एक शिल्प विकसित कर लिया है जिसम कहने की सादगी, सवेदना की तीव्रता, रगो की गहराई और खयालो की लकी र

साफ-साफ उभरकर आती हैं। फलत:, न केवल आत्म-पक्ष का वरन् बाह्य-पक्ष का भी चित्रण हो जाता है। मुख्य बात यह है कि रगो की गहराई मे खयालो की लकीरें खो नही जाती; एक भाव का दूसरे भाव से जो अन्त सम्बन्ध है वह स्पष्ट प्रस्तुत होता है। फलत , पूरा भाव-चित्र, पूरा विचार-चित्र, सामने आ जाता है, जिसमे आत्म-पक्ष और वस्तु-पक्ष दोनो का सन्तुलनपूर्ण योग रहता है। कवि का जो कथ्य है, उसकी दृष्टि से देखा जाय तो उसका शिल्प सचमुच बहुत महत्त्वपूर्ण, सुबोध अर्थात सहजतापूर्वक हृदय-ग्राह्य है। और, यदि मैं अपनी व्यक्तिगत शब्दावली मे कहूँ तो, उसका तकनीक वस्तुत जननान्तिक है। कवि की पीडित अन्तरात्मा और व्यथित विवेक-चेतना की अभिव्यक्ति के लिए ऐसी ही शिल्प-व्यवस्था की जरूरत थी। किन्तु उसकी इस शिल्प-व्यवस्था से यह न समझा जाय कि कवि का अन्तर्जगत् कम जटिल या ग्रन्थिल है। वस्तुत , अपने मन की इस ग्रन्थिल जटिलता से बचाव के लिए, स्वभावत , सरल (किन्तु सार्थक) शिल्प का विकास हुआ है।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, कुँवर नारायण की कविता मे अन्तरात्मा की पीडित विवेक-चेतना और जीवन की आलोचना है। एक ओर जब कि कवि यह कहता है—

> कि या तो अ ब स की तरह बेसबब जीना है,
> या सुकरात की तरह जहर पीना है !

तब यह कहकर वह आज की एक अत्यन्त गहन मानव-समस्या पर दृष्टिपात कर रहा है। किन्तु [वह] शायद यह भी जानता होगा कि इन दो ध्रुवो के बीच एक हालत है—जहर पीने के बहुत-बहुत पहले से सुकरात की तरह जीना। सच बात तो यह है कि अभी कवि को बहुत-से फैसले करने है। आज जबकि हमारा कवि यह सोचता है—

> इस दौड मे इतना थक चुका हूँ
> कि अब केवल आराम चाहता हूँ,
> चुपचाप एक बन्द कमरे मे पडे पडे
> बिस्तर से लेकर तारो तक धडकता रहूँ
> इस नासमझ, दयनीय जिन्दगी की
> अनधिकार कल्पनाओं मे।

तब नि सन्देह हमे उसी की ये काव्य-पक्तियाँ याद आती हैं—

> खोलो, व्यथावादी अक्षरो के बीच
> ताजी धूप आने दो :
> इन्हें लाखो दिलो की खुशी मे
> जी भर नहाने दो।

मुझे, व्यक्तिश , इस बात की बहुत खुशी है कि लेखक 'लाखो दिलो' से चौकन्ना है। यही नही, कवि के अन्त करण मे जो एक गहन दुख-भाव है, वह उसे जन-जन से हटाकर एकान्त मे बन्द कर देने के बजाय, अपने स्वय के ही तटस्थ विस्तार द्वारा उत्पीडितो की ओर नही, तो कम-से-कम उत्पीडितो की छाया की ओर, अवश्य उन्मुख कर देता है। इसीलिए, अपनी एक फैन्टेसी मे वह यह कह डालता है—

सारी परिस्थिति की एक और भी सूरत थी—
शायद उस आदमी को मदद की ज़रूरत थी

यही नही, छिछली और सतही जिन्दगी के पंजे मे फँसे हुए दिन का वध हो जाने पर, पाप के पश्चात् पश्चात्ताप की अनुभूति का अकन करते हुए जो बिम्ब कवि प्रस्तुत करता है वह भी साधारण जन-जीवन से सम्बन्धित है—

भूख से जैसे बिलखता हुआ बालक
सिरहाने रक्खे दीये की रोशनी मे
अभी थककर सो गया हो—
सो गया वह एक छोटा सा पहाड़ी ग्राम।

सक्षेप मे स्वय का दुख और खेद लेखक को बिलकुल ही स्वाभाविक रूप से दुखग्रस्त जन जीवन की ओर ले नही जाता तो कम से-कम उसकी टीस भरी याद तो दिला ही देता है। उससे अपने इस अन्तर्निहित सम्बन्ध को ही, अथवा यो कहिए उससे सम्बन्ध रखनेवाले लोगो को ध्यान मे रखकर कवि कहता है—

विश्वास रक्खो
मैं तुम्हारे साथ हूँ।
उस तम विवश उम्मीद म
जो रोशनी को प्यार करती है।

अपनी दृष्टि के विस्तार म हम साथ है
विश्वास रक्खो।

किन्तु उसी कविता म कवि यह भी कहता है—

क्यो चाहत हो समर्पित कर दूँ तुम्हे
यह मुक्ति भी—
जो तुम नही हो।
हम नही है।
सिर्फ मैं हूँ।
एक उल्कापात पथ विच्युत
अँधेरे दायरे को नोचता आलोक
जो बुझ जायगा,
भूखण्ड— जिसका चौंकता भूकम्प
मुझको तोड जायगा,

हज़ारो ठोकरो के बीच म फेंकी हुई मिट्टी'
वह अनुभूति—वह अपमान!—
औ' वह अस्वीकृत अभिमान—
जो मैं हूँ उसे क्यो चाहते हो?

यहाँ मैं कवि कुँवर नारायण को याद दिलाना चाहता हूँ कि समाज और

मानवता हमेशा व्यक्ति के अन्तर्निहित निभृत मे भी गहरी मानवीय दिलचस्पी लेती रही है। उत्पीड़ित मानवता तो स्वय 'हजारो ठोकरो के बीच मे फेंकी हुई मिट्टी' मे बहुत ही गहरी आत्मीय दिलचस्पी लेती रही है—चाहे वह निभृत, चाहे वह अन्तर्व्यक्तित्व, किसी भी प्रकार का क्यो न हो। सहस्रो वर्षों से चले आ रहे साहित्य तथा अन्य कलाओ का विधान ही इसीलिए हुआ है कि व्यक्ति का जो भाग समाज या मानवता की दृष्टि से ओझल रहता है, वह सबके सामने प्रकट हो जाय और इस प्रकार उस पर विचार हो सके, और उसको उचित रूप मिल सके, या समाज की अपनी किसी गलती से वह सम्बन्धित हो तो समाज भी अपनी गलती सुधार सके। जो हो, कवि कुँवर नारायण इतने भावुक कवि हैं कि वे हमे 'दृष्टि के विस्तार' मे तो कम-से-कम साथ रखते हैं। उनकी यह सहस्विता मधुर है, वरणीय है, कोमल और आत्मीय है। केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि जहाँ वे छुपना चाहते हैं, या चूँकि वे सोचते हैं कि—

मैं समूह से विच्छिन्न हूँ
क्योकि कुछ भिन्न हूँ।

इसलिए वे अपनी विशेषता की रक्षा के लिए, या कहिए कि निजता को रक्षा के लिए, (चाहे जिस शब्दावली का उपयोग कीजिए), अपने अन्तर्व्यक्तित्व को हमसे अलग रखना चाहते हैं, तो मैं यही कहूँगा कि हम जो समूह हैं वह केवल इकाइयो से बनी हुई सख्या नही हैं। और सच तो यह है कि हम केवल समूह भी नही हैं। आवश्यकतानुसार, समयानुसार हम समूह हैं, आवश्यकतानुसार, समयानुसार समाज और मानवता। समूह के शक्ति-प्रयोग से ही भारत को स्वाधीनता मिली। किन्तु, अपने-अपने घरो मे लौटकर हम अपनी-अपनी विवेक-चेतना, सुख-दुख, स्थिति-परिस्थिति लिये हुए एक जीवित-जाग्रत चैतन्य हे। और इसी चैतन्य के कारण, किन्ही विशेष उद्देश्यो से, हमे 'समूह' भी बन जाना पडता है। व्यवस्थाबद्ध जन का नाम समाज है। हृदय-हृदय और अन्त करण-अन्त करण म व्याप्त जो कोमल मानव सम्बन्ध हैं, आत्मीयता, न्याय-भावना, परस्पर सहायता, पर-दुख-कातरता, सहानुभूति, करुणा, चारित्रिक उच्चता के आदर्श, आदि हैं, उसी की एक साथ समूह-वाचक और भाववाचक सज्ञा मानवता है। प्रत्येक व्यक्ति कभी स्वय ही समूह का, तो कभी समाज का, मानवता का, अग रहता है। सही है कि व्यक्ति के एकान्त पर समाज का अनुशासन नही हो सकता, समाज की दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति के अन्त-निहित उस ओझल हिस्से म नही घुस सकती। किन्तु, इसी स्थिति मे, उसी ओझल भाग को महत्त्वपूर्ण जान, प्रकट करने के लिए ही साहित्य और कला की अवतारणा हुई, जिससे वह ओझल हिस्सा समाज के सामने आये। अगर समाज उसके महत्त्व को नही पहचानता है तो पहचाने, पहचानने की कोशिश करे। इसीलिए 'नयी कविता' की अवतारणा हुई। सक्षेप मे, हमे कवि के अन्तर्लोक मे गहरी दिलचस्पी

है। उससे हमारी ही आत्मा के गहरे सम्बन्ध-सूत्र जुड़े हुए है। कवि कुँवर नारायण, अपने अकेलेपन मे भी, अकेला नही है। इसीलिए स्वयं ही कहता है—

> किसी सम्बन्ध के डोरे
> हमे अस्तित्व की हर वेदना से बाँधते हैं
> ....
>
> *और तुम जो पास ही अदृश्य पर स्पृश्य-से लगते।*

और यहाँ मैं कवि ही के शब्द दुहराना चाहता हूँ—

> डूबकर जो कुछ उबारा
> जिन्दगी है
> टूटकर जो कुछ सँवारा
> जिन्दगी है।

यह है वह स्वर जो एक साथ भावुक, उदात्त और मननशील है। जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, यह कवि, वस्तुत, व्यथित विवेक-चेतना का कवि है। यह विवेक-चेतना समसामयिक परिस्थिति-स्थिति के प्रति तीव्र सवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करती रहती है। मैं बहुत बड़ी गलती करूँगा यदि यह न कहूँ कि अपने परिवेश का, अर्थात् समाज और सभ्यता का, जो विश्लेषण उसके पास है, वह अपूर्ण, विकृत और असगत है। मैं उस विश्लेषण की बात कर रहा हूँ जो काव्य म प्रकट हुआ है। वह वर्तमान सभ्यता को यन्त्र-सभ्यता कहता-सा दिखायी देता है। अथवा, बाजारो, दुकानो, कल-कारखानो दफ्तरो से बनी हुई सभ्यता कहता है। असल मे, वर्तमान सभ्यता या समाज अन्याय और शोषण पर आधारित, उत्पीडन और दमन पर आधारित पूँजीवादी सभ्यता है, जिसे कवि कुँवर नारायण स्वय भी 'अर्थ-युग' कहता है। यह वह है—जहाँ मनुष्य को अर्थ का दास बनाया जाता है। कवि कुँवर नारायण, अपने सामाजिक विश्लेषण मे, मनुष्य को मशीन का गुलाम बताता है। सच तो यह है कि वह पैसे का गलाम है। दूसरे शब्दो मे, पीडित विवेक-चेतना के लिए यह भी आवश्यक है कि वह सही-सही बौद्धिक विश्लेषण करे। यदि कुँवर नारायण किसी अन्य प्रकार के कवि होते, तो मेरे लिए, शायद, यह कहना आवश्यक न होता।

यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि प्रस्तुत काव्य (परिवेश : हम-तुम) मे जिस व्यथित विवेक चेतना का उद्भास है, वह बौद्धिक नही, विशुद्ध आत्मीय और स्वानुभवगत है। चूँकि, स्वभावत, कवि अपने सारे सवेदनशील मनुष्यत्व के साथ जीना चाहता है, अपने क्षणों को सार्थक करना चाहता है, इसीलिए उसे जो निधि प्राप्त होती है वह है पीडा। और, चूँकि अभी भी उसे बहुत से फैसले करके, उन फैसलो द्वारा बनाये गये रास्तो पर बढना और बढते रहना है, इसीलिए उसे

अपनी वर्तमान स्थिति ज्यादा सही या उचित नही मालूम होती। मतलब यह कि भीतर भी एक गहरी अनवन है। सम्भवतः, ऐसी ही किन्ही बातो को ध्यान मे रखकर वह कहता है—

आज नहीं,
अपने वर्षों बाद शायद पा सकूँ।
वह विशेष सवेदना जिसमे उचित हूँ।

कवि कुँवर नारायण ने जो बाह्य सौन्दर्य-चित्र प्रस्तुत किये हैं—चाहे वे घर मे आयी किरन के हो, या नारी-रूप के, धूप के, अथवा सिर्फ खुशी के, हमे यह कहना पडता है कि वे शब्द-चित्र बहुत प्रभावोत्पादक हैं, और साथ ही, 'नयी कविता' के विकसित रूप को सूचित करते है। इस प्रकार के उनके चित्र उन्हे एक सवेदनशील और कुशल कलाकार के रूप मे ही प्रस्तुत करते हैं। इस समय उनके सम्बन्ध मे इतना ही काफी है।

[माध्यम, नवम्बर 1964, मे प्रकाशित]

●●●